संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० २४

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा हिन्दी पद्य शैली में अनूदित
आर्ष ग्रन्थों का पद्यानुवाद

जिनविद्यानुवाक्

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

जिनविद्यानुवाक्

पद्यानुवादक : आचार्य विद्यासागरजी महाराज

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म॰ प्र॰) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं॰ ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य गुरुदेव ने अपने जीवन में संयम साधना के साथ श्रुत ज्ञानोपयोग को एकाग्र एवं शुद्ध बनाने के लिए आचार्य प्रणीत ग्रन्थों के हार्द को समझकर पद्यानुवाद किए हैं। जो बहुधा पूर्व में उपलब्ध थे, स्वरूप सम्बोधन पच्चीसी पद्यानुवाद पूर्व प्रकाशन में छूट गया था। उसको भी इस कृति में संयोजित करके २० ग्रन्थों के पद्यानुवाद निबद्ध किए गये हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

जिनविद्यानुवाक् : एक विहंगम दृष्टि

भारतीय वाङ्मय का नाम आते ही एक जीवन्तता अनुभूत होने लगती है। भारतीय संस्कृति यथार्थता के धरातल पर उतरा एक प्रायोगिक मानवीय जीवन है। जब यह जीव संसार में विचरण कर रहा होता है तब हमारा वाङ्मय हमें ''परस्परोपग्रहोजीवानाम्'' का प्रेरणादायी सूत्र प्रदान करता है। इसी तरह जब कोई जीव शुद्ध परमात्म तत्त्व की प्राप्ति का पुरुषार्थ कर रहा होता है तब यही वाङ्मय ''अहमिक्को खलु सुद्धो...'' का कथन करता है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का पोषक यह वाङ्मय विकास के क्षणों में हमारे जीवन से विवादों को पलायित कर संवादधारा को स्थापित करवाता है।

वैश्विक संस्कृतियों से एकदम पृथक् यह भारतीय संस्कृति अपनी आध्यात्मिक मधुर गुंजन का संचार कर सांसारिक कोलाहलों से त्रस्त प्राणियों को आत्मिक सुकून प्रदान करती है। व्यवहारिक जीवन की सम्पन्नता हेतु सार्थक सूत्र प्रदान करती है। माँ भारती की कोख अनेकानेक महापुरुषों की संतति से सदैव सम्पन्न रही है। दरअसल भारत माँ संतानों से नहीं संतों से पुष्पित और पल्लवित हुआ करती है। उसी संतत्व की शृंखला में परम आध्यात्मिक श्रमण शिरोमणि आचार्यश्री विद्यासागरजी ने माँ भारती की कोख को पवित्र किया। आध्यात्मिक ऋषियों के साहित्य से गौरवान्वित यह वसुंधरा गुरुवर को पाकर निहाल हो गई। आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज अपने आत्महित के साथ-साथ प्राणीमात्र के कल्याण की भी विधा में पारंगत हैं। इन्हें आध्यात्मिक संत, राष्ट्रसंत, विश्वसंत या सर्वोदयी चिंतक...। ऐसी अनेक उपमायें दी जा सकती हैं। जिनके बहु आयामी व्यक्तित्व के आगे बुद्धि भी स्तब्ध है। शब्दों की हर कल्पना जहाँ आकर ठहर जाती है। उसी का नाम है-''धर्म मस्तक, हृदय सम्राट् संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागर''।

ऐसे सर्वोदयी चिंतक संत आचार्य श्रीविद्यासागरजी महाराज द्वारा सृजित अनेकानेक साहित्य विभिन्न विधाओं में, विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध हो मानवीय व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलुओं को शृंगारित करने में समर्थ है। उनके साहित्य में जहाँ तीर्थंकर भगवन्तों का संदेश-''मनुष्यगति का परम लक्ष्य आत्मा के शाश्वत सुख की प्राप्ति का आह्वान मिलता है, वहीं मिलता है-

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झदि॥

अर्थात् कैसे चलें, कैसे चेष्टा करें, कैसे बैठें, कैसे शयन करें, कैसे भोजन करें और कैसे बोलें, जिससे कि पाप का बन्ध न हो।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर बड़े ही सरल शब्दों में सहज ही दिया कि-

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई॥

अर्थात् यत्नपूर्वक चलो, यत्नपूर्वक चेष्टा करो, यत्नपूर्वक बैठो, यत्नपूर्वक शयन करो, यत्नपूर्वक भोजन करो और यत्नपूर्वक बोलो जिससे कि पाप का बन्ध नहीं होगा।

इस सबका प्रेरणास्पद जीवन्त जागरण भी प्राप्त होता है। जीवन का एक भी पक्ष ऐसा नहीं है, जिसका स्पर्श आपके साहित्य में न हो और जीवन का ऐसा कोई भी प्रश्न शेष नहीं रहेगा जिसका समाधान उनके सर्वोदयी साहित्य से प्राप्त न हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा प्राचीन आर्ष ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, समणसुत्तं आदि २० ग्रन्थों का पद्यानुवाद हिन्दी भाषा में किया गया है। जिसे नाम दिया है- 'जिनविद्यानुवाक्' अर्थात् जिनेन्द्रदेव की वाणी जिसे पूर्वाचार्यों ने प्राकृत-संस्कृत भाषा में निबद्ध किया था, उसी का आचार्यश्री द्वारा हिन्दी भाषा में अनूदित पद्यानुवाद है।

'अनुवाद' शब्द 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'वद्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है, किसी के पश्चात् उस बात को पुनः कहना अर्थात् एक भाषा में व्यक्त किसी के विचारों अथवा भावों को दूसरी भाषा में रूपान्तरित करना। पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखी गयी काशिका वृत्ति में अनुवाद का लक्षण इस प्रकार दिया है-**प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन संकीर्तनमात्रमनुवादः।**

अर्थात् अन्य प्रमाण से ज्ञात अर्थ का शब्द द्वारा कथन मात्र अनुवाद है। वात्स्यायन भाष्य में भी प्रयोजनयुक्त पुनः कथन को अनुवाद कहा गया है। यह अनुवाद गद्य और पद्य दोनों का ही होता है। लेख, भाषण, निबन्ध, प्रबन्ध, कथा, कहानी, उपन्यास, अर्थशास्त्र, वाणिज्य-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, इतिहास, विज्ञान आदि तथा काव्य ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है और होता रहेगा। वैसे गम्भीरता से विचार करें तो मूल लेखक की रचना भी अनुवाद ही है क्योंकि सर्वप्रथम उसके हृदय में कुछ मूर्त या अमूर्त पदार्थ विषयक भाव विद्युत्कौंध की भाँति उभरते हैं, पुनः वह मस्तिष्क के पट्ट पर उन्हें बुद्धि-तूलिका से रेखांकित करता है, तदनन्तर स्थायी बनाने एवं संप्रेषण के लिए लेखनीबद्ध कर समाज को प्रदान करता है। इस प्रकार वह अपने ही अमूर्त भावों को मूर्त रूप देकर, एक प्रकार से स्वयं का अनुवाद करता है।

इस अनुवाद के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आते हैं कि क्या एक शब्द का दूसरी

भाषा में समानार्थक शब्द विद्यमान है? क्या मूल लेखक के भाव की संप्रेषणीयता से अनुवादक अवगत है? क्या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव को अनुवादक ने ध्यान में रखा है? तथा क्या वह कृतिकार के मूलभाव की अभिव्यक्ति में सक्षम है? जब हम इन प्रश्नों पर विचार करते हैं तो उस कसौटी पर आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज स्वर्ण की भाँति भासुरायमान हो उठते हैं। एक शब्द का दूसरी भाषा में समानार्थक शब्द विद्यमान हैं। प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी तीनों भाषायें सगी बहिनें हैं।

प्राकृत-संस्कृत भारत की प्राचीन भाषा हैं एवं हिन्दी भाषा उनसे ही उत्पन्न हुई भाषा है। अतः समानार्थक शब्दों का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता और इस कृति के अनुवादक तो शब्दों के बहुत बड़े शिल्पी हैं, उनके शब्दों के अनोखे-अनोखे प्रयोगों का दर्शन मूकमाटी में प्राप्त होता है।

विक्टर ह्यूगो ने लिखा-''ए ट्रांसलेशन इन वर्स सीम्स टु मी समथिंग एबसर्ड, इंपौसीबिल'' अर्थात् एक काव्य का अनुवाद मुझे कुछ व्यर्थ, असम्भव सा लगता है। कोंचे ने भी कहा कि अनुवाद कभी सम्भव हो ही नहीं सकता। कला या काव्य अभिव्यक्ति के नाम हैं और अभिव्यक्ति ही कला है या काव्य है, लेकिन साहित्य नहीं। अभिव्यक्ति अखण्ड होती है और अद्वितीय होती है और उसका दूसरा रूप नहीं हो सकता। काव्य का अर्थ है, अभिव्यञ्जना और अभिव्यञ्जना अद्वितीय होती है, अतः अनुवाद कैसे हो सकेगा?

डॉ॰ नगेन्द्र का इस सम्बन्ध में अभिमत है कि तत्त्वरूप से तो बात यही है। यों यह ठीक है कि तत्त्वतः काव्य का अनुवाद संभव नहीं है, लेकिन व्यवहार में यह बात लागू नहीं हो सकती। तत्त्व और व्यवहार में सम्बन्ध तो है, लेकिन वे एक-दूसरे से अलग हैं। तत्त्व और व्यवहार में केवल यही भेद नहीं है, जीवन के ऊँचे स्तरों में भी भेद मानने ही पड़ेंगे। वेदान्ती लोग कहते हैं कि तथ्यरूप में संसार मिथ्या है, लेकिन व्यवहाररूप में सत्य है, द्वैत का अन्तर तो अद्वैत से ही हो सकेगा। अतः तत्त्व और व्यवहार में भी भेद मानना पड़ेगा। इसलिए डॉ॰ नगेन्द्र का मानना है कि विकास के लिए अनुवाद अनिवार्य है, यही कारण है कि एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद होता रहा।

काव्यानुवाद के विषय में पर्याप्त विवाद है। दान्ते का कहना है कि काव्यसूत्र से एकरूप किया हुआ कोई भी पदार्थ एक भाषा से दूसरी भाषा में उसके माधुर्य या सौन्दर्य को विनष्ट किए बिना बदला नहीं जा सकता। एच॰ डी॰ फोरेस्ट स्मिथ की मान्यता है कि एक साहित्यिक कृति का अनुवाद उबली करवेरी जैसा निस्वाद होता है। सिडने का मत है कि विचार अनूदित हो सकते हैं, किन्तु शब्द और तत्सम्बन्धी भाव नहीं। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने अपने 'काव्यानुवाद' लेख में इन अभिमतों को अंग्रेजी भाषा में दिया है, जो मूल रूप में उद्धृत हैं।''

Nothing which is harmonised by the bond of Muses can be Changed from language to another destroying its sweetness.—Dante

Translation of a literary work is tasteless as a stewed Strawberry.

—H. De Forest Smith;

-Ideas can be translated but not the words and their associations.

—Sydne

इससे प्रतीत होता है कि काव्यानुवाद एक टेढ़ी खीर है, बड़ा कठिन कार्य है। इसके लिए अनुवादक को मूल रचनाकार के अन्तस् तक पहुँचना होगा, समझना होगा और अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठना होगा। इस सम्बन्ध में महेन्द्र चतुर्वेदी लिखते हैं कि–''प्रतिभाशाली अनुवादक जब तक मूल रचनाकार की आत्मा का साक्षात्कार न कर लेगा, कभी अपने कार्य में प्रवृत्त न होगा। सतही दृष्टि से रचना का अवलोकन कर लेने भर से न तो उसका मन मान सकता है और न वह मूल कृतिकार के प्रति न्याय कर सकता है। उसे तो काव्य-रचना की सम्पूर्ण परिस्थितियों और प्रेरणाओं के सन्दर्भ में मूल रचनाकार के सृजन-अनुभव में से ही गुजरना होता है। यहाँ उससे दोहरे संयम की अपेक्षा होगी। उसे मूल लेखक और उसके कृतित्व दोनों के सन्दर्भ में अपने व्यक्तित्व का तिरोभाव करना होगा। अपने जीवनभर की अर्जित अनुभूतियों, राग-विराग विचारधारा और पूर्वाग्रहों से ऊपर उठना होगा।''

काव्यानुवाद की दुष्करता के सम्बन्ध में महादेवी वर्मा 'सप्तपर्णा' की भूमिका 'अपनी बात' में लिखती हैं–''भाषा विचारों और मनोभावों का परिधान है और इस दृष्टि से एक विचारक या कवि की उपलब्धियाँ जिस भाषा में व्यक्त हुई हैं, उससे उन्हें दूसरी वेषभूषा में लाना, असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य रहता है।

श्री हरिवंश राय बच्चन ने शेक्सपियर के सॉनेट के प्राक्कथन में कहा है–''अनुवाद को पढ़ते समय मूल के सौन्दर्य की प्रत्याशा करना उचित नहीं, अनुवाद अनुवाद है। यों तो तुलसीदास का अनुवाद भी अंग्रेजी में हुआ है और वह भी अंग्रेजी के विद्वानों द्वारा, पर जो उनकी अवधी की ध्वनि से परिचित हैं, उनको वह तनिक भी नहीं सुहायेगा।''

श्री सुमित्रानन्दन पन्त इसे पुनः सृजन ही मानते हैं अत: वे अपने उमर खैयाम की रुबाइयों के अनुवाद 'मधुज्वाल' की भूमिका 'विज्ञापन' में लिखते हैं–'फ्रिट्जेरल्ड का कल्पना-सौन्दर्य अपना है, भाव उमर के। इसी का अनुसरण मैंने भी अपने इस चपल प्रयास में किया है। इसलिए बुलबुल के साथ कोमल स्वर और गुलाब के साथ आम्रमंजरी की गंध भी इन स्वप्निल मदभरे गीतों में सहज

ही मिल गयी है।

यह अनुवाद कला भी है और विज्ञान भी। कला इसलिए है कि मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ विषयक अनुवादों में कला का योगदान रहता है। सौन्दर्य कला से ही आता है, यदि अनुवादक अनुवाद-कला से अनभिज्ञ हो तो कभी भी सफल नहीं हो सकता। स्थूल या मूर्त विषयों के अनुवाद में विज्ञान की आवश्यकता होती है, उसमें कुछ स्थूल निश्चित सिद्धान्तों की सीमा होती है। यहाँ विज्ञान से तात्पर्य तत्सम्बन्धी विशेष ज्ञान है। जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि अनुवाद गद्य के भी होते हैं और काव्य के भी। काव्यानुवाद में शब्द, अर्थ, वाक्य एवं समष्टि का बड़ा महत्त्व है, कोई अनुवाद में शब्दों के अनुवाद पर अधिक ध्यान रखते हैं तो कोई अर्थ के अनुवाद पर कुछ चरण या पदानुसार अनुवाद को अच्छा मानते हैं तो कुछ समष्टि रूप में भाव को मस्तिष्क में रखकर अनुवाद करते हैं। ये सभी शैलियाँ उपयुक्त हैं, अभिप्राय तो मूल रचना के भाव को पकड़ में लाकर उसको अभिव्यक्त करना है।

आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज अध्यात्मरूपी गंगा में पल-पल स्नान करने वाले श्रमण हैं, आगमिक सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्यों को उद्‌घाटित करने से जिनका मस्तिष्क ऊर्जावान होता है। ऐसे वह प्राचीन आचार्यों के मूल भावों से परिचित ही नहीं अनुभूत हैं। आपके द्वारा किया गया पद्यानुवाद मूल भावों के साथ-साथ वृत्ति, वार्तिक, टीका से भी प्राप्त होने वाले भावों को भी उस पद्य में परोसने की सामग्री रखते हैं। जिस प्रकार से आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी की गाथाओं का रहस्य आचार्य जयसेन स्वामी ने टीकाओं में खोला है, उसी प्रकार आचार्यश्री ने आचार्यों के ग्रन्थों का रहस्य आगमानुसार अपनी अनूदित पद्यात्मक रचनाओं में खोला है।

अनुवादक किसी भी प्रकार से रचनाकार के भाव तक यदि पाठक को पहुँचा सके तो वह बहुत सीमा तक सफल है। हमारे समालोच्य सन्त-महाकवि आचार्य विद्यासागरजी महाराज तो स्वयं अपने ही अनेक ग्रन्थों का पद्यानुवाद कर चुके हैं। जैसे श्रमणशतकादि पञ्चशतक; अतः वे सिद्धहस्त हैं, यही कारण है कि वे अब तक 'समणसुत्तं' आदि प्राकृत-संस्कृत की लगभग बीस कृतियों का सफल अनुवाद कर चुके हैं, जो समाज की प्रशंसा के पात्र रूप में स्वीकृत हुए हैं।

गुरुचरणचंचरीक

अनुक्रमणिका

जैन गीता

समणसुत्तं

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

जैन गीता

(२८ अगस्त, १९७६)

अनूदित 'समणसुत्तं' का ही नाम 'जैन गीता' है। इसकी रचना के सम्बन्ध में आचार्यश्री स्वयं इसकी 'मनोभावना' नामक भूमिका में लिखते हैं—''विगत बीस मास पूर्व की बात है, राजस्थान स्थित अतिशयक्षेत्र श्री महावीरजी में महावीर-जयन्ती के सुअवसर पर ससंघ मैं उपस्थित था। उस समय 'समणसुत्तं' का जो सर्व सेवा संघ, वाराणसी से प्रकाशित है, विमोचन हुआ। यह एक सर्वमान्य संकलित ग्रन्थ है। इसके संकलनकर्ता ब्र. जिनेन्द्र वर्णी हैं। (आपने सन् १९८३ में ईसरी (गिरिडीह) बिहार में आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण करके क्षुल्लक श्री सिद्धान्तसागर महाराज के रूप में सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण प्राप्त किया था, आपने जैन-सिद्धान्त का आलोडन करके यह नवनीत समाज के सामने प्रस्तुत किया है।''

इस ग्रंथ में चारों अनुयोगों के विषय यथास्थान चित्रित हैं। अध्यात्म रस से गोम्मटसार आदि ग्रंथों की गाथाएँ इसमें प्रचुर मात्रा में संकलित हैं।

इसी का पद्यानुवाद आचार्यश्री ने 'जैन गीता' नाम से किया। 'समणसुत्तं' के प्रेरणास्त्रोत के सम्बन्ध में उन्होंने सन्त विनोबा का उल्लेख किया है। इसके समाधान में आचार्य विनोबा ने लिखा है कि उन्होंने कई बार जैनों से प्रार्थना की थी कि जैनों का एक ऐसा ग्रन्थ हो, जो सभी जैन सम्प्रदायों को मान्य हो, जैसे कि वैदिक धर्मानुयायियों का 'गीता' और बौद्धों का 'धम्मपद' है। विनोबाजी के इस आह्वान पर 'जैनधर्म सार' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की। पुन: विद्वानों के सुझाव पर इसमें से कुछ गाथाएँ हटाकर और कुछ जोड़कर 'जिणधम्म' नाम से पुस्तक प्रकाशित हुई। फिर इसकी चर्चा के लिए बाबा के आग्रह से ही एक संगीति बैठी, जिसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान्, श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए। बार-बार चर्चा के पश्चात् उसका नाम भी बदला, रूप भी बदला, जो सर्व सम्मति से 'श्रमणसूक्तम्'—जिसे अर्धमागधी में 'समणसुत्तं' कहते हैं, बना। ७५६ गाथाओं वाला 'समणसुत्तं' संज्ञक ग्रन्थ का यह अनूदित रूप है। इसमें चार खण्ड हैं। इसके प्रथम खण्ड ज्योतिर्मुख, द्वितीय खण्ड मोक्षमार्ग, तृतीय खण्ड तत्त्व दर्शन तथा चतुर्थ खण्ड 'स्याद्वाद' है।

प्रथम खण्ड
ज्योतिर्मुख

(१) मंगल सूत्र

(वसंततिलका छन्द)

हे! शांत संत अरहंत अनंत ज्ञाता, हे! शुद्ध बुद्ध शिव सिद्ध अबद्ध धाता।
आचार्यवर्य उवझाय सुसाधु सिन्धु, मैं बार-बार तुम पाद-पयोज वंदूँ ॥१॥

है मूलमंत्र नवकार सुखी बनाता, जो भी पढ़े विनय से अघ को मिटाता।
है आद्य मंगल यही सब मंगलों में, ध्याओ इसे न भटको जग जंगलों में ॥२॥

सर्वज्ञदेव अरहंत परोपकारी, श्री सिद्ध वन्द्य परमातम निर्विकारी।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे, ये चार मंगल, अमंगल को निवारे ॥३॥

श्री वीतराग अरहंत कुकर्मनाशी, श्री सिद्ध शाश्वत सुखी शिवधामवासी।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे, ये चार उत्तम, अनुत्तम शेष सारे ॥४॥

ये बाल-भानु सम हैं अरहंत स्वामी, लोकाग्र में स्थित सदाशिव सिद्ध नामी।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे, ये चार ही शरण हैं जग में हमारे ॥५॥

जो श्रेष्ठ हैं, शरण, मंगल कर्मजेता, आराध्य हैं परम हैं शिवपंथ नेता।
हैं वन्द्य खेचर, नरों, असुरों, सुरों के, वे ध्येय पंच गुरु हों हम बालकों के ॥६॥

है घातिकर्म दल को जिनने नशाया, विज्ञान पा सुख अनूप अनंत पाया।
हैं भानु भव्य-जन-कंज विकासते हैं, शुद्धात्म की विजय से, अरहंत वे हैं ॥७॥

कर्त्तव्य था कर लिया, कृतकृत्य द्रष्टा, हैं मुक्त कर्म तन से निज द्रव्य स्त्रष्टा!
हैं दूर भी जनन मृत्यु तथा जरा से, वे सिद्ध सिद्धिसुख दें मुझको जरा से ॥८॥

ज्ञानी, गुणी मत-मतान्तर ज्ञान धारें, संवाद से सहज वाद-विवाद टारें।
जो पालते परम पंच-महाव्रतों को, आचार्य वे सुमति दें हम सेवकों को ॥९॥

अज्ञान रूप-तम में भटके फिरे हैं, संसारि जीव हम हैं दुख से घिरे हैं।
दो ज्ञान ज्योति उवझाय ! व्यथा हरो ना, ज्ञानी बनाकर कृतार्थ हमें करो ना ॥१०॥

अत्यंत शांत विनयी समदृष्टि वाले, शोभें प्रशस्त यश से शशि से उजाले।
हैं वीतराग परमोत्तम शील वाले, वे प्राण डालकर साधु मुझे बचा लें ॥११॥

अर्हत् अकाय परमेष्ठि विभूतियों के, आचार्यवर्य उवझाय मुनीश्वरों के।
जो आद्यवर्ण अ, अ, आ, उ, म को निकालो, ओंकार पूज्य बनता, क्रमशः मिला लो ॥

आदीश हैं अजित संभव मोक्षधाम, वंदूँ गुणौघ अभिनंदन हैं ललाम।
सद्भाव से सुमति पद्म सुपार्श्व ध्याऊँ, चंद्रप्रभू चरण से चिति ना चलाऊँ ॥१३॥

श्री पुष्पदन्त शशि-शीतल शील पुञ्ज, श्रेयांस पूज्य जगपूजित वासुपूज्य।
आदर्श से विमल, संत अनंत, धर्म, मैं शांति को नित नमूँ मिल जाय शर्म ॥१४॥

श्री कुन्थुनाथ अरनाथ सुमल्लि स्वामी, सद्बोध-धाम मुनिसुव्रत विश्व-नामी।
आराध्य देव नमि और अरिष्ट नेमी, श्री पार्श्व-वीर प्रणमूँ,निज धर्म प्रेमी ॥१५॥

हैं भानु से अधिक भासुर-कान्ति वाले, निर्दोष हैं इसलिए शशि से निराले।
गंभीर नीर-निधि से जिन सिद्ध प्यारे, संसार सागर किनार मुझे उतारें ॥१६॥

(२) जिनशासन सूत्र

हो के विलीन जिसमें मन मोद पाते, हैं भव्य जीव भव-वारिधि पार जाते।
श्री जैन-शासन रहे जयवन्त प्यारा, भाई यही शरण, जीवन है हमारा ॥१७॥

पीयूष है, विषय-सौख्य विरेचना है, पीते सुशीघ्र मिटती चिर-वेदना है।
भाई जरा मरण रोग निवारती है, संजीवनी सुखकरी 'जिन-भारती' है ॥१८॥

जो भी लखा सहज से अरहंत गाया, सत्-शास्त्र-वाद, गणनायक ने बनाया।
पूजूँ इसे मिल गया श्रुतबोध सिन्धु, पी बिन्दु, बिन्दु, दृगबिन्दु समेत वन्दूँ ॥१९॥

प्यारी जिनेन्द्र मुख से निकली सुवाणी, है दोष की न मिलती जिसमें निशानी।
ओ ही विशुद्ध परमागम है कहाता, देखो वहीं सब पदार्थ-यथार्थ-गाथा ॥२०॥

श्रद्धा समेत जिन-आगम जो निहारें, चारित्र भी तदनुसार सदा सुधारें।
संक्लेश भाव तज निर्मल भाव धारें, संसारि जीवन परीत बनाँय सारे ॥२१॥

हे 'वीतराग' जगदीश कृपा करो तो, हे विज्ञ! ज्ञान मुझ बालक में भरो तो।
होऊँ विरक्त तन से शिवमार्गगामी, मैं केवली विमल निर्मल विश्व-नामी ॥२२॥

है ओज तेज झरता मुख से शशी हैं, गंभीर, धीर, गुण आगर हैं, वशी हैं।
वे ही स्वकीय-परकीय सुशास्त्र ज्ञाता, खोलें जिनागम रहस्य सुयोग्य शास्ता॥२३॥

जो भी हिताहित यहाँ खुद के लिए हैं, वे ही सदैव समझो पर के लिए हैं।
है जैनशासन यही करुणा सिखाता, सत्ता सभी सदृश है सबको दिखाता ॥२४॥

(३) संघ सूत्र

है शीघ्र से सकल कर्म कलंक धोता, ना दोषधाम वह तो गुण-धाम होता।
हो एकमेक जिससे दृग-बोध-वृत्त, जानो सभी सतत 'संघ' उसे प्रशस्त ॥२५॥

सम्यक्त्व-बोध-व्रत को 'गण' नित्य मानो, है 'गच्छ' मोक्ष पथ पै चलना सुजानो।
सत् संघ है गुण जहाँ उभरे हुए हैं, शुद्धात्म ही समय है, गुरु गा रहे हैं ॥२६॥

आओ यहाँ अभय है भवभीत! भाई, धोखा नहीं, न छल, शीतलता सुहाई।
माता-पिता सब समा नहिं भेद नाता, लो संघ की शरण, सत्य अभेद भाता ॥२७॥

सम्यक्त्व में चरित में अति प्रौढ़ होते, विज्ञान रूप सर में निज को डुबोते।
जो संघ में रह स्वजीवन को बिताते, वे धन्य हैं सफल जीवन को बनाते ॥२८॥

जो भक्ति भाव रखता गुरु में नहीं है, लज्जा न नेह भय भी गुरु से नहीं है।
सम्मान गौरव कभी यदि ना करेगा, ओ व्यर्थ में गुरुकुली बन क्या करेगा? ॥२९॥

भाई अलिप्त सहसा विधि नीर से है, उत्फुल्ल भी जिनप सूर्य प्रकाश से है।
सागार भव्य अलि आ गुण गा रहे हैं, गाते जहाँ प्रगुण केसर पी रहे हैं ॥३०॥

भाती जहाँ वह महाव्रत कर्णिका है, ना नाप भी श्रुतमयी सुमृणालिका है।
घेरे हुए श्रमण-रूप सहस्र-पत्र, ओ 'संघ पद्म' जयवंत रहे पवित्र ॥३१॥

(४) निरूपण सूत्र

निक्षेप और नय, पूर्ण प्रमाण द्वारा, ना अर्थ को समझता यदि जो सुचारा।
तो सत्य तथ्य विपरीत प्रतीत होता, होता असत्य सब सत्य, उसे डुबोता ॥३२॥

निक्षेप है वह उपाय सुजानने का, होता वही नय निजाशय ज्ञानियों का।
तू ज्ञान को समझ सत्य प्रमाण भाई, यों युक्तिपूर्वक पदार्थ लखें, भलाई ॥३३॥

दो मूल में नय सुनिश्चय, व्यावहार, विस्तार शेष इनका करता प्रचार।
पर्याय-द्रव्य नय हैं मय दो नयों में, होते सहायक 'सुनिश्चय' साधने में ॥३४॥

धारें अनंत गुण यद्यपि द्रव्य सारे, तो भी 'सुनिश्चय' अखण्ड उन्हें निहारे।
पै खण्ड, खण्ड कर द्रव्य अखण्ड को भी, देखे कथंचित यहाँ 'व्यवहार' सो ही ॥३५॥

विज्ञान औ चरित-दर्शन विज्ञ के हैं, जाते कहे, सकल वे व्यवहार से हैं।
ज्ञानी परंतु वह ज्ञायक शुद्ध प्यारा, ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥३६॥

है नित्य निश्चय निषेधक, मोक्ष दाता, होता निषिद्ध व्यवहार नहीं सुहाता।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय संत योगी, निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ॥३७॥

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा, कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया, जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥३८॥

भूतार्थ शुद्ध नय है निज को दिखाता, भूतार्थ है न व्यवहार, हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता, सम्यक्त्व भूषित वही मन मैल धोता ॥३९॥

जाने नहीं कि वह निश्चय चीज क्या है, है मानते सकल बाह्य क्रिया वृथा है।
वे मूढ़ नित्य रट निश्चय की लगाते, चारित्र नष्ट करते, भव को बढ़ाते ॥४०॥

शुद्धात्म में निरत हो जब संत त्यागी, जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी।
शुद्धात्म से च्युत, सराग चरित्र वाले, भूले न लक्ष्य व्यवहार अभी संभाले ॥४१॥

हैं कौन से श्रमण के परिणाम कैसे, कोई पता नहिं बता सकता कि ऐसे।
तल्लीन हों यदि महाव्रत पालने में, वे वंद्य हैं नित नमूँ व्यवहार से मैं ॥४२॥

वे ही मृषा नय करें पर की उपेक्षा, एकांत से स्वयम की रखते अपेक्षा।
सच्चे सदैव नय वे पर को निभा लें, बोलें परस्पर मिलें व गले लगा लें ॥४३॥

उत्सर्ग मार्ग निज में निज का विहारा, शास्त्रादि साधन रखो अपवाद न्यारा।
ज्ञानादि कार्य इनसे बनते सुचारा, धारो यथोचित इन्हें सुख हो अपारा ॥४४॥

(५) संसार चक्र सूत्र

संसार शाश्वत नहीं ध्रुव है न भाई, पाऊँ निरंतर यहाँ दुख, ना भलाई।
तो कौनसी विधि विधान सुयुक्तियाँ रे, छूटे जिसे कि मम दुर्गति पंक्तियाँ रे ॥४५॥

ये भोग काम मधु-लिप्त कृपाण से हैं, देते सदा दुख सुमेरु-प्रमाण से हैं।
संसार पक्ष रखते सुख के विरोधी, हैं पाप-धाम, इनसे मिलती न बोधि ॥४६॥

भोगे गये विषय ये बहुबार सारे, पाया न सार इनमें मन को विदारे।
रे! छान-बीन कर लो तुम बार-बार, निस्सार भूत कदली तरु में न सार ॥४७॥

प्रारंभ में अमृत-सी सुख शांति कारी, दें अंत में अमित दारुण दुख भारी।
भूपाल-इन्द्रपदवी सुर सम्पदायें, छोड़ो इन्हें विषम ये दुख आपदाएँ ॥४८॥

ज्यों तीव्र खाज चलती खुजली खुजाते, रोगी तथापि दुख को सुख ही बताते।
मोहाभिभूत मतिहीन मनुष्य सारे, त्यों कामजन्य दुख को सुख ही पुकारें ॥४९॥

संभोग में निरत, सन्मति से परे हैं, जो दुःख को सुख गिनें, भ्रम में परे हैं।
वे मूढ़ कर्म-मल में फँसते वृथा हैं, मक्खी गिरी तड़फती कफ में यथा है ॥५०॥

हो वेदना जनन मृत्यु तथा जरा से, ऐसा सभी समझते, सहसा सदा से।
तो भी मिटी विषय लोलुपता नहीं है, मायामयी सुदृढ़ गाँठ खुली नहीं है ॥५१॥

संसारिजीव जितने फिरते यहाँ हैं, वे राग-रोष करते दिखते सदा हैं।
दुष्टाष्ट कर्म जिससे अनिवार्य पाते, हैं कर्म के वहन से गति चार पाते ॥५२॥

पाते गती महल देह उन्हें मिलेगी, वे इन्द्रियाँ खिड़कियाँ जिसमें खुलेंगी।
होगा पुनः विषय सेवन इन्द्रियों से, रागादि भाव फिर हो जग जंतुओं से ॥५३॥

मिथ्यात्व के वश अनादि अनंत मानो, सम्यक्त्व के वश अनादि सुसांत जानो।
संसारिजीव इस भाँति विभाव धारें, वे धन्य हैं तज इन्हें शिव को पधारें ॥५४॥

लो! जन्म से, नियम से, दुख जन्म लेते, मारी जरा मरण भी अति दुःख देते।
संसार ही ठस ठसा दुख से भरा है, पीड़ा चराचर सहें सुख ना जरा है ॥५५॥

(६) कर्म सूत्र

जो भी जहाँ जब जभी जिस भाँति भाता, विज्ञान में तब तभी उस भाँति आता।
जो अन्यथा समझता करता बताता, कुज्ञान ही वह सदा सबको सताता ॥५६॥

रागादि भाव करता जब जीव जैसे, तो कर्म बंधन बिना बच जाय कैसे?
भाई! शुभाशुभ विभाव कुकर्म आते, हैं जीव संग बँधते तब वे सताते ॥५७॥

जो काय से वचन से मद मत्त होता, लक्ष्मी धनार्थ निज जीवन पूर्ण खोता।
त्यों राग-रोष वश है वसु कर्म पाता, ज्यों सर्प, जो कि द्विमुखी, मृण नित्य खाता ॥

माता पिता सुत सुतादिक साथ देते, आपत्ति में न सब वे दुख बाँट लेते।
जो भोगता करम को करता अकेला, औचित्य कर्म बनता उसका सुचेला ॥५९॥

हैं बंध के समय जीव स्वतंत्र होते, हो कर्म के उदय में परतंत्र रोते।
जैसे मनुष्य तरु पै चढ़ते अनूठे, पानी गिरा, गिर गये जब हाथ छूटे ॥६०॥

हा! जीव को 'सबल' कर्म कभी सताता, तो कर्म को सहज जीव कभी दबाता।
देता धनी धन अरे! जब निर्धनी को, होता बली, ऋण ऋणी जब दे धनी को ॥६१॥

सामान्य से करम एक, वही द्विधा है, है द्रव्य कर्म जड़, चेतन से जुदा है।
जो कर्म शक्ति अथवा रति-रोष-भाव, है भाव कर्म जिससे कर लो बचाव ॥६२॥

शुद्धोपयोगमय आतम को निहारें, वे साधु इन्द्रियजयी मन मार डारें।
ना कर्म रेणु उनपै चिपके कदापि, ना देह धारण करें फिर से अपापी ॥६३॥

ना ज्ञान-आवरण से सब जानना हो, ना दर्शनावरण से सब देखना हो।
है वेदनीय सुख दुःख हमें दिलाता, है मोहनीय उलटा जग को दिखाता ॥६४॥

ना आयु के उदय में, तन-जेल छूटे, है नामकर्म रचता, बहुरूप झूठे।
है उच्च-नीच-पददायक गोत्र कर्म, तो अंतराय-वश ना बनता सुकर्म ॥६५॥

संक्षेप से समझ लो तुम अष्ट कर्म, सद्धर्म से सब सधे शिव-शांति शर्म।
होती इन्हीं सम सदा वसु कर्म चाल, कर्मानुसार समझो, पट द्वारपाल।
औ खड्ग, मद्य, हलि, मौलिक चित्रकार, है कुम्भकार क्रमशः वसु कोषपाल ॥६६॥

(७) मिथ्यात्व सूत्र

संमोह से भ्रमित है मन मत्त मेरा, है दीखता सुख नहीं, परितः अंधेरा।
स्वामी रुका न अबलौं गति चार फेरा, मेरा अतः नहिं हुआ शिव में बसेरा ॥६७॥

मिथ्यात्व के उदय से मति भ्रष्ट होती, ना धर्म कर्म रुचता, मिट जाय ज्योति।
पीयूष भी परम पावन पेय प्याला, अच्छा लगे न ज्वर में बन जाय हाला ॥६८॥

मिथ्यात्व से भ्रमित पीकर मोह-प्याला, ज्वालामुखी तरह तीव्र कषाय वाला।
माने न चेतन-अचेतन को जुदा जो, होता नितांत बहिरातम है मुधा ओ ॥६९॥

तत्त्वानुकूल यदि जो चलता नहीं है, मिथ्यात्व चीज इससे बढ़ कौन-सी है।
कर्त्तव्यमूढ़, पर को वह है बनाता, मिथ्यात्व को सघन रूप तभी दिलाता ॥७०॥

(८) राग परिहार सूत्र

हैं कर्म के विषम बीज सराग रोष, संमोह से करम हो बहु दोष कोष।
तो कर्म से जनन मृत्यु तथा जरा हो, ये दुःख मूल इनकी कब निर्जरा हो? ॥७१॥

हो क्रूर, शूर, मशहूर, जरूर वैरी, हानी तथापि उससे उतनी न तेरी।
ये राग-रोष तुझको जितनी व्यथा दें, कोई न दे, अब इन्हें दुख दे मिटा दे ॥७२॥

संसार सागर असार अपार खारा, संसारि को सुख यहाँ न मिला लगारा।
प्राप्तव्य है परम पावन मोक्ष प्यारा, ना जन्म मृत्यु जिसमें सुख का न पारा ॥७३॥

चाहो सुनिश्चय भवोदधि पार जाना, चाहो नहीं यदि यहाँ अब दुःख पाना।
धोखा न दो स्वयम को टल जाय मौका, बैठो सुशीघ्र तप-संयम रूप नौका ॥७४॥

सम्यक्त्व रूप गुण को सहसा मिटाते, चारित्र रूप पथ से बुध को डिगाते।
ये पाप ताप भय हैं रति राग रोष, हो जा सुदूर इन से, मिल जाय तोष ॥७५॥

भोगाभिलाष वश ही बस भोगियों को, होना असह्य दुख है सुर मानवों को।
ना साधु मानसिक कायिक दुःख पाते, वे वीतराग बन जीवन हैं बिताते ॥७६॥

वैराग्य भाव जगता जिस भाव से है, ओ कार्य आर्य करते, अविलंब से हैं।
जो हैं विरक्त तन से भव पार जाते, आसक्त भोग तन में भव को बढ़ाते ॥७७॥

हैं राग रोष दुख, पै न पदार्थ सारे, वे बार-बार मन में बुध यों विचारे।
तृष्णा अतः विषय की पड़ मंद जाती, जाती विमोह ममता, समता सुहाती ॥७८॥

मैं शुद्ध चेतन, अचेतन से निराला, ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला।
रे! देह नेह करना अति दुःख पाना, छोड़ो उसे तुम यही गुरु का बताना ॥७९॥

मोक्षार्थ ही, दमन हो सब इन्द्रियों का, वैराग्य से शमन क्रोध कषायियों का।
हो कर्म आगमन-द्वार नितांत बंद, शुद्धात्म को नमन हो नहिं कर्म बंध ॥८०॥

ज्यों शोभता जलज जो जल से निराला, त्यों वीतराग मुनि भी तन से खुशाला।
होता विरक्त भव में रहता यहीं है, रंगीन में न रचता पचता नहीं है ॥८१॥

(९) धर्म सूत्र

पाता सदैव तप संयम से प्रशंसा, ओ धर्म मंगलमयी जिसमें अहिंसा।
जो भी उसे विनय से उर में बिठाते, सानंद देव तक भी उनको पुजाते ॥८२॥

है वस्तु का धरम तो उसका स्वभाव, सच्ची क्षमादि दशलक्षण धर्म-नाव।
ज्ञानादि रत्नत्रय धर्म, सुखी बनाता, है विश्व धर्म त्रस थावर प्राणि त्राता ॥८३॥

प्यारी क्षमा, मृदुलता, ऋजुता सचाई, औ शौच्य संयम धरो, तप से भलाई।
त्यागो परिग्रह,अकिंचन गीत गा लो, लो!ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगा लो ॥८४॥

हो जाय घोर उपसर्ग नरों सुरों से, या खेचरों पशुगणों जन-दानवों से।
उद्दीप्त हो न उठती यदि क्रोध ज्वाला, मानो उसे तुम क्षमामृत पेय प्याला ॥८५॥

प्रत्येक काल सब को करता क्षमा मैं, सारे क्षमा मुझ करें नित माँगता मैं।
मैत्री रहे जगत के प्रति नित्य मेरी, हो वैर-भाव किससे जब हैं न वैरी ॥८६॥

मैंने प्रमाद वश दुःख तुम्हें दिया हो, किंवा कभी यदि अनादर भी किया हो।
ना शल्य मान मन में रखता मुधा मैं, हूँ माँगता विनय से तुमसे क्षमा मैं ॥८७॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी, ज्ञानी सुशील अति सुंदर हूँ तपस्वी।
ऐसा नहीं श्रमण हो, मन मान लाते, निर्भ्रांत वे परम मार्दव धर्म पाते ॥८८॥

देता न दोष पर को, गुण ढूँढ लेता, निन्दा करे स्वयं की मन अक्ष जेता।
मानी वही नियम से गुणधाम ज्ञानी, कोई कभी गुण बिना बनता न मानी ॥८९॥

सर्वोच्च गोत्र हमने बहुबार पाया, पा नीच गोत्र, दुख जीवन है बिताया।
मैं उच्च की इसलिए करता न इच्छा, स्थाई नहीं क्षणिक चंचल उच्च-नीचा ॥९०॥

आचार में वचन में व विचार में भी, जो धारता कुटिलता नहिं स्वप्न में भी।
योगी वही सहज आर्जव धर्म पाता, ज्ञानी कदापि निज दोष नहीं छिपाता ॥९१॥

मिश्री मिले वचन वे रुचते सभी को, संताप हो श्रवण से न कभी किसी को।
कल्याण हो स्व-पर का मुनि बोलता है, हो सत्य धर्म उसका दृग खोलता है ॥९२॥

हो चोर चौर्य करता विषयाभिलाषी, पाता त्रिकाल दुख हाय असत्य-भाषी।
देखो जभी दुखित ही वह है दिखाता, सत्यावलम्बन सदीव सुखी बनाता ॥९३॥

साधर्मि के वचन आज नहीं सुहाते, हैं पथ्य रूप, फलतः कटु दीख पाते।
पीते अतीव कड़वी लगती दवाई, नीरोगता फल मिले मति मुस्कुराई ॥९४॥

विश्वास पात्र जननी-सम सत्यवादी, हो पूजनीय गुरु सादृश अप्रमादी।
वे विश्व को स्वजन भाँति सदा सुहाते, वंदूँ उन्हें सतत मैं शिर को झुकाते ॥९५॥

ज्ञानादि मौलिक सभी गुण वे अनेकों, है सत्य में निहित संयम शील देखो।
आवास ज्यों जलधि है जलजीवियों का, त्यों सत्य धर्म जग में सब सद्गुणों का ॥९६॥

ज्यों ज्यों विकास धन का क्रमशः बढ़ेगा, त्यों त्यों प्रलोभ बढ़ता बढ़ता बढ़ेगा।
संपन्न कार्य कण से जब जो कि पूरा, होता वही न मन से रहता अधूरा ॥९७॥

पा सैकड़ों कनक निर्मित पर्वतों को, होगी न तृप्ति फिर भी तुम लोभियों को।
आकाश है वह अनंत अनंत आशा, आशा मिटे, सहज हो परितः प्रकाशा ॥९८॥

त्यों मोह से जनम,तामस लोभ का हो, या लोभ से दुरित कारण मोह का हो।
ज्यों वृक्ष ओ! उपजता उस बीज से है, या बीज जो उपजता इस वृक्ष से है ॥९९॥

संतोष धार, समता जल से विरागी, धोते प्रलोभ मल को बुध संत त्यागी।
लिप्सा नहीं अशन में रखते कदापि, हो शौच्य-धर्म उनका, तज पाप पापी ॥१००॥

जो पालना समिति, इन्द्रिय जीतना है, है योग-रोध करना, व्रत धारना है।
सारी कषाय तजना मन मारना है, भाई वही सकल संयम साधना है ॥१०१॥

फोड़ा कषाय घट को, मन को मरोड़ा, है योगि ने विषय को विष मान छोड़ा।
स्वाध्याय ध्यान बल से निज को निहारा, पाया नितांत उसने तप धर्म प्यारा॥१०२॥

वैराग्य धार भवभोग शरीर से ओ! देखा स्व को यदि सुदूर विमोह से हो।
तो त्याग धर्म समझो उनने लिया है, संदेश यों जगत को प्रभु ने दिया है ॥१०३॥

भोगोपभोग मिलने पर भी कदापि, जो भोगता न उनको बनता न पापी।
त्यागी वही नियम से जग में कहाता, भोगी न भोग तजता, भव योग पाता ॥१०४॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा, होता दुखी नहिं सुखी बस नित्य चंगा।
भाई! वही वर अकिंचन धर्म पाता, पाता स्वकीय सुख को, अघ को खपाता ॥१०५॥

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग-बोधमयी सुधा से, मैं एक हूँ पृथक हूँ सबसे सदा से।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी, मेरी नहीं जड़मयी यह देह रूपी ॥१०६॥

मैं हूँ सुखी रह रहा सुख से अकेला, मेरा न और कुछ है गुरु भी न चेला।
उद्दीप्त हो यदि जले मिथिला यहाँ रे, बोले 'नमी' कि उससे मम हानि क्या रे ॥१०७॥

निस्सार जान जिनने व्यवहार सारा, छोड़ा, रखा न कुछ भी कुल पुत्र दारा।
ऐसा कहें सतत वे सब सन्त सच्चे, कोई पदार्थ जग में न बुरे न अच्छे ॥१०८॥

ज्यों पद्म जो जलज हो जल से निराला, ओ ना गले नहिं सड़े रहता निहाला।
त्यों भोग में न रचता पचता नहीं है, है वन्द्य ब्राह्मण यहाँ जग में वही है ॥१०९॥

ना मोह भाव जिसमें दुख को मिटाया, तृष्णा-विहीन मुनि, मोहन को नशाया।
तृष्णा विनष्ट उससे यति जो न लोभी, हो लोभ नष्ट उससे बिन संग जो भी ॥११०॥

जो देह नेह तजता निज ध्यान-धारी, है ब्रह्मचर्य उसकी वह वृत्ति सारी।
है जीव ही परम ब्रह्म सदा कहाता, हूँ बार-बार उसको शिर मैं नवाता ॥१११॥

चंद्रानना, मृगदृगी, मृदुहासवाली, लीलावती, ललित ये ललना निराली।
देखो इन्हें, पर कभी न बनो विकारी, मानो तभी कि हम हैं सब ब्रह्मचारी ॥११२॥

संसर्ग पा अनल का झट लाख जैसा, स्त्री संग से पिघलता अनगार वैसा।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर, एकांत में, विपिन में, निज में जरूर ॥११३॥

कामेन्द्रि का दमन रे! जिसने किया है, कोई नहीं अब उसे कठिनाइयाँ हैं।
जो धैर्य से अमित सागर पार पाता, क्या शीघ्र से न सरिता वह तैर जाता? ॥११४॥

नारी रहो, नर रहो जब शीलधारी, स्त्री से बचे नर, बचे नर से सुनारी।
स्त्री आग है, पुरुष है नवनीत भाई, उद्दीप्त एक, पिघले, मिलते बुराई ॥११५॥

होती सुशोभित तथापि सुनारि जाति, फैली दिगंत तक है जिन-शील-ख्याति।
ये हैं पवित्र धरती पर देवताएँ, पूजें इन्हें नित सुरासुर अप्सराएँ ॥११६॥

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा, देखो जहाँ विषय की लपटें अपारा।
वे धन्य हैं यदपि पूर्ण युवा बने हैं, सत्शील से लस रहे, निज में रमे हैं ॥११७॥

जो एक, एक कर रात व्यतीत होती, आती न लौट, जनता रह जाय रोती।
मोही अधर्म-रत है, उसकी निशाएँ, जाती वृथा सुखद हैं उलटी दिशाएँ ॥११८॥

ले द्रव्य को वणिक तीन चले कमाने, जाके बसे शहर में खुलतीं दुकानें।
है विज्ञ एक उनमें धन को बढ़ाता, है एक मूल धन लेकर लौट आता ॥११९॥

ओ मूढ़, मूल धन को जिसने गँवाया, सारा गया वितथ हाय! किया कराया।
ऐसा हि कार्य अबलौं हमने किया है, सद्धर्म पा उचित कार्य कहाँ किया है? ॥१२०॥

आत्मा स्वरूप रत आतम को जनाता, शुद्धात्म रूप निज साक्षिक धर्म भाता।
आत्मा उसी तरह से उसको निभावे, शीघ्रातिशीघ्र जिससे सुख पास आवे ॥१२१॥

(१०) संयम सूत्र

आत्मा मदीय दुखदा तरु शाल्मली है, दाहात्मिका-विषम-वैतरणी नदी है।
किंवा सुनंदन बनी मनमोहनी है, है कामधेनु सुखदा, दुख-हारिणी है ॥१२२॥

आत्मा हि दुःख सुख रूप विभाव कर्त्ता, होता वही इसलिए उनका प्रभोक्ता।
आत्मा, अनात्म-रत ही रिपु है हमारा, तल्लीन हो स्वयं में तब मित्र प्यारा ॥१२३॥

आत्मा मदीय रिपु है बन जाय स्वैरी, स्वच्छन्द - इन्द्रिय - कषाय -निकाय-वैरी।
जीतूँ उन्हें निज नियंत्रण में रखूँ मैं, धर्मानुसार चल के निज को लखूँ मैं ॥१२४॥

जीते भले हि रिपु को रण में प्रतापी, मानो उसे न विजयी, वह विश्वतापी।
रे! शूर वीर विजयी जग में वही है, जो जीतता स्वयं को बनता सुखी है ॥१२५॥

जीतो भले हि पर को, पर क्या मिलेगा? पूछूँ तुम्हें दुरित क्या उससे टलेगा?
भाई! लड़ो स्वयं से मत दूसरों से, छूटो सभी सहज से भव-बंधनों से ॥१२६॥

अत्यंत ही कठिन जो निज जीतना है, कर्त्तव्य मान उसको बस साधना है।
जो जी रहा जगत में बन आत्म जेता, सर्वत्र दिव्य-सुख का वह लाभ लेता ॥१२७॥

औचित्य है न पर के वध-बंधनों से, मैं हो रहा दमित जो कि युगों-युगों से।
होगा यही उचित, संयम योग धारूँ, विश्वास है, स्वयं पै जय शीघ्र पाऊँ ॥१२८॥

हो एक से विरति तो, रति एक से हो, प्रत्येक काल सब कार्य विवेक से हो।
ले लो अभी तुम असंयम से निवृत्ति, सारे करो सतत संयम में प्रवृत्ति ॥१२९॥

हैं राग-रोष अघकोष नहीं सुहाते, ये पाप कर्म, सबसे सहसा कराते।
योगी इन्हें तज, जभी निज धाम जाते, आते न लौट भव में, सुख चैन पाते ॥१३०॥

लो ज्ञान ध्यान तप संयम साधनों को, हे साधु! इन्द्रिय-कषाय-निकाय रोको।
घोड़ा कदापि रुकता न बिना लगाम, ज्यों ही लगाम लगता, बनता गुलाम ॥१३१॥

चारित्र में जिन समान बने उजाले, वे वीतराग, उपशांत कषाय वाले।
नीचे कषाय उनको जब है गिराती, जो हैं सराग, फिर क्या न उन्हें नचाती? ॥१३२॥

हा! साधु भी समुपशांत कषाय वाला, होता कषाय-वश मंद विशुद्धि वाला।
विश्वासभाजन कषाय अतः नहीं है, जो आ रही उदय में अथवा दबी है ॥१३३॥

थोड़ा रहा ऋण, रहा वृण मात्र छोटा, है राग, आग लघु यों कहना हि खोटा।
विश्वास क्यों कि इनपै रखना बुरा है, देते सुशीघ्र बढ़ के दुख मर्मरा है ॥१३४॥

ना क्रोध के निकट 'प्रेम' कदापि जाता, है मान से विनय शीघ्र विनाश पाता।
माया विनष्ट करती जग मित्रता को, आशा विनष्ट करती सब सभ्यता को ॥१४॥

क्रोधाग्नि का शमन शीघ्र करो क्षमा से, रे मान मर्दन करो तुम नम्रता से।
धारो विशुद्ध ऋजुता मिट जाय माया, संतोष में रति करो तज लोभ जाया ॥१३६॥

ज्यों देह में सकल अंग उपांगकों को, लेता समेट कछुआ, लख संकटों को।
मेधावि- लोग अपनी सब इन्द्रियों को, लेते समेट निज में भजते गुणों को ॥१३७॥

अज्ञान मान वश दी कुछ ना दिखाई- मानो, अनर्थ घटना घट जाय भाई।
सद्यः उसी समय ही उसको मिटाओ, आगे कदापि फिर ना तुम भूल पाओ ॥१३८॥

जो धीर धर्म रथ को रुचि से चलाता, है ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगाता।
आराम-धर्ममय जो जिसको सुहाता, धर्मानुकूल विचरें मुनि मोद पाता ॥१३९॥

(११) अपरिग्रह सूत्र

जो भी परिग्रह रखें विषयाभिलाषी, वे चोर हिंसक कुशील असत्यभाषी।
संसार की जड़ परिग्रह को बताया, यों संग को जिनप ने मन से हटाया ॥१४०॥

जो मूढ़ ले परम संयम से उदासी, धारे धनादिक परिग्रह दास-दासी।
अत्यंत दु:ख सहता भव में डुलेगा, तो मुक्ति द्वार अवरुद्ध नहीं खुलेगा ॥१४१॥

जो चित्त से जब परिग्रह को मिटाता, है बाह्य के सब परिग्रह को हटाता।
है वीतराग समधी अपरिग्रही है, देखा स्वकीय पथ को मुनि ने सही है ॥१४२॥

मिथ्यात्व, वेद-त्रय, हास्य विनाशकारी, ग्लानी,रती-अरति, शोक-कुभीति भारी।
ये नोकषाय नव, चार कषायियाँ हैं, यों भीतरी जहर चौदह ग्रंथियाँ हैं ॥१४३॥

ये खेत, धाम, धन, धान्य, अपार राशि, शय्या विमान, पशु वर्तन दास दासी।
नाना प्रकार पट, आसन पंक्तियाँ रे! ये बाहरी जड़मयी दस ग्रंथियाँ रे ॥१४४॥

अत्यन्त शांत गतक्लांत नितांत चंगा, हो अंतरंग बहिरंग, निसंग, नंगा।
होता सुखी सतत है जिस भाँति योगी, चक्री कहाँ वह सुखी उस भाँति भोगी ॥१४५॥

ज्यों नाग अंकुश बिना वश में न आता, खाई बिना नगर रक्षण हो न पाता।
त्यों संग त्याग बिन ही सब इन्द्रियाँ रे! आती कभी न वश में, तज ग्रंथियाँ रे ॥१४६॥

(१२) अहिंसा सूत्र

ज्ञानी तभी तुम सभी सहसा बनोगे, संपूर्ण प्राणि वध को जब छोड़ दोगे।
है साम्यधर्म वह है जिसमें न हिंसा, विज्ञान संभव कभी न बिना अहिंसा ॥१४७॥

हैं चाहते जबकि ये जग जीव जीना, होगा अभीष्ट किसको फिर मृत्यु पाना?
यों जान, प्राणि वध को मुनि शीघ्र त्यागें, निर्ग्रंथ रूप धर के, दिन-रैन जागें ॥१४८॥

हे जीव! जीव जितने जग जी रहे हैं, विख्यात वे सब चराचर नाम से हैं।
निर्ग्रंथ साधु बन, जान अजान में ये, मारें कभी न उनको न कभी मराये ॥१४९॥

जैसा तुम्हें दुख कदापि नहीं सुहाता, वैसा अभीष्ट पर को दुख हो न पाता।
जानो उन्हें निज समान दया दिखाओ, सम्मान मान उनको मन से दिलाओ ॥१५०॥

जो अन्य जीव वध है वध ओ निजी है, भाई यही परदया, स्वदया रही है।
साधु स्वकीय हित को जब चाहते हैं, वे सर्व जीव वध निश्चित त्यागते हैं ॥१५१॥

तू है जिसे समझता वध योग्य वैरी, तू ही रहा 'वह' अरे यह भूल तेरी।
तू नित्य सेवक जिसे बस मानता है, तू ही रहा 'वह' जिसे नहिं जानता है ॥१५२॥

रागादि भाव उठना यह भाव हिंसा, होना अभाव उनका समझो अहिंसा।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव हमें बताया, कर्त्तव्यमान निजकार्य किया कराया ॥१५३॥

कोई मरो मत मरो नहिं बंध नाता, रागादि भाव वश ही द्रुत कर्म आता।
शास्त्रानुसार नय निश्चय नित्य गाता, यों कर्म-बंध-विधि है, हमको बताता ॥१५४॥

है एक हिंसक तथैक असंयमी है, कोई न भेद उनमें कहते यमी हैं।
हिंसा निरंतर नितांत बनी रहेगी, भाई जहाँ जब प्रमाद-दशा रहेगी ॥१५५॥

हिंसा नहीं पर उपास्य बने अहिंसा, ज्ञानी करे सतत ही जिस की प्रशंसा।
ले लक्ष्य कर्म क्षय का बन सत्यवादी, होता अहिंसक वही मुनि अप्रमादी ॥१५६॥

हिंसा मदीय यह आतम ही अहिंसा, सिद्धान्त के वचन ये कर लो प्रशंसा।
ज्ञानी अहिंसक वही मुनि अप्रमादी, हा! सिंह से अधिक हिंसक हो प्रमादी ॥१५७॥

उत्तुंग मेरु गिरि सा गिरि कौन सा है? निस्सीम कौन जग में इस व्योम सा है?
कोई नहीं परम धर्म बिना अहिंसा, धारो इसे विनय से तज सर्व हिंसा ॥१५८॥

देता तुझे अभय पार्थिव शिष्य प्यारा, तू भी सदा अभय दे जग को सहारा।
क्या मान तू कर रहा दिन-रैन हिंसा, संसार तो क्षणिक है भज ले अहिंसा ॥१५९॥

(१३) अप्रमाद सूत्र

पाया इसे न अबलौं इसको न पाना, मैंने इसे कर लिया, न इसे कराना।
ऐसा प्रमाद करते नहिं सोचना है, आ जाय काल कब ओ न हि सूचना है ॥१६०॥

संसार में कुछ न सार असार सारे, हैं सारभूत समतादिक-द्रव्य प्यारे।
सोये हुए पुरुष ये बस सर्व खोते, जो जागते सहज से विधि पंक धोते ॥१६१॥

सोना हि उत्तम अधार्मिक दुर्जनों का, है श्रेष्ठ 'जागरण' धार्मिक सज्जनों का।
यों वत्सदेश नृप की अनुजा 'जयंती' वाणी सुनी जिनप की वह शीलवंती ॥१६२॥

सोया हुआ जगत में बुध नित्य जागे, जागे प्रबोध उर में सब पाप त्यागे।
है काल 'काल' तन निर्बल ना विवाद, भेरुण्ड से तुम अतः तज दो प्रमाद ॥१६३॥

धाता अनेक विध आस्त्रव का प्रमाद, लाता सहर्ष वर संवर अप्रमाद।
ना हो प्रमाद तब पंडित मोह-जेता, होता प्रमाद-वश मानव मूढ़ नेता ॥१६४॥

मोही प्रवृत्ति करते नहिं कर्म खोते, ज्ञानी निवृत्ति गहते मनमैल धोते।
श्रीमान धीर धरते, धरते न लोभ, ना पाप ताप करते, करते न क्षोभ ॥१६५॥

मोही प्रमत्त बनते, भयभीत होते, खोते स्वकीय पद को दिन-रैन रोते।
योगी करें न भय को बन अप्रमत्त, वे मस्त व्यस्त निज में नित दत्तचित्त ॥१६६॥

मोही ममत्व रखता न विराग होता, विद्या उसे न मिलती दिन-रैन सोता।
कैसे मिले सुख उसे जब आलसी है, कैसे बने 'सदय' हिंसक तामसी है ॥१६७॥

भाई सदैव यदि जागृत तू रहेगा, तेरा प्रबोध बढ़ता-बढ़ता बढ़ेगा।
वे धन्य हैं सतत जागृत जी रहे हैं, जो सो रहे अधम हैं विष पी रहे हैं ॥१६८॥

है देख, भाल, चलता, उठता, उठाता- शास्त्रादि वस्तु रखता, तन को सुलाता।
है त्यागता मल, चराचर को बचाता, योगी अहिंसक दयालु वही कहाता ॥१६९॥

(१४) शिक्षा सूत्र

पाते नहीं अविनयी सुख सम्पदाएँ, पा ज्ञान गौरव सुखी विनयी सदा ये।
जानो यही अविनयी-विनयी समीक्षा, ज्ञानी बनो सहज पाकर उच्च शिक्षा ॥१७०॥

मिथ्याभिमान करना, मनक्रोध लाना, पाना प्रमाद, तन में कुछ रोग आना।
आलस्यकानुभव, ये जब पंच होते, शिक्षा मिले न, हम बालक सर्व रोते ॥१७१॥

आलस्य हास्य मनरंजन त्याग देना, होना सुशील, मन-इन्द्रिय जीत लेना।
क्रोधी कभी न बनना, बनना न दोषी, ना झूलना विषय में न असत्य-पोषी ॥१७२॥

भाई कदापि बनना न रहस्य भेदी, ऐसा सदैव कहते गुरु आत्मवेदी।
आ जाय आठ गुण जीवन में किसी के, विद्या निवास करती मुख में उसी के ॥१७३॥

सिद्धांत के मनन से मन हाथ आता, विज्ञान भानु उगता, तम को मिटाता।
जो धर्म निष्ठ बनता पर को बनाता, सद्बोध रूप सर में डुबकी लगाता ॥१७४॥

संसार को प्रिय लगे प्रिय बोल बोलो, सद्ध्यान से तप तपे दृग पूर्ण खोलो।
सिद्धांत को गुरुकुली बन के पढ़ोगे, सद्य: सभी श्रुत विशारद जो बनोगे ॥१७५॥

जाज्वल्यमान इक दीपक से अनेकों, हैं शीघ्र दीप जलते अयि मित्र देखो।
आचार्य दीप सम हैं तम को मिटाते, आलोकधाम हम को सहसा बनाते ॥१७६॥

(१५) आत्म सूत्र

तत्त्वों, पदार्थ-निचयों, जड़ वस्तुओं में, है जीव ही परम श्रेष्ठ यहाँ सबों में।
भाई अनंत गुण-धाम नितांत प्यारा, ऐसा सदा समझ, ले उसका सहारा ॥१७७॥

आत्मा वही त्रिविध है बहिरंतरात्मा, आदेय है परम आतम है महात्मा।
दो भेद हैं परम आतम के सुजानो, हैं वीतराग 'अरहंत सुसिद्ध' मानो ॥१७८॥

मैं हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता, जो कर्म-मुक्त परमातम है कहाता।
चैतन्यधाम मुझसे, तन है निराला, यों अंतरात्म कहता, समदृष्टिवाला ॥१७९॥

जो जानते जगत को बन निर्विकारी, सर्वज्ञ देव अरहंत शरीरधारी।
वे सिद्ध चेतन-निकेतन में बसे हैं, सारे अनंत सुख से सहसा लसे हैं ॥१८०॥

वाक्काय से मनस से ऋषि संत सारे, वे हेय जान बहिरात्मपना विसारे।
हाँ! अंतरात्मपन को रुचि से सुधारे, प्रत्येक काल परमातम को निहारे ॥१८१॥

संसार चंक्रमण ना कुलयोनियाँ हैं, ना रोग, शोक, गति जाति-विजातियाँ हैं।
ना मार्गणा न गुणथानन की दशायें, शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥१८२॥

संस्थान, संहनन, ना कुछ ना कलाई, ना वर्ण, स्पर्श, रस, गंध विकार भाई।
ना तीन वेद, नहि भेद, अभेद भाता, शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥१८३॥

पर्याय ये विकृतियाँ व्यवहार से हैं, जो भी यहाँ दिख रहे जग में तुझे हैं।
पै सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे, तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे ॥१८४॥

आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, संस्थान से विकल है सुख का पिटारा ॥१८५॥

आत्मा मदीय गतदोष अयोग योगी, निश्चिंत है निडर है निखिलोपयोगी।
निर्मोह एक, नित, है सब संग त्यागी, है देह से रहित, निर्मम वीतरागी ॥१८६॥

संतोष-कोष, गतरोष अदोष, ज्ञानी, निःशल्य शाश्वत दिगंबर है अमानी।
नीराग निर्मद नितांत प्रशांत नामी, आत्मा मदीय, नय निश्चय से अकामी ॥१८७॥

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त, है शुद्ध, शुद्धनय से मद-मान मुक्त।
ज्ञाता वही सकल-ज्ञायक यों बताते, वे साधु शुद्ध नय आश्रय ले सुहाते ॥१८८॥

हूँ ज्ञानवान, मन ना, तन ना, न वाणी, होऊँ नहीं करण भी उनका न मानी।
कर्ता न कारक न हूँ अनुमोद दाता, धाता स्वकीय गुण का, पर से न नाता ॥१८९॥

स्वामी! जिसे स्वपर बोध भला मिला है, सौभाग्य से दृग-सरोज खुला खिला है।
वो क्या कदापि पर को अपना कहेगा? ज्ञानी न मूढ़ सम दोष कभी करेगा ॥१९०॥

मैं एक शुद्धनय से दृग बोध स्वामी, हूँ शुद्ध-बुद्ध अविरुद्ध अबद्ध नामी।
निर्मोह भाव करता निज लीन होऊँ, शुद्धोपयोग-जल से विधि पंक धोऊँ ॥१९१॥

(दोहा)

ज्योतिर्मुख को नित नमूँ, छूटे भव-भव जेल।
सत्ता मुझको वह दिखे, ज्योति-ज्योति का मेल ॥

द्वितीय खण्ड
मोक्ष-मार्ग

(१६) मोक्षमार्ग सूत्र

वैराग्य से विमल केवल-बोध पाया, 'सन्मार्ग' 'मार्गफल' को जिन ने बताया।
'सम्यक्त्वमार्ग' जिसका फल मोक्ष न्यारा, है जैनशासन यही सुख दे अपारा ॥१९२॥

चारित्र बोध दृग है शिवपंथ प्यारा, ले लो अभी तुम सभी इसका सहारा।
तीनों सराग जब लौं कुछ बंध नाता, ये वीतराग बनते, शिव पास आता ॥१९३॥

धर्मानुराग सुख दे दुख मेट देता, ज्ञानी प्रमादवश यों यदि मान लेता।
अध्यात्म से पतित हो पुनि पुण्य पाता, होता विलीन पर में, निज को भुलाता ॥१९४॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभा लें, ले लें भले ही तप, संयम गीत गा लें।
औ गुप्तियाँ समितियाँ कुल शील पा लें, पाते न बोध दृग ना बनते उजाले ॥१९५॥

जानो न निश्चय तथा व्यवहार धर्म, बाँधो सभी तुम शुभाशुभ अष्ट कर्म।
सारी क्रिया वितथ हो कुछ भी करो रे! जन्मो,मरो,भ्रमित हो भव में फिरो रे ॥१९६॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति, श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना, ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥१९७॥

है पाप जो अशुभ भाव वही तुम्हारा, है पुण्य सौम्य शुभ भाव सभी विकारा।
है निर्विकार निजभाव नितांत प्यारा, हो कर्म नष्ट जिससे सुख शांतिधारा ॥१९८॥

जो पुण्य का चयन ही करता रहा है, संसार को बस अवश्य बढ़ा रहा है।
हो पुण्य से सुगति पै भव ना मिटेगा, हो पुण्य भी गलित तो शिव जो मिलेगा ॥१९९॥

मोही कहे कि शुभ भाव सुशील प्यारा, खोटा बुरा अशुभ भाव कुशील खारा।
संसार के जलधि में जब जो गिराता, कैसे सुशील शुभ भाव, मुझे न भाता ॥२००॥

दो बेड़ियाँ, कनक की इक लोह की है, ज्यों एक सी पुरुष को कस बाँधती है।
हाँ! कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवें, त्यों बाँधते नियम से जड़ जीव को वे ॥२०१॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो, संसर्ग राग इनका तज नित्य जागो।
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा, स्वाधीनता विनशती दुख ही सहेगा ॥२०२॥

अच्छा व्रतादिक तया सुर सौख्य पाना, स्वच्छन्दता अति बुरी फिर श्वभ्र जाना।
अत्यंत अंतर व्रताव्रत में रहा है, छाया-सुधूप द्वय में जितना रहा है ॥२०३॥

चक्री बनो सुकृत से, सुर सम्पदायें, लक्ष्मी मिले अमित दिव्य विलासतायें।
पै पुण्य से परम पावन प्राण प्यारा, सम्यक्त्व हा! न मिलता सुख का पिटारा ॥२०४॥

देवायुपूर्ण दिवि में कर देव आते, वे दैव से अवनि पै नर योनि पाते।
भोगोपभोग गह जीवन हैं बिताते, यों पुण्य का फल हमें गुरु हैं बताते ॥२०५॥

वे भोग भोग कर भी नहिं फूलते हैं, मक्खी समा विषय में नहिं झूलते हैं।
संस्कार हैं विगत के जिससे सदीव, आत्मानुचिंतन सुधी करते अतीव ॥२०६॥

पाना मनुष्य भव को जिनदेशना को, श्रद्धा समेत सुनना तप साधना को।
वे जान दुर्लभ इन्हें बुधलोक सारे, काटें कुकर्म मुनि हो शिव को पधारे ॥२०७॥

(१७) रत्नत्रय सूत्र
(व्यवहार रत्नत्रय)

तत्त्वार्थ में रुचि हुई, दृग हो वहीं से, सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से।
सच्चा तपश्चरण चारित नाम पाता, है मोक्ष मार्ग व्यवहार यही कहाता ॥२०८॥

श्रद्धान लाभ, बुध दर्शन से लुटाता, विज्ञान से सब पदार्थन को जनाता।
चारित्र धार विधि आस्रव रोध पाता, अत्यंत शुद्ध निज को तप से बनाता ॥२०९॥

निस्सार है चरित के बिन, ज्ञान सारा, सम्यक्त्व के बिन, रहा मुनि भेष भारा।
होता न संयम बिना तप कार्यकारी, ज्ञानादि रत्नत्रय हैं भव दुःखहारी ॥२१०॥

विज्ञान का उदय हो दृग के बिना ना, होते न ज्ञान बिन मित्र! चरित्र नाना।
चारित्र के बिन न हो शिव मोक्ष पाना, तो मोक्ष के बिन कहाँ सुख का ठिकाना ॥२११॥

हा! अज्ञ की सब क्रिया उलटी दिशा है, भाई क्रिया रहित ज्ञान व्यथा वृथा है।
पंगू लखें अनल को न बचे कदापि, दौड़े भले ही वह अंध जले तथापि ॥२१२॥

विज्ञान संयम मिले फल हाथ आता, हो एक चक्ररथ को चल ओ न पाता।
होवे परस्पर सहायक पंगु अन्धा, दावाग्नि से बच सके कहते जिनंदा ॥२१३॥

निश्चय रत्नत्रय सूत्र

संसार में समयसार सुधा-सुधारा, लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा।
होता वही दृग मयी वर बोध धाम, मेरा उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥२१४॥

साधू चरित्र दृग बोध समेत पा लें, आत्मा उन्हें समझ आतम गीत गा लें।
ज्ञानी नितांत निज में निज को निहारें, वे अंत में गुण अनंत अवश्य धारें ॥२१५॥

ज्ञानादि रत्नत्रय में रत लीन होना, धोना कषाय मल को बनना सलोना।
स्वीकारना न करना तजना किसी को, तू जान मोक्षपथ वास्तव में इसी को ॥२१६॥

सम्यक्त्व है वह निजातम लीन आत्मा, विज्ञान है समझना निज को महात्मा।
आत्मस्थ आतम पवित्र चरित्र होता, जानो जिनागम यही अयि! भव्य श्रोता ॥२१७॥

आत्मा मदीय यह संयम बोध-धाम, चारित्र दर्शनमयी लसता ललाम।
है त्याग रूप सुख कूप, अनूप भूप, ना नेत्र का विषय है, नित है अरूप ॥२१८॥

(१८) सम्यग्दर्शन सूत्र
(व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व)

सम्यक्त्व, रत्नत्रय में वर मुख्य नामी, है मूल मोक्ष तरु का, तज काम कामी।
है एक निश्चय तथा व्यवहार दूजा, होते द्वि भेद, उनकी कर नित्य पूजा ॥२१९॥

तत्त्वार्थ में रुचि भली भव सिन्धु सेतु, सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू।
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही, ऐसा जिनेश कहते शिव-राह राही ॥२२०॥

कोई न भेद, दृग में, मुनि मौन में है, माने इन्हें सुबुध 'एक' यथार्थ में है।
होता अवश्य जब निश्चय का सुहेतु, सम्यक्त्व मान व्यवहार, सदा उसे तू ॥२२१॥

योगी बनो अचल मेरु बनो तपस्वी, वर्षों भले तप करो, बन के तपस्वी।
सम्यक्त्व के बिन नहीं तुम बोधि पाओ, संसार में भटकते दुख ही उठाओ ॥२२२॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो हैं, निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेंगे, पै भ्रष्ट दर्शन तया नहिं वे सिजेंगे ॥२२३॥

जो भी सुधा दृगमयी रुचि संग पीता, निर्वाण पा अमर हो, चिरकाल जीता।
मिथ्यात्व रूप मद पान अरे! करेगा, होगा सुखी न, भव में भ्रमता फिरेगा ॥२२४॥

अत्यन्त श्रेष्ठ दृग ही जग में सदा से, माना गया जड़मयी सब सम्पदा से।
तो मूल्यवान, मणि से कब काँच होता? स्वादिष्ट इष्ट, घृत से कब छांछ होता ॥२२५॥

होंगे हुए परम आतम हो रहे हैं, तल्लीन आत्म सुख में नित ओ रहे हैं।
सम्यक्त्व का सुफल केवल ओ रहा है, मिथ्यात्व से दुखित हो जग रो रहा है ॥२२६॥

ज्यों शोभता कमलिनि दृगमंजु पत्र, हो नीर में न सड़ता रहता पवित्र।
त्यों लिप्त हो विषय से न, मुमुक्षु प्यारे, होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥२२७॥

धारें विराग दृग जो जिन धर्म पाके, होते उन्हें विषय, कारण निर्जरा के।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से, साधू सुधी न बँधते विधि-बंधनों से ॥२२८॥

वे भोग भोग कर भी बुध हो न भोगी, भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी।
इच्छा बिना यदि करें कुछ कार्य त्यागी, कर्त्ता कथं फिर बने?उनका विरागी ॥२२९॥

ये काम भोग न तुम्हें समता दिलाते, भाई! विकार तुम में न कभी जगाते।
चाहो इन्हें यदि डरो इनसे जभी से, पाओ अतीव दुख को सहसा तभी से ॥२३०॥

(सम्यग्दर्शन अंग)

ये अष्ट अंग दृग के, विनिशंकिता है, नि:कांक्षिता विमल निर्विचिकित्सिता है।
चौथा अमूढ़पन है उपगूहना को, धारो स्थितीकरण वत्सल भावना को ॥२३१॥

नि:शंक हो निडर हो सम-दृष्टि वाले, सातों प्रकार भय छोड़ स्वगीत गा लें।
नि:शंकिता अभयता इक साथ होती, है भीति ही स्वयम हो भयभीत रोती ॥२३२॥

कांक्षा कभी न रखता जड़ पर्ययों में, धर्मो-पदार्थ दल के विधि के फलों में।
होता वही मुनि निकांक्षित अंगधारी, वंदूँ उन्हें बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२३३॥

सम्मान पूजन न वंदन जो न चाहे, ओ क्या कभी श्रमण हो निज ख्याति चाहे?
हो संयमी यति व्रती निज आत्म खोजी, हो भिक्षु तापस वही उसको नमो जी ॥२३४॥

हे योगियो! यदि भवोदधि पार जाना, चाहो अलौकिक अपार स्वसौख्य पाना।
क्यों ख्याति-लाभ निज पूजन चाहते हो? क्या मोक्ष धाम उनसे तुम मानते हो ॥२३५॥

कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ, सारे सदा परिणमे निज में यथार्थ।
ज्ञानी न ग्लानि करते फलतः किसी से, धारे तृतीय दृग अंग तभी खुशी से ॥२३६॥

ना मुग्ध मूढ़ मुनि हो जग वस्तुओं में, हो लीन आप अपने-अपने गुणों में।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ़दृष्टि, नासाग्र-दृष्टि रख नाशत कर्म-सृष्टि ॥२३७॥

चारित्र बोध दृग से निज को सजाओ, धारो क्षमा तप तपो विधि को खपाओ।
माया-विमोह-ममता तज मार मारो, हो वर्धमान, गतमान, प्रमाण धारो ॥२३८॥

शास्त्रार्थ गौण न करो, न उसे छुपाओ, विज्ञान का मद घमंड नहीं दिखाओ।
भाई किसी सुबुध की न हँसी उड़ाओ, आशीष दो न पर को,पर को भुलाओ ॥२३९॥

ज्यों ही विकार लहरें मन में उठें तो, तत्काल योग त्रय से उनको समेटो।
औचित्य अश्व जब भी पथ भूलता हो, ले लो लगाम कर में अनुकूलता हो ॥२४०॥

हे! भव्य गौतम! भवोदधि तैर पाया, क्यों व्यर्थ ही रुक गया तट पास आया।
ले ले छलांग झट से अब तो धरा पै, आलस्य छोड़ वरना दुख ही वहाँ पै ॥२४१॥

श्रद्धा समेत चलते बुध धार्मिकों की, सेवा सुभक्ति करते उनके गुणों की।
मिश्री मिले वचन जो नित बोलते हैं, वात्सल्य अंग धरते, दृग खोलते हैं ॥२४२॥

योगी सुयोगरत हो गिरि हो अकम्पा, धारो सदैव उर जीव दयाऽनुकम्पा।
धर्मोपदेश नित दो तज वासना को, ऐसा करो कि जिन धर्म प्रभावना हो ॥२४३॥

वादी सुतापस निमित्त सुशास्त्र ज्ञाता, श्री सिद्धिमान, वृष के उपदेश दाता।
विद्या-विशारद, कवीश विशेषवक्ता, होता प्रचार इनसे वृष की महत्ता ॥२४४॥

(१९) सम्यग्ज्ञान सूत्र

सत् शास्त्र को सुन, हिताहित बोध पाओ, आदेय हेय समझो, सुख चूँकि चाहो।
आदेय को झट भजो, तज हेय भाई! इत्थं न हो कुगति से पुनि हो सगाई ॥२४५॥

आदेश, ज्ञान प्रभु का शिव पंथ पंथी, पाके स्व में विचरते, तज सर्वग्रंथि।
सम्यक्त्व योग तप संयम ध्यान धारे, काटें कुकर्म, निज जीवन को सुधारें ॥२४६॥

ज्यों ज्यों श्रुताम्बुनिधि में डुबकी लगाता, त्यों त्यों व्रती नव नवीन प्रमोद पाता।
वैराग्य भाव बढ़ता श्रुतभावना हो, श्रद्धान हो दृढ़, नहीं फिर वासना हो ॥२४७॥

सूची भले ही कर से गिर भी गई हो, खोती कभी न यदि डोर लगी हुई हो।
देही ससूत्र यदि हो श्रुत बोध वाला, होता विनष्ट भव में न, रहे खुशाला ॥२४८॥

भाई भले तुम बनो बुध मुख्य नेता, वक्ता कवी विविध-वाङ्मय वेद वेत्ता।
आराधना यदि नहीं दृग की करोगे, तो बार-बार तन धार दुखी बनोगे ॥२४९॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा, शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा।
होगा विशारद जिनागम में भले ही, आत्मा त्वदीय दुख से भव में रुले ही ॥२५०॥

आत्मा न आतम अनातम को लखेगा, सम्यक्त्वपात्र किस भाँति अहो बनेगा।
आचार्य देव कहते बन वीतरागी, क्यों व्यर्थ दुःख सहता, तज राग रागी ॥२५१॥

तत्त्वावबोधि सहसा जिससे जगेगा, चांचल्यचित्त जिससे वश में रहेगा।
आत्मा विशुद्ध जिससे शशि सा बनेगा, होगा वही 'विमलज्ञान' स्व-सौख्य देगा ॥२५२॥

माहात्म्य ज्ञान गुण का यह मात्र सारा, रागी विराग बनता तज राग खारा।
मैत्री सदैव जग से रखता सुचारा, शुद्धात्म में विचरता, सुख का अपारा ॥२५३॥

आत्मा अनंत, निज शून्य उपाधियों से, अत्यन्त भिन्न पर से, विधि बंधनों से।
ऐसा निरंतर निजातम देखते हैं, वे ही समग्र जिनशासन जानते हैं ॥२५४॥

हूँ काय से विकल, केवल केवली हूँ, मैं एक हूँ विमल ज्ञायक हूँ बली हूँ।
जो जानता स्वयं को इस भाँति स्वामी, निर्भ्रान्त हो वह जिनागम पारगामी ॥२५५॥

साधू समाधिरत हो निज को विशुद्ध, जाने, बने सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध।
रागी स्व को समझ राग-मयी विचारा, होता न मुक्त भव से,दुख हो अपारा ॥२५६॥

जो जानते मुनि निजातम को यदा हैं, वे जानते नियम से पर को तदा हैं।
है जानना स्वपर को इक साथ होता, ऐसा जिनागम रहा, दुख सर्व खोता ॥२५७॥

जो एक को सहज से मुनि जानते हैं, वे सर्व को समझते जब जागते हैं।
यों ईश का सदुपदेश सुनो हमेशा, संक्लेश द्वेष तज शीघ्र बनो महेशा ॥२५८॥

सद्बोधि रूप सर में डुबकी लगा ले, संतप्ता तू स्नपित हो सुख तृप्ति पा ले।
तो अंत में बल अनंत ज्वलंत पाके, विश्राम ले, अमित काल स्वधाम जाके ॥२५९॥

अर्हन्त स्वीय गृह को द्रुत जा रहे हैं, वे शुद्ध-द्रव्य गुण पर्यय पा रहे हैं।
जो जानता यति उन्हें निज जानता है, संमोह कर्म उसका झट भागता है ॥२६०॥

ज्यों वित्त बाँट स्वजनों नहिं दूसरों में, भोगी सुभोग करता दिन रात्रियों में।
पा नित्य-ज्ञान निधि,नित्य नितांत ज्ञानी, त्यों हो सुखी,न रमता पर में अमानी ॥२६१॥

(२०) सम्यक्चारित्र सूत्र

(व्यवहार चारित्र सूत्र)

होते सुनिश्चय-नयाश्रित वे अनूप, चारित्र और तप निश्चय सौख्य कूप।
पै व्यावहार-नय-आश्रित ना स्वरूप, चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥२६२॥

जो त्यागना अशुभ को शुभ को निभाना, मानो उसे हि व्यवहार चरित्र बाना।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे, जाते सदैव व्यवहारतया पुकारें ॥२६३॥

चारित्र के मुकुट से सिर ना सजोगे, आरूढ़ संयममयी रथ पै न होगे।
स्वाध्याय में रत रहो तुम तो भले ही, ना मुक्ति-मंजिल मिले, दुख ना टले ही ॥२६४॥

देता क्रिया रहित ज्ञान नहीं विराम, मार्गज्ञ हो यदि चलो न, मिले न धाम।
किंवा नहीं यदि चले अनुकूल वात, पाता न पोत तट को यह सत्य बात ॥२६५॥

चारित्र-शून्य नर जीवन ही व्यथा है, तो आगमाध्ययन भी उसकी वृथा है।
अन्धा-कदापि कुछ भी जब ना लखेगा, जाज्वल्यमान कर दीपक क्या करेगा? ॥२६६॥

अत्यल्प भी बहुत है श्रुत ही उन्हीं का, जो संयमी, सतत ध्यान धरूँ उन्हीं का।
सागार का बहुत भी श्रुत बोध 'भारा', चारित्र को न जिसने उर में सुधारा ॥२६७॥

(निश्चय चारित्र)

आत्मार्थ आतम निजातम में समाता, सच्चा सुनिश्चय चरित्र वही कहाता।
है भव्य पावन पवित्र चरित्र पालो, पालो अपूर्व पद को, निज को दिपालो ॥२६८॥

शुद्धात्म को समझ के परमोपयोगी, है पाप-पुण्य तजता, धर योग योगी।
ओ निर्विकल्प-मय चारित है कहाता, मेरे समा निकट भव्यन को सुहाता ॥२६९॥

रागाभिभूत बन तू पर को लखेगा, भाई शुभाशुभ विभाव खरीद लेगा।
तो वीतराग मय चारित से गिरेगा, संसार बीच पर-चारित से फिरेगा ॥२७०॥

हो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा, शुद्धात्म में विचरता जब साधु चंगा।
सम्यक्त्व बोधमय आतम देख पाता, आत्मीय चारित सुधारक है कहाता ॥२७१॥

आतापनादि तप से तन को तपाना, अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना।
है मित्र! बाल तप संयम ओ कहाता, ऐसा जिनेश कहते, भव में घुमाता ॥२७२॥

लो! मास-मास उपवास करे रुची से, अत्यल्प भोजन करे, न डरे किसी से।
पै आत्मबोध बिन मूढ़ व्रती बनेगा, ना धर्म लाभ लवलेश उसे मिलेगा ॥२७३॥

चारित्र ही परम धर्म यथार्थ में है, साधू जिसे शममयी लख साधते हैं।
मोहादि से रहित आतम भाव प्यारा, माना गया समय में शम साम्य सारा ॥२७४॥

मध्यस्थ भाव समभाव, विराग भाव, चारित्र, धर्ममय भाव, विशुद्ध भाव।
आराधना स्वयम की पद सात सारे, हैं भिन्न-भिन्न, पर आशय एक धारे ॥२७५॥

शास्त्रज्ञ हो श्रमण हो समधी तपस्वी, हो वीतराग व्रत संयम में यशस्वी।
जो दुःख में व सुख में समता रखेगा, शुद्धोपयोग उस ही क्षण में लखेगा ॥२७६॥

शुद्धोपयोग दृग है वर बोध-भानु, निर्वाण सिद्ध शिव भी उसको हि जानूँ।
मानूँ उसे श्रमणता मन में बिठा लूँ, वन्दूँ उसे नित, नमूँ निज को जगा लूँ ॥२७७॥

शुद्धोपयोग-वश साधु सुसिद्ध होते, स्वात्मोत्थ-सातिशय शाश्वत सौख्य जोते।
जाती कही न जिसकी महिमा कभी भी, अन्यत्र छोड़ जिसको सुख ना कहीं भी ॥२७८॥

वे मोह राग रति रोष नहीं किसी से, धारें सुसाम्य सुख में दुख में रुची से।
होके बुभुक्षु न हि भिक्षु मुमुक्षु हो के, आते हुए सब शुभाशुभ कर्म रोके ॥२७९॥

(समन्वय सूत्र)

है वीतराग व्रत साध्य सदा सुहाता, होता सराग व्रत साधन, साध्यदाता।
तो पूर्व साधन, अनन्तर साध्य धारो, संपूर्ण बोध मिलता, शिव को पधारो ॥२८०॥

त्यों भीतरी कलुषता मिटती चलेगी, त्यों बाहरी विमलता बढ़ती बढ़ेगी।
देही प्रदोष मन में रखता जभी है, ओ! बाह्य दोष सहता, करता तभी है।
रे! पंक भीतर सरोवर में रहा है, जो बाह्य में जल कलंकित हो रहा है ॥२८१॥

मायाभिमान मद मोह विहीन होना, है भाव शुद्धि, जिससे शिव सिद्धि लो ना।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा, यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥२८२॥

जो पंच पाप तज, पावन पुण्य पाता, हो दूर भी अशुभ से शुभ को जुटाता।
रागादि भाव फिर भी यदि ना तजेगा, शुद्धात्म को न मुनि होकर भी भजेगा ॥२८३॥

तो आदि में अशुभ को, शुभ से मिटाओ, शुद्धोपयोग बल से, शुभ को हटाओ।
यों ही अनुक्रमण से कर कार्य योगी, ध्याओ निजात्म-जिनको,सुख शांति होगी ॥

चारित्र नष्ट जब हो दृग बोध घाते, जाते सुनिश्चय सही रह वे न पाते।
हो या न हो विलय पै दृग बोध का रे! जावे चरित्र, मत यों व्यवहार का रे ॥२८५॥

श्रद्धा पुरी सुरपुरी सम जो सजाओ, ताला वहाँ सुतप संवर का लगाओ।
पातालगामिनि क्षमामय खातिका हो, प्राकार गुप्तिमय हो नभ छू रहा हो ॥२८६॥

औ धैर्य से धनुष-त्यागमयी सुधारो, सद्ध्यान बाण बल से विधि को विदारो।
जेता बनो विधि रणांगन के मुनीश! होओ विमुक्त भव से जगदीश धीश ॥२८७॥

(२१) साधना सूत्र

उद्बोध प्राप्त कर लो गुरु गीत गा लो, जीतो क्षुधा, विषय से मन को बचा लो।
निद्राजयी बन दृढ़ासन को लगालो,पश्चात् सभी तुम निजातम ध्यान पालो ॥२८८॥

संपूर्ण ज्ञान-मय ज्योति शिखा जलेगी, अज्ञान मोह-तम रात तभी मिटेगी।
हो नष्ट रागरति रोषमयी प्रणाली, उत्कृष्ट सौख्य मिलता, मिटती भवाली ॥२८९॥

दु:संग से बच जिनागम चित्त देना, एकांत वास करना धृति धार लेना।
सूत्रार्थ चिंतन तथा गुरु-वृद्ध सेवा, ये ही उपाय शिव के मिल जाय मेवा ॥२९०॥

हो चाहते मुनि पुनीत समाधि पाना, साथी, व्रती श्रमण या बुध को बनाना।
एकांतवास करना भय त्याग देना, शास्त्रानुसार मित भोजन मात्र लेना ॥२९१॥

जो अल्प, शुद्ध, तप वर्धक अन्न लेते, क्या वैद्य औषध उन्हें कुछ काम देते।
ना गृद्धता अशन में रखते न लिप्सा, वे वैद्य हो, कर रहे अपनी चिकित्सा ॥२९२॥

प्राय: अतीव रससेवन हानिकारी, उन्मत्तता उछलती उससे विकारी।
पक्षी समूह, फल-फूल लदे द्रुमों को, ज्यों कष्ट दें, मदन त्यों विषयी जनों को ॥२९३॥

जो सर्व-इन्द्रिय जयी मित भोज पाते, एकांत में शयन आसन भी लगाते।
रागादि दोष, उनको लख काँप जाते, पीते दवा उचित, रोग विनाश पाते ॥२९४॥

आ, व्याधियाँ न जब लौं तुमको सताती, आती जरा न जब लौं तन को सुखाती।
ना इन्द्रियाँ शिथिल हों जब लौं तुम्हारी, धारो स्वधर्म तब लौं शिव सौख्यकारी ॥२९५॥

(२२) द्विविध धर्म सूत्र

सन्मार्ग हैं श्रमण श्रावक भेद से दो, उन्मार्ग शेष, उनको तज शीघ्र से दो।
मृत्युंजयी अजर हैं अज हैं बली हैं, ऐसा सदा कह रहे 'जिन केवली' हैं ॥२९६॥

'स्वाध्याय ध्यान' यति धर्म प्रधान जानो, भाई बिना न इनके यति को न मानो।
है धर्म, श्रावक करे नित दान पूजा, ऐसा करें न, वह श्रावक है न दूजा ॥२९७॥

होता सुशोभित पदों अपने गुणों से, साधु सुसंस्तुत वही सब श्रावकों से।
पै साधु हो यदि परिग्रह भार धारे, सागार श्रेष्ठ उनसे गृहधर्म पा रे ॥२९८॥

कोई प्रलोभवश साधु बना हुआ हो, पै शक्तिहीन व्रत पालन में रहा हो।
तो श्रावकाचरण ही करता कराता, ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥२९९॥

श्री श्रावकाचरण में व्रत पंच होते, हैं सात शील व्रत ये विधि पंक धोते।
जो एक या इन व्रतों सबको निभाता, है 'भक्त श्रावक' वही जग में कहाता ॥३००॥

(२३) श्रावक धर्म सूत्र

चारित्र-धारक गुरो! करुणा दिखा दो, चारित्र का विधि-विधान हमें सिखा दो।
ऐसा सदैव कह श्रावक भव्य प्राणी, चारित्र धारण करें सुन सन्त वाणी ॥३०१॥

जो सप्तधा व्यसन सेवन त्याग देते, भाई कभी फल उदुम्बर खा न लेते।
वे भव्य दार्शनिक श्रावक नाम पाते, धीमान धार दृग को निज धाम जाते ॥३०२॥

रे मद्यपान परनारि कुशील-खोरी, अत्यंत क्रूरतम दंड, शिकार चोरी।
भाई असत्यमय भाषण द्यूत क्रीड़ा, ये सात हैं व्यसन, दें दिन रैन पीड़ा ॥३०३॥

है मांस के अशन से मति दर्प छाता, तो दर्प से मनुज को मद पान भाता।
है मद्य पीकर जुआ तक खेल लेता, यों सर्व दोष करके दुख मोल लेता ॥३०४॥

रे मांस के अशन से जब व्योम गामी, आकाश से गिर गया वह विप्र स्वामी।
ऐसी कथा प्रचलिता सबने सुनी है, वे मांस भक्षण अतः तजते गुणी हैं ॥३०५॥

जो मद्य पान करते मदमत्त होते, वे निन्द्य कार्य करते दुख बीज बोते।
सर्वत्र दुःख सहते दिन-रैन रोते, कैसे बने फिर सुखी जिन धर्म खोते ॥३०६॥

निष्कम्प मेरु सम जो जिन भक्ति न्यारी, जागी, विराग जननी उर मध्य प्यारी।
वे शल्यहीन बनते रहते खुशी से, निश्चिंत हो, निडर, ना डरते किसी से ॥३०७॥

संसार में विनय की गरिमा निराली, है शत्रु मित्र बनता मिलती शिवाली।
धारे अतः विनय श्रावक भव्य सारे, जावे सुशीघ्र भववारिधि के किनारे ॥३०८॥

हिंसा, मृषा वचन, स्तेय कुशीलता ये, मूर्च्छा परिग्रह इन्हीं वश हो व्यथाएँ।
है पंच पाप इनका इक देश त्याग, होता 'अणुव्रत' धरें जग जाय भाग ॥३०९॥

हा! बंध छेद वध निर्बल प्राणियों का, संरोध अन्न जल पाशव मानवों का।
क्रोधादि से मत करो टल जाय हिंसा, जो एक देश व्रत पालक हो अहिंसा ॥३१०॥

भू-गो सुता-विषय में न असत्य लाना, झूठी गवाह न धरोहर को दबाना।
यों स्थूल सत्य व्रत है यह पंचधा रे! मोक्षेच्छु श्रावक जिसे रुचि संग धारे ॥३११॥

मिथ्योपदेश न करो, सहसा न बोलो, स्त्री का रहस्य अथवा पर का न खोलो।
ना कूटलेखन लिखो कुटिलाइता से, यों स्थूल सत्य-व्रत धार बचो व्यथा से ॥३१२॥

राष्ट्रानुकूल चलना 'कर' ना चुराना, ले चौर्य द्रव्य नहिं चोरन को लुभाना।
धंधा मिलावट करो न, अचौर्य पालो, हा! नाप-तौल नकली न कभी चला लो ॥३१३॥

स्त्री मात्र को निरखते अविकारता से, क्रीड़ा अनंग करते न निजी प्रिया से।
होते कदापि न हि अन्य विवाह पोषी, कामी अतीव बनते न स्वदारतोषी ॥३१४॥

निस्सीम संग्रह परिग्रह का विधाता, है दोष का, बस रसातल में गिराता।
तृष्णा अनंत बढ़ती सहसा उसी से, उद्दीप्त ज्यों अनल दीपक तेल-घी से ॥३१५॥

गार्हस्थ्य के उचित जो कुछ काम के हैं, सागार सीमित परिग्रह को रखे हैं।
सम्यक्त्व धारक उसे न कभी बढ़ावें, रागाभिभूत मन को न कभी बनावें ॥३१६॥

अत्यल्प ही कर लिया परिमाण भाई! लेऊँ पुनः कुछ जरूरत जो कि आई।
ऐसा विचार तक ना तुम चित्त लाओ, संतोष धार कर जीवन को चलाओ ॥३१७॥

है सात शील व्रत श्रावक भव्य प्यारे! सातों व्रतों फिर गुणव्रत तीन न्यारे।
देशावकाशिक दिशा विरती सुनो रे! 'आनर्थ दण्ड विरती' इनको गुणो रे ॥३१८॥

सीमा विधान करना हि दशों दिशा में, माना गया वह दिशाव्रत है धरा में।
आरम्भ सीमित बने इस कामना से, सागार साधन करे इसका मुदा से ॥३१९॥

होते विनष्ट व्रत हो जिस देश में ही, जाओ वहाँ मत कभी तुम स्वप्न में भी।
देशावकाशिक वही ऋषि देशना है, धारो उसे विनशती चिर वेदना है ॥३२०॥

हैं व्यर्थ कार्य करना हि अनर्थदण्ड, हैं चार भेद इसके अघ श्वभ्र कुंड।
हिंसोपदेश, अति हिंसक शस्त्र देना, दुर्ध्यान यान चढ़ना, नित मत्त होना।
होना सुदूर इनसे बहु कर्म खोना, आनर्थ दण्ड विरती तुम शीघ्र लो ना ॥३२१॥

अत्यल्प बंधन अवश्यक कार्य से हो, अत्यंत बंध अनवश्यक कार्य से हो।
कालादि क्योंकि इक में सहयोगि होते, पै अन्य में जब अपेक्षित वे न होते ॥३२२॥

ज्यादा बको मत रखो अघ शस्त्र को भी, तोड़ो न भोग परिमाण बनो न लोभी।
भद्दे कभी वचन भी हँसते न बोलो, ना अंग व्यंग करते दृग मींच खोलो ॥३२३॥

है संविभाग अतिथिव्रत मोक्षदाता, भोगोपभोग परिमाण सुखी बनाता।
शुद्धात्म सामयिक प्रोषध से दिखाता, यों चार शैक्ष्यव्रत हैं यह छंद गाता ॥३२४॥

ना कंद मूल फल[१] फूल[२]-पलादि[३] खाओ, रे! स्वप्न में तक इन्हें मन में न लाओ।
औ क्रूर कार्य न करो, न कभी कराओ, आजीविका बन अहिंसक ही चलाओ।
यों कार्य का अशन का परिमाण बाँधो, भोगोपभोग परिमाण सहर्ष साधो ॥३२५॥

उत्कृष्ट, सामयिक से गृह धर्म भाता, सावद्य कर्म जिससे कि विराम पाता।
यों जान मान बुध हैं अघ त्याग देते, आत्मार्थ सामयिक साधन साध लेते ॥३२६॥

सागार सामयिक में मन ज्यों लगाता, सच्चे सुधी श्रमण के सम साम्य पाता।
हे भव्य! सामयिक को अतएव धारो, भाई किसी तरह से निज को निहारो ॥३२७॥

आ जाय सामायिक में यदि अन्य चिन्ता, तो आर्तध्यान बनता दुख दे तुरन्ता।
निस्सार सामयिक हो उसका नितान्त, संसार हो फिर भला किस भाँति सांत? ॥३२८॥

१. पंच औदुम्बर फलों का त्याग। २. जिन फूलों से हिंसा अधिक व फल कम मिलता है उन फूलों का (नीम आदि) त्याग। ३. मांसादि

संस्कार है न तन का न कुशीलता है, आरम्भ ना अशन प्रोषध में तथा है।
लो पूर्ण त्याग इनका इक देश या लो, धारो सुसामयिक, प्रोषध पूर्ण पा लो ॥३२९॥

दो शुद्ध अन्न यति को समयानुकूल, देशानुकूल, प्रतिकूल कभी न भूल।
तो संविभाग अतिथिव्रत ओ बनेगा, रे! स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य देगा ॥३३०॥

आहार औ अभय औषध और शास्त्र, ये चार दान जग में सुख-पूर-पात्र।
दातव्य हैं अतिथि के अनुसार चारों, 'सागार शास्त्र' कहता, धन को बिसारो ॥३३१॥

सागार मात्र इक भोजन दान से भी, लो धन्य धन्यतम हो धनवान से भी।
दुःपात्र पात्र इस भाँति विचार से क्या? ले आम पेट भर ले!! बस पेड़ से क्या? ॥३३२॥

शास्त्रानुकूल जल अन्न दिये न जाते, भिक्षार्थ भिक्षुक वहाँ न कदापि जाते।
वे धीर वीर चलते समयानुकूल, लेते न अन्न प्रतिकूल कदापि भूल ॥३३३॥

सागार जो अशन को मुनि को खिलाके, पश्चात् सभी मुदित हों अवशेष पाके।
वे स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य पाते, संसार में फिर कदापि न लौट आते ॥३३४॥

जो काल से डर रहे उनको बचाना, माना गया अभयदान अहो सुजाना!
है चंद्रमा अभयदान ज्वलन्त दीखे, तो शेष दान उडु हैं पड़ जाय फीके ॥३३५॥

(२४) श्रमण धर्मसूत्र

(अ) समता

ये वीतराग अनगार भदंत प्यारे, साधू ऋषी श्रमण संयत सन्त सारे।
शास्त्रानुकूल चलते हमको चलाते, वन्दूँ उन्हें विनय से शिर को झुकाते ॥३३६॥

गंभीर नीर-निधि से, शशि से सुशान्त, सर्वंसहा अवनि से, मणि मंजुकान्त।
तेजोमयी अरुण से, पशु से निरीह, आकाश से निरवलम्बन ही सदीह।
निस्संग वायु सम, सिंह-समा प्रतापी, स्थायी रहे उरग से न कहीं कदापि।
अत्यन्त ही सरल हैं मृग से सुडोल, जो भद्र हैं वृषभ से गिरि से अडोल।
स्वाधीन साधु गज सादृश स्वाभिमानी, वे मोक्ष शोध करते सुन सन्त वाणी ॥३३७॥

हैं लोक में कुछ यहाँ फिरते असाधु, भाई तथापि सब वे कहलायें साधु।
मैं तो असाधु-जन को कह दूँ न साधु, पै साधु के स्तवन में मन को लगा दूँ ॥३३८॥

सम्यक्त्व के सदन हो वर-बोध-धाम, शोभे सुसंयमतया तप से ललाम।
ऐसे विशेष गुण आकर हो सुसाधु, तो बार-बार शिर मैं उनको नवा दूँ ॥३३९॥

एकान्त से 'मुनि', न कानन-वास से हो, स्वामी नहीं 'श्रमण' भी कचलोंच से हो।
ओंकार जाप जप, 'ब्राह्मण' ना बनेगा, छालादि को पहन, 'तापस' ना कहेगा ॥३४०॥

विज्ञान पा नियम से 'मुनि' हो यशस्वी, सम्यक्तया तप तपे तब हो 'तपस्वी'।
होगा वही 'श्रमण' जो समता धरेगा, पा ब्रह्मचर्य फिर 'ब्राह्मण' भी बनेगा ॥३४१॥

हो जाय साधु गुण पा, गुण खो असाधु, होवो गुणी, अवगुणी न बनो न स्वादु।
जो राग रोष भर में समभाव धारें, वे वन्द्य पूज्य निज से निज को निहारें ॥३४२॥

जो देह में रम रहे विषयी कषायी, शुद्धात्म का स्मरण भी करते न भाई!
वे साधु होकर बिना दृग, जी रहे हैं, पीयूष छोड़कर हा ! विष पी रहे हैं ॥३४३॥

भिक्षार्थ भिक्षु चलते बहु दृश्य पाते, अच्छे बुरे श्रवण में कुछ शब्द आते।
वे बोलते न फिर भी सुन मौन जाते, लाते न हर्ष मन में न विषाद लाते ॥३४४॥

स्वाध्याय ध्यान तप में अति मग्न होते, जो दीर्घ काल तक हैं निशि में न सोते।
तत्त्वार्थ चिन्तन सदा करते मनस्वी, निद्राजयी इसलिए बनते तपस्वी ॥३४५॥

जो अंग संग रखता ममता नहीं है, है संग-मान तजता समता धनी है।
है साम्यदृष्टि रखता सब प्राणियों में, ओ साधु धन्य, रमता नहिं गारवों में ॥३४६॥

जो एक से मरण जीवन को निहारें, निन्दा मिले यश मिले सम भाव धारें।
मानापमान, सुख-दुःख समान मानें, वे धन्य साधु, सम लाभ-अलाभ जानें ॥३४७॥

आलस्य-हास्य तज शोक अशोक होते, ना शल्य गारव कषाय निकाय ढोते।
ना भीति बंधन-निदान-विधान होते, वे साधु वन्द्य हम को, मन-मैल धोते ॥३४८॥

हो अंग राग अथवा छिद जाय अंग, भिक्षा मिलो, मत मिलो इक सार ढंग।
जो पारलौकिक न लौकिक चाह धारे, वे साधु ही बस! बसें उर में हमारे ॥३४९॥

हैं हेयभूत विधि आस्रव रोक देते, आदेय भूत वर संवर लाभ लेते।
अध्यात्म ध्यान यम योग प्रयोग द्वारा, हैं साधु लीन निज में तज भोग सारा ॥३५०॥

जीतो सहो दृगसमेत परीषहों को, शीतोष्ण भीति रति प्यास क्षुधादिकों को।
स्वादिष्ट इष्ट फल कायिक कष्ट देता, ऐसा 'जिनेश' कहते शिव-पन्थ-नेता ॥३५१॥

शास्त्रानुसार तब ही तप साधना हो, ना बार-बार दिन में इक बार खाओ।
ऐसा ऋषीश उपदेश सभी सुनाते, जो भी चले तदनुसार स्वधाम जाते ॥३५२॥

मासोपवास करना वनवास जाना, आतापनादि तपना तन को सुखाना।
सिद्धान्त का मनन, मौन सदा निभाना, ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥३५३॥

विज्ञान पा प्रथम, संयत भाव धारो, रे! ग्राम में नगर में कर दो विहारो।
संवेग शान्तिपथ पै गममान होवो, होके प्रमत्त मत गौतम! काल खोओ ॥३५४॥

होगा नहीं जिन यहाँ, जिन धर्म आगे, मिथ्यात्व का जब प्रचार नितान्त जागे।
हे! भव्य गौतम! अतः अब धर्म पाया, धारो प्रमाद पल भी न, जिनेश गाया ॥३५५॥

हो बाह्य भेष न कदापि प्रमाण भाई! देता जभी तक असंयत में दिखाई।
रे! वेष को बदल के विष जो कि पीता, पाता नहीं मरण क्या-रह जाय जीता? ॥

हो लोक को विदित ये जिन साधु आये, शास्त्रादि साधन सुभेष अतः बनाये।
औ बाह्य संयम न, लिंग बिना चलेगा, जो अंतरंग यम साधन भी बनेगा ॥३५७॥

ये दीखते जगत में मुनि साधुओं के, हैं भेष, नैक-विध भी गृहवासियों के।
वे अज्ञ मूढ़ जिन को जब धारते हैं, है मोक्ष मार्ग यह यों बस मानते हैं ॥३५८॥

निस्सार मुष्टि वह अन्दर पोल वाली, बेकार नोट यह है नकली निराली।
हो काँच भी चमकदार सुरत्न जैसा, ज्यों जौहरी परखता नहिं मूल्य पैसा।
पूर्वोक्त द्रव्य जिस भाँति मुधा दिखाते, है मात्र भेष उस भाँति सुधी बताते ॥३५९॥

है भाव लिङ्ग वर मुख्य अतः सुहाता, है द्रव्य लिङ्ग परमार्थ नहीं कहाता।
है भाव ही नियम से गुण दोष हेतु, होता भवोदधि वही भव-सिन्धु-सेतु ॥३६०॥

ये ''भाव शुद्धतम हो'' जब लक्ष्य होता, है बाह्य संग तजना फलरूप होता।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता, जो बाह्य त्याग उसका वह व्यर्थ जाता ॥३६१॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते, पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते।
वे भाव-शून्य करनी करते कराते, लेते न लाभ शिव का, दुख ही उठाते ॥३६२॥

काषायिकी परिणती जिसने घटा दी, औ निन्द्य जान तन की ममता मिटा दी।
शुद्धात्म में निरत है तज संग संगी, हो पूज्य साधु वह पावन भावलिंगी ॥३६३॥

(२५) व्रतसूत्र

हिंसादि पंच अघ हैं तज दो अघों को, पालो सभी परम पंच महाव्रतों को।
पश्चात् जिनोदित पुनीत विरागता का, आस्वाद लो, कर अभाव विभावता का ॥३६४॥

वे ही महाव्रत नितान्त सुसाधु धारें, नि:शल्य हो विचरते त्रय-शल्य टारें।
मिथ्या निदान व्रतघातक शल्य माया, ऐसा जिनेश उपदेश हमें सुनाया ॥३६५॥

है मोक्ष की यदि व्रती करता उपेक्षा, चारित्र ले विषय की रखता अपेक्षा।
तो मूढ़ भूल मणि जो अनमोल देता, धिक्कार काँच मणि का वह मोल लेता ॥३६६॥

जो जीव थान, कुल मार्गण योनियों में, पा जीवबोध, करुणा रखता सबों में।
आरम्भ त्याग उनकी करता न हिंसा, हो साधु का विमल भाव वही 'अहिंसा' ॥३६७॥

निष्कर्ष है परम पावन आगमों का, भाई! उदार उर धार्मिक आश्रमों का।
सारे व्रतों सदन है, सब सद्गुणों का, आदेय है विमल जीवन साधुओं का।
है विश्वसार जयवन्त रहे अहिंसा, होती रहे सतत ही उसकी प्रशंसा ॥३६८॥

ना क्रोध भीतिवश स्वार्थ तराजु तोलो, लेओ न मोल अघ हिंसक बोल बोलो।
होगा द्वितीय व्रत 'सत्य' वही तुम्हारा, आनन्द का सदन जीवन का सहारा ॥३६९॥

जो भी पदार्थ परकीय उन्हें न लेते, वे साधु देखकर भी बस छोड़ देते।
है स्तेय भाव तक भी मन में न लाते, 'अस्तेय' है व्रत यही जिन यों बताते ॥३७०॥

ये द्रव्य चेतन अचेतन जो दिखाते, साधू न भूलकर भी उनको उठाते।
ना दाँत साफ करने तक सींक लेते, अत्यल्प भी बिन दिए कुछ भी न लेते ॥३७१॥

भिक्षार्थ भिक्षु जब जाँय, वहाँ न जाँय, जो स्थान वर्जित रहा अघ हो न पाँय।
वे जाँय जान कुल की मित भूमि लौं ही, 'अस्तेय' धर्म परिपालन श्रेष्ठ सो ही ॥३७२॥

अब्रह्म सेवन अवश्य अधर्म मूल, है दोष-धाम दुख दे जिस भाँति शूल।
निर्ग्रन्थ वे इसलिए सब ग्रन्थ त्यागी, सेवे न मैथुन कभी मुनि वीतरागी ॥३७३॥

माता सुता बहन सी लखना स्त्रियों को, नारी-कथा न करना भजना गुणों को।
'श्री ब्रह्मचर्य व्रत' है यह मार-हन्ता, है पूज्य वन्द्य जग में सुख दे अनन्ता ॥३७४॥

जो अन्तरंग बहिरंग निसंग होता, भोगाभिलाष बिन चारित भार ढोता।
है पाँचवाँ व्रत 'परिग्रह त्याग' पाता, पाता स्वकीय सुख,तू दुख क्यों उठाता ॥३७५॥

दुर्गन्ध अंग तक "संग" जिनेश गाया, यों देह से खुद उपेक्षित हो दिखाया।
क्षेत्रादि बाह्य सब संग अतः विसारो, होके निरीह तन से तुम मार मारो ॥३७६॥

जो माँगना नहिं पड़े गृहवासियों से, ना हो विमोह ममतादिक भी जिन्हों से।
ऐसे परिग्रह रखें उपयुक्त होवे, पै अल्प भी अनुपयुक्त न साधु ढोवें ॥३७७॥

जो देह देश-श्रम-काल बलानुसार, आहार ले यदि यती करता विहार।
तो अल्प कर्म मल से वह लिप्त होता, औचित्य एक दिन है भव-मुक्त होता ॥३७८॥

जो बाह्य में कुछ पदार्थ यहाँ दिखाते, वे वस्तुतः नहिं परिग्रह हैं कहाते।
मूर्छा परिग्रह परन्तु यथार्थ में है, श्री वीर का सदुपदेश मिला हमें है ॥३७९॥

ना संग संकलन संयत हो करो रे! शास्त्रादि साधन सुचारु सदा धरो रे।
ज्यों संग ही विहग ना रखते अपेक्षा, त्यों संयमी समरसी, सबकी उपेक्षा ॥३८०॥

आहार-पान-शयनादिक खूब पाते, पै अल्प में सकल कार्य सदा चलाते।
सन्तोष-कोष, गतरोष अदोष साधु, वे धन्य धन्यतर हैं शिर मैं नवा दूँ ॥३८१॥

ना स्वप्न में न मन में न किसी दशा में, लेते नहीं अशन वे मुनि हैं निशा में।
जिह्वा-जयी जितकषाय जिताक्ष जोगी, कैसे निशाचर बनें, बनते न भोगी ॥३८२॥

आकीर्ण पूर्ण धरती जब थावरों से, सूक्ष्मातिसूक्ष्म जग जंगम जंतुओं से।
वे रात्रि में न दिखते युग लोचनों से, कैसे बने अशन शोधन साधुओं से? ॥३८३॥

(२६) समिति-गुप्तिसूत्र

'ईर्या' रही समिति आद्य द्वितीय 'भाषा', तीजी 'गवेषण' धरे नश जाय आशा।
'आदान निक्षिपण'-पुण्यनिधान चौथा, व्युत्सर्ग' पंचम रही सुन भव्य श्रोता।
कायादि भेद वश भी त्रय गुप्तियाँ हैं, ये गुप्तियाँ समितियाँ जननी-समा हैं ॥३८४॥

माता स्वकीय सुत की जिस भाँति रक्षा, कर्त्तव्य मान करती, बन पूर्ण दक्षा,
गुप्त्यादि अष्ट जननी उस भाँति सारी, रक्षा सुरत्नत्रय की करती हमारी ॥३८५॥

निर्दोष से चरित पालन पोषनार्थ, उल्लेखिता समितियाँ गुरु से यथार्थ,
ये गुप्तियाँ इसलिये गुरु ने बताईं, काषायिकी परिणती मिट जाय भाई! ॥३८६॥

निर्दोष गुप्तित्रय पालक साधु जैसे, निर्दोष हो समितिपालक ठीक वैसे।
वे तो अगुप्ति भव-मानस-मैल धोते, ये जागते समिति-जात प्रमाद खोते ॥३८७॥

जी जाय जीव अथवा मर जाय हिंसा, ना पालना समितियाँ बन जाय हिंसा।
होती रहे वह भले कुछ बाह्य हिंसा, तू पालता समितियाँ पलती अहिंसा ॥३८८॥

जो पालते समितियाँ, तब द्रव्य-हिंसा, होती रहे, पर कदापि न भाव-हिंसा।
होती असंयमतया वह भाव हिंसा, हो जीव का न वध, पै बन जाय हिंसा ॥३८९॥

हिंसा द्विधा सतत वे करते कराते, जो मत्त संयत असंयत हैं कहाते।
पै अप्रमत्त मुनि धार द्विधा अहिंसा, होते गुणाकर, करूँ उनकी प्रशंसा ॥३९०॥

आता यती समिति से उठ बैठ जाता, भाई तदा यदि मनो मर जीव जाता।
साधू तथापि नहिं है अघकर्म पाता, दोषी न हिंसक, 'अहिंसक' ही कहाता ॥३९१॥

संमोह को तुम परिग्रह नित्य मानो, हिंसा प्रमाद भर को सहसा पिछानो।
अध्यात्म आगम अहो इस भाँति गाता, भव्यात्म को सतत शान्ति सुधा पिलाता ॥३९२॥

ज्यों पद्मिनी वह सचिक्कण पत्रवाली, हो नीर में न सड़ती रहती निराली।
त्यों साधु भी समितियाँ जब पालता है, ना पाप-लिप्त बनता सुख साधता है ॥३९३॥

आचार हो समितिपूर्वक दुःख-हर्त्ता, है धर्म-वर्धक तथा सुख-शान्ति-कर्त्ता।
है धर्म का जनक चालक भी वही है, धारो उसे मुकति की मिलती मही है ॥३९४॥

आता यती विचरता, उठ बैठ जाता, हो सावधान तन को निशि में सुलाता।
औ, बोलता,अशन एषण साथ पाता, तो पाप-कर्म उसके नहि पास आता ॥३९५॥

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो, जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो।
ले स्वीय कार्य कुछ पै दिन में चलोगे, 'ईर्यामयी समिति' को तब पा सकोगे ॥३९६॥

संसार के विषय में मन ना लगाना, स्वाध्याय पंच विध ना करना कराना।
एकाग्र चित्त करके चलना जभी हो, ईर्या सही समिति है पलती तभी ओ ॥३९७॥

हों जा रहे पशु यदा जल भोज पाने, जाओ न सन्निकट भी उनके सयाने।
हे साधु! ताकि तुमसे भय वे न पावें, जो यत्र तत्र भय से नहिं भाग जावें ॥३९८॥

आत्मार्थ या निजपरार्थ परार्थ साधु, निस्सार भाषण करे न, स्वधर्म स्वादु।
बोले नहीं वचन हिंसक मर्म-भेदी, 'भाषामयी समिति' पालक आत्म-वेदी ॥३९९॥

बोलो न कर्ण कटु निंद्य कठोर भाषा, पावे न ताकि जग जीव कदापि त्रासा।
हो पाप-बन्ध वह सत्य कभी न बोलो, घोलो सुधा न विष में, निज नेत्र खोलो ॥४००॥

हो एक नेत्र नर को कहना न काना, औ चोर को कुटिल चोर नहीं बताना।
या रुग्ण को तुम न रुग्ण कभी कहो रे! ना! ना! नपुंसक नपुंसक को कहो रे ॥४०१॥

साधू करे न परनिंदन आत्म-शंसा, बोले न हास्य, कटु-कर्कश-पूर्ण भाषा।
स्वामी! करे न विकथा, मितमिष्ट बोले, 'भाषामयी समिति' में नित ले हिलोरें ॥४०२॥

हो स्पष्ट, हो विशद, संशयनाशिनी हो, हो श्राव्य भी सहज हो सुखकारिणी हो।
माधुर्य-पूर्ण मित मार्दव-सार्थ-भाषा, बोले महामुनि, मिले जिससे प्रकाशा ॥४०३॥

जो चाहता न फल दुर्लभ भव्य दाता, साधू अयाचक यहाँ बिरला दिखाता।
दोनों नितान्त द्रुत ही निजधाम जाते, विश्रान्त हो सहज में सुख शान्ति पाते ॥४०४॥

उत्पादना-अशन-उद्‌गम दोष हीन, आवास अन्न शयनादिक ले, स्वलीन।
वे एषणा समिति साधक साधु प्यारे, हो कोटिशः नमन ये उनको हमारे ॥४०५॥

आस्वाद प्राप्त करने बल कान्ति पाने, लेते नहीं अशन जीवन को बढ़ाने।
पै साधु ध्यान तप संयम बोध पाने, लेते अतः अशन अल्प अये! सयाने ॥४०६॥

गाना सुना गुण गुणा गण षट् पदों का, पीता पराग रस फूल-फलों दलों का।
देता परन्तु उनको न कदापि पीड़ा, होता सुतृप्त, करता दिन-रैन क्रीड़ा ॥४०७॥

दाता यथा-विधि यथाबल दान देते, देते बिना दुख उन्हें मुनि दान लेते।
यों साधु भी भ्रमर से मृदुता निभाते, वे 'एषणा समिति' पालक हैं कहाते ॥४०८॥

उद्दिष्ट, प्रासुक भले, यदि अन्न लेते, वे साधु, दोष मल में व्रत फेंक देते।
उद्दिष्ट भोजन मिले, मुनि वीतरागी, शास्त्रानुसार यदि ले, नहिं दोष भागी ॥४०९॥

जो देखभाल, कर मार्जन पिच्छिका से, शास्त्रादि वस्तु रखना, गहना दया से।
'आदान निक्षिपण' है समिती कहाती, पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥४१०॥

एकान्त हो विजन विस्तृत ना विरोध, सम्यक् जहाँ बन सके त्रसजीव शोध।
ऐसा अचित्त थल पै मलमूत्र त्यागे, 'व्युत्सर्गरूप-समिती' गह साधु जागे ॥४११॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाना, संसार के विषय से मन को हटाना।
होती तभी 'मनसगुप्ति' सुमुक्ति-दात्री, ऐसा कहें श्रमण श्री-जिनशास्त्र-शास्त्री ॥४१२॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाते, सावद्य से वचन योग यती हटाते।
होती तभी 'वचन-गुप्ति' सुखी बनाती, कैवल्य ज्योति झट से जब जो जगाती ॥४१३॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाते, ना काय योग अघ कर्दम में फसाते।
ओ 'कायगुप्ति', जड़ कर्म विनाशती है, विज्ञान-पंकज-निकाय विकासती हैं ॥४१४॥

प्राकार ज्यों नगर की करता सुरक्षा, किंवा सुवाड़ कृषि की करती सुरक्षा।
त्यों गुप्तियाँ परम पंच महाव्रतों की, रक्षा सदैव करतीं मुनि के गुणों की ॥४१५॥

जो गुप्तियाँ समितियाँ नित पालते हैं, सम्यक्तया स्वयं को ऋषि जानते हैं।
वे शीघ्र बोध बल दर्शन धारते हैं, संसार सागर किनार निहारते हैं ॥४१६॥

(२७) आवश्यक सूत्र

हो भेद ज्ञानमय भानु उदीयमान, मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण।
ऐसे चरित्र गुण में पुनि पुष्टि लाने, होते 'प्रतिक्रमण' आदिक ये सयाने ॥४१७॥

सद्ध्यान में श्रमण अन्तरधान होके, रागादिभाव पर हैं पर-भाव रोके।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे, जाते 'अवश्यक' कहे उन कार्य सारे ॥४१८॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है, हो के समाहित स्व में मन मारना है।
हीराभ सामयिक में द्युति जाग जाती, सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती ॥४१९॥

जो साधु हो न 'षडवश्यक' पालता है, चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है, आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है ॥४२०॥

सामायिकादि षडवश्यक साथ पालें, जो साधु निश्चय सुचारित पूर्ण प्यारे।
वे वीतरागमय शुद्धचरित्रधारी, पूजो उन्हें परम उन्नति हो तुम्हारी ॥४२१॥

आलोचना नियम आदिक मूर्त्तमान, भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान।
स्वाध्याय ये, चरित रूप गये न माने, चारित्र आन्तरिक आत्मिक है सयाने ॥४२२॥

संवेगधारक यथोचित शक्ति वाले, ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधु पाले।
ऐसा नहीं यदि बने यह श्रेष्ठ होगा, श्रद्धान तो दृढ़ रखो, द्रुत मोक्ष होगा ॥४२३॥

सामायिकं जिनप की स्तुति वंदना हो, कायोतसर्ग समयोचित साधना हो।
सच्चा प्रतिक्रमण हो अघप्रत्यख्यान, पाले मुनीश षडवश्यक बुद्धिमान ॥४२४॥

लो! काँच को कनक को सम ही निहारे, वैरी सहोदर जिन्हें इकसार सारे।
स्वाध्याय ध्यान करते मन मार देते, वे साधु सामयिक को उर धार लेते ॥४२५॥

वाक्योग रोक जिसने मन मौन धारा, औ वीतराग बन आतम को निहारा।
होती समाधि परमोत्तम ही उसी की, पूजूँ उसे, शरण और नहीं किसी की ॥४२६॥

आरम्भ दम्भ तज के त्रय गुप्ति पालें, हैं पंच इन्द्रियजयी समदृष्टि वाले।
स्थाई सुसामयिक है उनमें दिखाता, यो 'केवली' परम-शासन गीत गाता ॥४२७॥

हैं साम्यभाव रखते त्रस थावरों में, स्थाई सुसामयिक हो उन साधुओं में।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे! तू, भाई! अगाध भव-वारिधि मध्य सेतु ॥४२८॥

आदीश आदि जिन हैं उन गीत गाना, लेना सुनाम उनके यश को बढ़ाना।
औ पूजना नमन भी करना उन्हीं को, होता जिनेश स्तव है प्रणमूँ उसी को ॥४२९॥

द्रव्यों थलों समयभाव प्रणालियों में, हैं दोष जो लग गये, अपने व्रतों में।
वाक्काय से मनस से उनको मिटाने, होती प्रतिक्रमण की विधि है सयाने ॥४३०॥

आलोचना गरहणा करता स्वनिन्दा, जो साधु दोष करता अघ का न धंधा।
होता 'प्रतिक्रमण भाव' मयी वही है, तो शेष द्रव्यमय हैं रुचते नहीं हैं ॥४३१॥

रागादि भावमल को मन से हटाता, हो निर्विकल्प मुनि है निज आत्मध्याता।
सारी क्रिया वचन की तजता सुहाता, सच्चा प्रतिक्रमण लाभ वही उठाता ॥४३२॥

स्वाध्याय रूप सर में अवगाह पाता, सम्पूर्ण दोष मल को पल में धुलाता।
सद्ध्यान ही विषम कल्मष पातकों का, सच्चा प्रतिक्रमण है धर सद्गुणों का ॥४३३॥

है देह नेह तज के 'जिन-गीत' गाते, साधु प्रतिक्रमण हैं करते सुहाते।
कायोतसर्ग उनका वह है कहाता, संसार में सहज शाश्वत शांतिदाता ॥४३४॥

घोरोपसर्ग यदि हो असुरों सुरों से, या मानवों मृगगणों मरुतादिकों से।
कायोतसर्गरत साधु सुधी तथापि, निस्पन्द शैल, लसते समता-सुधा पी ॥४३५॥

हो निर्विकल्प तज जल्प-विकल्प सारे, साधू अनागत शुभाशुभ भाव टारें।
शुद्धात्म ध्यान सर में डुबकी लगाते, वे प्रत्यखान गुण धार कहैं कहाते ॥४३६॥

जो आतमा न तजता निज भाव को है, स्वीकारता न परकीय विभाव को है।
द्रष्टा बना निखिल का परिपूर्ण ज्ञाता, 'मैं ही रहा वह' सुधी इस भाँति गाता ॥४३७॥

जो भी दुराचरण है मुझ में दिखाता, वाक्काय से मनस से उसको मिटाता।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मैं, तो बार-बार तन धार नहीं मरूँ मैं ॥४३८॥

(२८) तप सूत्र

अ- बाह्य तप

जो ब्रह्मचर्य रहना, 'जिन' ईश पूजा, सारी कषाय तजना, तजना न ऊर्जा।
ध्यानार्थ अन्न तजना 'तप' ये कहाते, प्रायः सदा भविक लोग इन्हें निभाते ॥४३९॥

है मूल में द्विविध रे! तप मुक्तिदाता, जो अन्तरंग-बहिरंग-तया सुहाता।
हैं अंतरंग तप के छह भेद होते, हैं भेद बाह्य-तप के उतने हि होते ॥४४०॥

'ऊनोदरी' 'अनशना' नित पाल रे! तू, 'भिक्षा क्रिया' रसविमोचन मोक्ष हेतु।
'संलीनता' दुख-निवारक कायक्लेश, ये बाह्य के छह हुए कहते जिनेश ॥४४१॥

जो कर्म नाश करने समयानुसार, है त्यागता अशन को, तन को सँवार।
साधु वही 'अनशना तप' साधता है, होती सुशोभित तभी जग साधुता है ॥४४२॥

आहार अल्प करते श्रुत-बोध पाने, वे तापसी समय में कहलाँय स्याने।
भाई बिना श्रुत उपोषण प्राण खोना, आत्मावबोध उससे न कदापि होना ॥४४३॥

ना इन्द्रियाँ शिथिल हों मन में न पापी, ना रोग काऽनुभव काय करे कदापि।
होती वही अनशना, जिससे मिली हो, आरोग्यपूर्ण नव चेतनता खिली हो ॥४४४॥

उत्साह-चाह-विधि-राह पदानुसार, आरोग्य-काल निज-देह बलानुसार।
ऐसा करें 'अनशना' ऋषि साधु सारे, शुद्धात्म को नित निरन्तर वे निहारें ॥४४५॥

लेते हुए अशन को उपवास साधें, जो साधु इन्द्रियजयी निज को अराधें।
हों इन्द्रियाँ शमित तो उपवास होता, धोता कुकर्म मल को, सुख को संजोता ॥४४६॥

मासोपवास करते लघु-धी यमी में, ना हो विशुद्धि उतनी, जितनी सुधी में।
आहार नित्य करते फिर भी तपस्वी, होते विशुद्ध उर में, श्रुत में यशस्वी ॥४४७॥

जो एक-एक कर ग्रास घटा घटाना, औ भूख से अशन को कम न्यून पाना।
'ऊनोदरी' तप यही व्यवहार से है, ऐसा कहें गुरु, सुदूर विकार से हैं ॥४४८॥

दाता खड़े कलश ले हँसते मिले तो, लेऊँ तभी अशन प्रांगण में मिले तो।
इत्यादि नेम मुनि ले अशनार्थ जाते, भिक्षा क्रिया यह रही गुरु यों बताते ॥४४९॥

स्वादिष्ट मिष्ट अति इष्ट गरिष्ट खाना-घी दूध आदि रस हैं इनको न खाना।
माना गया तप वही 'रस त्याग' नामा, धारूँ उसे, वर सकूँ वर-मुक्ति-रामा ॥४५०॥

एकान्त में, विजन कानन मध्य जाना, श्रद्धा समेत शयनासन को लगाना।
होता वही तप सुधारस पेय प्याला, प्यारा 'विविक्त शयनासन' नाम वाला ॥४५१॥

वीरासनादिक लगा, गिरि गह्वरों में, नाना प्रकार तपना वन कन्दरों में।
है 'कायक्लेश' तप, तापस तापतापी, पुण्यात्म हो धर उसे तज पाप पापी ॥४५२॥

जो तत्त्व-बोध सुखपूर्वक हाथ आता, आते हि दुःख झट से वह भाग जाता।
वे कायक्लेश समवेत अतः सुयोगी, तत्त्वानुचिंतन करें समयोपयोगी ॥४५३॥

जाता किया जब इलाज कुरोग का है, ना दुःख हेतु सुख हेतु न रुग्ण का है।
भाई इलाज करने पर रुग्ण को ही, हो जाय दुःख सुख भी सुन भव्य-मोही ॥४५४॥

त्यों मोहनाश सविपाकतया यदा हो, ना दुःख हेतु सुख हेतु नहीं तदा हो।
पै मोह के विलय में रत है वसी को, होता कभी दुख कभी सुख भी उसी को ॥४५५॥

(आ) आभ्यन्तर तप

'प्रायश्चिता' 'विनय' औ 'ऋषि-साधु-सेवा', 'स्वाध्याय' 'ध्यान' धरते वरबोध मेवा।
'व्युत्सर्ग', स्वर्ग अपवर्ग महर्घ-दाता, हैं अंतरंग तप ये छह मोक्ष धाता ॥४५६॥

जो भाव है समितियों व्रत संयमों का, प्रायश्चिता वह सही दम इन्द्रियों का।
ध्याऊँ उसे विनय से उर में बिठाता, होऊँ अतीत विधि से विधि सो विधाता ॥४५७॥

काषायिकी विकृतियाँ मन में न लाना, आ जाँय तो जब कभी उनको हटाना।
गाना स्वकीय गुणगीत सदा सुहाती, 'प्रायश्चिता' वह सुनिश्चय नाम पाती ॥४५८॥

वर्षों युगों भवभवों समुपार्जितों का, होता विनाश तप से भवबंधनों का।
प्रायश्चिता इसलिए 'तप' ही रहा है, त्रैलोक्य-पूज्य प्रभु ने जग को कहा है ॥४५९॥

आलोचना अरु प्रतिक्रमणोभया है, व्युत्सर्ग, छेद, तप, मूल, विवेकता है।
श्रद्धान और परिहार प्रमोदकारी, प्रायश्चिता दशविधा इस भाँति प्यारी ॥४६०॥

विक्षिप्त-चित्तवश आगत दोषकों की, हेयों अयोग्य अनभोग-कृतादिकों की।
आलोचना निकट जा गुरु के करो रे, भाई, नहीं कुटिलता उर में धरो रे ॥४६१॥

माँ को यथा तनुज, कार्य अकार्य को भी, है सत्य, सत्य कहता, उर पाप जो भी।
मायाभिमान तज, साधु तथा अघों की, गाथा कहें स्वगुरु को, दुखदायकों की ॥४६२॥

है शल्य शूल चुभते जब पाद में जो, दुर्वेदनानुभव पूरण अंग में हो।
ज्यों ही निकाल उनको हम फेंक देते, त्यों ही सुशीघ्र सुख सिंचित श्वास लेते ॥४६३॥

जो दोष को प्रकट ना करता छुपाता, मायाभिभूत यति भी अति दुःख पाता।
दोषाभिभूत मन को गुरु को दिखाओ, निःशल्य ही विमल हो सुख-शांति पाओ ॥४६४॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावें, वे साम्य के सदन में सहसा सुहावें।
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना में, आलोचना बस यही 'जिनदेशना' में ॥४६५॥

प्रत्यक्ष सम्मुख सुधी गुरु सन्त आते, होना खड़े, कर जुड़े शिर को झुकाते।
दे आसनादि करना गुरु-भक्ति सेवा, माना गया विनय का तप ओ सदैवा ॥४६६॥

चारित्र, ज्ञान, तप दर्शन, औपचारी, ये पाँच हैं विनय भेद, प्रमोदकारी।
धारो इन्हें विमल-निर्मल जीव होगा, दुःखावसान, सुख आगम शीघ्र होगा ॥४६७॥

है एक का वह समादर सर्व का है, तो एक का यह अनादर विश्व का है।
हो घात मूल पर तो द्रुम सूखता है, दो मूल में सलिल, पूरण फूलता है ॥४६८॥

है मूल ही विनय आर्हत-शासनों का, हो संयमी विनय से घर सद्गुणों का।
वे धर्म-कर्म तप भी उनके वृथा हैं, जो दूर हैं विनय से सहते व्यथा हैं ॥४६९॥

उद्धार का विनय द्वार उदार भाता, होता यही सुतप संयम-बोध धाता।
आचार्य संघ भर की इससे सदा हो, आराधना, विनय से सुख-सम्पदा हो ॥४७०॥

विद्या मिली विनय से इस लोक में भी, देती सही सुख वहाँ परलोक में भी।
विद्या न पै विनय-शून्य सुखी बनाती, शाली, बिना जल कभी फल-फूल लाती ॥४७१॥

अल्पज्ञ किन्तु विनयी 'मुनि' मुक्ति पाता, दुष्टाष्ट-कर्म-दल को पल में मिटाता।
भाई अतः विनय को तज ना कदापि, सच्ची सुधा समझ के उसको सदा पी ॥४७२॥

जो अन्न-पान-शयनासन आदिकों को, देना यथा-समय सज्जन साधुओं को।
कारुण्य-द्योतक यही भवताप-हारी, सेवामयी सुतप है शिवसौख्यकारी ॥४७३॥

साधू विहार करते करते थके हों, वार्धक्य की अवधि पै बस आ रुके हों।
श्वानादि से व्यथित हो नृप से पिटाये, दुर्भिक्ष रोगवश पीड़ित हों सताये।
रक्षा संभाल करना उनकी सदैवा, जाता कहा 'सुतप' तापस साधु-सेवा ॥४७४॥

'सद्वाचना' प्रथम है फिर 'पूछना' है, है 'आनुप्रेक्ष' क्रमशः 'परिवर्तना' है।
'धर्मोपदेश' सुखदायक है सुधा है, स्वाध्याय-रूप-तप पावन पंचधा है ॥४७५॥

आमूलतः बल लगा विधि को मिटाने, पै ख्याति-लाभ-यश पूजन को न पाने।
सिद्धान्त का मनन जो करता-कराता, पा तत्त्वबोध बनता सुखधाम धाता ॥४७६॥

होते नितान्त समलंकृत गुप्तियों से, तल्लीन भी विनय में मृदु वल्लियों से।
एकाग्र-मानस जितेंद्रिय अक्ष-जेता, स्वाध्याय के रसिक वे ऋषि साधु नेता ॥४७७॥

सद्ध्यान सिद्धि जिन आगम ज्ञान से हो, तो निर्जरा करम की निज ध्यान से हो।
हो मोक्ष-लाभ सहसा विधि निर्जरा से, स्वाध्याय में इसलिए रम जा जरा से ॥४७८॥

स्वाध्याय-सा न तप है, नहिं था, न होगा, यों मानना अनुपयुक्त कभी न होगा।
सारे इसे इसलिए ऋषि संत त्यागी, धारें, बनें विगतमोह, बनें विरागी ॥४७९॥

जो बैठना शयन भी करना तथापि, चेष्टा न व्यर्थ तन की करना कदापि।
व्युत्सर्ग रूप तप है, विधि को तपाता, पीताभ हेम-सम आतम को बनाता ॥४८०॥

कायोतसर्ग तप से मिटती व्यथाएँ, हो ध्यान चित्त स्थिर द्वादश भावनाएँ।
काया निरोग बनती मति जाड्य जाती, संत्रास सौख्य सहने उर शक्ति आती ॥४८१॥

लोकेषनार्थ तपते उन साधुओं का, ना शुद्ध हो तप महाकुलधारियों का।
शंसा अतः न अपने तप की करो रे, जाने न अन्य जन यों तप धार लो रे ॥४८२॥

स्वामी समाहत विबोध सुवात से है, उद्दीप्त भी तप-हुताशन शील से है।
वैसा कुकर्म वन को पल में जलाता, जैसा वनानल घने वन को जलाता ॥४८३॥

(२९) ध्यान सूत्र

ज्यों मूल, मुख्य द्रुम में जग में कहाता, या देह में प्रमुख मस्तक है सुहाता।
त्यों ध्यान ही प्रमुख है मुनि के गुणों में, धर्मों तथा सकल आचरणों व्रतों में ॥४८४॥

सद्ध्यान है मनस की स्थिरता सुधा है, तो चित्त की चपलता त्रिवली त्रिधा है।
चिन्ताऽनुप्रेक्ष क्रमशः वह भावना है, तीनों मिटें बस यही मम कामना है ॥४८५॥

ज्यों नीर में लवण है गल लीन होता, योगी समाधि सर में लवलीन होता।
अध्यात्मिका धधकती फलरूप ज्वाला, है नाशती द्रुत शुभाशुभ कर्म शाला ॥४८६॥

व्यापार योगत्रय का जिसने हटाया, संमोह राग रति रोषन को नशाया।
ध्यानाग्नि दीप्त उसमें उठती दिखाती, है राख खाख करती विधि को मिटाती ॥४८७॥

बैठे करे स्वमुख उत्तर पूर्व में वा, ध्याता सुधी, स्थित सुखासन में सदैवा।
आदर्श-सा विमल चारित काय वाला, पीता समाधि-रस पूरित पेय प्याला ॥४८८॥

पल्यंक आसन लगाकर आत्म ध्याता, नासाग्र को विषय लोचन का बनाता।
व्यापार योग त्रय का कर बंद ज्ञानी, उच्छ्वास श्वास गति मंद करें अमानी ॥४८९॥

गर्हा दुराचरण की अपनी करो रे! माँगो क्षमा जगत से मन मार लो रे!
हो अप्रमत्त तब लों निज आत्म ध्याओ, प्राचीन कर्म जब लौं तुम ना हटाओ ॥४९०॥

निस्पंद योग जिसके, मन मोद पाता- सद्ध्यान लीन, नहिं बाहर भूल जाता।
ध्यानार्थ ग्राम पुर हो, वन-काननी हो, दोनों समान उसको, समता धनी हो ॥४९१॥

पीना समाधि-रस को यदि चाहते हो, जीना युगों युगयुगों तक चाहते हो।
अच्छे बुरे विषय ऐंद्रिक हैं तथापि, ना रोष-तोष करना, उनमें कदापि ॥४९२॥

निस्संग है निडर नित्य निरीह त्यागी, वैराग्य-भाव परिपूरित है विरागी।
वैचित्र्य भी विदित है भव का जिन्हों को, वे ध्यान-लीन रहते, भजते गुणों को ॥४९३॥

आत्मा अनंत दृग, केवल-बोध-धारी, आकार से पुरुष शाश्वत सौख्यकारी।
योगी नितान्त उसका उर ध्यान लाता, निर्द्वन्द्व पूर्ण बनता अघ को हटाता ॥४९४॥

आत्मा तना तन, निकेतन में अपापी, योगी उसे पृथक से लखते तथापि।
संयोग-जन्य तन आदि उपाधियों को, वे त्याग,आप अपने गुणते गुणों को ॥४९५॥

मेरे नहीं 'पर' यहाँ पर का न मैं हूँ, हूँ एक हूँ विमल केवल ज्ञान मैं हूँ।
यों ध्यान में सतत चिंतन जो करेगा, ध्याता स्व का बन, सुमुक्ति रमा वरेगा ॥४९६॥

जो ध्यान में न निजवेदन को करेगा, योगी निजी-परम-तत्त्व नहीं गहेगा।
सौभाग्यहीन नर क्या निधि पा सकेगा? दुर्भाग्य से दुखित हो निज रो सकेगा ॥४९७॥

पिण्डस्थ आदिम पदस्थन रूप-हीन, हैं ध्यान तीन इनमें तुम हो विलीन।
छद्मस्थता, सु-जिनता, शिव-सिद्धिता ये, तीनों हि तत् विषय हैं क्रमशः सुहायें ॥४९८॥

खड्गासनादिक लगा युगवीर स्वामी, थे ध्यान में निरत अंतिम तीर्थ नामी।
वे श्वभ्र स्वर्गगत दृश्य निहारते थे, संकल्प के बिन समाधि सुधारते थे ॥४९९॥

भोगों, अनागत गतों व तथागतों की, कांक्षा जिन्हें न स्मृति, क्यों फिर आगतों की?
ऐसे महर्षि-जन कार्मिक काय को ही, क्षीणातिक्षीण करते, बनते विमोही ॥५००॥

चिंता करो न कुछ भी मन से न डोलो, चेष्टा करो न तन से मुख से न बोलो।
यों योग में गिरि बनो, शुभ ध्यान होता, आत्मा निजात्मरत ही सुख बीज बोता ॥५०१॥

है ध्यान में रम रहा सुख पा रहा है, शुद्धात्म ही बस जिसे अति भा रहा है।
पाके कषाय न कदापि दुखी बनेगा, ईर्षा विषाद मत शोक नहीं करेगा ॥५०२॥

वे धीर साधु उपसर्ग परीषहों से, होते न भीरु चिगते अपने पदों से।
मायामयी अमर सम्मद वैभवों में, ना मुग्ध लुब्ध बनते निज ऋद्धियों में ॥५०३॥

वर्षों पड़ा बहुत-सा तृण ढेर चारा, ज्यों अग्नि से झट जले बिन देर सारा।
त्यों शीघ्र ही भव-भवार्जित कर्म-कूड़ा, ध्यानाग्नि से जल मिटे सुन भव्य मूढ़ा ॥५०४॥

(३०) अनुप्रेक्षा सूत्र

स्वाधीन चित्त कर तू शुभ-ध्यान द्वारा, कर्त्तव्य आदिम यही मुनि भव्य प्यारा।
सद्ध्यान संतुलित होकर भी सदा ये, भावो सदा सुखद द्वादश-भावनायें ॥५०५॥

संसार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है, अन्यत्व औ अशुचि, अध्रुव, संवरा है।
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये, चिन्तें सुधी सतत द्वादश-भावनायें ॥५०६॥

हैं जन्म से मरण भी वह जन्म लेता, वार्धक्य भी सतत यौवन साथ देता।
लक्ष्मी अतीव चपला बिजली बनी है, संसार ही तरल है स्थिर ही नहीं है ॥५०७॥

हे भव्य! मोह घट को झट पूर्ण फोड़ो, सद्यः क्षयी विषय को विष मान छोड़ो।
औ चित्त को सहज निर्विषयी बनाओ, औचित्य पूर्ण परमोत्तम सौख्य पाओ ॥५०८॥

अल्पज्ञ ही परिजनों धन-वैभवों को, है मानता 'शरण' पाशव गोधनों को।
ये हैं मदीय यह मैं उनका बताता, पै वस्तुतः शरण वे नहिं प्राण त्राता ॥५०९॥

मैं संग शल्य-त्रय को त्रययोग द्वारा, हूँ हेय जान तजता जड़ के विकारा।
मेरे लिए शरण त्राण प्रमाण प्यारी, हैं गुप्तियाँ समितियाँ भव-दुःखहारी ॥५१०॥

लावण्य का मद युवा करते सभी हैं, पै मृत्यु पा उपजते कृमि हो वही हैं।
संसार को इसलिए बुध सन्त त्यागी, धिक्कारते, न रमते उसमें विरागी ॥५११॥

ऐसा न लोक-भर में थल ही रहा हो, मैंने न जन्म मृत दुःख जहाँ सहा हो।
तू बार-बार तन धार मरा यहाँ है, तू ही बता स्मृति तुझे उसकी कहाँ है ॥५१२॥

दुर्लंघ्य है भवपयोधि अहो! अपारा, अक्षुण्ण जन्म-जल-पूरित पूर्ण खारा।
भारी जरा मगरमच्छ यहाँ सताते, हैं दुःख पाक, इसका गुरु हैं बताते ॥५१३॥

जो साधु रत्नत्रय-मंडित हो सुहाता, संसार में परम-तीर्थ वही कहाता।
संसार पार करता, लख क्योंकि मौका, हो रूढ़ रत्नत्रय रूप अनूप नौका ॥५१४॥

हे मित्र! आप अपने विधि के फलों को, हैं भोगते सकल जीव शुभाशुभों को।
तो कौन हो स्वजन? कौन निरा पराया? तू ही बता समझ में मुझको न आया ॥५१५॥

पूरा भरा दृग-विबोधमयी सुधा से, मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से।
संयोगजन्य सब शेष विभाव मेरे, रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥५१६॥

संयोग भाव-वश ही बहु दुःख पाया, हूँ कर्म के तपन तप्त, गया सताया।
त्यागूँ उसे यतन से अब चाव से मैं, विश्राम लूँ सघन चेतन छाव में मैं ॥५१७॥

तूने भवाम्बुनिधि मज्जित आतमा की, चिंता न की न अब लौं उस पै दया की।
पै बार-बार करता मृत साथियों की, चिंता दिवंगत हुए उन बंधुओं की ॥५१८॥

मैं अन्य हूँ तन निरा, तन से न नाता, ये सर्व भिन्न तुझसे सुत, तात, माता।
यों जान मान बुध पंडित साधु सारे, धारें न राग इनमें, निज को निहारें ॥५१९॥

शुद्धात्म वेदन-तया सम-दृष्टि-वाला, है वस्तुतः निरखता तन को निराला।
'अन्यत्व' रूप उसकी वह भावना है, भाऊँ उसे जब मुझे व्रत पालना है ॥५२०॥

निष्पन्न है जड़मयी पल हड्डियों से, पूरा भरा रुधिर मूत्र-मलादिकों से।
दुर्गन्ध द्रव्य झरते नव-द्वार द्वारा, ऐसा शरीर फिर भी सुख दे तुम्हारा? ॥५२१॥

जो मोह-जन्य जड़-भाव विभाव सारे, हैं त्याज्य यों समझ साधु उन्हें विसारें।
तल्लीन हो प्रशम में तज वासना को, भावें सही परम 'आस्रव भावना' को ॥५२२॥

वे गुप्ति औ समिति पालक अक्ष-जेता, औ अप्रमत्त परमातम-तत्त्ववेत्ता।
हैं कर्म के विविध आस्रव रोध पाते, हैं भावना परम 'संवर' की निभाते ॥५२३॥

है लोक का यह वितान असार सारा, संसार तीव्र-गति से गममान न्यारा।
यों जान मान मुनि हो शुभ ध्यान धारो, लोकाग्र में स्थित शिवालय को निहारो ॥५२४॥

स्वामी! जरा मरण-वारिधि में अनेकों, जो डूबते बह रहे उन प्राणियों को।
सद्धर्म ही शरण है गति, श्रेय दीप, पूजूँ उसे शिव लसे सहसा समीप ॥५२५॥

तो भी रहा सुलभ ही वर देह पाना, पै धर्म का श्रवण दुर्लभ है पचाना।
हो जाय प्राप्त जिससे कि क्षमा अहिंसा, ये भिन्न-भिन्न बन जाय शरीर हंसा ॥५२६॥

सद्धर्म का सुलभ है सुनना सुनाना, श्रद्धान पै कठिन है उस पै जमाना।
सन्मार्ग का श्रवण भी करते तथापि, होते कई स्खलित हैं मति मूढ़ पापी ॥५२७॥

श्रद्धान औ श्रवण भी 'जिन-धर्म' का हो, पै संयमाचरण तो अति दुर्लभा हो।
लेते सुधी रुचि सुसंयम में कई हैं, पाते तथापि उसको सहसा नहीं है ॥५२८॥

सद्भावना वश निजातम शोभती त्यों, निःछिद्र नाव जल में वह शोभती ज्यों।
नौका समान भवपार उतारती है, रे! भावना अमित दुःख विनाशती है ॥५२९॥

सच्चा प्रतिक्रमण, द्वादश भावनायें, आलोचना शुचि समाधि निजी कथायें।
भावो इन्हें, तुम निरंतर पाप त्यागो, शीघ्रातिशीघ्र जिससे निज-धाम भागो ॥५३०॥

(३१) लेश्या सूत्र

ये पीत, पद्म शशि शुक्ल सुलेश्यकायें, हैं धर्म ध्यान रत आतम की दशायें।
औ उत्तरोत्तर सुनिर्मल भी रही हैं, मन्दादि भेद इनके मिलते कई हैं ॥५३१॥

होती कषाय-वश योग-प्रवृत्ति लेश्या, है लूटती निधि सभी जिस भाँति वेश्या।
जो कर्मबन्ध जग चार प्रकार का है, हे मित्र! कार्य वह योग-कषाय का है ॥५३२॥

हैं कृष्ण नीलम कपोत कुलेश्यकायें, हैं पीत पद्म सित तीन सुलेश्यकायें।
लेश्या कही समय में छह भेद वाली, ज्यों ही मिटी समझ लो मिटती भवाली ॥५३३॥

मानी गई अशुभ आदिम लेश्यकायें, तीनों अधर्म-मय हैं दुख आपदायें।
आत्मा इन्हीं वश दुखी बनता वृथा है, पापी बना, कुगति जा सहसा व्यथा है ॥५३४॥

हैं तीन धर्ममय अंतिम लेश्यकायें, मानी गई शुभ सुधा सुख सम्पदायें।
ये जीव को सुगति में सब भेजतीं हैं, वे धारते नित इन्हें जग में व्रती हैं ॥५३५॥

हैं तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतमा कुलेश्या, हैं मन्द, मन्दतर, मन्दतमा सुलेश्या।
भाई! तथैव छह थान विनाश वृद्धि, प्रत्येक में वरतती इनमें, सुबुद्धि ॥५३६॥

भूले हुए पथिक थे पथ को मुधा से, थे आर्त्त पीड़ित छहों वन में क्षुधा से।
देखा रसाल तरु फूल-फलों लदा था, मानो उन्हें कि अशनार्थ बुला रहा था ॥
आमूल, स्कन्ध, टहनी झट काट डालें, औ तोड़-तोड़ फल-फूल रसाल खा लें।
यों तीन दीन क्रमशः धरते कुलेश्या, हैं सोचते कह रहे कर संकलेशा ॥५३७॥

है एक गुच्छ-भर को इक पक्व दाता, तोड़े बिना पतित को इक मात्र खाता।
यों शेष तीन क्रमशः धरते सुलेश्या, लेश्या उदाहरण ये कहते जिनेशा ॥५३८॥

ये क्रूरता अतिदुराग्रह दुष्टतायें, सद्धर्म को विकलता अदया दशायें।
वैरत्व औ कलह भाव विभाव सारे, हैं 'कृष्ण' के दुखद लक्षण, साधु टारें ॥५३९॥

अज्ञानता विषय की अतिगृद्धतायें, सद्बुद्धि की विकलता मतिमन्दतायें।
संक्षेप में समझ, लक्षण 'नील' के हैं, ऐसे कहें, श्रमण आलय शील के हैं ॥५४०॥

अत्यन्त शोक करना भयभीत होना, कर्त्तव्यमूढ़ बनना झट रुष्ट होना।
दोषी न निन्द्य पर को कहना बताना, 'कापोत' भाव सब ये इनको हटाना ॥५४१॥

आदेय, हेय अहिताहित-बोध होना, संसारि-प्राणि भर में समभाव होना।
दानी तथा सदय हो पर दुःख खोना, ये 'पीत' लक्षण इन्हें तुम धार लो ना ॥५४२॥

हो त्याग-भाव, नयता व्यवहार में हो, औ भद्रता, सरलता, उर कार्य में हो।
कर्त्तव्य मान करना गुरुभक्ति सेवा, ये 'पद्म' लक्षण क्षमा धर लो सदैवा ॥५४३॥

भोगाभिलाष मन में न कदापि लाना, औ देह-नेह रति-रोषन को हटाना।
ना पक्षपात करना, समता सभी में, ये 'शुक्ल' लक्षण मिलें मुनि में सुधी में ॥५४४॥

आ जाय शुद्धि परिणाम मन में जभी से, लेश्या विशुद्ध बनती, सहसा तभी से।
काषाय मन्द पड़ जाय अशांतिदायी, हो जाय आत्म-परिणाम विशुद्ध भाई ॥५४५॥

(३२) आत्मविकास सूत्र (गुणस्थान)

संमोह योग-वश आतम में अनेकों, होते विभिन्न परिणाम विकार देखो।
सर्वज्ञ-देव 'गुणथान' उन्हें बताया, आलोक से सकल को जब देख पाया ॥५४६॥

'मिथ्यात्व' आदिम रहा गुण-थान भाई, 'सासादना' वह द्वितीय अशान्ति दाई।
है 'मिश्र' है 'अविरती समदृष्टि' प्यारी, है 'एक देश विरती' धरते अगारी ॥

होती 'प्रमत्त विरती' गिर साधु जाता, हो 'अप्रमत्त विरती' निज पास आता।
स्वामी 'अपूर्व करणा' दुख को मिटाती, है 'आनिवृत्तिकरणा' सुख को दिलाती ॥५४७॥

है 'सांपराय अतिसूक्षम' लोभवाला, है 'शान्तमोह' 'गतमोह' निरा उजाला।
है 'केवली जिन सयोगि' 'अयोगी' न्यारे, इत्थं चतुर्दश सुनो! गुणथान सारे ॥५४८॥

तत्त्वार्थ में न करना शुचिरूप श्रद्धा, 'मिथ्यात्व' है वह कहें जिन शुद्ध बुद्धा।
मिथ्यात्व भी त्रिविध संशय नामवाला, दूजा गृहीत, अगृहीत तृतीय हाला ॥५४९॥

सम्यक्त्वरूप गिरि से गिर तो गई है, मिथ्यात्व की अवनि पै नहिं आ गई है।
'सासादना' यह रही निचली दशा है, मिथ्यात्व की अभिमुखी दुख की निशा है ॥५५०॥

जैसा दही-गुड़ मिलाकर स्वाद लोगे, तो भिन्न-भिन्न तुम स्वाद न ले सकोगे।
वैसे ही 'मिश्र गुणथानन' का प्रभाव, मिथ्यापना समपनाश्रित मिश्रभाव ॥५५१॥

छोड़ी अभी नहिं चराचर जीव हिंसा, ना इन्द्रियाँ दमित कीं तज भाव-हिंसा।
श्रद्धा परन्तु जिसने जिन में जमाई, होता वही 'अविरती समदृष्टि' भाई ॥५५२॥

छोड़ी नितान्त जिसने त्रस जीव हिंसा, छोड़ी परन्तु नहिं थावर जीव-हिंसा।
लेता सदा जिनप-पाद-पयोज स्वाद, हो 'एकदेश विरती' 'अलि' निर्विवाद ॥५५३॥

धारा महाव्रत सभी जिसने तथापि, प्रायः प्रमाद करता फिर भी अपापी।
शीलादि-सर्वगुण-धारक संग-त्यागी, होता 'प्रमत्त विरती' कुछ दोष-भागी ॥५५४॥

शीलाभिमंडित, व्रती गुण धार ज्ञानी, त्यागा प्रमाद जिसने बन आत्म-ध्यानी।
पै मोह को नहिं दबा न खपा रहा है, है 'अप्रमत्त विरती', सुख पा रहा है ॥५५५॥

जो भिन्न-भिन्न क्षण में चढ़ आठवें में, योगी अपूर्व परिणाम करें मजे में।
ऐसे अपूर्व परिणाम न पूर्व में हों, वे ही 'अपूर्व करणा गुणथान' में हो ॥५५६॥

जो भी अपूर्व परिणाम सुधार पाते, वे मोह के शमक, ध्वंसक या कहाते।
ऐसा जिनेन्द्र प्रभु ने हमको बताया, अज्ञान रूप तम को जिसने मिटाया ॥५५७॥

प्रत्येक काल इक ही परिणाम पाले, वे 'आनिवृत्ति करणा गुणथान' वाले।
ध्यानाग्नि से धधकती विधिकाननी को, हैं राख खाख करते, दुख की जनी को ॥५५८॥

कौसुम्ब के सदृश सौम्य गुलाब आभा, शोभायमान जिसके उर राग आभा।
हैं 'सूक्ष्मराग दशवें गुणस्थान' वाले, हैं वन्द्य, तू विनय से शिर तो नवां ले ॥५५९॥

ज्यों शुद्ध है शरद में सर-नीर होता, या निर्मली-फल डला जल क्षीर होता।
त्यों 'शान्त मोह' गुणधारक को निहाला, हो मोह सत्त्व, पर जीवन तो उजाला ॥५६०॥

सम्मोह हीन जिसका मन ठीक वैसा-हो स्वच्छ, हो स्फटिक भाजन नीर जैसा।
निर्ग्रन्थसाधु वह 'क्षीणकषाय' नामी, यों वीतराग कहते प्रभु विश्व-स्वामी ॥५६१॥

कैवल्य-बोधि रवि जीवन में उगा है, अज्ञानरूप तम तो फलतः भगा है।
पा लब्धियाँ नव, नवीन वही कहाता, त्रैलोक्य पूज्य परमातम या प्रमाता ॥५६२॥

स्वाधीन बोध दृग पाकर केवली हैं, जीता जभी स्वयं को जिन हैं बली हैं।
होते 'सयोगि जिन योग समेत ध्यानी', ऐसा कहे अमिट अव्यय आर्षवाणी ॥५६३॥

है अष्ट-कर्म-मल को जिनने हटाया, सम्यक्तया सकल आस्रव रोक पाया।
वे हैं, 'अयोगि जिन पावन केवली' हैं, हैं शील के सदन औ सुख के धनी हैं ॥५६४॥

आत्मा अतीत गुणथान बना जभी से, सानन्द ऊर्ध्व गति है करता तभी से।
लोकाग्र जा निवसता गुण अष्ट पाता, पाता न देह भव में नहिं लौट आता ॥५६५॥

वे कर्म-मुक्त, नित सिद्ध सुशान्त ज्ञानी, होते निरंजन न अंजन की निशानी।
सामान्य अष्ट-गुण आकर हो लसे हैं, लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं ॥५६६॥

(३३) सल्लेखना सूत्र

भाई सुनो तन अचेतन दिव्य नौका, तो जीव नाविक सचेतन है अनोखा।
संसार-सागर रहा दुख पूर्ण खारा, हैं तैरते ऋषि-महर्षि जिसे सुचारा ॥५६७॥

है लक्ष्य बिन्दु यदि शाश्वत सौख्य पाना, जाना मना विषय में मन को घुलाना।
दे देह को उचित वेतन तू सयाने, पाने स्वकीय सुख को, विधि को मिटाने ॥५६८॥

क्या धीर, कापुरुष, कायर क्या विचारा, हो काल का कवल लोक नितान्त सारा।
है मृत्यु का यह नियोग, नहीं टलेगा, तो धैर्य धार मरना, शिव जो मिलेगा ॥५६९॥

ओ एक ही मरण है मुनि पंडितों का, है आशु नाश करता शतशः भवों का।
ऐसा अतः मरण हो जिससे तुम्हारा, जो बार-बार मरना, मर जाय सारा ॥५७०॥

पाण्डित्य-पूर्ण मृति, पण्डित साधु पाता, निर्भ्रान्त हो अभय हो भय को हटाता।
तो एक साथ मरणोदधिपूर्ण पीता, मृत्युंजयी बन तभी चिरकाल जीता ॥५७१॥

वे साधु पाश समझे लघु दोष को भी, हो दोष ताकि न, चले रख होश को भी।
सद्धर्म और सधने तन को संभालें, हो जीर्ण-शीर्ण तन, त्याग स्वगीत गा लें ॥५७२॥

दुर्वार रोग तन में न जरा घिरी हो, बाधा पवित्र व्रत में नहिं आ परी हो।
तो देह-त्याग न करो, फिर भी करोगे, साधुत्व त्याग करके, भव में फिरोगे ॥५७३॥

'सल्लेखना' सुखद है सुख है सुधा है, जो अंतरंग-बहिरंग-तया द्विधा है।
आद्या, कषाय क्रमशः कृश ही कराना, है दूसरी बिन व्यथा तन को सुखाना ॥५७४॥

काषायिकी परिणती सहसा हटाते, आहार अल्प कर लें क्रमशः घटाते।
सल्लेखना व्रत सुधारक रुग्ण हों वे, तो पूर्ण अन्न तज दें, अति अल्प सोवें ॥५७५॥

एकान्त प्रासुक धरा, तृण की चटाई, संन्यस्त के मृदुल संस्तर ये न भाई।
आदर्श तुल्य जिसका मन हो उजाला, आत्मा हि संस्तर रहा उसका निहाला ॥५७६॥

हाला तथा कुपित नाग कराल काला, या भूत, यंत्र, विष निर्मित बाण भाला।
होते अनिष्ट उतने न प्रमादियों के, निम्नोक्त भाव जितने शठ साधुओं के ॥५७७॥

सल्लेखना समय में तजते न माया, मिथ्या-निदान त्रय को मन में जमाया।
वे साधु आशु नहिं दुर्लभ बोधि पाते, पाते अनन्त दुख ही भव को बढ़ाते ॥५७८॥

मायादि-शल्य-त्रय ही भव-वृक्ष-मूल, काटें उसे मुनि सुधी अभिमान भूल।
ऐसे मुनीश पद में नतमाथ होऊँ, पाऊँ पवित्र पद को शिवनाथ होऊँ ॥५७९॥

भोगाभिलाष समवेत कुकृष्णलेश्या, हो मृत्यु के समय में जिसको जिनेशा।
मिथ्यात्व कर्दम फँसा उस जीव को ही, हो बोधि दुर्लभतया, तज मोह मोही ॥५८०॥

प्राणांत के समय में शुचि शुक्ल लेश्या, जो धारता, तज नितान्त दुरन्त क्लेशा।
सम्यक्त्व में निरत नित्य,निदान त्यागी, पाता वही सहज बोधि बना विरागी ॥५८१॥

सद्बोधि की यदि तुम्हें चिर कामना हो, ज्ञानादि की सतत सादर साधना हो।
अभ्यास रत्नत्रय का करता, उसी को, आराधना वरण है करती सुधी को ॥५८२॥

ज्यों सीखता प्रथम, राजकुमार नाना- विद्या कला, असि-गदादिक को चलाना।
पश्चात् वही कुशलता बल योग्य पाता, तो धीर जीत रिपु को, जय लूट लाता ॥५८३॥

अभ्यास भूरि करता शुभ ध्यान का है, लेता सदैव यदि माध्यम साम्य का है।
तो साधु का सहज हो मन शान्त जाता, प्राणान्त के समय ध्यान नितान्त पाता ॥५८४॥

ध्याओ निजातम सदा निज को निहारो, अन्यत्र, छोड़ निज को, न करो विहारो।
संबंध मोक्ष-पथ से अविलम्ब जोड़ो, तो आपको नमन हो मम ये करोड़ों ॥५८५॥

साधु करे न मृति जीवन की चिकित्सा, ना पारलौकिक न लौकिक भोगलिप्सा।
'सल्लेखना' समय में बस साम्य धारें, संसार का अशुभ ही फल यों विचारें ॥५८६॥

लेना निजाश्रय सुनिश्चिय मोक्ष-दाता, होता पराश्रय दुरन्त अशान्ति-धाता।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी, देहादि में अरुचि ही शिव-सौख्यकारी ॥५८७॥

दोहा

'मोक्षमार्ग' पर नित चलो, दुख मिट सुख मिल जाय।
परम सुगन्धित ज्ञान की, मृदुल कली खिल जाय ॥

तृतीय खण्ड

तत्त्व-दर्शन

(३४) तत्त्वसूत्र

अल्पज्ञ मूढ़ जन ही भजते अविद्या, होते दुखी, नहिं सुखी तजते सुविद्या।
हो लुप्त गुप्त भव में बहुबार तातैं, कल्लोल ज्यों उपजते सर में समाते ॥५८८॥

रागादि-भाव भर को अघ-पाश मानें, वित्तादि वैभव महा-दुख खान जानें।
औ सत्य तथ्य समझें, जग प्राणियों में, मैत्री रखें, बुध सदैव चराचरों में ॥५८९॥

जो 'शुद्धता' परम 'द्रव्य स्वभाव' स्थाई, है 'पारमार्थ' 'अपरापर ध्येय' भाई।
औ वस्तु तत्त्व, सुन ये सब शब्द प्यारे, हैं भिन्न-भिन्न पर आशय एक धारें ॥५९०॥

होते पदार्थ नव, जीव अजीव न्यारा, है पुण्य-पाप, विधि आस्त्रव बंध खारा।
आराध्य हैं सुखद संवर निर्जरा हैं, आदेय हैं परम मोक्ष यही खरा है ॥५९१॥

है 'जीव' शाश्वत अनादि अनंत ज्ञाता, भोक्ता तथा स्वयम की विधि का विधाता।
स्वामी सचेतन तभी तन से निराला, प्यारा अरूप उपयोगमयी निहाला ॥५९२॥

भाई कभी अहित से डरता नहीं है, उद्योग भी स्वहित का करता नहीं है।
जो बोध, दुःख सुख का रखता नहीं है, है मानते मुनि, 'अजीव' उसे सही है ॥५९३॥

आकाश पुद्गल व धर्म, अधर्म काल, ये हैं 'अजीव' सुन तू अयि भव्य बाल।
रूपादि चार गुण पुद्गल में दिखाते, है मूर्त पुद्गल, न शेष, अमूर्त भाते ॥५९४॥

आत्मा अमूर्त नहिं इन्द्रिय-गम्य होता, होता तथापि नित, नूतन ढंग ढोता।
है आत्म की कुलषता विधि बन्ध हेतु, संसार हेतु विधि बन्धन जान रे! तू ॥५९५॥

जो राग से सहित है वसु कर्म पाता, होता विराग भवमुक्त अनन्त-ज्ञाता।
संसारि-जीव भर की विधि बन्ध गाथा, संक्षेप में समझ क्यों रति गीत गाता ॥५९६॥

मोक्षाभिलाष यदि है तज राग रागी, नीराग भाव गह ले, बन वीतरागी।
ऐसा हि भव्य-जन शाश्वत सौख्य पाते, शीघ्रातिशीघ्र भव-वारिधि तैर जाते ॥५९७॥

है पाप-पुण्य विधि दो विधि बंध हेतु, रे जान निश्चित शुभाशुभ भाव को तू।
हैं धारते अशुभ तीव्र कषाय वाले, शोभे सुधार 'शुभ' मन्द कषाय वाले ॥५९८॥

धारें क्षमा खलजनों कटुभाषियों में, लेवें नितान्त गुण शोध सभी जनों में।
बोलें सदैव प्रिय बोल उन्हीं जनों के, ये हैं उदाहरण मन्दकषायियों के ॥५९९॥

जो वैर-भाव रखना चिर, साधुओं में, प्रादोष को निरखता गुणधारियों में।
शंसा स्वकीय करना उन पापियों के, ये चिह्न हैं परम तीव्र कषायियों के ॥६००॥

जो राग-रोष-वश मत्त बना भिखारी, आधीन इन्द्रिय निकायन का विकारी।
है अष्ट-कर्म करता त्रय-योग द्वारा, कैसे खुले? फिर उसे वर-मुक्ति द्वारा ॥६०१॥

हिंसादि पंच-विध आस्रव द्वार द्वारा, होता सदैव विधि आस्रव है अपारा।
आत्मा भवाम्बु-निधि में तब डूब जाती, नौका सछिद्र,जल में कब तैर पाती ॥६०२॥

हो वात से सरसि शीघ्र तरंगिता ज्यों, वाक्काय से मनस से यह आतमा त्यों।
त्रैलोक्य-पूज्य 'जिन' 'योग' उसे बताते, वे योग-निग्रहतया जग जान जाते ॥६०३॥

ज्यों-ज्यों त्रियोग रुकते-रुकते चलेंगे, त्यों-त्यों नितान्त विधि आस्रव भी रुकेंगे।
संपूर्ण योग रुक जाय न कर्म आता, क्या पोत में विवर के बिन नीर जाता? ॥६०४॥

मिथ्यात्व और अविरती कुकषाय योग, ये चार आस्रव इन्हीं वश दुःखयोग।
सम्यक्त्व संयम, विराग त्रियोगरोध, ये चार संवर, जगे इनसे स्वबोध ॥६०५॥

हो बन्द, पोतगत छेद सभी सही है, पानी प्रवेश करता उसमें नहीं है।
मिथ्यात्व आदि मिटने पर शीघ्रता से, हो कर्म संवर निजातम साम्यता से ॥६०६॥

रोके नितान्त जिनने विधि-द्वार सारे, होते जिन्हें निज-समा जग-जीव प्यारे।
वे संयमी परम संवर को निभाते, है पापरूप विधि-बन्धन को न पाते ॥६०७॥

मिथ्यात्व रूप विधि-द्वार खुले न भाई, तू शीघ्र से दृग कपाट लगा भलाई।
हिंसादि द्वार, व्रतरूप कपाट द्वारा, हे भव्य! बन्द कर दे, सुख पा अपारा ॥६०८॥

होता जलास्रव जहाँ तुम बाँध डालो, आये हुये सलिल बाद निकाल डालो।
तालाब में जल लबालब हो भले ही, ओ सूखता सहज से पल में टले ही ॥६०९॥

हो संयमी परम-आतम शोधता है, संपूर्ण पापविधि आस्रव रोकता है।
निर्भ्रान्त कोटि-भव संचित कर्म सारे, होते विनष्ट तप से क्षण में विचारे ॥६१०॥

पाये बिना परम संवर को तपस्वी, पाता न मोक्ष तप से कहते मनस्वी।
आता रहा सलिल बाहर से सदा ओ, क्या सूखता सर कभी? तुम ही बताओ ॥६११॥

है कर्म नष्ट करता जितना वनों में, जो अज्ञ धार तप, कोटि भवों भवों में।
ज्ञानी निमेष भर में त्रय गुप्ति द्वारा, है कर्म नष्ट करता उतना सुचारा ॥६१२॥

होता विनष्ट जब मोह अशांतिदाई, तो शेष कर्म सहसा नश जाय भाई।
सेनाधिनायक भला रण में मरा हो, सेना कभी बच सके?न बचे जरा ओ ॥६१३॥

लोकान्त लों गमन है करता सुहाता, है सिद्ध कर्ममलमुक्त, निजात्म-धाता।
सर्वज्ञ हो लस रहा नित सर्वदर्शी, होना अतीन्द्रिय अनन्त प्रमोद स्पर्शी ॥६१४॥

संप्राप्त जो सुख, सुरों असुरों नरों को, औ भोग भूमिज-जनों अहमिंद्रकों को।
ओ मात्र बिन्दु, जब सिद्धन का सुसिंधु, खद्योत-ज्योति इक है, इक पूर्ण इन्दु ॥६१५॥

संकल्प तर्क न जहाँ मन ही मरा है, न ओज तेज, मल की न परंपरा है।
संमोह का क्षय हुआ फिर खेद कैसे? ना शब्द गम्य वह मोक्ष दिखाय कैसे ॥६१६॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीड़ा, आती न गन्ध सुख की दुख से न क्रीड़ा।
ना जन्म है मरण है जिसमें दिखाते, 'निर्वाण' जान वह है गुरु यों बताते ॥६१७॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है, ये इन्द्रियाँ जड़मयी जिसमें नहीं है।
बाधा कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा है, निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ॥६१८॥

चिन्ता नहीं उपजती चिति में जरा सी, नोकर्म भी नहिं, नहीं वसु-कर्म राशि।
होते जहाँ नहिं शुभाशुभ ध्यान चारों, निर्वाण है वह रहा तुम यों विचारो ॥६१९॥

कैवल्य बोध सुख-दर्शन-वीर्य वाला, आत्मा प्रदेशमय मात्र अमूर्त शाला।
निर्वाण में निवसता निज-नीतिधारी, अस्तित्व से विलसता जग-आर्त्तहारी ॥६२०॥

पाते महर्षि ऋषि सन्त जिसे, वही है, निर्वाण सिद्धि शिव 'मोक्ष' मही सही है।
लोकाग्र में सुख अबाधक, क्षेम प्यारा, वंदूँ उसे विनय से बस बार-बारा ॥६२१॥

एरण्ड बीज सहसा जब सूख जाता, है ऊर्ध्व ही नियम से उड़ता दिखाता।
हो पंक-लिप्त जल में वह डूब जाती, तुम्बी सपंक तजती द्रुत ऊर्ध्व आती ॥
छूटा हुआ धनुष से जिस भाँति बाण, हो पूर्व योग वश हो गतिमान।
'श्री सिद्ध' जीवगति भी उस भांति होती, धूमाग्नि की गति-समा वह ऊर्ध्व होती ॥६२२॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे, वे सिद्ध हैं अचल, नित्य, अनूप सारे।
होते अतीन्द्रिय पुनः भव में न आते, हैं पुण्य-पाप-विधि-हीन मुझे सुहाते ॥६२३॥

(३५) द्रव्य सूत्र

ये जीव, पुद्गल ख, धर्म, अधर्म, काल, होते जहाँ समझ 'लोक' उसे विशाल।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा, यों 'वीर' ने सदुपयोग दिया सुरेखा ॥६२४॥

आकाश, पुद्गल, अधर्म, व धर्म, काल, चैतन्य से विकल हैं सुन भव्य बाल!
होते अतः सब 'अजीव' सदीव भाई, लो! 'जीव' में उजल चेतना सुहाई ॥६२५॥

ये पाँच द्रव्य, नभ, धर्म, अधर्म, काल, औ जीव शाश्वत अमूर्तिक हैं निहाल।
है मूर्त पुद्गल सदा सब में निराला, है जीव चेतन-निकेतन बोधशाला ॥६२६॥

ये जीव पुद्गल जु सक्रिय द्रव्य दो हैं, तो शेष चार सब निष्क्रिय द्रव्य जो हैं।
कर्माभिभूत-जड़ पुद्गल से क्रियावान्, है जीव,कालवश पुद्गल है क्रियावान् ॥६२७॥

है एक एक नभ, धर्म, अधर्म तीनों, तो शेष शाश्वत अनंत अनंत तीनों।
हैं वस्तुतः सब स्वतंत्र स्वलीन होते, ऐसा जिनेश कहते वसु-कर्म खोते ॥६२८॥

है धर्म औ वह अधर्म त्रिलोक-व्यापी, आकाश तो सकल लोक-अलोक व्यापी।
है मर्त्त्य लोक भर में व्यवहार काल, सर्वज्ञ के वचन हैं सुन भव्य बाल ॥६२९॥

देते हुए श्रय परस्पर में मिले हैं, ये सर्व-द्रव्य पय शक्कर से घुले हैं।
शोभें तथापि अपने-अपने गुणों से, छोड़ें नहीं निज स्वभाव युगों-युगों से ॥६३०॥

है स्पर्श, रूप, रस, गंध विहीन स्थाई, है खण्ड-खण्ड नहिं पूर्ण अखण्ड भाई।
हैं लोक पूर्ण सुविशाल असंख्य देशी, धर्मास्तिकाय वह है सुन तू हितैषी ॥६३१॥

त्यों धर्म जीव जड़ की गति में सहाई, ज्यों मीन के गमन में जल होय भाई।
औदास्य भाव धरता नहिं प्रेरणा है, धर्मास्तिकाय यह है 'जिन-देशना' है ॥६३२॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता, पै प्राणि पुद्गल चले, गति है दिलाता।
होता न प्रेरक निमित्त तथापि भाई, ज्यों रेल के गमन में पटरी सहाई ॥६३३॥

है धर्म-द्रव्य उस भाँति अधर्म द्रव्य, कोई क्रिया न करता सुन भद्र! भव्य!
औदास्य-भाव धरती-सम धार लेता, ज्यों प्राणि पुद्गल रुकें स्थिति-दान देता ॥६३४॥

आकाश व्यापक अचेतन भावधाता, होता पदार्थ दल का अवगाहदाता।
भाई अमूर्त नभ के फिर भेद दो हैं, है एक लोक, इक दीर्घ अलोक सो है ॥६३५॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ हैं, माना गया अमित लोक यही यहाँ है।
आकाश केवल अलोक वही कहाता, यों ठीक-ठीक यह छंद हमें बताता ॥६३६॥

है स्पर्श रूप रस गंध विहीन होता, संवर्त्तनामय सुलक्षण जो कि ढोता।
है धारता गुण सदा अगुरूलघू को, है काल स्वीकृत यही जग के प्रभु को ॥६३७॥

है हो रहा नित अचेतन पुद्गलों में, धारा-प्रवाह परिवर्तन चेतनों में।
वो काल का बस अनुग्रह तो रहा है, वैराग्य का परम कारण हो रहा है ॥६३८॥

घण्टा निमेष समयावलि आदि देखो, होते प्रभेद जिसमें सहसा अनेकों।
होता वही समय में व्यवहार काल, है वीतराग जिन का मत है निहाल ॥६३९॥

दो भेद, 'स्कन्ध', 'अणु' पुद्गल के पिछानो, हैं स्कन्ध भेद छह,दो अणु के सुजानो।
है कार्य रूप अणु, कारण रूप दूजा, पै चर्म चक्षु अणु, की करती न पूजा ॥६४०॥

है स्थूल-स्थूल, फिर स्थूल, व स्थूल सूक्ष्म, औ सूक्ष्म स्थूल पुनि सूक्ष्म सुसूक्ष्म-सूक्ष्म।
भू, नीर, आतप, हवा, विधि-वर्गणायें, ये हैं उदाहरण स्कन्धन के गिनाये ॥६४१॥

किंवा धरा, सलिल, लोचन-गम्य छाया, नासादि के विषय पुद्गल कर्म माया।
अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु, छहों यहाँ ये, हैं स्कन्ध भेद पुद्गल के बताये ॥६४२॥

जो द्रव्य होकर न इन्द्रिय-गम्य होता, है आदि-मध्य अरु अन्त विहीन होता।
है एक देश रखता अविभाज्य भाता, ऐसा कहें 'जिन' यही परमाणु गाथा ॥६४३॥

जो स्कन्ध में वह क्रिया अणु में इसी से, तू जान पुद्गल सदा 'अणु' को खुशी से।
स्पर्शादि चार गुण पुद्गल धार पाता, है पूरता पिघलता पर स्पष्ट भाता ॥६४४॥

ओ जीव है, विगत में चिर जी चुका है, जो चार प्राण धर के अब जी रहा है।
आगे इसी तरह जीवन जी सकेगा, उच्छ्वास-आयु-बल-इन्द्रिय पा लसेगा ॥६४५॥

विस्तार संकुचन शक्तितया शरीरी, छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी।
पै छोड़ के समुद्घात दशा हितैषी, हैं वस्तुतः सकल जीव असंख्य-देशी ॥६४६॥

ज्यों दूध में पतित माणिक दूध को ही, हैं लाल-लाल करता सुन मूढ़-मोही।
त्यों जीव देह स्थित हो निज देह को ही, सम्यक् प्रकाशित करें नहिं अन्य को ही ॥६४७॥

आत्मा तथापि वह ज्ञान प्रमाण भाता, है ज्ञान भी सकल ज्ञेय प्रमाण साता।
है ज्ञेय तो अमित लोक अलोक सारा, भाई अतः निखिल व्यापक ज्ञान प्यारा ॥६४८॥

ये जीव हैं द्विविध, चेतन-धाम सारे, संसारि मुक्त द्विविधा उपयोग धारें।
'संसारि-जीव' तनधारक हैं दुखी हैं, हैं 'मुक्त-जीव' तन-मुक्त तभी सुखी हैं ॥६४९॥

पृथ्वी जलानल समीर तथा लतायें, एकाक्ष जीव सब स्थावर ये कहायें।
हैं धारते करण दो, त्रय, चार, पाँच, शंखादि जीव त्रस हैं करते प्रपंच ॥६५०॥

(३६) सृष्टि सूत्र

है वस्तुतः यह अकृत्रिम लोक भाता, आकाश का हि इक भाग अहो! कहाता।
भाई अनादि अविनश्वर नित्य भी है, जीवादि द्रव्य दल पूरित पूर्ण भी है ॥६५१॥

पा योग अन्य अणु का अणु स्कन्ध होता, है स्निग्ध रूक्ष गुण धारक चूँकि होता।
ना शब्द रूप अणु है, इक देशधारी, प्रत्यक्ष ज्ञान लखता 'अणु' निर्विकारी ॥६५२॥

ये सूक्ष्म स्थूल द्वयणुकादिक स्कन्ध सारे, पृथ्वी-जलाग्नि-मरुतादिक रूप धारे।
कोई इन्हें न ऋषि ईश्वर ही बनाते, पै स्वीय शक्ति-वश ही बनते सुहाते ॥६५३॥

सूक्ष्मादि स्कन्ध दल से त्रय लोक सारा, पूरा ठसाठस भरा प्रभु ने निहारा।
है योग स्कन्ध उनमें विधि रूप पाने, होते अयोग्य कुछ हैं समझो सयाने ॥६५४॥

ज्यों जीव के विकृत-भाव निमित्त पाती, वे वर्गणा विधिमयी विधि हो सताती।
आत्मा उन्हें न विधि रूप हठात् बनाता, होता स्वभाववश कार्य सदा दिखाता ॥६५५॥

रागादि से निरखता यदि जानता है, पंचाक्ष के विषय को मन धारता है।
रंजायमान उसमें वह ही फँसेगा, दुष्टाष्ट-कर्म मल में चिर ओ लसेगा ॥६५६॥

सर्वत्र हैं विपुल हैं विधि वर्गणायें, आकीर्ण पूर्ण जिनसे कि दशों दिशाएँ।
वे जीव के सब प्रदेशन में समाते, रागादिभाव जब जीव सुधार पाते ॥६५७॥

ज्यों राग-रोष-मय भाव स्वचित्त लाता, है मूढ़ पामर शुभाशुभ कर्म पाता।
होता तभी वह भवान्तर को रवाना, ले साथ ही नियम से विधि के खजाना ॥६५८॥

प्राचीन कर्म-वश देह नवीन पाते, संसारिजीव पुनि कर्म नये कमाते।
यों बार-बार कर कर्म दुखी हुए हैं, वे कर्म-बंध तज सिद्ध सुखी हुए हैं ॥६५९॥

दोहा

'तत्त्व दर्शन' यही रहा, निज दर्शन का हेतु।
जिन-दर्शन का सार है भवसागर का सेतु ॥

चतुर्थ खण्ड

स्याद्वाद

(३७) अनेकान्त सूत्र

जो विश्व के विविध कार्य हमें दिखाते, भाई बिना हि जिसके चल वे न पाते।
नैकान्तवाद वह है जगदेक-स्वामी, वंदूँ उसे विनय से शिव-पन्थगामी ॥६६०॥

आधार द्रव्य गुण का इक द्रव्य का ही, आधार ले गुण लसे, शिव राह राही।
पर्याय द्रव्य गुण आश्रित हैं कहाते, ये वीर के वचन ना जड़ को सुहाते ॥६६१॥

पर्याय के बिन कहीं नहिं द्रव्य पाता, तो द्रव्य के बिन न पर्यय भी सुहाता।
उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय लक्षण 'द्रव्य' का है, यों जान, लाभ झट लूँ निज द्रव्य का मैं ॥६६२॥

उत्पाद भी न व्यय के बिन दीख पाता, उत्पाद के बिन कहीं व्यय भी न भाता।
उत्पाद और व्यय ना बिन ध्रौव्य के हो, विश्वास ईदृश न किन्तु अभव्य के हो ॥६६३॥

उत्पाद ध्रौव्य व्यय हो इन पर्ययों में, हो द्रव्य में नहिं तथा उसके गुणों में।
पर्याय हैं नियत द्रव्यमयी, तभी हैं, वे द्रव्य ही कह रहे गुरु यों सभी हैं ॥६६४॥

है एक ही समय में त्रय भाव ढोता, उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय धारक द्रव्य होता।
तीनों अतः नियत द्रव्य यथार्थ में हैं, योगी कहें रत स्वकीय पदार्थ में हैं ॥६६५॥

पर्याय एक नशती जब लौं जहाँ है, तो दूसरी उपजती तब लौं वहाँ है।
पै द्रव्य है ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता, ना जन्मता न मिटता यह शास्त्र गाता ॥६६६॥

पौरुष्य तो पुरुष में इक सार पाता, ले जन्म से मरण लों नहिं छोड़ जाता।
वार्धक्य औ शिशु किशोर युवा दशायें, पर्याय हैं जनमतीं मिटतीं सदा ये ॥६६७॥

पर्याय जो सदृश द्रव्यन की सुहाती, 'सामान्य' नाम वह निश्चित धार पाती।
पर्याय हो विसदृशा वह हो 'विशेषा', ये द्रव्य को तज नहीं रहती निमेषा ॥६६८॥

सामान्य और सविशेष द्विधर्म वाला, हो द्रव्य ज्ञान जिसको लखता सुचारा।
सम्यक्त्व का वह सुसाधक बोध होता, मिथ्यात्व मित्र! अपवित्र कुबोध होता ॥६६९॥

हो एक ही पुरुष भानज तात भाई, देता वही सुत किसी नय से दिखाई।
पै भ्रात तात सुत ओ सबका न होता, है वस्तु-धर्म इस भाँति अशांति खोता ॥६७०॥

जो निर्विकल्प सविकल्प द्विधर्म वाला, है शोभता नर मनो शशि हो उजाला।
एकान्त से यदि उसे इक धर्मधारी, जो मानता वह न आगम-बोध-धारी ॥६७१॥

पर्याय नैक विध यद्यपि हो तथापि, भाई विभाजित उन्हें न करो कदापि।
वे क्षीर नीर जब आपस में मिलेंगे, ओ 'नीर'' क्षीर' यह यों फिर क्या कहेंगे? ॥६७२॥

नि:शंक हो समय में तज मान सारा, स्याद्वाद का विनय से मुनि ले सहारा।
भाषा द्विधाऽनुभय सत्य सदैव बोले, निष्पक्ष-भाव धर शास्त्र रहस्य खोले ॥६७३॥

३८. प्रमाणसूत्र

(अ) पञ्चविध ज्ञान

संमोह-संभ्रम-ससंशय हीन प्यारा, कल्याण खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला।
माना गया स्वपर-भाव प्रभाव-दर्शी, साकार नैकविध शाश्वत-सौख्यस्पर्शी ॥६७४॥

सज्ज्ञान पंचविध ही 'मतिज्ञान' प्यारा, दूजा 'श्रुतावधि'- तृतीय सुधा सुधारा।
चौथा पुनीत 'मनपर्यय' ज्ञान मानूँ, है पांचवाँ परम 'केवल' ज्ञान-भानू ॥६७५॥

सज्ज्ञान पंच विध ही गुरु गा रहे हैं, लेके सहार जिसका शिव जा रहे हैं।
सम्पूर्ण क्षायिक सुकेवल-ज्ञान नामी, चारों क्षयोपशम का अवशेष स्वामी ॥६७६॥

ईहा, अपोह, मति, शक्ति, तथैव संज्ञा, मीमांस, मार्गण, गवेषण और प्रज्ञा।
ये सर्व ही 'अभिनिबोधक ज्ञान' भाई, पूजो इसे बस यही शिव सौख्य-दाई ॥६७७॥

आधार ले विषय का मति के जनाता- जो अन्य द्रव्य 'श्रुत-ज्ञान' वही कहाता।
ओ लिंगशब्दज-तया श्रुत ही द्विधा है, होता नितान्त मतिपूर्वक ही सुधा है।
है मुख्य शब्दज जिनागम में कहाता, जो भी उसे उर धरे भव पार जाता ॥६७८॥

पाके निमित्त मन इन्द्रिय का, अघारी, होता प्रसूत 'श्रुत-ज्ञान' श्रुतानुसारी।
है आत्म-तत्त्व पर-सम्मुख थापने में, स्वामी! समर्थ श्रुत ही मति जानने में ॥६७९॥

हो पूर्व में 'मति' सदा,'श्रुत' बाद में हो, ना पूर्व में श्रुत कभी, मति बाद में हो।
होती 'पृ' धातु परिपूरण पालने में, हो पूर्व में मति अतः श्रुत पूरणे में ॥६८०॥

सीमा बना समय आदिक की सयाने, रूपी पदार्थ भर को इकदेश जाने।
जो ख्यात भाव-गुण प्रत्यय से ससीमा, माना गया 'अवधिज्ञान' वही सुधीमान् ॥६८१॥

है चित्त चिंतित अचिंतित चिंतता है, या सार्ध-चिंतित नृलोकन में यहाँ है।
जो जानता बस उसे शिव सौख्य दाता, प्रत्यक्ष ज्ञान 'मनपर्यय' नाम पाता ॥६८२॥

शुद्धैक औ अब अनन्त विशेष आदि, ये अर्थ हैं सकल केवल के अनादि।
'कैवल्य ज्ञान' इन सर्व-विशेषणों से, शोभे अतः भज उसे, बच दुर्गुणों से ॥६८३॥

जो एक साथ सहसा बिन रोक-टोक, है जानता सकल लोक तथा अलोक।
'कैवल्य-ज्ञान', जिसको नहिं जानता हो, ऐसा गतागत अनागत भाव ना हो ॥६८४॥

(आ) परोक्ष प्रमाण

वस्तुत्व को नित नितान्त अबाध भाता, सम्यक्तया सहज ज्ञान उसे जनाता।
होता प्रमाण वह ज्ञान अतः सुधा है, 'प्रत्यक्ष' पावन 'परोक्षतया' द्विधा है ॥६८५॥

ये धातु दो अशु तथा अश जो कहाती, व्याप्त्यर्थ में अशन में क्रमशः सुहाती।
है अक्ष शब्द बनता सहसा इन्हीं से, ऐसा सदा समझ तू, नहिं औ किसी से ॥
है जीव अक्ष जग वैभव भोगता है, सर्वार्थ में सहज व्याप सुशोभता है।
तो अक्ष से जनित ज्ञान वही कहाता, 'प्रत्यक्ष' है त्रिविध, आगम यों बताता ॥६८६॥

द्रव्येन्द्रियाँ मनस पुद्गलभाव धारें, है अक्ष से इसलिए अति भिन्न न्यारे।
संजात ज्ञान इनसे वह ठीक वैसा, होता 'परोक्ष' बस लिंगज ज्ञान जैसा ॥६८७॥

होते परोक्ष मति औ श्रुत जीव के हैं, औचित्य हैं परनिमित्तक क्योंकि वे हैं।
किंवा अहो परनिमित्तक हो न कैसे? हो प्राप्त-अर्थ-स्मृति से अनुमान जैसे ॥६८८॥

होता परोक्ष श्रुत लिंगज ही, महान, प्रत्यक्ष हो अवधि आदिक तीन ज्ञान।
स्वामी! प्रसूत मति, इंद्रिय चित्त से जो, 'प्रत्यक्ष संव्यवहरा' उपचार से हो ॥६८९॥

(३९) नयसूत्र

द्रव्यांश को विषय है अपना बनाता, होता विकल्प श्रुत धारक का सुहाता।
माना गया 'नय' वही श्रुत भेद प्यारा, ज्ञानी वही कि जिसने नय-ज्ञान-धारा ॥६९०॥

एकान्त को यदि पराजित है कराना, भाई तुम्हें प्रथम है 'नय'-ज्ञान पाना।
स्याद्वाद-बोध 'नय' के बिन ना निहाला, चाबी बिना नहिं खुले गृह-द्वार-ताला ॥६९१॥

ज्यों चाहता वृष बिना 'जड़' मोक्ष जाना, किंवा तृषी जल बिना ही तृषा बुझाना।
त्यों वस्तु को समझना नय के बिना ही, है चाहता अबुध ही भव-राह राही ॥६९२॥

तीर्थेश का वचन सार द्विधा कहाता, 'सामान्य' आदिम द्वितीय 'विशेष' भाता।
दो द्रव्य पर्ययतया नय हैं उन्हीं के, ये ही यथाक्रम विवेचक भद्र दीखे।

भेदोपभेद इनके नय शेष जो भी, तू जान ईदृश सदा तज लोभ लोभी ॥६९३॥

सामान्य को विषय है नय जो बनाता, तो शून्य ही वह 'विशेष' उसे दिखाता।
जो जानता नय सदैव विशेष को है, सामान्य शून्य दिखता सहसा उसे है ॥६९४॥

द्रव्यार्थिकी नय सदा इस भाँति गाता, है द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता।
पै द्रव्य है उदित होकर नष्ट होता, पर्याय-आर्थिक सदा इस भाँति रोता ॥६९५॥

द्रव्यार्थि के नयन में सब द्रव्य आते, पर्याय-अर्थिवश पर्यय-मात्र भाते।
'एक्स्रे' हमें हृदय अन्दर का दिखाता, तो 'केमरा' शकल ऊपर की बताता ॥६९६॥

पर्याय गौण कर द्रव्यन को जनाता, द्रव्यार्थिकी नय वही जग में कहाता।
जो द्रव्य गौण कर पर्यय को जनाता, पर्याय-आर्थिक वही यह शास्त्र गाता ॥६९७॥

जो शास्त्र में कथित नैगम, संग्रहा रे! है व्यावहार, ऋजु-सूत्र सशब्द प्यारे।
एवंभुता समभिरूढ़ उन्हीं द्वयों के, हैं भेद मूल 'नय' सात, विवाद रोकें ॥६९८॥

द्रव्यार्थिकी सुनय आदिम तीन प्यारे, पर्याय-आर्थिक रहें अवशेष सारे।
हैं चार आदिम पदार्थ प्रधान जानो, हैं शेष तीन नय शब्द प्रधान मानो ॥६९९॥

सामान्य ज्ञान इतरोभय रूप ज्ञान, प्रख्यात नैकविध है अनुमान मान।
जानें इन्हें सुनय नैगम है कहाता, मानो उसे 'नयिक ज्ञान' अतः सुहाता ॥७००॥

जो भूत कार्य इस सांप्रत से जुड़ाना, है भूत नैगम वही गुरु का बताना।
वर्षों पुरा शिव गए युग वीर प्यारे, मानें तथापि हम 'आज ऊषा' पधारें ॥७०१॥

प्रारम्भ कार्य भर को जन पूछने से, 'पूरा हुआ' कि कहना सहसा मजे से।
ओ वर्तमान नय नैगम नाम पाता, ज्यों पाक के समय ही बस भात भाता ॥७०२॥

होगा, अभी नहिं हुआ फिर भी बताना, लो! कार्य पूरण हुआ रट यों लगाना।
भावी 'सुनैगम यही समझो सुजाना, जैसा उगा रवि न किन्तु उगा बताना ॥७०३॥

कोई विरोध बिन आपस में प्रबुद्ध, सत् रूप से सकल को गहता 'विशुद्ध'।
जात्येक-भेद गहता उनमें 'अशुद्ध', यों है द्विधा 'सुनय-संग्रह' पूर्ण सिद्ध ॥७०४॥

संप्राप्त संग्रहतया द्विविधा पदार्थ, जो है प्रभेद करता उसका यथार्थ।
ओ 'व्यावहार-नय' भी द्विविधा, स्ववेदी, 'शुद्धार्थ भेदक' अशुद्ध पदार्थ-भेदी ॥७०५॥

जो द्रव्य में ध्रुव नहीं पल आयुवाली, पर्याय हो [१]वियत में बिजली निराली।
जाने उसे कि 'ऋजु-सूत्र' सुसूक्ष्म भाता, होता यथा क्षणिक शब्द सुनो सुहाता ॥७०६॥

देवादिपर्यय निजी स्थिति लौं सुहाता, जो देव-रूप उसको तब लौं जनाता।
तू मान स्थूल 'ऋजु-सूत्र' वही कहाता, ऐसा यहाँ श्रमण-सूत्र हमें बताता ॥७०७॥

जो द्रव्य का कथन है करता, बुलाता, आह्वान शब्द वह है जग में सुहाता।
तत्-शब्द-अर्थ-भर को नय को गहाता,ओ हेतु 'तुल्य-नय शब्द' अतः कहाता ॥७०८॥

एकार्थ के वचन में वच लिंग भेद, है देख 'शब्दनय' ही करताऽर्थ भेद।
पुल्लिंग में व तिय-लिंगन में सुचारा, ज्यों पुष्य शब्द बनता 'नख-छत्र तारा' ॥७०९॥

जो शब्द व्याकरण-सिद्ध, सदा उसी में, होता तदर्थ अभिरूढ़ न औ किसी में।
स्वीकारना बस उसे उस शब्द द्वारा, है मात्र 'शब्दनय' का वह काम सारा।
ज्यों देव शब्द सुन आशय 'देव' लेना, भाई तदर्थ गहना तज शेष देना ॥७१०॥

प्रत्येक शब्द अभिरूढ़ स्व-अर्थ में हो, प्रत्येक अर्थ अभिरूढ़ स्वशब्द में हो।
है मानता 'समभिरूढ' सदैव ऐसे, ये शब्द इन्दर, पुरन्दर, शक्र जैसे ॥७११॥

शब्दार्थ रूप अभिरूढ़ पदार्थ 'भूत', शब्दार्थ से स्खलित अर्थ अतः 'अभूत'।
'एवंभुता सुनय' है इस भाँति गाता, शब्दार्थ तत् पर विशेष अतः कहाता ॥७१२॥

जो-जो क्रिया जन तनादितया करें ओ! तत्-तत् क्रिया गमक शब्द निरे-निरे- हो।
'एवंभुता नय' अतः उस शब्द का है, सम्यक् प्रयोग करता जब काम का है।
जैसा सुसाधु रत साधन में सही हो, स्तोता तभी कर रहा स्तुति स्तुत्य की हो ॥७१३॥

(४०) स्याद्वाद व सप्तभङ्गी-सूत्र

हो 'मान' का विषय या नय का भले हो, दोनों परस्पर अपेक्ष लिए हुए हो।
'सापेक्ष है विषय' ओ तब ही कहाता, हो अन्यथा कि इससे निरपेक्ष भाता ॥७१४॥

एकान्त का नियति का करता निषेध, है सिद्ध शाश्वत निपाततया ''अवेद''।
'स्यात् शब्द है वह जिनागम में कहाता, सापेक्ष सिद्ध करता सबको सुहाता ॥७१५॥

भाई प्रमाण-नय-दुर्नय-भेद वाले, हैं सप्त-भंग बनते, क्रमवार न्यारे।
'स्यात्' की अपेक्ष रखते परमाण प्यारे! शोभे नितान्त नय से नयभंग सारे।

सापेक्ष दुर्नय नहीं, निरपेक्ष होते, एकान्त पक्ष रखते दुख को सँजोते ॥७१६॥

स्यादस्ति, नास्ति उभयाऽवकतव्य चौथा, भाई त्रिधा अवकतव्य तथैव होता।
यों सप्त-भंग लसते परमाण के हैं, ऐसा कहें जिनप आलय ज्ञान के हैं ॥७१७॥

क्षेत्रादिरूप इन स्वीय चतुष्टयों से, अस्ति-स्वरूप सब द्रव्य युगों-युगों से।
क्षेत्रादि-रूप परकीय चतुष्टयों से, नास्ति स्वरूप प्रतिपादित साधुओं से ॥७१८॥

जो स्वीय औ परचतुष्टय से सुहाती, स्यादस्ति नास्तिमय वस्तु वही कहाती।
औ एक साथ कहते द्वय धर्म को हैं, तो वस्तु हो अवकतव्य प्रमाण सो हैं।
यों स्वीय-स्वीय नय-संग पदार्थ जानो, तो सिद्ध हो अवकतव्य त्रिभंग मानो ॥७१९॥

एकैक भंग-मय ही सब-द्रव्य भाते, एकान्त से सतत यों रट जो लगाते।
वे सात भंग तब दुर्नय-भंग होते, स्यात् शब्द से सुनय से जब दूर होते ॥७२०॥

ज्यों वस्तु का पकड़ में इक धर्म आता, तो अन्य धर्म उसका स्वयमेव भाता।
वे क्योंकि वस्तुगत धर्म, अतः लगाओ, 'स्यात्' सप्त-भंग सब में झगड़ा मिटाओ ॥

(४१) समन्वयसूत्र

जो ज्ञान यद्यपि परोक्षतया जनाता, नैकान्तरूप सबको फिर भी बताता।
है संशयादिक प्रदोष-विहीन साता, तू जान मान 'श्रुतज्ञान' वही कहाता ॥७२२॥

जो वस्तु के इक अपेक्षित धर्म द्वारा, साधें सुकार्य जग के, नय ओ पुकारा।
औ भेद भी नय वही श्रुत-ज्ञान का है, माना गया तनुज भी अनुमान का है ॥७२३॥

होते अनन्त-गुण-धर्म-पदार्थ में हैं, पै एक को हि चुनता नय ठीक से है।
तत्काल क्योंकि रहती उसकी अपेक्षा, हो शेष गौण गुण, ना उनकी उपेक्षा ॥७२४॥

सापेक्ष ही सुनय हो सुख को सँजोते, माने गए कुनय हैं निरपेक्ष होते।
संपन्न हो सुनय से व्यवहार सारे, नौका समान भव पार हमें उतारे ॥७२५॥

ये वस्तुतः वचन हैं जितने सुहाते, है भव्य! जान नय भी उतने हि पाते।
मिथ्या अतः नय हटी कुपथ-प्रकाशी, सापेक्ष सत्य नय मोह-निशा विनाशी ॥७२६॥

एकान्तपूर्ण कुनयाश्रित पंथ का वे, स्याद्वाद विज्ञ परिहार करें करावें।
औ ख्याति-लाभ-वश जैन बना हटी हो, ऐसा पराजित करो पुनि ना त्रुटी हो ॥७२७॥

सच्चे सभी नय निजी विषयों स्थलों में, झूठे परस्पर लड़ें निशि-वासरों में।
'ये' सत्य 'वे' सब असत्य कभी अमानी, ऐसा विभाजित उन्हें करते न ज्ञानी ॥७२८॥

ना वे मिले, यदि मिले तुम हो मिलाते, सच्चे कभी कुनय पै बन हैं न पाते।
ना वस्तु के गमक हैं उनमें न बोधि, सर्वस्व नष्ट करते रिपु से विरोधी ॥७२९॥

सारे विरुद्ध नय भी बन जाय अच्छे, स्याद्वाद की शरण ले कहलाय सच्चे।
पाती प्रजा बल प्रजापति छत्र में ज्यों, दोषी अदोष बनते मुनि-संघ में त्यों ॥७३०॥

होते अनन्त-गुण-द्रव्यन में सयाने, द्रव्यांश को अबुध पूरण द्रव्य माने।
छू अंग-अंग गज के प्रति अंग को ही, ज्यों अंध वे गज कहें, अयि भव्य-मोही ॥७३१॥

सर्वांगपूर्ण गज को दृग से जनाता, तो सत्य ज्ञान गज का उसका कहाता।
सम्पूर्ण द्रव्य लखता सब ही नयों से, है सत्य ज्ञान उसका स्तुत साधुओं से ॥७३२॥

संसार में अमित-द्रव्य अकथ्य भाते, श्री-वीर-देव कहते मित कथ्य पाते।
लो कथ्य का कथित भाग अनन्तवाँ हैं, जो शास्त्ररूप वह भी बिखरा हुआ है ॥७३३॥

निन्दा तथापि नित जो पर के पदों की, शंसा अतीव करते अपने मतों की।
पांडित्य ये जन यशोऽर्थ दिखा रहे हैं, संसार को सघन और बना रहे हैं ॥७३४॥

संसार में विविध कर्म प्रणालियाँ हैं, ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ हैं।
भाई अत: मत विवाद करो किसी से, साधर्मि से, अनुज से, पर से अरी से ॥७३५॥

है भव्य-जीव मति-गम्य जिनेन्द्र-वाणी, पीयूष-पूरित पुनीत-प्रशांति-खानी।
सापेक्ष-पूर्ण-नय-आलय पूर्ण साता, आसूर्य जीवित रहे जयवन्त माता ॥७३६॥

(४२) निक्षेप-सूत्र

कोई प्रयोजन रहे तब युक्ति साथ, औचित्यपूर्ण पथ में रखना पदार्थ।
'निक्षेप' है समय में वह नाम पाता, नामादि के वश चतुर्विध है कहाता ॥७३७॥

नाना स्वभाव अवधारक द्रव्य प्यारा, जो ध्येय ज्ञेय बनता जिस भाव द्वारा।
तद्भाव की वजह से इक द्रव्य के ही, ये चार भेद बनते सुन भव्य देही ॥७३८॥

ये 'नाम' 'स्थापन' व 'द्रव्य' स्व-'भाव' चारों, निक्षेप हैं तुम इन्हें मन में सुधारो।
है नाम मात्र बस द्रव्यन की सुसंज्ञा, है नाम भी द्विविध ख्यात कहें निजज्ञा ॥७३९॥

आकार औ इतर 'स्थापन' यों द्विधा है, अर्हन्त बिम्ब कृत्रिमेतर आदि का है।
आकार के बिन जिनेश्वर स्थापना को, तू दूसरा समझ रे! तज वासना को ॥७४०॥

(७४१-७४२)

जो द्रव्य को गत अनागत भाववाला, स्वीकारता कर सुसांप्रत गौण सारा।
निक्षेप 'द्रव्य' वह आगम में कहाता, विश्वास मात्र उसमें बस भव्य लाता ॥
निक्षेप द्रव्य, द्विविधा वह है कहाता, नोआगमागमतया सहसा सुहाता।
ना शास्त्रलीन रहता, जिनशास्त्र ज्ञाता, ओ द्रव्य आगम जिनेश तदा कहाता ॥

नो आगमा त्रिविध 'ज्ञायक देह' भावी औ 'कर्म रूप' जिन यों कहते स्वभावी।
हे, भव्य तू समझ ज्ञायक भी त्रिधा है, जो भूत सांप्रत भविष्यत या कहा है ॥
औ त्यक्त च्यावित तथा च्युत यों त्रिधा है, औ 'भूतज्ञायक' जिनागम में लिखा है ॥

शास्त्रज्ञ की जड़मयी उस देह को ही, तद्रूप जो समझना अयि भव्य मोही।
माना गया कि वह 'ज्ञायक देह' भेद, ऐसा जिनेश कहते जिनमें न खेद ॥
नीतिज्ञ के मृतक केवल देह को ले, लो 'नीति' ही मर चुकी जिस भाँति बोलें ॥

जो द्रव्य की कल दशा बन जाय कोई, तद्रूप आज लखना उस द्रव्य को ही।
श्री वीर के समय में बस 'भावि' सोही, राजा यथा समझना युवराज को ही ॥

कर्मानुसार अथवा जग मान्यता ले, रे! वस्तु का ग्रहण जो कर ले, करा ले।
है 'कर्म भेद' वह निश्चित ही कहाता, ऐसा 'वसन्ततिलका' यह छन्द गाता ॥

देवायु कर्म जिसने बस बाँध पाया, ज्यों आज ही समझता यह 'देव राया'।
या पूर्ण-कुम्भ कलदर्पण आदि भाते, लोकोपचार वश मंगल ये कहाते ॥

(७४३-७४४)

है द्रव्य सांप्रत दशामय यों बताता, निक्षेप 'भाव' वह आगम में कहाता।
नोआगमाऽऽगमतया वह भी द्विधा है, वाणी जिनेन्द्र कथिता कहती सुधा है ॥

आत्मोपयोग जिन आगम में लगाता, अर्हन् उसी समय है जिन शास्त्र-ज्ञाता।
तो 'भाव-आगम' नितान्त यही रहा है, ऐसा यहाँ श्रमण सूत्र बता रहा है ॥

अर्हन्त के गुण सभी प्रकटें जभी से, अर्हन्त देव उनको कहना तभी से।
है केवली जब उन्हीं गुण धार ध्याता, 'नोआगमा' वह जिनागम में कहाता ॥

(४३) समापन

अर्हन् प्रभो! अमित दर्शन-ज्ञान स्पर्शी, वे 'ज्ञातृपुत्र' निखिलज्ञ, अनन्तदर्शी।
वैशालि में जनम सन्मति ने लिया था, धर्मोपदेश इस भाँति हमें दिया था ॥७४५॥

श्री वीर ने सुपथ यद्यपि था दिखाया, था कोटिशः सदुपदेश हमें सुनाया।
धिक्कार! किन्तु हमने उसको सुना ना, मानो! सुना पर कभी उसको गुना ना ॥७४६॥

जो साधु आगति-अनागति कारणों को, पीड़ा प्रमोद प्रद आस्रव-संवरों को।
औ जन्म को मरण को निज के गुणों को, त्रैलोक्य में स्थित अशाश्वत शाश्वतों को ॥

औ स्वर्ग को नरक को दुख निर्जरा को, हैं जानते च्यवन को उपपादता को।
श्री मोक्ष पंथ प्रतिपादन कार्य में हैं, वे योग्य, वंदन त्रिकाल करूँ उन्हें मैं ॥७४८॥

वाणी सुभाषित सुधा, शुचि वीर की है, थी पूर्व प्राप्त न, अपूर्व अभी मिली है।
क्यों मृत्यु से फिर डरूँ तज सर्वग्रन्थी, मैं हो गया जब प्रभो! शिव-पंथ-पंथी ॥७४९॥

(४४) वीरस्तवन

सम्यक्त्व-बोध-व्रत पावन-झील न्यारे, मेरे रहें शरण संयम शील सारे।
लूँ वीर की शरण भी मम प्राण प्यारे, नौका समान भव-पार मुझे उतारें ॥७५०॥

निर्ग्रन्थ हैं अभय धीर अनन्त-ज्ञानी, आत्मस्थ हैं अमल है कर आयु-हानि।
मूलोत्तरादिगुण-धारक विश्वदर्शी, विद्वान 'वीर' जग में जग-चित्त-हर्षी ॥७५१॥

सर्वज्ञ हैं अनियताचरणावलम्बी, पाया भवाम्बुनिधि का तट स्वावलम्बी।
हैं अग्नि से निशि नशा स्वपरप्रकाशी, हैं 'वीर' धीर रवितेज अनंतदर्शी ॥७५२॥

ऐरावता वर-गजों हरि ज्यों मृगों में, गंगा नदी गरुड़ श्रेष्ठ विहंगमों में।
निर्वाणवादि मनुजों मुनि साधुओं में, त्यों 'ज्ञातृपुत्र' वर 'वीर' मुमुक्षुओं में ॥७५३॥

ज्यों श्रेष्ठ सत्य वचनों वच कर्ण-प्रीय, दानों रहा 'अभय दान' समर्च्यनीय।
है ब्रह्मचर्य तप' उत्तम सत्तपों में, त्यों 'ज्ञातृपुत्र' श्रमणेश धरातलों में ॥७५४॥

हैं जन्मते कब कहाँ जग जीव सारे, जानो जगद्गुरु! तुम्हीं जगदीश! प्यारे।
धाता पितामह चराचर मोदकारी, हे! लोकबन्धु भगवन्! जय हो तुम्हारी ॥७५५॥

संसार के गुरु रहें जयवन्त नामी! तीर्थेश अन्तिम रहें जयवन्त स्वामी!
विज्ञान स्त्रोत जयवन्त रहे ममात्मा, ये 'वीरदेव' जयवन्त रहें महात्मा ॥७५६॥

दोहा

मेटे वाद-विवाद को, निर्विवाद स्याद्वाद।
सब वादों को खुश करे, पुनि-पुनि कर संवाद ॥

चतुर्थ खण्ड समाप्त

गुरु-स्मृति-स्तुति

मैं आपकी सदुपदेश सुधा न पीता,
जाती लिखी न मुझसे यह 'जैन-गीता'।
दो 'ज्ञानसागर गुरो!' मुझको सुविद्या,
'विद्यादिसागर' बनूँ तज दूँ अविद्या ॥१॥

भूल-क्षम्य

लेखक कवि मैं हूँ नहीं, मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान ॥२॥

मंगल-कामना

यही प्रार्थना 'वीर' से अनुनय से कर जोर।
हरी-भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर ॥३॥

मरहम पट्टी बाँध के, वृण का कर उपचार।
ऐसा यदि ना बन सके, डंडा तो मत मार ॥४॥

फूल बिछाकर पंथ में, पर प्रति बन अनुकूल।
शूल बिछाकर भूल से, मत बन तू प्रतिकूल ॥५॥

तजो रजोगुण, साम्य को-सजो, भजो निज-धर्म।
शम मिले, भव दुःख मिटे, आशु मिटें वसु कर्म ॥६॥

रचना स्थान एवं समय परिचय

'श्रीधर-केवलि' शिव गये, कुण्डलगिरि से हर्ष।
धारा वर्षायोग उन, चरणन में इस वर्ष ॥७॥

'बड़े बाबा' बड़ी कृपा, की मुझ पै आदीश।
पूर्ण हुई मम कामना, पाकर जिन आशीष ॥८॥

'संग-गगन-गति-गंध' की भादु पदी सित तीज।
पूर्ण हुआ यह ग्रंथ है, भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥९॥

❑ ❑ ❑

कुन्दकुन्द का कुन्दन

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी रचित

समयसार

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

कुन्दकुन्द का कुन्दन

(२६ अक्टूबर, १९७७)

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में प्रणीत 'समयसार' का यह अनूदित रूप है। यह ग्रन्थ भुक्तिमुक्ति का बीज है। इस ग्रन्थ में जीवाजीवाधिकार, कर्तृकर्माधिकार, पुण्यपापाधिकार, आस्त्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार एवं सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार का समावेश है।

इस ग्रन्थ का अनुवाद करने में आचार्यश्री के समक्ष कुछ कठिनाइयाँ भी आई हैं, जिनका उल्लेख उन्होंने इस ग्रन्थ में किया है। ग्रन्थ पर्याप्त गम्भीर है, अत: कई टीका-प्रटीकाओं का सहारा लेना पड़ा। उन्होंने माना है कि कहीं-कहीं शब्दानुवाद भी है, पर अधिसंख्य भावानुवाद जैसा उत्तम और प्रशस्त रूपान्तरण हुआ है। इस ग्रन्थराज 'समयसार पर एक वृत्ति 'तात्पर्य' संज्ञक है, जो जयसेनाचार्य द्वारा प्रणीत है। तदुपरि पूज्य अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' का भी मन्थन करना पड़ा। चेतना की लीलानुभूति से आप्यायित अन्तस् समुच्छल हो उठा और लयाधृत छन्द में निर्बाध बह चला। यही है सारस्वत समावेश दशा, जिसमें अनुभूति 'समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रित' होकर बह निकलती है। काव्य की रचना-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए अभिनवगुप्तपाद ने यही कहा है। 'समयसार' का ही नहीं, नाट्यकाव्यात्मक आत्मख्यातिगत कलशारूप २७८ कारिकाओं का भी रूपान्तर बन पड़ा है। आचार्य कुन्दकुन्द की तीन रचनाएँ बड़ी प्रौढ़ मानी जाती हैं — प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय तथा समयसार। अमृतचन्द्रसूरि ने इन तीनों पर टीकाएँ लिखी हैं। इन उभय टीकाओं में गाथाओं की संख्या समान नहीं मिलती। समस्या यह भी आई—आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं में कम और आचार्य जयसेन की टीकाओं में अधिक गाथाएँ क्यों हैं?

'प्रवचनसार' की चूलिका का अवलोकन करते हुए 'स्त्रीमुक्ति निषेध' वाले प्रसंग पर ध्यान गया। वहीं १०-१२ गाथाएँ छूटी हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इन पर टीकाएँ नहीं लिखीं। इससे अनुमान किया गया कि आचार्य अमृतचन्द्र को स्त्रीमुक्ति निषेध का प्रसंग इष्ट प्रतीत नहीं था। इन टीकाओं की प्रशस्तिओं से पता लगता है आचार्य जयसेन मूलसंघ के और अमृतचन्द्र सूरि काष्ठासंघ के सिद्ध हैं। आचार्यश्री को इससे एक नवीन विषय मिला।

गम्भीर ग्रन्थान्तर का अधिगम, भाषान्तरण, लयबद्ध पद्यबद्धीकरण— यह सब एक से एक कठिन कार्य हैं, पर लगन और अभ्यास से सब कुछ सम्भव है। आत्मख्यातिगत २७८ कारिकाओं का संकलन— 'कलशा' नाम से ख्यात है। इसके १८८ वें काव्य के विषय में छन्द को लेकर के कठिनाई आई। वह न गद्य जान पड़ा और न पद्य। काफी जद्दोजहद के बाद लगा कि यह तो निराला और अज्ञेय की रचनाओं में प्राप्त अतुकान्त छन्द का प्राचीन रूप है। इसमें एक खोज यह भी हुई कि आचार्य अमृतचन्द्र संस्कृत लयात्मक काव्य के आद्य आविष्कर्ता हैं।

आचार्यश्री ने उन लोगों से असहमति व्यक्त की है जो लोग शब्दज्ञान, अर्थज्ञान और ज्ञानानुभूति को परिग्रहवान् गृहस्थ और प्रमत्त में भी मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञानानुभूति तो आत्मानुभव है—शुद्धोपयोग है। वह परिग्रह और प्रमाद वाले गृहस्थ को तो क्या होगा—प्रमत्त दिगम्बर मुनि को भी नहीं हो सकता। भोग और निर्जरा एक साथ नहीं चल सकते। आगम इस मान्यता से असहमत है।

गुरु स्मृति- स्तुति

(वसंततिलका छन्द)

मैं आपकी सदुपदेश सुधा न पीता,
जाती लिखी न मुझसे यह जैन गीता।
दो ज्ञान सागर गुरो! मुझको ''सुविद्या ''
''विद्यादिसागर'' बनूँ तज दूँ अविद्या ॥१॥

मंगल कामना

(दोहा)

यही प्रार्थना ''वीर से'' अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे धरती चारों ओर ॥३॥

मरहम पट्टी बाँध के वृण का कर उपचार।
ऐसा यदि ना बन सका, डंडा तो मत मार ॥४॥

फूल बिछाकर पंथ में पर प्रति बन अनुकूल।
शूल बिछाकर भूल से मत बन तू प्रतिकूल ॥५॥

तजो रजोगुण, साम्य को सजो, भजो निज धर्म।
शांति मिले भव दुख मिटे, आशु मिटे वसु कर्म ॥६॥

स्थान एवं समय-परिचय

श्रीधर केवलि शिव गये-कुण्डगिरि से हर्ष।
धारा वर्षायोग उन-चरणन में इस वर्ष ॥७॥

'बड़े बाबा' बड़ी कृपा, की मुझपे आदीश!
पूर्ण हुई मम कामना पाकर जिन-आशीष ॥८॥
संग गगन-गति-गंध की भाद्रपदी सित-तीज।
पूर्ण हुवा यह ग्रन्थ हैं भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥९॥

मंगलाचरण

देव-शास्त्र-गुरु-स्तवन

'सन्मति' को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे,गति पञ्चम गति होय ॥१॥
चन्दन चन्दर चाँदनी, से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ, मन-वच-तन कर नीत ॥२॥
सुर, सुर-गुरु तक, गुरुचरण-रज सर पर सुचढ़ाय।
यह मुनि-मन गुरु भजन में, निशि-दिन क्यों न लगाय? ॥३॥

श्री कुन्द-कुन्दाय नम :

''कुन्द-कुन्द'' को नित नमूँ, हृदय-कुन्द खिल जाय।
परम सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री जयसेनाचार्याय नमः

स्वीकृत हो मम नमन ये, जय जय जय ''जयसेन''।
जैन बना अब जिन बनूँ, मन रटता दिन-रैन ॥५॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि ''ज्ञानसागर'' गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

प्रयोजन

समयसार का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद ॥७॥

कुन्दकुन्द का कुन्दन

(वसन्ततिलका छन्द)

मैं वन्दना कर उन्हें शिव को पधारे, जो सिद्ध हैं अतुल अव्यय सौख्य धारें।
भाई! वही समयसार सुनो सुनाता, जो भद्रबाहु श्रुत-केवलि ने कहा था ॥१॥

जो शुद्ध-बोध-व्रत दर्शन में समाता, होता निजी समय जीव वही सुहाता।
रागादि का रसिक वो निज को भुलाया, माना गया समय में समया पराया ॥२॥

प्यारा यही समय है निजधर्म कर्ता, एकत्व शाश्वत शुभाशुभ कर्म हर्ता।
पै बन्ध की वह कथा दुखकारिणी है, अच्छी लगे न मुझको भव-वर्धिणी है ॥३॥

हैं काम भोग विधिबन्धन की कथायें, भोगी सुनी बहुत की पर ये व्यथायें।
एकत्व की निज कथा सुखदा अकेली, अत्यन्त दुर्लभ, करूँ उस-संग केली ॥४॥

स्वात्मानुभूति बल से तुमको दिखाता, एकत्वरूप शुचि आतम जो सुहाता।
भाई! दिखा यदि सका उर में सु-धारो, हो काश! भूल इसमें छल हा! न धारो ॥५॥

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त, है शुद्ध, शुद्धनय ये मद-मान-मुक्त।
ज्ञाता वही, सकल ज्ञायक यों बताते, वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ॥६॥

विज्ञान औ चरित दर्शन विज्ञ के हैं, जाते कहे सकल ये व्यवहार से हैं।
ज्ञानी परन्तु यह ज्ञायक शुद्ध प्यारा, ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥७॥

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा, कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा।
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया, जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥८॥

सिद्धान्त के मनन से जिसने निहारा, शुद्धात्म को सहज से, तज राग सारा।
है पूर्ण भाव-श्रुतकेवलि वो निहाला, ऐसा कहें ऋषि, करें जग में उजाला ॥९॥

जाना समस्त श्रुत को श्रुतकेवली हैं, ऐसे महेश कहते जिन केवली हैं।
औचित्य ज्ञानमय आतम है सदी से, हैं वन्द्य द्रव्य-श्रुतकेवलि वो इसी से ॥१०॥

सौभाग्य! बोध दृग की समुपासना हो, चारित्र की बस निरन्तर साधना हो।
तीनों अभिन्न गुण आतम के इसी से, हो जा विलीन निज आतम में रुची से ॥११॥

शुद्धात्म की विमल निर्मल भावना को, भाते सहर्ष ऋषि वे तज वासना को।
पाते विमुक्ति भव से अघ को मिटाके, सद्यः निवास करते शिवधाम जाके ॥१२॥

भूतार्थ शुद्धनय है निज को दिखाता, भूतार्थ है न व्यवहार हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता, सम्यक्त्व मण्डित, वही मन मैल धोता ॥१३॥

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी, जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी।
शुद्धात्म से च्युत सराग चरित्र वाले, भूले न 'लक्ष्य' व्यवहार अभी सम्हाले ॥१४॥

ये पुण्य, पाप अरु जीव, अजीव आदि, होते पदार्थ नव मानत साम्यवादी।
भूतार्थ से विदित हों, जब ये पदार्थ, सम्यक्त्व के विषय हैं 'दृग' है यथार्थ ॥१५॥

आत्मा अबद्ध नित शून्य उपाधियों से, अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बन्धनों से।
ऐसा मुनीश्वर निजातम को निहारें, वे ही विशुद्धनय हैं, जिन यों पुकारें ॥१६॥

आत्मा अबद्ध स्थिर शून्य उपाधियों से, अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बन्धनों से।
ऐसा निजात्म लखते मुनि अक्षजेता, सूत्रार्थ का कथक आगम पूर्ण वेत्ता ॥१७॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में, औ प्रत्यख्यान गुण में लसता गुरो! मैं।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का, है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१८॥

साधू चरित्र-दृग-बोध-समेत पाले, आत्मा उन्हें समझ आतम गीत गा ले।
ज्ञानी नितान्त निज में निज को निहारे, तो अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारे ॥१९॥

ज्यों निर्धनी धनिक की कर खोज पाता, आस्था धनार्थ उसमें फिर है जमाता।
ले मात्र एक धुन वो धन की सदैवा, पश्चात् सहर्ष उसकी करता सुसेवा ॥२०॥

भाई! इसी तरह आत्म-गवेषणा हो, श्रद्धा-समेत उसको फिर देखना हो।
चारित्र भी तदनुसार सुधारना हो, ध्यातव्य! मात्र मन में शिव-कामना हो ॥२१॥

हूँ कर्म देहमय ये मुझसे न न्यारे, किं वा शरीर मम है, वसु कर्म सारे।
भाई सदैव रटता जड़ मूढ ऐसा, दीखे उसे परम आतम गूढ़ कैसा? ॥२२॥

साम्याभिभूत बन आतम लीन होना, पा मोक्ष ईश बनना, बनना सलौना।
स्वच्छन्द हो विषय में मन को लगाना, है कर्मबन्ध गहना, प्रभु का बताना ॥२३॥

आत्मा अशुद्धनय से हि विभाव कर्त्ता, होता विशुद्धनय से शुचि भाव कर्त्ता।
मोहाभिभूत विविधों विधि-बन्धनों का, कर्त्ता अवश्य व्यवहारतया जड़ों का ॥२४॥

जो भी सचेतन अचेतन द्रव्य सारा, संसार में लस रहा निज भाव द्वारा।
मैं हूँ रहा यह, रहा यह ही यहाँ मैं, मेरा रहा यह, रहा इसका अहा मैं ॥२५॥

मैं भी रहा विगत में, इसका यथा था, मेरा रहा नियम से यह भी तथा था।
मैं भी नितान्त इसका, यह भी बनेगा, मेरा भविष्य भर में क्रम यों चलेगा ॥२६॥

ऐसा सदैव पर को निज मान लेता, होता तभी दुखित हो वह मूढ़ नेता।
पै मूढ़ता न करते मन अक्ष जेता, वे धन्य-धन्य मुनि हैं निज तत्त्व-वेत्ता ॥२७॥

कर्मों जड़ात्मक तनों वचनों कुलों को, रागादिकों सुत सुतादि जनों धनों को।
अज्ञान से भ्रमित हो 'अपने' बताता, संसार को अबुध और अरे ! बढ़ाता ॥२८॥

हे मित्र ! जीव उपयोगमयी रहा है, सर्वज्ञ का सदुपदेश यही रहा है।
तू ही बता जड़ बना वह जीव कैसा ? मेरा जिसे कह रहा बन अंध जैसा ॥२९॥

हो जाय जीव यदि पुद्गल द्रव्य भाई, हो जाय पुद्गल सचेतन जीव थाई।
निःशंक हो कह सको जड़ है हमारा, ऐसा परन्तु कब हो! प्रभु ने पुकारा ॥३०॥

मानो कि जीव यदि देहमयी नहीं है, तो देव की, सुगुरु की, स्तुति ना सही है।
भाई अतः समझ लो तन आतमा है, ऐसा सदैव कहता बहिरातमा है ॥३१॥

है 'भिन्न' निश्चयतया तन जीव मानो, है एकमेक व्यवहारतया सुजानो।
हो दृष्टि में यदि विराग अमूर्त-मा की, होती शरीर स्तुति से स्तुति आतमा की ॥३२॥

जीवात्म से पृथक् भूत शरीर को ही, वे वंदनादि करके मुनि वीतमोही।
हैं मानते नमित वंदित केवली हैं, बाह्योपचारवश ही हमसे बली हैं ॥३३॥

होती शरीर स्तुति केवलि की नहीं है, औचित्य देह गुण केवलि में नहीं है।
वीर्यादि अव्यय अनन्त अपूर्व धी की, जो भी करे स्तुति वही स्तुति, केवली की ॥३४॥

होता नहीं नगर वर्णन से कदापि, भूपाल का स्तवन जो बुध है प्रतापी।
तो देह का विशद वर्णन तू करेगा, कैसा भला स्तवन केवलि का बनेगा ? ॥३५॥

पूरा किया दमन इन्द्रिय काय का है, देखा चखा स्वयं का रस बोध का है।
होता वही मुनि सही निज अक्षजेता, ऐसा कहें जिन निजामृत के समेता ॥३६॥

संमोह को शमित भी जिनने किया है, आधार ज्ञान गुण का मुनि हो लिया है।
वे वीतराग जित-मोह सुधी कहाते, विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥३७॥

जीता विमोह मुनि ने, जिससे अभागा, कोई पता नहिं कहाँ, कब मोह भागा।
वो ही नितान्त मुनिपुंगव क्षीणमोही, ऐसा जिनेश कहते, तज मोह मोही ॥३८॥

मिथ्यात्व रागमय भाव विभाव सारे, यों जान, ज्ञान इनको जड़ से निकारे।
हो प्रत्यख्यान फलतः निज 'ज्ञान' प्यारा, मेरा उसे नमन हो शत-कोटि बारा ॥३९॥

मेरी न वस्तु यह है जब जान लेता, जैसा कि सज्जन उसे झट त्याग देता।
रागादि भाव पर हैं, पर से न नाता, ऐसा पिछान मुनि भी उनको हटाता ॥४०॥

मेरा न मोह पर से उपयोग मेरा, ऐसा सदा समझता बस मैं अकेला।
साधू उसे परम निर्मम हैं बताते, शास्त्रानुसार निज जीवन हैं बिताते ॥४१॥

धर्मादि द्रव्य मम ना, उपयोग मेरा, जो जानता स्वयं को नित मैं अकेला।
वो धर्म आदि सब ज्ञेयन-का सुत्यागी, ऐसा कहें समयविज्ञ सुधी विरागी ॥४२॥

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग-बोधमयी सुधा से, मैं एक हूँ पृथक् हूँ सबसे सदा से।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी, मेरा नहीं जड़मयी यह देह रूपी ॥४३॥

सम्मोह से भ्रमित हैं जड़ मूर्ख नामी, कर्त्तव्य-मूढ़ कुछ हैं कुमतानुगामी।
वे राग-रोषमय भाव विभाव को ही, स्वीकार जीव तजते निज भाव को ही ॥४४॥

लो तीव्र-मन्द अनुभाग निबन्धनों को, है 'जीवरूप' कहते कुछ हैं तनों को।
सम्मोह का यह विपाक यथार्थ में है, जो हो रहा भ्रम निजीय पदार्थ में है ॥४५॥

कोई कहे कि उदयागत कर्म को ही, विज्ञान धारक सचेतन जीव सो ही।
तो तीव्र-मन्द विधि के फल को 'निजात्मा', हैं अन्य लोग कहते बनते दुरात्मा ॥४६॥

रे! आठ काठ मिल खाट बनी यथा है, पा कर्म योग यह जीव बना तथा है,
या कर्म और उदयागत कर्म दो वे, है जीव मूढ़ इस भाँति सदैव रोवे ॥४७॥

मन्दातिमन्द मति-बाल अनात्म को ही, माने निजातम सदा तज तत्त्व बोधि।
ये सर्व मात्र भव-कानन पंथ-पंथी, ऐसा कहें मुनि सुधी, तज ग्रन्थ-ग्रन्थी ॥४८॥

ये पूर्व के कथित भाव विभाव सारे, हैं मूर्त से उदित हैं जड़ के पिटारे।
आश्चर्य 'जीव' फिर रे बन जाये कैसे ? हैं केवली वचन ये गज-मोति जैसे ॥४९॥

सर्वज्ञ ये कह रहे जिन चित् स्वरूपी, है कर्म अष्टविध पुद्गल रूप रूपी।
आता यदा उदय में बस कर्म वैरी, दे दुःख मात्र फल हो, भव बीच फेरी ॥५०॥

जो राग रोषमय भाव तुझे दिखाते, वे 'जीव' मात्र व्यवहारतया कहाते।
ऐसा सदा कह रही यह जैनवाणी, पी ले तृषा झट बुझा अति शीत पानी ॥५१॥

है जा रही रभस से चतुरंग सेना, भूपाल है चल रहा पर मान लेना।
ऐसा सहर्ष व्यवहार स्वगीत गाता, राजा यथार्थ वह यद्यपि एक जाता ॥५२॥

संयोगजन्य रति-राग विभाव भावों, को जीव मान चलती व्यवहारता वो।
पूछो यथार्थ जिन आगम से अकेला, है जीव, बाह्य सब खेल झमेल मेला ॥५३॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, आकार से रहित है सुख का पिटारा ॥५४॥

लो जीव के सरस गन्ध नहीं नहीं हैं, ये स्पर्श वर्ण गुण रूप सभी नहीं हैं।
संस्थान, संहनन सुन्दर है न काया, आलोकधाम जिसमें तम है न छाया ॥५५॥

ये जीव के न रति राग यथार्थ में हैं, ना मोह विभ्रम विभाव पदार्थ में हैं।
नोकर्म, कर्म अघ प्रत्यय भी नहीं हैं, वन्दूँ इसे बस यही शिव की मही है ॥५६॥

है जीव की न विधि वर्ग न वर्गणाएँ, ना तीव्र मन्द विधि स्पर्धक की कलाएँ।
अध्यात्म और अनुभाग न थान हीन, वन्दूँ उसे रह सकूँ निज में विलीन ॥५७॥

ये योग थान नहिं आतम में दिखाते, औ बन्ध थान तक थान जहाँ न पाते।
होते नहीं उदय स्थान न मार्गणायें, शुद्धात्म को हम अत: शिर तो नवायें ॥५८॥

संक्लेश-थान स्थिति बन्धन थान दो वे, ना जीव के नहिं सुसंयम लब्धि हों वे।
ये शुद्धि थान तक आतम के नहीं हैं, मैं भी इसे विनत हूँ नत वे गणी हैं ॥५९॥

ये जीव थान गुणथान, न जीव के हैं, ये चूँकि सर्व जड़रूप अजीव के हैं।
चैतन्यधाम, जड़ से अति भिन्न न्यारा, आराध्य जीव वह है मम है सहारा ॥६०॥

वर्णादिभाव इस आतम में लसे हैं, माने गए सकल वे व्यवहार से हैं।
आत्मा अमूर्त अजरामर निर्विकारा, ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥६१॥

वर्णादि संग रहता फिर भी निराला, आत्मा सुशोभित रहा उपयोग वाला।
लो क्षीर में वह भले मिल जाय नीर, पै नीर, नीर रहता बस क्षीर, क्षीर ॥६२॥

कोई लुटा पथिक को लख के बिचारा, मोही कहे पथ लुटा व्यवहार धारा।
पै वस्तुतः पथ कभी लुटता नहीं है, देखा गया पथिक ही लुटता सही है ॥६३॥

देहादि का सुभग वर्ण, निहार, मानो, लो 'जीव' सुन्दर सुदृश्य सुधा सुजानो।
ऐसा पुनीत जिनशासन शस्य बोले, भाई अवश्य व्यवहार रहस्य खोले ॥६४॥

संस्थान आदिक शरीर विकार सारे, ये स्पर्श रूप रस गन्ध गुणादि न्यारे।
हैं जीव के पर सुनो व्यवहार से हैं ? ऐसे कहें मुनि निजातम में बसे हैं ॥६५॥

औपादिकी परिणती बदबू निराली, संसारि जीव भर में दुख शील वाली।
संसार मुक्त शुचि आतम में अकेली, सच्चेतना महकती सुखदा चमेली ॥६६॥

वर्णादि निश्चयतया यदि जीव में हों, कैसे प्रभेद फिर जीव अजीव में हो।
थोड़ा विचार कर तू तज भोग भाई ! भिन्नातिभिन्न जड़ जीव पड़े दिखाई ॥६७॥

संसार में स्थिति भले इस जीव की है, संयोगजन्य वह चूँकि अजीव की है।
तादात्म्य जीव जड़ में यदि मानते हो, तो जीव मूर्त बनता नहिं जानते हो ? ॥६८॥

हो जाय मूर्त जड़ जीव, अजीव होंगे, सिद्धत्व प्राप्त सब सिद्ध न जीव होंगे।
साम्राज्य मात्र जड़ का जग में बनेगा, संसार दुःख फिर क्या, शिव क्या रहेगा ? ॥६९॥

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरादि, ये नामकर्म प्रकृती विकलेन्द्रियादि।
संसारि-जीव बंधता इनसे यदा है, पूर्वोक्त नाम मिलते उसको तदा हैं ॥७०॥

रूपाभिभूत जड़ पुद्गल कर्म द्वारा, ये जीव थान सब निर्मित हैं सुचारा।
मानो इन्हें फिर सचेतन जीव कैसा ? जो है असम्भव, सुसंभव होय कैसा ? ॥७१॥

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरा ये, हैं वस्तुतः जड़मयी तन की दशायें।
संसारिजीव इनमें तन पा बसे हैं, ये जीव हैं इसलिए उपचार से हैं ॥७२॥

हों मोह के उदय में गुणथान सारे, माने गये परम आतप से निराले।
जो हैं अचेतन निकेतन मूर्त्त भाई, तो जीव होय किस भाँति अमूर्त्त थाई ॥७३॥

कर्तृकर्माधिकार

क्रोधादि आस्त्रव निरे मुझसे सदा से, मैं हूँ अभिन्न निज-बोधमयी सुधा से।
ऐसा न मूढ़ जब लौं, वह जान पाता, क्रोधाग्नि से स्वयम को तबलौं जलाता ॥७४॥

क्रोधाग्नि से यह कुधी जबलौं जलेगा, तो कर्म का चयन भी तबलौं करेगा।
है जीव की यह रही विधिबन्ध गाथा, सर्वज्ञ का मत यही यह छंद गाता ॥७५॥

रागात्म में निहित अन्तर जान पाता, ज्ञानी वही मुनि जिनागम में कहाता।
पाता न आस्त्रव नहीं विधिबन्ध नाता, होता समाधिरत है पर को भुलाता ॥७६॥

दुःखों अनात्म-मय-कार्मिक आस्त्रवों को, एकान्त से अशुचियों दुखकारणों को।
अत्यन्त हेय लख के तजता विरागी, ज्ञानी वही मुनि अतः तज राग राजी ॥७७॥

मैं एक शुद्ध नय से दृग बोध स्वामी, हूँ शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अबद्धनामी।
नीराग भाव करता निज लीन होऊँ, शुद्धोपयोग बल से विधि-पंक धोऊँ ॥७८॥

क्रोधादि कर्म मम आतम में बंधे हैं, ना है शरण्य ध्रुव वे मुझसे जुदे हैं।
है दुःख, दुःख फलदायक जान ऐसा, हैं छोड़ते मुनि इन्हें धर नग्न-भेषा ॥७९॥

नोकर्मरूप जड़ पुद्गलकाय का भी, मोहादिकर्म रतिराग विभाव का भी।
कर्ता न आतम रहा, इस भाँति ज्ञानी, हैं जानते हृदय से सुन सन्त वाणी ॥८०॥

आत्मा अशुद्धनय से परभाव कर्ता, होता विशुद्ध नय से निजभाव कर्ता।
धर्मानुराग तक को 'पर मान' ज्ञानी, विश्रांत हो स्वयम में बनते न मानी ॥८१॥

जो भी अनेक विध हैं विधि आतमा में, ज्ञानी उन्हें निरखते रत हो क्षमा में।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते, स्वीकारते न पर को पर में न जाते ॥८२॥

निष्पाप आप अपने अपने गुणों को, ज्ञानी सदैव लखते तज दुर्गुणों को।
आधार ले न पर का पर में न जाते, वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते ॥८३॥

ज्ञानी नितान्त सुख के दुख के दलों को, हैं जानते जड़मयी विधि के फलों को।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते, स्वीकारते न पर को पर में न जाते ॥८४॥

विज्ञान-हीन जड़ पुद्‌गल भी सदा से, होता सुशोभित नितान्त निजी दशा से।
पै छोड़ के न जड़ता पररूप पाता, स्वीकारता न पर को पर में न जाता ॥८५॥

है जीव में विकृत रागमयी दशायें, तो कर्मरूप ढलती विधिवर्गणायें।
मोहादि का उदय पाकर जीव होता, रागादिमान फलतः निज होश खोता ॥८६॥

कर्ता न जीव यह हो विधि के गुणों का, कर्ता कभी न विधि चेतन के गुणों का।
तो भी परस्पर निमित्त नहीं बनेंगे, तो 'रागभाव' 'विधिभाव' न जन्म लेंगे ॥८७॥

भाई अतः समझ लो मन में सुचारा, कर्ता निजात्म, निज का निज भाव द्वारा।
रूपादिमान जड़ पुद्‌गल कर्म सारे, आत्मा उन्हें न करता जिन यों पुकारे ॥८८॥

आत्मा सुनिश्चित स्वभाव विभाव कर्त्ता, भोक्ता स्वयं स्वयम का निज शक्ति भर्त्ता।
जैसा सुशान्त सर हो सर ही हिलोरा, लेता, उठी लहर हो, जब वायु जोरा ॥८९॥

कर्त्ता तथापि व्यवहारतया जड़ों का, भोक्ता सचेतन रहा विधि के फलों का।
ऐसा न हो फिर हमें सुख क्यों न होता? संसार क्यों फिर भला दिन-रैन रोता ॥९०॥

आत्मा उसी तरह पुद्‌गल कर्म को भी, ज्यों वेदता व करता निज धर्म को भी।
ऐसा कहो यदि अरे! पुरुषार्थ जाता, संसार का सृजक ईश्वर-वाद आता ॥९१॥

आत्मा, स्वभाव-पर पुद्‌गल भाव को ही, हो एकमेक करता इक साथ सो ही।
ऐसा सदैव कहता लघु-धी विकारी, मिथ्यात्व मंडित मुधा, द्विक्रियावधारी ॥९२॥

ज्यों मोह के उदय में यह शीघ्र आत्मा, रागादिभाव करता बनता दुरात्मा।
त्यों मोह का उदय पा निज को भुलाता, आनन्द स्वीय तजता सुख-दुःख पाता ॥९३॥

मिथ्यात्व मान मद मोह प्रलोभ द्वारा, अज्ञान औ अविरती रतिराग सारा।
ये हैं द्विधा जड़ सचेतन भेद द्वारा, संसार मार्ग चलता इनसे असारा ॥९४॥

मिथ्यात्व से बन रही भव बीच फेरी, अज्ञान औ अविरती त्रय योग वैरी।
चारों अजीव जड़ पुद्‌गलशील-वाले, औ चार जीवमय हैं उपयोग वाले ॥९५॥

मोहाभिभूत उपयोग धरे अनादि, निम्नोक्त तीन परिणाम करें प्रमादी।
अज्ञान औ अविरती अरु दृष्टि मिथ्या, पाया अतः न अबलौं सुख सत्य नित्या ॥९६॥

लो वस्तुतः शुचि निरंजन आतमा है, तो भी रहा त्रिविध मोहतया भ्रमा है।
जैसा विभाव करता उपयोग भाता, कर्त्ता उसी समय है उसका कहाता ॥९७॥

रागादिभाव कर जीव जभी सुहाता, तत्काल पुद्गल स्वयं विधि रूप पाता।
आकाश में रवि लसे फिर होय वर्षा, क्यों ना बने सुरधनू सहसा सहर्षा? ॥९८॥

है अन्यरूप करता निज को विमोही, औ आत्मरूप करता जड़ अन्य को ही।
हा! मूढ़ जीव विधि बन्धन को जुटाता, धिक्कार कातर निरंतर पीर पाता ॥९९॥

जो अन्य को निजमयी करता नहीं है, औ आपको परमयी करता नहीं है।
ज्ञानी वही मुनिवशी सुख बीज बोता, ना कर्म बन्ध करता निज लीन होता ॥१००॥

मिथ्यादिरूप ढलता उपयोग गाता, मैं क्रोध हूँ सतत यों रट है लगाता।
कर्त्ता अतः वह निजी उस भाव का है, ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ॥१०१॥

मिथ्यादि रूप ढलता उपयोग गाता, धर्मादि द्रव्यमय हूँ निज को भुलाता।
कर्त्ता अतः वह निजी उस भाव का है, ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ॥१०२॥

अज्ञान से भ्रमित हो पर को निजात्मा, शुद्धात्म को परमयी करता दुरात्मा।
घोरान्धकार चहुँ ओर घनी निशा में, औचित्य! पैर पड़ते उल्टी दिशा में ॥१०३॥

आत्मा सुनिश्चित निजीय विभाव कर्त्ता, आत्मज्ञ हैं कह रहे पर भाव हर्त्ता।
ऐसा रहस्य सुन के मुनि अप्रमादी, कर्तृत्त्व भाव तजते भजते समाधि ॥१०४॥

कर्त्ता कुम्हार घट का व्यवहार से है, वो क्योंकि निश्चित सहायक बाह्य से है।
होता उसी तरह जीव निमित्त कर्त्ता, नोकर्म कर्म मन का, निज शक्ति-भर्त्ता ॥१०५॥

मानो कुम्हार घट निश्चय से बनाता, क्यों कुम्भ रूप ढल तन्मय हो न पाता।
कर्त्री स्वकार्य घट की मृतिका अतः है, कर्त्ता निजातम रहा निजका स्वतः है ॥१०६॥

कर्त्ता नहीं जड़ अचेतन वस्तुओं का, आत्मा निमित्त तक भी न घटादिकों का।
योगोपयोग जिनमें कि निमित्त होते, योगादिकों कर कुधी जड़ सत्य खोते ॥१०७॥

निस्सारभूत जड़ पुद्गल भाव धारे, ये ज्ञान-आवरण आदिक-कर्म सारे।
आत्मा इन्हें न करता इस भाँति योगी, ज्ञानी सदा समझते, तज भोग भोगी ॥१०८॥

आत्मा शुभाशुभ विभाव जभी करेगा, कर्त्ता तभी नियम से उसका बनेगा।
यों बार-बार कर कर्म कुधी सरागी, है भोगता दुख कभी सुख, दोष भागी ॥१०९॥

जो द्रव्य आप अपने-अपने गुणों में, होता न संक्रमित है पर के गुणों में।
वो अन्य को परिणमा सकता हि कैसे? अन्धा भला पथ दिखा सकता हि कैसे? ॥११०॥

तादात्म्य धार निज द्रव्य निजी गुणों से, आत्मा उन्हें कर रहा कि, युगों-युगों से।
पाया सुयोग विधि पुद्गल का तथापि, स्वामी न आतम बना, विधि का कदापि ॥१११॥

अज्ञानि का विकृत भाव निमित्त होता, तो आप पुद्गल अहो! विधिरूप होता।
जीवात्म ने विविध कर्म किये इसी से, माना अवश्य उपचार किया खुशी से ॥११२॥

लो युद्ध यद्यपि सुसैनिक ने किया है, लोकोपचार वह भूपति ने किया है।
दुष्टाष्ट कर्म दल को जड़ ने बनाया, पै मानना विकृत आतम ने बनाया ॥११३॥

स्वीकारता परिणमा करता कराता, आत्मा सबंध पर पुद्गल को उगाता।
ऐसा नितान्त व्यवहार सुबोलता है, जो भव्य के सहज लोचन खोलता है ॥११४॥

राजा, गुणी अवगुणी करता प्रजा को, वो पूर्ण सत्य व्यवहार, नहीं मजा-को।
आत्मा करे विधिमयी जड़द्रव्य को है, ऐसा न मान्य व्यवहार, अभव्य को है ॥११५॥

सामान्य से चउविधा विधिबन्ध कर्त्ता, निम्नोक्त है दुखद है शुचि-भाव-हर्त्ता।
मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग, ज्यों ये मिटे नियम से भव का वियोग ॥११६॥

मिथ्यात्व लेकर सुयोगि सुकेवली लौं, ये हैं विभेद उनके दस तीन भी लो।
ये दीन जीव गुणथानन, में पड़े हैं, स्वाधीन सिद्ध सब वे इनसे परे हैं ॥११७॥

मिथ्यात्व आदि गुण पुद्गल से बने हैं, सारे अचेतन निकेतन ही तने हैं।
ये कर्म को कर रहे यदि हों तथापि, आत्मा न भोग सकता उनको कदापि ॥११८॥

निर्भ्रान्त! प्रत्यय सभी गुण-नाम वाले, दुष्टाष्ट कर्म करते मन को विदारे।
ज्ञाता विशुद्ध नय से निजधर्म धर्ता, कर्त्ता न आतम रहा गुण कर्म-कर्त्ता ॥११९॥

है जीव से समुपयोग अभिन्न जैसा, है क्रोध भी यदि त्रिकाल अभिन्न वैसा।
तो एक-मेक सब जीव-अजीव होंगे, ये बंध मोक्ष फिर तो सब साफ होंगे ॥१२०॥

हो क्रोध आत्ममय ज्यों उपयोग भाता, आत्मा अनात्म जड़ में ढल पूर्ण जाता।
नोकर्म कर्म तक प्रत्यय आदि सारा, आत्मीय हो फिर नहीं भव का किनारा ॥१२१॥

पूर्वोक्त दोष भय से यदि भिन्न मानो, है क्रोध भिन्न निज आतम भिन्न मानो।
बाधा रही न फिर तो अति भिन्न न्यारे, शुद्धात्म से जड़मयी विधि कार्य सारे ॥१२२॥

जो जीव में जड़ बँधा न स्वयं बँधा है, वो कर्मरूप ढलता न स्वयं सदा है।
ऐसा त्वदीय मन का यदि भाव होगा, तो मित्र पुद्गल नहीं परिणामि होगा ॥१२३॥

किंवा स्वयं न ढलती विधि वर्गणायें, कर्मत्व में सहज पुद्गल की घटायें।
साम्राज्य सांख्य मत का फिर तो चलेगा, संसार का फिर पता रह ना सकेगा ॥१२४॥

आत्मा स्वयं परिणमाकर पुद्गलों को, देता बना विधि, मनो! विधि शक्तियों को।
आश्चर्य है! जड़ नहीं परिणामि वैसे!! आत्मा उन्हें परिणमा सकता हि कैसे? ॥१२५॥

है कर्म-रूप ढलता जड़ द्रव्य आप, हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप।
आत्मा स्वयं विधिमयी जड़ को बनाता, यों मानना फिर असत्य न सत्य भाता ॥१॥

निष्कर्ष चूँकि निकला विधि वर्गणायें, हैं कर्मरूप ढलती जड़ शक्तियाँ ये।
है अष्टकर्म सब पुद्गल शील वाले, विश्वास ईदृश अतः मन में जमाले ॥२॥

आत्मा स्वयं यदि नहीं विधि से बँधा है, क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं सदा है।
तू मानता इस विधी कर बोध आत्मा, तो क्यों न हो अपरिणामि त्वदीय आत्मा ॥१२६॥

किंवा मनो अपरिणामि त्वदीय आत्मा, क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं दुरात्मा।
संसार का फिर पता चल ना सकेगा, साम्राज्य सांख्यमत का सहसा चलेगा ॥१२७॥

मानो कि क्रोध खुद, पुद्गल को सुहाता, क्रोधाभिभूत यदि आतम को बनाता।
आत्मा रहा अपरिणामि तथापि कैसा? क्रोधी उसे कि, वह क्रोध बनाय कैसा? ॥१२८॥

क्रोधाभिभूत बनता बस आत्म आप, हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप।
तो क्रोध, क्रोधमय-आतम को बनाता, यों मानना फिर असत्य न सत्य गाथा ॥१२९॥

आत्मा करे जब प्रलोभ तभी प्रलोभी, मानी तभी जब करे अघ मान को भी।
मायाभिभूत बनता कर निंद्य माया, क्रोधी बने करत क्रोध स्वको भुलाया ॥१३०॥

हो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा, जो लीन आत्मरति में बनके अनंगा।
साधू निसंग वह निश्चय से कहाता, ऐसा कहे सब पदार्थ यथार्थ ज्ञाता ॥१३१॥

सम्मोह को शमित भी जिनने किया है? आधार ज्ञान-गुण का मुनि हो लिया है।
वे वीतराग जितमोह सुधी कहाते, विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥१३२॥

शुद्धोपयोग भजते तज सर्व भोग, धर्मानुराग तक त्याग शुभोपयोग।
वे हैं सुधी मुनि, पराश्रित धर्मत्यागी, ऐसा कहें गणधरादिक वीतरागी ॥१३३॥

आत्मा स्वयं हृदय में कुछ भाव लाता, कर्त्ता उसी समय वो उसका कहाता।
हो ज्ञान-भाव मुनि में अपरिग्रही में, अज्ञान भाव जु गृहस्थ परिग्रही में ॥१३४॥

है ज्ञान भाव करता मुनि अप्रमादी, तो कर्म से न बँधता लखता समाधि।
अज्ञान भाव कर नित्य गृही प्रमादी, है कर्म जाल फँसता मति को मिटा दी ॥१३५॥

लो! ज्ञान से उदित ज्ञान नितान्त होता, हे साधु बीज सम ही फल चूँकि होता।
हो वीतराग मुनि जो कुछ ध्यान ध्याता, वो सर्व ज्ञानमय ही, विधि को मिटाता ॥१३६॥

उत्पन्न मात्र भ्रम से भ्रमभाव होता, औचित्य कारण समा बस कार्य होता।
अज्ञानि-जीव मन में कुछ भी विचारे? अज्ञान से भरितभाव नितान्त पाले ॥१३७॥

लो! स्वर्ण के मुकुट कुण्डल ही बनेंगे, अच्छे किसे नहिं लगें मन को हरेंगे।
विज्ञानि के विमल भाव रहे रहेंगे, वे पूर्व के सकल कर्म हरे हरेंगे ॥१३८॥

लो! लोह, लोहमय आयुध का विधाता, देखो जिन्हें कि भय से मन काँप जाता।
अज्ञानि में तरल राग तरंग माला, देती उसे दुख पिलाकर पाप हाला ॥१३९॥

अज्ञान का उदय आतम में जभी हो, है आत्म ज्ञान मिटता उलटा सभी हो।
मिथ्यात्व के उदय में पर को निजात्मा, है मान भूल करता, बनता दुरात्मा ॥१४०॥

आत्मा स्वयं जब असंयम से घिरेगा, स्वच्छन्द हो विषय सेवन ही करेगा।
कालुष्य की सघन कालिख से लिपेगा-आत्मा कषायमय दीपक ज्यों जलेगा ॥१४१॥

आत्मा स्वयं तब तरंगित हो हिलोरा-लेता, चले जब शुभा-शुभ योग जोरा।
हो तीव्र या पवन मंद जभी चलेगी, भाई अवश्य सर में लहरें उठेंगी ॥१४२॥

पूर्वोक्त रूप घटना घटती जभी से, तो वर्गणा विधिमयी विधि हो तभी से।
हैं अष्ट कर्म बँधते इस जीव से हैं, देते अतीव दुख हैं कटु नीम से हैं ॥१४३॥

ये ही यदा उदय में वसु कर्म आते, तो जीव की विकृति में पड़ हेतु जाते।
संसार की प्रगति औ गति हो चलेगी, मेटे इन्हें मुनि जिन्हें मुक्ती मिलेगी ॥१४४॥

रागादि ये विकृत चेतन की दशायें, मोहादि के उदय में दुख आपदायें।
पै जीव-कर्म मिलके यदि राग होगा, तो कर्म चेतन, अचेतन जीव होगा ॥१४५॥

मोहादिका उदय पाकर जीव रागी, होता स्वयं नहिं कभी कहते विरागी।
धूली बिना जल कलंकित क्या बनेगा? क्या अग्नि योग बिन नीर कभी जलेगा? ॥१४६॥

लो! जीव संग यदि पुद्गल वर्गणायें, है कर्मरूप ढलती दुख आपदायें।
दोनों नितान्त तब पुद्गल ही बनेंगे, आकाश फूल भव औ शिव भी बनेंगे ॥

रागादि भाव करता जड़ जीव ज्यों ही, हैं कर्मरूप ढलते जड़ द्रव्य त्यों ही।
रागादि से पृथक पुद्गल है इसी से, ऐसा समाधिरत साधु लखे रुची से ॥१४७॥

गाता विशुद्धनय जीव सदा जुदा है, दुष्टाष्ट कर्म दल से न कभी बंधा है।
संसारिजीव विधि से बँधता, बँधा था, यों भावभीनि स्वर में व्यवहार गाता ॥१४८॥

है पक्षपात यह तो नय नीति सारी, है निर्विकार यह आतम या विकारी।
वे वस्तुतः समयसार बने लसे हैं, जो साधु ऊपर उठे नय पक्ष से हैं ॥१४९॥

सर्वज्ञ ज्यों समयसारमयी बने हैं, साक्षी बने सहज दो नय के तने हैं।
त्यों साधु भी न बनता नय पक्षपाती, हो आत्मलीन! तजता पररीति-जाति ॥१५०॥

संसार में समयसार सुधा सुधारा, लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा।
होता वही दृगमयी व्रत-बोध-धाम, मेरे उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥१५१॥

पुण्यपापाधिकार

मोही कहे कि शुभ भाव सुशील प्यारा, खोटा बुरा अशुभभाव कुशील खारा।
संसार के जलधि में जब जो गिराता, कैसे सुशील शुभभाव! मुझे न भाता ॥१५२॥

दो बेड़ियाँ, कनक की इक लोह की है, ज्यों एक-सी पुरुष को कस बाँधती है।
लो कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवें, त्यों बाँधते नियम से जड़-जीव को वे ॥१५३॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो, संसर्ग राग इनका तज नित्य जागो।
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा, स्वाधीनता विनशती, दुख ही सहेगा ॥१५४॥

संरक्षणार्थ निज को लख तस्करों को, जैसा यहाँ मनुज सज्जन, दुर्जनों को।
संसर्ग राग उनका झट छोड़ देता, देता न साथ, उनसे मुख मोड़ लेता ॥१५५॥

वैसा हि दुःख सुखदों अशुभों-शुभों को, कर्मों असार जड़-पुद्गल के फलों को।
शुद्धात्म में निरत साधु विसारते हैं, सानन्द वे समय-सार निहारते हैं ॥१५६॥

जो राग में रँग रहा वसुकर्म पाता, योगी विराग भवमुक्त बने प्रमाता।
ऐसा जिनेश कहते शिव हैं विधाता, रागी! विराग बन क्यों रति गीत गाता ॥१५७॥

ये केवली समय औ मुनि शुद्ध ध्यानी, एकार्थ के वचन हैं परमार्थ ज्ञानी।
साधू स्वभाव रत वे निज धाम जाते, आते न लौट भव बीच विराम पाते ॥१५८॥

आतापनादि तप से तन को तपाना, अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना।
हे सन्त बाल तप संयम वो कहाता, ऐसा जिनेश कहते भव में घुमाता ॥१५९॥

लो! अज्ञ साधु यम संयम शीलधारी, शास्त्रानुसार करता तप धीर भारी।
मानो कि लीन परमार्थ समाधि में है, पाता न पार दुख पाय भवाब्धि में है ॥१६०॥

साधू समाधि-च्युत मूढ़ यथार्थ में हैं, दूरातिदूर परमार्थ पदार्थ से हैं।
संसार हेतु, शिव हेतु न जानते हैं, वे पुण्य को इसलिए बस चाहते हैं ॥१६१॥

तत्त्वार्थ की रुचि सुदर्शन नाम पाता, औ तत्त्व को समझना वह ज्ञान साता।
रागादि त्याग करना वह वृत्त होता, तीनों मिले बस वही शिव पन्थ होता ॥१६२॥

ज्ञानी कभी न भजते व्यवहार व्याधि, हो निर्विकल्प, तजते न सुधी समाधि।
होते विलीन परमार्थ पदार्थ में हैं, काटे कुकर्म बस साधु यथार्थ में है ॥१६३॥

ज्यों वस्त्र पे चिपकती मल-धूल-माती, तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती?
मिथ्यात्व की मलिनता मुझको न भाती, सम्यक्त्व की उजलता शुचिता मिटाती ॥१६४॥

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मल-धूल-माती, तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती?
अज्ञान की मलिनता चिपकी जभी से, विज्ञान की उजलता मिटती तभी से ॥१६५॥

ज्यों वस्त्र पे चिपकती मल धूल-माती, तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती?
काषायिकी मलिनता लगती जभी से, चारित्र की उजलता मिटती तभी से ॥१६६॥

आत्मा विशुद्ध-नय से निज भाव स्पर्शी, होगा भले सकलविज्ञ त्रिकालदर्शी।
पै वर्तमान! विधि से कस के बँधा है, है जानता कुछ नहीं समझो मुधा है ॥१६७॥

सम्यक्त्व का यदि रहा जग में विरोधी, मिथ्यात्व है, कह रहे जिन, धार बोधि।
मिथ्यात्व के उदय में यह जीव होता, मोही कुदृष्टि, दुख से दिन-रैन रोता ॥१६८॥

आलोक का तम विरोधक ज्यों बताया, अज्ञान ज्ञान गुण का जिनदेव गाया।
अज्ञान के उदय में यह जीव होता, कर्त्तव्य मूढ़ फिरता भव बीच रोता ॥१६९॥

चारित्र का रिपु कषाय, कषाय-त्यागी, ऐसा जिनेश कहते, प्रभु-वीतरागी।
दुःखात्मिका उदय में कुकषाय आती, तो जीव को चरितहीन बना, सताती ॥१७०॥

आस्त्रवाधिकार

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग, ये हैं अचेतन सचेतन से द्वियोग।
संयोग रूप जड़ है पुनि आत्म रूप, होते अनेक विध हैं अघ दुःख कूप ॥१७१॥

संयोग रूप जड़ प्रत्यय हेतु होते-दुष्टाष्ट कर्म दल के दुख बीज बोते ॥
रागादिमान उनके पुनि हेतु होते-होते तभी नित दुखी जग जीव रोते ॥१७२॥

ना कर्म बंध करता समदृष्टि होता, पै रोक आस्त्रव, सुसंवर तत्त्व जोता।
प्राचीन बंध भर को बस जानता है, पूजूँ उसे झट तजूँ अभिमानता मैं ॥१७३॥

ज्यों जीव राग करता निज भूल जाता, तो कर्म बंध करता प्रतिकूल जाता।
जो राग से मुनि-सुधी मन मोड़ लेता, होता अबंध भव-बंधन तोड़ देता ॥१७४॥

आ, जा रहा उदय में फल दे तथापि, वो ही पुनः करम ना बँधता कदापि।
लो वृक्ष से फल पका गिरता मही पे, जाके पुनः वह वही लगता नहीं पै ॥१७५॥

रागादिरूप उपयोग ढला नहीं है, ज्ञानी तभी निरखता विधि को सही है।
अज्ञान से कुछ बँधे विधि हो पुराणे, दीवार पे चिपकती रज के प्रमाणे ॥१७६॥

प्रत्येक काल चउ प्रत्यय कर्म-भारा, बाँधे सरागमय-दर्शन-बोध द्वारा।
ज्ञानी अतः न बँधता विधि-बंधनों से, होता विभूषित सदा मुनि सद्गुणों से ॥१७७॥

ना निर्विकल्प, सविकल्पक हो तना है, वो ज्ञान-ज्ञान नहिं रागमयी बना है।
है बार-बार वह ज्ञान कुकर्म लाता, स्वामिन्! नहीं परम पूरण वृत्त पाता ॥१७८॥

सम्यक्त्व-बोध-व्रत ये जबलौं न पूरे, होते सराग फलतः रहते अधूरे।
ज्ञानी नितान्त तबलौं विधि-बंध बाँधे, साधे न मोक्ष निज को न लखे अराधे ॥१७९॥

बाँधे हुए विगत में विधि-बंध सारे, सम्यक्त्व युक्त मुनि में रहते विचारे।
आते यदा उदय में यदि राग होता, होता नवीन विधि-बंधन, साम्य खोता ॥१८०॥

जैसी यहाँ नव लता सम सौम्य बाला, होती युवा पुरुष की नहिं भोग शाला।
ज्यों ही वही मद भरे कुचधार पाती, भोग्या, बनी, पुरुष के मन को चुराती ॥१८१॥

वे सुप्त-गुप्त विधि भी नहिं भोग्य होते, आते यदा उदय में फिर भोग्य होते।
रागादि, जीवकृत-भाव निमित्त पाते, सप्ताष्ट भेदमय कर्म तभी बनाते ॥१८२॥

शुद्धोपयोग बल से समदृष्टि योगी, होता न बंधक अतः तज भोग भोगी।
औचित्य आस्त्रव बिना विधि-बंध कैसा? हो जाय कारण बिना फिर कार्य कैसा ? ॥१८३॥

योगी विराग समदृष्टि वही सही है, संमोह रोष रति ये जिनमें नहीं है।
रागादि आस्त्रव बिना, विधि-बंध हेतु, होते न प्रत्यय कभी यह जान रे तू ॥१८४॥

सिद्धान्त में कथित प्रत्यय चार होते, दुष्टाष्ट कर्म जिस कारण बंध होते।
रागादि हेतु बनते चउ प्रत्ययों के, रागादिका विलय ही विधि-बंध रोके ॥१८५॥

जैसा यहाँ उदर के अनलानुसार, औ क्षेत्र आयु निजकाय बलानुसार।
खाया हुआ अशन मांस-वसादिकों में, कालानुसार ढलता तन-धातुओं में ॥१८६॥

वैसा अनेक विधि पुद्गल प्रत्ययों में, ज्ञानी बँधा विगत में विधि-बंधनों से।
हो! कर्म-बन्ध, पर से मन जोड़ता है, आधार शुद्धनय का जब छोड़ता है ॥१८७॥

संवराधिकार

शुद्धात्म में नियम से उपयोग भाता, क्रोधादि में न उपयोग कभी सुहाता।
वो क्रोध, क्रोध भर में उपयोग में ना, हे! भव्य क्रोध अब तो बस छोड़ देना ॥१८८॥

चैतन्य-धाम उपयोग निरा निहाला, नोकर्म कर्म जिसमें न सदा उजाला।
नोकर्म कर्म जड़ पुद्‌गल का पिटारा, होता कभी न उसमें, उपयोग प्यारा ॥१८९॥

ऐसा जिसे अविपरीत विबोध होता, सारी प्रवृत्ति तजता मन मैल धोता।
शुद्धोपयोग सर में डुबकी लगाता, योगी वही, नित उसे शिर मैं नवाता ॥१९०॥

भारी तपा कनक यद्यपि हो तथापि, भाई नहीं कनकता तजता कदापि।
त्यों कर्म के उदय में तप साधु जाता, पै साधुता न तजता, सुख आशु पाता ॥१९१॥

ज्ञानी सहर्ष शुचि जीवन नित्य जीता, शुद्धोपयोग - पय को भर-पेट पीता।
रागी, सराग - निज को लखता रहेगा, अज्ञानरूप-तम में भटका फिरेगा ॥१९२॥

साधू समाधिरत हो निज को विशुद्ध, जाने, बने सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध।
रागी स्व को समझ रागमयी बिचारा, अज्ञान के तिमिर में निज को बिसारा।
होता न मुक्त भव से दुख हो अपारा ॥१९३॥

जो आपको सब शुभाशुभ वृत्तियों से, पूरा बचाकर सुखासुख साधनों से।
सम्यक्त्व-बोध-व्रत में रुचि से लगाता, है त्याग राग पर का, निज गीत गाता ॥१९४॥

वो सर्व संग तज के मुनि हो इसी से, जाने नितान्त निज में निज को निजी से।
एकत्व की वह छटा मन को लुभाती, नोकर्म, कर्म तक को सबको भुलाती ॥१९५॥

ऐसा निरन्तर निजातम-तत्त्व ध्यानी, सम्यक्त्व-बोध-व्रत में रत साधु ज्ञानी।
हो, कर्म-मुक्त गुणयुक्त सदा लसेगा, लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसेगा ॥१९६॥

शिल्पादि लेख लख के जिस भाँति जाना, जाता परोक्षतम-पूर्ण पदार्थ बाना।
सत् शास्त्र के मनन से गुरु देशना से, हो जाय ज्ञात यह जीव सुसाधना से ॥१९७॥

प्रत्यक्ष ज्ञान बल से जिन केवली है, जैसे निजात्म लखते सबसे बली है।
साक्षातकार जिनका बन जाय ऐसा-छद्मस्थ होकर कहे बुध कौन वैसा ॥१९८॥

मिथ्यात्व औ अविरती जड़-बोध, योग, रागादि के जनक ये सुख के वियोग।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा, सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥१९९॥

होता जभी विलय भी इनका तभी से, हो नष्ट आस्त्रव मुनीश्वर का सही है।
औचित्य! आस्त्रव जभी मिटते सभी हैं, आठों कुकर्म मिटते सहसा तभी हैं ॥२००॥

दुष्टाष्ट कर्म मिटते तन मेल टूटे, संदेह क्या तन मिटा जग जेल छूटे।
विज्ञान की किरण उज्ज्वल पूर्ण फूटे, आनन्द लाभ फिर तो चिरकाल लूटे ॥२०१॥

निर्जराधिकार

धारा विराग दृग जो मुनिधर्म पाके, होते उन्हें विषय कारण निर्जरा के।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से, साधू सुधी न बंधते विधि-बंधनों से ॥२०२॥

भोगोपभोग जब वे मुनि भोगते हैं? होते अवश्य सुख-दुःख नियोग से हैं।
ले स्वाद दुःख सुख का बनते न रागी, वे निर्जरा करम की करते विरागी ॥२०३॥

खाता भले विष सुधी विष, मंत्र, ज्ञाता, पाता न मृत्यु फिर भी दुख भी न पाता।
त्यों निर्विकल्पक समाधि विलीन ध्यानी, भोगे विपाक विधि के बँधते न ज्ञानी॥२०४॥

होता प्रमत्त नहिं मादकता घटा के, जो मद्यपान करता रुचि को हटा के।
ज्ञानी विराग मुनि भोगत भोग सारे, ये कर्म से न बंधते, निज को निहारे ॥२०५॥

लो भोग, भोगकर भी मुनि हो न भोगी, भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी।
इच्छा बिना यदि करे कुछ कार्य त्यागी, कर्त्ता कथं फिर बने पर का विरागी ॥२०६॥

होता यदा उदय पुद्गल क्रोध का है, तो भाव क्रोध उगता रिपु बोध का है।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा, ज्ञानी निरामय निरा नित मैं अकेला ॥२०७॥

रागादि भाव तुममें जब हो रहे हैं, कैसा कहो फिर उन्हें पर वे रहे हैं।
भाई 'विभाव' न 'स्वभाव' अतः निरे हैं, कायादि भी पर अतः मुझसे घिरे हैं ॥२०८॥

होता वही श्रमण है समदृष्टि वाला, पीता सदा परम पावन बोध प्याला।
है डूबता बहुत भीतर-चेतना में, देता न दृष्टि उदयागत वेदना में ॥२०९॥

विश्वास हो विविध है विधि के विपाक, ऐसा कहें जिन, जिन्हें मम ढोक लाख।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा, ज्ञानी निरामय निरा, नित मैं अकेला ॥२१०॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा, शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा,
होगा विशारद जिनागम में भले ही, आत्मा त्वदीय कुछ औ भव में डुले ही ॥२११॥

आत्मा न आतम-अनातम को लखेगा, सम्यक्त्व पात्र किस भाँति अहो बनेगा।
यों कुन्द-कुन्द कहते बन वीतरागी, क्यों व्यर्थ दुःख सहता तज राग रागी ॥२१२॥

संभोग-भाव सब भोग्य पदार्थ भाई, प्रत्येक काल मिटते न यथार्थ थाई।
ज्ञानी मुनीश इस भाँति जभी लखेगा, कांक्षा पुनः किसलिए किसकी रखेगा? ॥२१३॥

संसार-काय, विधिबंधन भोग द्वारा, धारा प्रवाह चलते जग में सुचारा।
ज्ञानी तभी मुनि करें उनमें न प्रीति, आश्चर्य क्या? जब हुई निज की प्रतीति ॥२१४॥

देहादि को यदि मदीय मनो! कहूँगा, निःशंक चेतन, अचेतन मैं बनूँगा।
मैं तो सचेतन निकेतन हो तना हूँ? मेरा नहीं पर परिग्रह, मैं बना हूँ ॥२१५॥

ये द्रव्य-भावमय कर्म विभाव सारे, छोड़ो इन्हें ध्रुव नहीं व्यय शील वाले।
शुद्धात्म से प्रभव भाव-स्वभाव धारो, जो है अबाध ध्रुव केवल विश्व सारो ॥२१६॥

ऊबा हुआ विषय से मुनि वीतरागी, डूबा हुआ स्वयम में सब ग्रन्थ त्यागी।
मेरा शरीर यह है तज बुद्धिमानी, ऐसा भला कहत है वह कौन ज्ञानी? ॥२१७॥

हो जीर्ण-शीर्ण तन पूर्ण सड़े गले ही, भाई भले अनल से पल में जले ही।
हो खण्ड-खण्ड अणु होकर भी खिरेगा, मेरा न राग तन में फिर भी जगेगा ॥२१८॥

सद्बोध रूप सर में डुबकी लगाले, संतप्त तू स्नपित हो सुख शांति पाले।
औ अन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके , विश्राम ले अमित काल स्वधाम जाके ॥२१९॥

विज्ञान पंचविधि एक निजातमा है, सत्यार्थ है निरखते अघ-खातमा है।
लेता सहाय निज का यदि चाव से तू, लेगा विराम चिर चेतन छाँव में तू ॥२२०॥

होते कई मुनि, बिना निज बोध जीते, पीते सुधा न निज की रह जाय रीते।
विज्ञान को भज अतः, विधि काटना है, तू चाहता यदि निजी निधि छाँटना है ॥२२१॥

धर्मानुराग शुभराग शुभोपयोग, चाहे नहीं मुनि परिग्रह का सुयोग।
त्यागी रहा इसलिए शुभ धर्म का है, ज्ञाता निरन्तर, न बंधक कर्म का है ॥२२२॥

होता अधर्ममय है अशुभोपयोग, ज्ञानी न चाहत कभी अघ संग योग।
ज्ञाता अतः मुनि निसंग कुभोग का है, सच्चा उपासक रहा उपयोग का है ॥२२३॥

तत्त्वार्थ का सब पदार्थन का यथार्थ, शब्दार्थ अर्थ गहता सबके हितार्थ।
साधू तथापि श्रुत का अभिमान त्यागी, संसार सौख्य नहिं चाहत वीतरागी ॥२२४॥

ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है, इच्छा कभी अशन की करता नहीं है।
ज्ञाता अतः अशन का रहता सही है, निस्संग को मुकति की मिलती मही है ॥२२५॥

ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है, वो-चाहता तरलपान कभी नहीं है।
ज्ञाता रहा इसलिए रस पान का है, निस्संग है रसिक भी निज ज्ञान का है ॥२२६॥

यों अंतरंग-बहिरंग निसंग ज्ञानी, होता निरीह सबसे सुन संत वाणी।
आकाश सा निरवलम्बन जी रहा है, ज्ञानाभिभूत-समता रस पी रहा है ॥२२७॥

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा, भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं, वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं ॥२२८॥

ज्ञानी न बंध करता विधि से घिरा हो, पंचेन्द्रि के विषय से जब वो निरा हो।
हो पंक में कनक पै रहता सही है, आत्मीयता कनकता तजता नहीं है ॥२२९॥

पंचेद्रियों विषय में रममान होता, तो मूढ़ बंध विधि को स्वयमेव ढोता।
लोहा स्वयं कि जब कर्दम संग पाता, धिक्धिक् स्वभाव तजता झट जंग खाता ॥२३०॥

सिंदूर नाग-फणि की जड़ ढूँढ़ लाओ, औ मूत्र भी हथिनि की उनमें मिलाओ।
ज्यों धोंकनी धुनकती रस प्राप्त होता, सीसा सुवर्ण बनता जब भाग्य होता ॥२३१॥

है अष्ट कर्म मल किट्ठ असार सारा, लोहा बना पतित आतम है हमारा।
रागादि ही कलुष कालिख मात्र जानो, सम्यक्त्व-बोध-व्रत औषध पात्र मानो ॥२३२॥

सद्ध्यान की धधकती अगनी जलाओ, त्यों धोंकनी तपमयी तुम तो चलाओ।
योगी बनो सतत आतम गीत गालो, ज्योतिर्मयी शुचिमयी निज को बनालो ॥२३३॥

जैसा सफेद वह शंख सुशोभता है, निर्जीव जीवमय द्रव्य सुभोगता है।
कोई नहीं धवलता उसकी मिटाता, है कृष्णता न उसमें पुनि डाल पाता ॥२३४॥

नाना अचेतन सचेतन भोग भोगे, ज्ञानी मुनीश मुनि के-व्रत पा अनोखे।
ऐसा विबोध मुनि का डिग क्यों सकेगा? रागाभिभूत कर कौन उसे सकेगा? ॥२३५॥

मानो कि शंख खुद ही निज से चिगेगा, आत्मीयता धवलता यदि वो तजेगा।
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी, वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी? ॥२३६॥

निर्जीव शंख खुद वो निज से चिगेगा, आत्मीयता धवलता यदि हा! तजेगा!
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी, वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी ॥२३७॥

ज्ञानी स्वयं यदि मनो! भजता विधि को, विज्ञान की उजलता तजता निधी को।
अज्ञान रूप ढलता फिर क्या बताना!! दुर्भाग्य पाक सहता भव दु:ख नाना ॥२३८॥

कोई यहाँ नर नराधिप की सुसेवा, मानो धनाढ्य बनने करता सदैवा।
राजा उसे सुखद-सुन्दर-सम्पदायें, देता सुदुर्लभ अभीष्ट विलासतायें ॥२३९॥

हो कर्म-सेव करता इस ही प्रमाणे-संसारिजीव यदि संपति-भोग पाने।
तो कर्म भी विविध सौख्य प्रमोदकारी, देता उसे क्षणिक-भौतिक-दु:खकारी ॥२४०॥

मानो धनाढ्‌य बनने करता न सेवा, कोई यहाँ नर नराधिप की सदैवा।
राजा कभी न मनवांछित सम्पदायें, देता उसे सुखद पूर्ण विलासतायें ॥२४१॥

साधू विराग दृग पा निज में लसें वे, ना कर्म को विषय सेवन हेतु सेवें।
तो कर्म भी न उनको सुख-सम्पदा दे, तू कर्म-धर्म पर ध्यान अत: सदा दे ॥२४२॥

नि:शंक हो मुनि सदा समदृष्टि वाले, सातों प्रकार भय छोड़ स्वगीत गाले।
नि:शंकिता अभयता इक साथ होती, तो भीति ही स्वयम हो भयभीत रोती ॥२४३॥

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योगों-को रोकते, विधि-विमोहक बाधकों को।
नि:शंक हैं निडर हैं समदृष्टि वाले, रे वीतराग बनके मुनि शील-पाले ॥२४४॥

कांक्षा कभी न रखता जड़ पर्ययों में, धर्मों पदार्थ दल के विधि के फलों में।
होता वही मुनि निकांक्षित अंगधारी, वंदूँ उसे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२४५॥

कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ, सारे सदा परिणमें निज में यथार्थ।
ज्ञानी न ग्लानि करते मुनि हो किसी से, धारे तृतीय दृग अंग तभी रुची से ॥२४६॥

ना मुग्ध मूढ़ मुनि हो जग वस्तुओं में, हो लीन आप अपने-अपने गुणों में।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ़दृष्टि, नासाग्र-दृष्टि रख नासत कर्म-सृष्टि ॥२४७॥

मिथ्यात्व आदिक शुभाशुभ भाव छोड़े, हैं सिद्धभक्तिरत हैं मन को मरोड़े।
सम्यक्त्वसंग उपगूहन अंगधारी, वे मान्य पूज्य अनगार, नहीं अगारी ॥२४८॥

उन्मार्ग पे विचरता मन को हटाता, सन्मार्ग पे नियम से मुनि जो लगाता।
वो ही स्थितीकरण अंग सुधारता है, संसार से तिर रहा जग-तारता है ॥२४९॥

ज्ञानादि रत्नत्रय में शिवपंथियों में, वात्सल्य भाव रखता मुनि-पुंगवों में।
माना गया समय में सम-दृष्टिवाला, वात्सल्य अंग अवधारक शांत शाला ॥२५०॥

हो रूढ़ ध्यान रथ, हाथ लगाम लेता, जो धावमान मन को झट थाम लेता।
सम्यक्त्व मंडित महा मुनि साधना है, होती नितान्त जिन-धर्म प्रभावना है ॥२५१॥

बन्धाधिकार

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि, कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी।
लो! अंग अंग तिल तेल लगा-लगाके, आयाम नित्य करता बल को जगाके ॥२५२॥

स्वच्छन्द हो सरस नीरस पादपों को, बाँसों तमाल कदली तरु के दलों को।
वो तोड़-तोड़ टुकड़े-टुकड़े बनाता, आमूलतः कर उखाड़ उन्हें मिटाता ॥२५३॥

नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा, लो देह में चिपकती रज आ अपारा।
क्यों वस्तुतः चिपकती रज आ वहाँ है? क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है ॥२५४॥

वो तेल लेप वश ही रज आ लगी है, भाई अकाट्य ध्रुव सत्य यही सही है।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य में है, ऐसा जिनेश कहते निज कार्य में है ॥२५५॥

मिथ्यात्व मंडित कुधी त्रय योग द्वारा, चेष्टा निरंतर किया करता विचारा।
ज्यों रागरंग रँगता उपयोग को है, पाता स्वयं नियम से विधि योग को है ॥२५६॥

फैली जहाँ मलिन धूली अमेय राशि, कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी।
लो! अंग-अंग तिल तेल बिना लगाया, व्यायाम नित्य करता बल को जगाया ॥२५७॥

स्वच्छन्द हो सरस नीरस पादपों को, बाँसों तमाल कदली तरु के दलों को।
वो तोड़-तोड़ टुकड़े-टुकड़े बनाता, आमूलतः कर उखाड़ उन्हें मिटाता ॥२५८॥

नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा, है देह में न चिपकी रज आ अपारा।
क्यों वस्तुतः चिपकती रज ना वहाँ है, क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है? ॥२५९॥

ना तेल लेप तन पे उसने किया है, भाई नितान्त यह कारण ही रहा है।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य में है, ऐसा जिनेश कहते निज कार्य में है ॥२६०॥

होता इसी तरह ही समदृष्टिवाला, चेष्टा अनेक विध है करता निहाला।
रागाभिभूत उपयोग नहीं बनाता, पाता न बंध, उसको शिर मैं नवाता ॥२६१॥

मारूँ उसे वह मुझे जब मारता है, मोही कुधी मनमना यह मानता हैं।
मेरा नहीं मरण, हूँ ध्रुव शीलवाला, ज्ञानी कहे मुनि, निरा जड़ में निराला ॥२६२॥

देहावसान जब आयु विलीन होती, है भारती जिनप की सुख को सँजोती।
तू जीव की जब न आयु चुरा सकेगा, कैसा भला सहज मार उसे सकेगा? ॥२६३॥

देहावसान जब आयु विलीन होती, है भारती जिनप की सुख को सँजोती।
कोई त्वदीय नहिं आयु चुरा सकेगा, तेरा भला मरण क्या कि करा सकेगा? ॥१॥

मैं आपकी मदद से बस जी रहा हूँ, जीता तुम्हें सहज आज जिला रहा हूँ।
ऐसा सदैव कहता वह मूढ़ प्राणी, ज्ञानी विलोम चलता जड़ से अमानी ॥२॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता, ऐसा कहें जिन जिन्हें मद ने न जीता।
कोई न आयु तुझमें जब डाल देता, कैसे तुझे फिर सुजीवित पाल लेता? ॥३॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता, ऐसा कहें जिन जिन्हें मद ने न जीता।
तू जीव में यदपि आयु न डाल देता, कैसा उसे तदपि जीवित पाल लेता ॥२६४॥

मैंने तुझे धन दिया कि सुखी बनाया, मारा, चुरा धन अपार, दुखी बनाया।
मोही प्रमत्त जड़ की यह धारणा है, ज्ञानी चले न इस भाँति महामना है ॥२६५॥

साता यदा उदय में अथवा असाता, होता सुखी जग दुखी, यह छंद गाता,
तू डालता न पर में जब कर्म वैसा, भाई दुखी जग सुखी बन जाय कैसा? ॥२६६॥

लो कर्म का उदय जीवन में जभी हो, औचित्य है जग दुखी व सुखी तभी हो।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि, कैसे हुए तुम अपार दुखी तथापि ॥२६७॥

लो कर्म का उदय जीवन में जभी हो, सिद्धांत है जग दुखी व सुखी तभी हो।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि, कैसे अकारण सुखी तुम हो तथापि ॥२६८॥

दुःखानुभूति करता यम धाम जाता, संसारिजीव उदया-गत कर्म पाता।
मारा तुम्हें दुखित पूर्ण किया कराया, वो मान्यता तव मृषा जिनदेव गाया ॥२६९॥

मानो दुखी नहिं हुवा न मरा सदेही, जो भी हुवा वह सभी विधिपाक से ही।
मैंने दुखी मृत नहीं तुमको बनाया, ऐसा विचार भ्रम है जिन ने बताया ॥२७०॥

मैं शीघ्र ही अति दुखी पर को बनाता, किंवा उसे सहज शीघ्र सुखी बनाता।
ऐसा कहो भ्रमित ही मति आपकी है, बाँधे शुभाशुभ विधी खनि पाप की है ॥२७१॥

ऐसा विकल्प यदि हो जग को दुखी ही, सामर्थ्य है कर सकूँ अथवा सुखी ही।
वो पाप का मलिन संग दिला सकेगा, या पुण्य का मुख तुम्हें दिखला सकेगा ॥२७२॥

मैं मित्र में सदय हो कर प्राण डालूँ, औ शत्रु को अदय होकर मार डालूँ।
ऐसा विभाव मन में यदि धारते हो, तो पुण्य पाप क्रमशः तुम बाँधते हो ॥२७३॥

प्राणों हरो मत हरो जग जंगमों के, संकल्प बंध करता विधि-बंधनों के।
लो बंध का विधि-विधान यही रहा है, ऐसा सहर्ष नय निश्चय गा रहा है ॥२७४॥

एवं असत्य अरु स्तेय व ब्रह्महानी, औ संग संकलन में रुचि की निशानी।
माने गये अशुभ अध्यवसाय सारे, ये पाप बंध करते दुख के पिटारे ॥२७५॥

अस्तेय सत्य सुमहाव्रत को निभाना, जो ब्रह्मचर्य धर, संग सभी हटाना।
ये हैं अवश्य शुभ अध्यवसाय सारे, हैं पुण्य बंधक कथंचित, पाप टारें ॥२७६॥

पंचेंद्रि के विषय को लखता जभी से, रागादिमान यह आतम हो तभी से।
पै वस्तुतः विषय बंधक वे नहीं हैं, रागादिभाव विधिबंधक हैं, सही है ॥२७७॥

मैं आपको अति दुखी व सुखी बनाता, या बाँधता झटिति बंधन से छुड़ाता।
ऐसी त्वदीय मति सन्मति-हारिणी है, मिथ्यामयी विषमयी दुखकारिणी है ॥२७८॥

रागादि से जबकि बंधन जीव पाते, आरूढ़ मुक्ति पथ पे मुनि मुक्ति जाते।
मैं बाँधता जगत को अथवा छुड़ाता, तेरा विकल्प फिर वो किस काम आता? ॥२७९॥

रे काय से जगत को दुख हैं दिलाते, ऐसा कहीं तुम कहो बलधार पाते।
निर्भ्रान्त! भ्रान्त तब तो मति है तुम्हारी, संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८०॥

लो विश्व को वचन से दुख हैं दिलाते, ऐसा कहीं तुम मनो मति धार पाते।
निर्भ्रान्त! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी, संसार कर्मवश पीड़ित क्यों कि भारी ॥२८१॥

संसार को दुखित हैं मन से कराते, ऐसा कहो तुम मनो मति धार पाते।
निर्भ्रान्त! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी, संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८२॥

या विश्व को दुखित आयुध से कराते, ऐसा कहीं तुम मनो मति धार पाते।
निर्भ्रान्त! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी, संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८३॥

या काय से वचन से मन से कराते, हैं विश्व को हम सुखी करुणा दिखाते।
ऐसा कहो मति मृषा फिर भी तुम्हारी, पा कर्म का फल सुखी जग क्योंकि भारी ॥२८४॥

ज्यों जीव राग रति की कर आरती है, होता सुरेश नर वानर नारकी है।
है पाप-पुण्य परिपाक जु आप पाता, ऐसा वसंततिलका यह छंद गाता ॥२८५॥

शुद्धात्म से पृथक द्रव्य छहों निराले, हैं भिन्न-भिन्न गुण लक्षण धर्म धारे।
संसारि-जीव पर, अध्यवसान द्वारा, संसार को हि अपना करता विचारा ॥२८६॥

ऐसे अनेक विध अध्यवसाय छोड़े, नीराग भाव धर के मन को मरोड़े।
ज्ञानी मुनीश्वर शुभाशुभ रेणुओं से, होते नहीं मलिन, शोभित हो गुणों से ॥२८७॥

संकल्प जन्य सविकल्प अरे! करेगा, तो पाप-पुण्य विधिबंध नहीं टरेगा।
ना बोध दीप दिल में उजला जलेगा, फैला विमोहतम ना तबलौं टलेगा ॥२८८॥

जो पारिणाम मति अध्यवसाय भाव, विज्ञान बुद्धि व्यवसाय चिती विभाव।
हे भव्य ये वसु जिनोदित शब्द सारे, हैं भिन्न-भिन्न पर आशय एक धारे ॥२८९॥

है नित्य निश्चय निषेधक मोक्षदाता, होता निषिद्ध व्यवहार मुझे न भाता।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय संत योगी, निर्वाण प्राप्त करते तज भोग भोगी! ॥२९०॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभा ले, लेते भले हि तप संयम गीत गा ले।
औ गुप्तियाँ समितियाँ कल शील पाले, पाते न बोध दृग वे न बने उजाले ॥२९१॥

एकादशांग श्रुत पा न स्व-में रुची से, श्रद्धान मोक्ष सुख का जिसको नहीं है।
ऐसा अभव्य जन का श्रुत पाठ होता, रे राम! राम! रटता दिन-रात तोता ॥२९२॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति, श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना, ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥२९३॥

तत्त्वार्थ में रुचि हुई दृग हो वहीं से, सज्जान हो मनन आगम का सही से।
चारित्र, पालन चराचर का सुहाता, संगीत ईदृश सदा व्यवहार गाता ॥२९४॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में, औ प्रत्यख्यान गुण में लसता गुरो मैं।
शुद्धात्म की परम-पावन भावना का, है पाक मात्र सुख, है दुख वासना का ॥२९५॥

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे, जाते अजीव पर-पुद्गल के पुकारे।
साधू करे फिर उन्हें किस भाँति ज्ञानी ? वे अन्य द्रव्य गुण हैं यह वीर-वाणी ॥२९६॥

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे, जाते अजीव जड़ पुद्गल के पुकारे।
है अन्य से रचित ये गुण देख लेता, ज्ञानी उन्हें अनुमती किस भाँति देता? ॥२९७॥

औद्देशिकादि सब कर्म निरे-निरे हैं, चैतन्य से रहित हैं जड़ता धरे हैं।
हूँ ज्ञानवान जब मैं मुझसे कराया, कैसा गया वह ? नहीं कुछ जान पाया ॥२९८॥

औद्देशिकादि सब कर्म निरे-निरे हैं, चैतन्य से रहित है जड़ता धरे हैं।
ज्ञानी विचार करते मुनिराज ऐसा, वो अन्य कर्म जड़कर्म मदीय कैसा ॥२९९॥

ज्योतिर्मयी स्फटिक शुभ्रमणी सुहाती, आत्मीयता तज स्वयं न विरूप पाती।
पै पार्श्व में मृदुल फूल गुलाब होती, आश्चर्य क्या फिर भला मणि लाल होती ॥३००॥

ज्ञानी मुनीश इस भाँति निरा निहाला, होता स्वयं नहिं कदापि विकार वाला।
मोहादि के वश कभी प्रतिकूलता में, रंजाय-मान बनता निज भूलना में ॥३०१॥

संमोहराग करते नहिं रोष ज्ञानी, होते प्रभावित नहीं पर से अमानी।
कर्त्ता अतः, नहिं कषाय उपाधियों के, साधू उपास्य जब हैं हम प्राणियों के ॥३०२॥

क्रोधादियों विकृतभाव-प्रणालियों में, मोही उदीरित कुकार्मिक-नालियों में।
होता प्रवाहित तभी निज-भूल जाता, है कर्म कीच फँसता प्रतिकूल जाता ॥३०३॥

अज्ञान की कलुष-राग तरंग माला, काषायिकी परिणती भव दुःख-शाला।
भावी नवीन विधिबंधन हेतु होती, आत्मा सबंध बनता मिट जाय ज्योति ॥३०४॥

होता द्विधा परम पाप अप्रत्यख्यान, हे भव्य दो क्रमण-अप्रति ही सुजान!
माना गया इसलिए मुनि वीतरागी, है कर्म का वह अकारक संग-त्यागी ॥३०५॥

है द्रव्य भावमय दोय अप्रत्यख्यान, एवं द्विधा क्रमण-अप्रति भी सुजान।
ये निंद्य निंद्यतर निंद्यतमा रहे हैं, ज्ञानी इन्हें तज सदा निज में रहे हैं ॥३०६॥

आत्मा समाधिगिरि से गिर के सरागी, मानो इन्हें कर रहा मुनि दोष भागी।
तो धूलि-धूसरित भूपर आ हुवा है? कर्माभिभूत बन के पर को छुवा है ॥३०७॥

मोक्षाधिकार

मैं पाश से कस कसा करके कसा हूँ? बंधानुभूति करता चिर से लसा हूँ।
यों बंध बंधफल बंधित गीत गाता, कोई मनो पुरुष है तुमको दिखाता ॥३०८॥

पै बंध को यदि नहीं वह छोड़ता है, हा! जान बूझकर भी नहिं तोड़ता है।
पाता न मुक्ति उस बंधन से कदापि, दुस्सह्य दुःख सहता चिर काल पापी ॥३०९॥

त्यों कर्म कर्म-स्थिति, कर्म प्रदेश जाने, औ कर्म की प्रकृति औ अनुभाग माने।
छोड़े न बंध यदि जान सराग होते, होते न मुक्त, मुनि मुक्त विराग होते ॥३१०॥

जो पाश बद्ध, बस बंधन चिंतता है, होता न मुक्त उससे वह अंधता है।
तू कर्म बंध भर को यदि चिंतता है, होगा न मुक्त विधि से, मति मंदता है ॥३११॥

जो पाश से कस बँधे यदि पाश तोड़े, तो पाश से झट विमुक्त नितान्त हो ले।
तू कर्म बंध झट से यदि काटता है, पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ॥३१२॥

जो बंधबद्ध यदि बंधन भेद डाले, वो बंध से झट विमुक्ति सदैव पाले।
तू कर्म बंध झट से यदि काटता है, पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ॥३१३॥

जो पाश से कस बँधा यदि पाश छोड़े, तो पाश से झट मुक्ति नितान्त पा ले।
तू कर्म बंध झट से यदि काटता है, पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ॥३१४॥

शुद्धात्म का परम निर्मल धर्म क्या है, क्या बंध लक्षण विलक्षण कर्म क्या है।
यों जान, मान मतिमान प्रमाण द्वारा, छोड़े कुबंध गहते शिवधाम द्वारा ॥३१५॥

ये जीव, बंध अपने-अपने गुणों से, है भिन्न भिन्न मोहवश एक हुए युगों से।
भिन्न-भिन्न कहती इनको, सुपैनी, तो एकमात्र वर बोधमयी सुछैनी ॥३१६॥

यों स्वीय-स्वीय गुण लक्षण भेद द्वारा, तू भिन्न-भिन्न कर बंध निजात्म सारा।
शुद्धात्म है समयसार-मयी सुधा पी, हे भव्य! बंध विष पै मत पी कदापि ॥३१७॥

कैसा निजातम मिले यदि भावना हो, विज्ञान की सतत सादर साधना हो।
जाता किया पृथक बंधन से निजात्मा, विज्ञान से हि मिलता बनता महात्मा ॥३१८॥

संवेदनामय निजी वह चेतना 'मैं', यों जान, लीन रहना निज चेतना में।
जो भी अचेतन-निकेतन शेष सारे, हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिर से निराले ॥३१९॥

विज्ञान से विदित निश्चित शर्म द्रष्टा, मैं ही रहा वह स्वयं निजधर्म स्रष्टा।
जो भी अचेतननिकेतन शेष सारे, हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिर से निराले ॥३२०॥

विज्ञान से विदित चेतन राम ज्ञाता, मैं ही रहा वह निजी गुणधाम धाता।
जो भी अचेतननिकेतन शेष सारे, हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिर से निराले ॥३२१॥

विज्ञान से विदित चेतन धर्मवाला, मैं ही रहा वह मिला सुख-धर्मशाला।
जो भी अचेतननिकेतन दोष सारे, हैं हेय ज्ञेय चिर से मुझसे निराले ॥३२२॥

साधू जिसे स्वपर बोध भला मिला है, सौभाग्य से दृग सरोज खुला खिला है।
वो क्या कदापि पर को अपना कहेगा, ज्ञानी न मूढ़सम भूल कभी करेगा ॥३२३॥

ऐसा न हो कि मुझको कहिं मार देवे, तू चोर है कह मुझे जन बाँध देवे।
ऐसा विचार करता नहिं ठीक सोता, चौर्यादि पापकर चोर सभीत होता ॥३२४॥

चौर्यादि कार्य करता नहिं है कदापि, निर्भीक हो विचरता जग में अपापी।
होता जिसे कि भय भी अघगैल से है, चिंता उसे न फिर बंधन जेल से है ॥३२५॥

त्यों संग संकलन लीन असंयमी है, हो बंध भीति उसको कहते यमी है।
साधू जिसे भय भला किस बात का है, है राग भी न जिसको निज गात का है ॥३२६॥

संसिद्धि राध अरु साधित सिद्ध सारे, आराधिता वचन आशय एक धारे।
आराधिता रहित आतम ही कहाता, है दोष-धाम अपराधक पाप पाता ॥३२७॥

निश्चिंत हो निडर हो निज को निहारे, निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे।
आराधना स्वयम की करते सुहाते, ना तो स्वयं न पर को डरते डराते ॥१॥

निंदा निवृत्ति परिहार-सुधारणाएँ, गर्हा प्रतिक्रमण शुद्धि प्रसारणाएँ।
पीयूष कुम्भ तब ही मुनि मत्त होते, शुद्धोपयोग जब हो विषकुंभ होते ॥३२८॥

आठों अनिंदन अशुद्धि-अधारणादि-पीयूष कुम्भ जब साधु सधे समाधि।
ऐसा सुजान समयोचित कार्य साधो, एकान्तवाद तजदो अयि आर्य साधो ॥३२९॥

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

होते अनन्य अपने-अपने गुणों से, उत्पद्यमान सब द्रव्य युगों-युगों से।
ज्यों पीलिमा व मृदुता तजता न सोना, लो कुण्डलादिमय ही लसता सलोना ॥३३०॥

वो जीव लक्षण अनन्य स्वचेतना है, है जीव जीवित तभी जिन देशना है।
एवं अजीव अपने गुण-पर्ययों से, जीते त्रिकाल चिर से निज लक्षणों से ॥३३१॥

उत्पन्न जो न परकीय पदार्थ से है, आत्मा अतः न परकार्य यथार्थ से है।
उत्पन्न भी कर रहा पर को नहीं है, आत्मा अतः कि पर कारण भी नहीं है ॥३३२॥

कर्त्ता हमें विदित हो लख कर्म को है, कर्त्ता लखो कि अनुमानित कर्म ही है,
कर्त्ता व कर्म इनकी विधि बोलती है, ऐसी कहीं न मिलती दृग खोलती है ॥३३३॥

आत्मा विमोहवश ही निज को विसारा, उत्पन्न हो विनशता अघभाव द्वारा।
रागादिमान इस चेतन का सहारा-ले कर्म भी उपजता मिटता विचारा ॥३३४॥

एवं परस्पर निमित्त बने सकाम, रागी व कर्म बँधते बनते गुलाम।
संसार का तब प्रवाह अबाध भाता, रागादि भाव मिटता भवनाश पाता ॥३३५॥

मोहादि से यदि प्रभावित हो रहा है, आत्मा अरे स्वयम के प्रति सो रहा है।
मिथ्यात्व मंडित असंयत है कहाता, अज्ञान जन्य दुख की वह गंध पाता ॥३३६॥

होता न लीन उदयागत कर्म में है, ज्ञानी वही निरत आतम धर्म में है।
शीघ्रातिशीघ्र मुनि केवल ज्ञान-दर्शी, होता विमुक्त भव से शिव सौख्य-स्पर्शी ॥३३७॥

मक्खी बना मुदित मानस हो मलों में, है मूर्ख मूढ़ रमता विधि के फलों में।
साक्षी बना, न विधि के फल भोगता है, ज्ञानी वशी न तजता निज योगता है ॥३३८॥

निश्‍चिंत हो निडर हो निज को निहारे, निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे।
आराधना स्वयम की करते सुहाते, न तो स्वयं, न पर को, डरते डराते ॥३३९॥

हे भव्य! पूर्ण पढ़ भी जिन-दिव्य वाणी, त्यागे अभव्यपन को न अभव्य प्राणी।
मिश्री मिला पय पिलाकर हा अही भी, क्या कालकूट तजता जग में कभी भी? ॥३४०॥

निर्वेग भाव मुनि होकर धारता है, जो मात्र कर्मफल मौन निहारता है।
साता रहो सुखद, दुःखद हो असाता, ज्ञानी उन्हें न चखता यह साधु-गाथा ॥३४१॥

संभोगते न करते विधि को कदापि, ज्ञानी समाधिरत हो मुनि वे अपापी।
पै पाप-पुण्य विधि बंधन के फलों को, हैं जानते नमन हो उनके पदों को ॥३४२॥

द्रष्टा बने युगल लोचन देखते हैं, ना दृश्य-स्पर्श करते न हि हर्षते हैं।
ज्ञानी अकारक अवेदक जानता है, त्यों बंध मोक्ष विधि को तज मानता है ॥३४३॥

विख्यात लोकमत है सुर-मानवों का, निर्माण विष्णु करता पशु-नारकों का।
स्वीकारते श्रमण चूँकि चराचरों को, आत्मा जगाय जगजंगम जन्तुओं को ॥३४४॥

माना कि एक मत में वह विष्णु कर्त्ता, आत्मा रहा इतर में जग जीव कर्त्ता।
दोनों समा श्रमण-लौकिकवादियों में, पाया न भेद फिर भी इन दो मतों में ॥३४५॥

हाँ मोक्ष की महक ही इनमें न आती, कर्तृत्व की विषम गंध सही न जाती।
कोई विशेष इनमें न हि भेद भाता, ऐसा सुनों समयसार सदैव गाता ॥३४६॥

मेरे खरे धन मकाँ परिवार आदि, पी मोह मद्य बकता व्यवहारवादी।
लेते विराम मुनि निश्चय का सहारा, गाते सदा, न पर का अणु भी हमारा ॥३४७॥

कोई यहाँ पुरुष हैं कहते हमारे,ये देश खेट पुर गोपुर प्रान्त प्यारे।
ये वस्तुतः न उनके बनते कदापि, व्यामोह से जड़ प्रलाप करें तथापि ॥३४८॥

है काय भिन्न पर जानत भी अमानी, शुद्धोपयोग तज के यदि काश! ज्ञानी।
मानो मदीय तन है इस भाँति बोले, मिथ्यात्व पा नियम से भव बीच डोले ॥३४९॥

ऐसा विचार, पर को अपना न मानो, औ राग त्याग पर को पर रूप जानो।
कर्त्तृत्ववाद धरते इन दो मतों को, मिथ्यात्व मण्डित लखों उन पामरों को ॥३५०॥

आत्मा सदा मिट रहा निज पर्ययों से, शोभे वही ध्रुव किन्हीं ध्रुव सद्गुणों से।
एकान्त है यह नहीं ध्रुव दृष्टि द्वारा-कर्त्ता वही इतर पर्यय दृष्टि द्वारा ॥३५१॥

पर्याय से मिट रहा गुण से नहीं है, आत्मा त्रिकाल ध्रुव भी रहता वही है।
एकान्त है नहिं, वही ध्रुव भाव द्वारा, भोक्ता, निरा क्षणिक पर्यय भाव द्वारा ॥३५२॥

भोक्ता वही न बनता बन कर्म कर्त्ता, यों बौद्ध लोक कहते निज धर्म हर्त्ता।
सिद्धान्त जो कि क्षण-भंगुर वादियों का, उद्भ्रान्त है वितथ मात्र कुदृष्टियों का ॥३५३॥

भोक्ता निरा बस निरा बन जाय कर्त्ता, सिद्धान्त बौद्ध यह है अघकार्य कर्त्ता।
जो भी सहर्ष इसका गुण गीत गाते, सद्धर्म से सरकते विपरीत जाते ॥३५४॥

मिथ्यात्व की प्रकृति पापिन जो कहाती, मिथ्यात्व मण्डित हमें यदि है कराती।
तो कारिका वह बनी कि अचेतना हो, स्वीकार किन्तु नहिं वो जिन देशना को ॥३५५॥

सम्यक्त्व की प्रकृति पुद्गल को सुहाती, सम्यक्त्व मंडित हमें यदि है कराती।
तो कारिका वह बनी कि अचेतना हो, स्वीकार पै न यह है जिन देशना को ॥३५६॥

किं वा कहो यदि निजातम ही जड़ों को, मिथ्यात्व रूप करता इन पुद्गलों को,
मिथ्यात्व पात्र फिर पुद्गल ही बनेगा, आत्मा त्रिकाल फिर शुद्ध बना तनेगा ॥३५७॥

आत्मा तथा प्रकृति ये मिल के जड़ों को, मिथ्यात्वरूप करते इन पुद्गलों को,
ऐसा कहो यदि तदा जड़ के-दलों का, दोनों हि स्वाद चखले विधि के फलों का ॥३५८॥

आत्मा तथा प्रकृति भी न कभी जड़ों को, मिथ्यात्वरूप कहते इन पुद्गलों को।
ऐसा कहो तदपि पुद्गल ही हुआ है, मिथ्यात्व क्या मत त्वदीय नहीं हुआ है ॥३५९॥

अज्ञान का सदन पुद्गल कर्म द्वारा, होता विबोध घर आतम पूर्ण प्यारा।
है कर्म से विवश होकर गाढ़ सोता, है कर्म के वश सुजागृत पूर्ण होता ॥३६०॥

पा कर्म के फल अतीव सदीव रोते, मिथ्यात्व मंडित असंयत जीव होते।
हैं डूबते भव पयोनिधि में दुखी हैं, होते कभी क्षणिक पा सुख को सुखी हैं ॥३६१॥

आत्मा शुभाशुभ कभी पशु योनियों में, पाता निवास कुछ काल सुरालयों में।
है कर्म ही नरक में इसको गिराता, संसार के विपिन में सबको भ्रमाता ॥३६२॥

जो भी करे करम ही करता कराता, संसार का रचयिता बस कर्म भाता।
ऐसा हि सांख्य मत 'सा' यदि तू कहेगा, आत्मा अकारक रहा, भव क्या रहेगा ॥३६३॥

स्त्रीवेद को पुरुष वेद सदैव चाहे, पुंवेद को नियम से तियवेद चाहे।
आचार्य की परम पूत परंपरा है, जो जैन से जबकि स्वीकृत सुन्दरा है ॥३६४॥

लो बार-बार हम तो कहते इसी से, है ब्रह्मलीन सब जीव सदा रुची से।
है कर्म-कर्म भर को बस चाहता है, आत्मा जिसे सतत मात्र निहारता है ॥३६५॥

होती विनष्ट पर से पर को मिटाती,एकान्त से प्रकृति ही नव जन्म पाती।
भाई अतः प्रकृति भी परघातवाली, है सर्व सम्मत रही जड़-गात-वाली ॥३६६॥

आत्मा रहा अमर वो मरता नहीं है, औ मारता न पर को कहना सही है।
तो कर्म-कर्म भर को बस मारता है, यों मात्र सांख्यमत आशय धारता है ॥३६७॥

ऐसा हि सांख्यमत से यदि बोलते हो, साधू हुए अमृत में विष घोलते हो।
रागादि का करन ही बन जाय कर्त्ता, तो सर्वथा सकल जीव बने अकर्त्ता ॥३६८॥

आत्मा मदीय करता निज को निजी से, ऐसा त्वदीय मत स्वीकृत हो सदी से।
तो भी रहा मत नितान्त असत्य तेरा, कूटस्थ नित्य निज में न हि हेर फेरा ॥३६९॥

है एक हेतु इसमें सुन ए हितैषी, आत्मा रहा अमर नित्य असंख्य देशी।
वो एकसा, न घटता बढ़ता नहीं है, ऐसा रहा कथन आगम का सही है ॥३७०॥

हो केवली समुद्घात त्रिलोक व्यापी, आत्मा प्रमाण तन के, तन में तथापि।
ऐसी दशा फिर भली उसको बढ़ाता, वो कौन सक्षम उसे क्रमशः घटाता ॥३७१॥

आत्मा त्रिकाल यदि ज्ञायक ही रहा हो, वैराग्य राग किसको कब हो कहाँ हो?
आत्मा कथंचित अतः विधि से सरागी, हो बोध-धाम तज राग बने विरागी ॥३७२॥

पंचेन्द्रि के विषय चेतन से परे हैं, सम्यक्त्व-बोध-व्रत से नहिं वे भरे हैं।
हे साधु चेतन, अचेतन का तथापि, कैसा विघात करता ? नहिं वो कदापि ॥३७३॥

दुष्टाष्ट कर्म शुचि चेतन से परे हैं, सम्यक्त्व-बोध-व्रत से नहिं वे भरे हैं।
हे साधु चेतन, अचेतन कर्म का भी, कैसा विघात करता, नहिं वो कदापि ॥३७४॥

काया अचेतन निकेतन हो तभी है, सम्यक्त्व-बोध-व्रत से न हि वो बनी है।
हे! साधु चेतन, अचेतन काय का भी, कैसा विघात करता नहिं हा कदापि ॥३७५॥

विज्ञान-चारित-सुदर्शन ये भले ही, संमोह के वश मिटे क्षण में टले ही।
होता न घात पर पुद्गल का इसी से, गाता यही समयसार सुनो रुची से ॥३७६॥

ज्ञानादि दिव्य गुण आतम में अनेकों, दीखे परन्तु पर पुद्गल में न देखो।
सम्यक्त्व की मुनि विराग, पराग पीते, पीते न राग विष, सो चिरकाल जीते ॥३७७॥

है जीव की यह अनन्य विभाववाली, संमोह रोष रति की दुखदा प्रणाली।
रागादि ये इसलिए जड़ में नहीं है, हे साधु तेल, मिलता तिल में सही है ॥३७८॥

भाई बना न सकता पर के गुणों को, कोई पदार्थ, कहते जिन सज्जनों को।
प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों से, उत्पन्न हो लस रहे कि युगों-युगों से ॥३७९॥

शिल्पी स्वयं मुकुट आदिक को बनाते, होते न तन्मय नहीं पररूप पाते।
मोहादि कर्म करता रहता निराला, आत्मा कभी न तजता निज चित्त-शाला ॥३८०॥

हस्तादि से मुकुट आदिक को बनाते, शिल्पी न शिल्पमय किन्तु हुए दिखाते।
है जीव कर्म करता निज इन्द्रियों से, तादात्म्य पै न रखता उन पुद्गलों से ॥३८१॥

शस्त्रास्त्र शिल्प करने गहता अनेकों, शिल्पी न तन्मय बना वह भिन्न देखो।
स्वीकारता यदपि कर्म तथापि, पापी, आत्मा न कर्ममय आप बना कदापि ॥३८२॥

है शिल्प कार्य करता धन-धान्य पाता, शिल्पी अनन्य बनता नहिं अन्य भाता।
नाना प्रकार फल भोग शुभाशुभों के, आत्मा न पुद्गल बना निज बोध खो के ॥३८३॥

आत्मा कुकर्म करता फल चाखता है, ऐसी अवश्य कहती व्यवहारता है।
पै भोगता व करता परिणाम को ही, ऐसा सुनिश्चय कहे सुन ए विमोही ॥३८४॥

मैं कुण्डलादिक करूँ मन भाव लाता, शिल्पी उसी समय तन्मय हो सुहाता।
रागादिभाव करता जब जीव ऐसा, तद्रूप आप बन जाय तदीव ऐसा ॥३८५॥

ऐसा विकल्प कर आकुल हो उठेगा, शिल्पी सुनिश्चित दुखी बन वो मिटेगा।
रागाभिभूत बनना निज भूल जाता, जो जीव दुःखमय हो प्रतिकूल जाता ॥३८६॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी, दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी।
है ज्ञेय, ज्ञेय वश ज्ञेय प्रकाशता है, वो ज्ञान, ज्ञान रह ज्ञायक भासता है ॥३८७॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी, दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी।
है दृश्य, दृश्य वश दृश्य दिखा रहा है, आत्मा सुदर्शक सुदर्शक भा रहा है ॥३८८॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी, दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी।
त्यों त्याज्य त्याज्य पर त्याग न तन्मयी है, साधू स्वयं सहज संयत संयमी है ॥३८९॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी, दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी।
श्रद्धेय के वश नहीं समदृष्टिवाला, साधू स्वदृष्टि वश ही समदृष्टिवाला ॥३९०॥

ऐसे विबोध-व्रत-दर्शन तीन प्यारे, होते सुनिश्चय सदा अघ हीन सारे।
संक्षेप में अब सुनो व्यवहार गाता, सन्मार्ग साधक सुनिश्चय का विधाता ॥३९१॥

चूना निसर्ग धवला शशि-सी सुहाती, दीवार को उजल रंग यही दिलाती।
विज्ञान से विशद विश्व सुजानता है, ज्ञाता बना सहज भाव सुधारता है ॥३९२॥

चूना निसर्ग धवला शशि-सी सुहाती, दीवार को उजल रूप यही दिलाती।
आलोक से सकल लोक-अलोक देखा, द्रष्टा बना विमल दर्शन पा सुरेखा ॥३९३॥

चूना निसर्ग धवला शशि-सी सुहाती, दीवार को उजल रूप यही दिलाती।
यों जान मान पर को पररूप ज्ञानी, है त्यागता व भजता निजरूप ध्यानी ॥३९४॥

चूना निसर्ग धवला शशि-सी सुहाती, दीवार को उजल रूप यही बनाती।
जीवादि तत्त्व भर में रख पूर्ण आस्था, सम्यक्त्व धारक चले अनुकूल रास्ता ॥३९५॥

ज्ञानादि जो न निज की करते उपेक्षा, भाई तथापि पर की रखते अपेक्षा।
सिद्धान्त में बस यही व्यवहार माना, सर्वत्र यों समझना भवपार जाना ॥३९६॥

अज्ञान से विगत में निजभाव बाना, भूला किया अशुभ या शुभ भाव नाना।
शुद्धात्म को सजग हो उनसे छुड़ाना, माना प्रतिक्रमण आज उसे निभाना ॥३९७॥

भावी शुभाशुभ विभाव विकार देखो! होंगे प्रमादवश आतम में अनेकों।
आत्मा स्वयं यदि उन्हें निज से हटाता, है प्रत्यख्यान वह है सुख का विधाता ॥३९८॥

तत्काल जो कलुषराग तरंगमाला, है जन्मती हृदय में दुख पूर्ण हाला।
विज्ञान से बस उसे झट से हटाना, आलोचना वह रही प्रभु का बताना ॥३९९॥

जो प्रत्यख्यान करता रुचिसंग साता, साधू प्रतिक्रमण धार, सदा सुहाता।
आलोचना सरसि में डुबकी लगाता, चारित्र निश्चय जिसे शिर मैं नवाता ॥४००॥

निन्दामयी स्तुतिमयी वचनावली है, चैतन्य शून्य जड़ पुद्‌गल की कली है।
हो रुष्ट तुष्ट उसको सुन मूढ़ ऐसा, मैं निंद्य पूज्य खुद हूँ कर भूल ऐसा ॥४०१॥

जो शब्दरूप ढल पुद्‌गल द्रव्य भाता, बोला मुझे न कुछ भी मुझसे न नाता।
हे! मूढ़ क्यों न इस भाँति विचारता है, क्यों रोष-तोष कर होश विसारता है ॥४०२॥

वो शब्द हो अशुभ हो शुभ हो 'सुनो' रे, ऐसा कभी न कहता कि मुझे गुणों रे।
जो कर्ण का विषय मात्र बना हुवा है, होता गृहीत न, स्वतन्त्र तना हुवा है ॥४०३॥

वो रूप! हो अशुभ हो, शुभ हो, लखो रे! ऐसा कहे न कि मुझे दृग से चखो रे!
वो नेत्र का विषय मात्र बना हुवा है, होता गृहीत न स्वतंत्र तना हुवा है ॥४०४॥

वो गंध हो अशुभ या शुभ सूंघ लेना, ऐसा कहे न कि मुझे कुछ मूल्य देना।
पै नासिका विषय केवल वो बनी है, आती नहीं पकड़ में यह तो सही है ॥४०५॥

ऐसा तुम्हें न कहता रस वो कदापि, चाखो मुझे अशुभ या शुभ हो तथापि।
जिह्वेन्द्रि का विषय हो पर स्वाश्रयी है, आता नहीं पकड़ में न पराश्रयी है ॥४०६॥

बोले न स्पर्श कि शुभाशुभ यों किसी से, संस्पर्श तू कर मुझे कर से रुची से।
पै स्पर्श-स्पर्श रहता वश में न आता, हो काय का विषय वो पर भिन्न भाता ॥४०७॥

जानों हमें गुण शुभा-शुभ ये कदापि, ऐसा न बाध्य करते तुमको अपापी।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए हैं, होते नहीं वश स्वतंत्र तने हुए हैं ॥४०८॥

अच्छे बुरे सब पदार्थ हमें पिछानो, ऐसा कभी न कहते कि हमें सुजानो।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए हैं, होते नहीं वश स्वतंत्र तने हुए हैं ॥४०९॥

यों तत्त्व की पकड़ से रह मूढ़ रीता, जीता पिपासु बन, साम्य सुधा न पीता।
सम्भोग का रसिक मात्र परानुरागी, विज्ञान से विरत है विधि से सरागी ॥४१०॥

आए हुए उदय में विधि के फलों को, आत्मीय मान, चखता जड़ के दलों को।
मोही नवीन विधि के दुख बीज बोता, खोता विवेक चिर औ भव बीच रोता ॥४११॥

आए हुए उदय में विधि के फलों को, है भोगता तज कुधी निज में गुणों को।
मैंने किया यह सभी जब मान लेता, मोही नवीन दुख को पुनि माँग लेता ॥४१२॥

आए हुए उदय में विधि के फलों को, जो भोगता तज कुधी निज के गुणों को।
मोही दुखी यदि सुखी नित हो रहा है, हा! दुःख बीज विधि के पुनि बो रहा है ॥४१३॥

है जानता स्वपर को न कभी निजी से, वो शास्त्र, ज्ञान नहिं हो सकता इसी से।
पै शास्त्र शास्त्र 'जड़' केवल नाम पाता, पै ज्ञान, ज्ञान बस चेतनधाम भाता ॥४१४॥

ये शब्द ज्ञान नहिं हो सकते इसी से, वे जानते न पर को निज को निजी से।
पै शब्द शब्द पर पुद्गल है निराला, पै ज्ञान ज्ञान बस चेतन है निहाला ॥४१५॥

रे! रूप, ज्ञान नहिं है जिन हैं बताते, वे क्योंकि आप-पर को नहिं जान पाते।
तो रूप रूप जड़कूप निरा निरा है, औ ज्ञान ज्ञान जगभूप निरा खरा है ॥४१६॥

ना जानता वह कभी कुछ भी यतः है, रे वर्ण ज्ञान नहिं हो सकता अतः है।
हो वर्ण वर्ण, यह वर्णन वर्ण का है, हो ज्ञान ज्ञान, मत दिव्य जिनेन्द्र का है ॥४१७॥

जो जानता न कुछ भी जड़ की निशानी, है 'गंध' ज्ञान नहिं है यह वीर वाणी।
हो 'गंध' 'गंध' भर ही यह गंध गाथा, हो ज्ञान ज्ञान ध्रुव जीवन संग-नाता ॥४१८॥

ना जानता रस कभी रस को यतः है, होता न ज्ञान रस वो रस ही अतः है।
है ज्ञान भिन्न रस भिन्न निरे निरे हैं, ऐसा कहें जिन हुए अघ से परे हैं ॥४१९॥

वो स्पर्श ज्ञान नहिं है कहते यमी है, हो जानता स्वपर को न यही कमी है।
हो स्पर्श स्पर्श भर हो जड़ मात्र न्यारा, हो ज्ञान ज्ञान गुण चेतन पात्र प्यारा ॥४२०॥

ना कर्म जान सकता कुछ भी यतः है, वो कर्म, ज्ञान नहिं हो सकता अतः है।
है कर्म कर्म पर पुद्गल धर्म-वाला, है ज्ञान ज्ञान शुचिचेतन-शर्मशाला ॥४२१॥

धर्मास्तिकाय वह ज्ञान नहीं अतः है, वो जानता स्वपर को न कभी यतः है।
धर्मास्तिकाय वह भिन्न सदा रहा है, है ज्ञान भिन्न मत यों जिनका रहा है ॥४२२॥

होता न ज्ञान यह द्रव्य अधर्म ज्ञाता-औचित्य है न कुछ भी वह जान पाता।
अत्यन्त भिन्न चिर द्रव्य अधर्म भाता, है ज्ञान भिन्न पर से रखता न नाता ॥४२३॥

वो काल ज्ञान नहिं हो सकता अतः है, वो काल जान सकता कुछ भी यतः है।
पै काल काल जड़ ही चिरकाल भाता, लो ज्ञान ज्ञान मणिमाल निहाल साता ॥४२४॥

आकाश जान सकता कुछ भी नहीं है, आकाश ज्ञान नहिं हो सकता सही है।
आकाश भिन्न यह ज्ञान विभिन्न प्यारा, देते जिनेश जग को उपदेश सारा ॥४२५॥

होता ना ज्ञान यह अध्यवसान सारा, वो जानता न कुछ भी जड़ का पिटारा।
बोले जिनेश वह अध्यवसान न्यारा, चैतन्यधाम यह ज्ञान प्रमाण प्यारा ॥४२६॥

है जानता सतत जीव अतः प्रमाणी, है शुद्ध ज्ञान घन ज्ञायक पूर्ण ज्ञानी।
होता न ज्ञान उस ज्ञायक से निराला, जैसा अनन्य इस दीपक से उजाला ॥४२७॥

विज्ञान-संयम-सुदर्शन है सुहाता, औ द्वादशांग श्रुत पूर्ण वही कहाता।
विज्ञान साधुपन धर्म अधर्म भी है, ऐसा सदैव कहते बुध ये सभी है ॥४२८॥

आत्मा अमूर्त वह मूर्त कभी नहीं है, आहार ग्राहक अतः बनता नहीं है।
आहार मूर्त जड़ पुद्गल धर्मवाला, पीते मुनीश कहते शिव शर्म-प्याला ॥४२९॥

होता सदोष गुण है पर द्रव्य ग्राही, ऐसा सदा समझते शिवराह राही।
निर्दोष आत्म गुण निश्चय से किसी को, पै त्यागता न गहता, गहता निजी को ॥४३०॥

ना तो चराचर सजाति विजातियों को, जो छोड़ती न गहती, पर वस्तुओं को।
आदर्श-सी विमल निर्मल चेतना है, पूजूं उसे विनशती चिर वेदना है ॥४३१॥

ये दीखते जगत में मुनि-साधुवों के, हैं भेष, नैक विधि भी गृहवासियों के।
वे अज्ञ मूढ़ इनको जब धारते है, है मोक्षमार्ग यह यों बस मानते हैं ॥४३२॥

पर्याप्त केवल नहीं तन नग्नता है, तू मान पंथ शिव का निज मग्नता है।
होते निरीह तन से अरिहन्त तातैं, चारित्र-बोध-दृग लीन स्वगीत गाते ॥४३३॥

पाखंडिलिंग गृहिलिंग धरो तथापि, वो मोक्षमार्ग नहिं हो सकता कदापि।
तीनों मिले चरित-दर्शन-बोध सोही, है मोक्ष-मार्ग कहते जिन वीत-मोही ॥४३४॥

सागार और अनगार पदानुराग, वाक्काय से मनस से झट त्याग जाग।
सम्यक्त्व-बोध-व्रत में शिवपंथ में ही, भाई विहार कर तो सुख हाथ में ही ॥४३५॥

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो, अन्यत्र छोड़ निज को न करो विहारो।
संबंध मोक्ष पथ से अविलंब जोड़ो, तो आपको नमन हो मम ये करोड़ों ॥४३६॥

गार्हस्थ्यलिंग भर में मुनिलिंग में ही, जो मुग्ध साधक रहा बहिरंग में ही।
अज्ञात ही समयसार उसे रहेगा, संसार में भटकता दुख ही सहेगा ॥४३७॥

दो द्रव्य-भावमय लिंग नितान्त पाये-जाते विमोक्ष पथ में 'व्यवहार' गाये।
पै लिंग का न शिव के पथ में सहारा, 'आत्मा' अलं सहज निश्चय ने पुकारा ॥४३८॥

साधू स्वयं समयसार सुना सुनाता, सारांश सादर सदा गुणता गुणाता।
पीता सदा समयसार-सुधा-सुधारा, सानन्द शीघ्र तिरता भवसिंधु-धारा ॥४३९॥

गुरुस्मृति

हे! कुन्दकुन्द गुरु कुन्दनरूपधारी,
स्वीकार हो कृति तुम्हें कृति है तुम्हारी।
दो ज्ञानसागर गुरो! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या ॥

❑ ❑ ❑

निजामृतपान

आचार्य अमृतचन्द्र रचित

समयसार कलश

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

निजामृतपान (कलशागीत)

(२१ अप्रैल, १९७८)

'समयसार' का पद्यानुवाद 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' और अध्यात्मरस से भरपूर 'समयसार-कलश' का पद्यानुवाद 'निजामृतपान' ('कलशागीत' नाम से भी) है। यह ग्रन्थ संस्कृत में मूलरूप में है। इसमें अनुष्टुप्, आर्या, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, स्त्रग्धरा, वसन्ततिलका एवं मालिनी आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है, परन्तु निजामृतपान में छन्दों के अनुसार अनुवाद न होकर समस्त ग्रन्थ को अपने गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी के नाम पर ही 'ज्ञानोदय छन्द' में अनूदित किया गया है।

नाटक समयसार कलश' की कठिन भाषा को ध्यान में रखते हुए आचार्यश्री ने लिखा है कि—मनोगत भावों को भाषा का रूप देना तो कठिन है ही, उन्हें लेखबद्ध करना उससे भी कठिन है, किन्तु भाषा को काव्य के साँचे में ढालना तो कठिन से कठिनतम कार्य है। 'निजामृतपान' के अनुवाद तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में उनका कहना है —''यह अनुवाद कहीं-कहीं पर शब्दानुवाद बन पड़ा है तो कहीं-कहीं पर भाव निखर आया है। आशा ही नहीं अपितु विश्वास है कि 'निजामृतपान' का पानकर भव्य मुमुक्षु पाठकगण भावातीत ध्यान में तैरते हुए अपने आपको उत्सर्गित पाएँगे, चेतना में समर्पित पायेंगे।''

आचार्यश्री ने अनुवाद से पूर्व मंगलाचरण के अन्तर्गत आचार्यत्रय—श्री कुन्दकुन्द, श्री अमृतचन्द्र एवं श्री ज्ञानसागरजी को नमस्कार करने के पश्चात् इस अनुवाद के प्रयोजन को इस प्रकार बतलाया है—

'अमृत-कलश' का मैं करूँ, पद्यमयी अनुवाद।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद॥

अर्थात् मैं मोह और प्रमाद मिटाने की कामना से अमृत कलश का पद्यानुवाद कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना में वे इसका उद्देश्य भव्य मुमुक्षु पाठकों का आत्म-चेतना में समर्पित होना भी लिख चुके हैं।

इसमें देव-शास्त्र-गुरु स्तवन के बाद, 'ज्ञानोदय छन्द' में कलशों का पद्यबद्ध रूपान्तर प्रस्तुत हुआ है। इसका लक्ष्य है जैन चिन्तन में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली की गाँठे खुल जायें ताकि पाठक उसका भरपूर आस्वाद ले सकें। इसमें कई अधिकार हैं—जीवाजीवाधिकार, कर्तृकर्माधिकार, पुण्यपापाधिकार, आस्त्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार, सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार, स्याद्वादाधिकार तथा साध्यसाधकाधिकार। अन्ततः मंगलकामना के साथ यह भाषान्तर सम्पन्न हुआ है।

निजामृतपान

मंगलाचरण

दोहा

देवशास्त्र गुरु स्तवन

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय।
सुर-नर-पशु-गति सब मिटे, गति पंचम -गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर-चाँदनी, से जिन-धुनि, अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक गुरु चरण-रज सर पर सुचढ़ाय।
यह मुनि, मन गुरु भजन में, निशि-दिन क्यों न लगाय? ॥३॥

श्री कुन्दकुन्दाय नमः

'कुन्दकुन्द' को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री अमृतचन्द्राय नमः

'अमृतचन्द्र' से अमृत हैं झरता जग अपरूप।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥५॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि 'ज्ञानसागर' गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥६॥

प्रयोजन

अमृत-कलश का मैं करूँ, पद्यमयी अनुवाद।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद ॥७॥

(ज्ञानोदय- छन्द)

मणिमय, मनहर निज अनुभव से झग झग झग झग करती है।
तमो रजो अरु सतोगुणों के गण को क्षण में हरती है।
समय समय पर समयसारमय चिन्मय निज ध्रुव मणिका को,
नमता मम निर्मम मस्तक, तज मृणमय जड़मय मणिका को ॥१॥

गाती रहती गुरु की गरिमा अगणित धारे गुणगण हैं,
मोह मान मद माया मद से रहित हुए हैं ये जिन हैं।
अनेकान्तमय वाणी जिनकी जीवित जग में तब लौं हो,
रवि शशि उडुगण लसते रहते विस्तृत नभ में जब लौं हो ॥२॥

समयसार की व्याख्या करता, चाहूँ कुछ नहिं विरत रहूँ,
चिदानन्द का अनुभव करता निशिदिन निज में निरत रहूँ।
मोह भाव मम बिखर-बिखर कर क्षण-क्षण कण-कण मिट जावे,
पर परिणति का मूल यही बस मोह मूल झट कट जावे ॥३॥

स्यात् पद भूषित, दूषित नहिं है जिन वच मुझे सुहाते हैं,
उभय-नयों के आग्रह कर्दम इकदम स्वच्छ धुलाते हैं।
जिन वच रमता, सकल मोह का मुनि बन वन में वमन किया,
समकित अमित 'समय' लख मुनि ने शत शत वन्दन नमन किया ॥४॥

निर्विकल्पमय समाधि जब तक साधक मुनिगण नहिं पाते,
तब तक उनको प्रभु का आश्रय समयोचित है मुनि गाते।
निश्चय नयमय नभ में लखते चम चम चमके चेतन ज्योत,
अन्तर्विलीन मुनिवर को पर,प्रभु आश्रय तो जुगनू ज्योत ॥५॥

विशुद्ध नय का विषयभूत उस विरागता का पूरा-पन,
पूर्ण ज्ञान का अवलोकन औ सकल संग से सूना-पन।
निश्चय सम्यग्दर्शन है वह वही निजामृत है प्यारा,
वही शरण है वहीं शरण लूँ तज नव-तत्त्वों का भारा ॥६॥

निर्मल निश्चय-नय का तब-तब आश्रय ऋषि अवधारत हो,
अन्तर्जगती-तल में जब तक जगमग जगमग जागृत हो।
फलतः निश्चित लगता नहिं वो मुनि के मन में मैलापन,
नव तत्त्वों में भला ढला हो चला न जाता उजला-पन ॥७॥

नव तत्त्वों में ढलकर चेतन मृण्मय तन के खानन में,
अनुमानित है चिर से जैसा कनक कनकपाषाणन में।
वही दीखता समाधि रत को शोभित द्युतिमय शाश्वत है,
एक अकेला तन से न्यारा ललाम आतम भास्वत है ॥८॥

निजानुभव का उद्भव उर में विराग मुनि में हुआ जभी,
भेदभाव का खेदभाव का प्रलय नियम से हुआ तभी।
प्रमाण नय निक्षेपादिक सब पता नहीं कब मिट जाते,
उदयाचल पर अरुण उदित हो उडुगण गुप लुप छुप जाते ॥९॥

आदि रहित हैं मध्य रहित हैं अन्त रहित हैं अरहन्ता,
विकल्प जल्पों संकल्पों से रहित अवगुणों गुणवन्ता।
इस विध गाता निश्चय नय है पूरण आतम प्रकटाता,
समरस रसिया ऋषि उर में हो उदित उजाला उपजाता ॥१०॥

क्षणिक भाव है तनिक काल लौं ऊपर ऊपर दिख जाते,
तन मन वच विधि दृग चरणादिक जिसमें चिर नहिं टिक पाते।
निजमें निज से निज को निज ही निरख निरख तू नित्यालोक,
सकल मोह तज फिर झट करले अवलोकित सब लोकालोक ॥११॥

विशुद्ध नय आश्रय ले होती स्वानुभूति है कहलाती,
वही परम ज्ञानानुभूति है वाणी जिनकी बतलाती।
जान मान कर इस विध तुमको निज में रमना वांछित है,
निर्मल बोध निरंतर प्यारा परितः पूर्ण प्रकाशित है ॥१२॥

आत्मध्यान में विलीन होकर मोह भाव का करे हनन,
विगत अनागत आगत विधि के बन्धन तोड़ें झट मुनिजन।
शाश्वत शिव बन शिव सुख पाते लोक अग्र पर बसते हैं,
निज अनुभव से जाने जाते कर्म-मुक्त, ध्रुव लसते हैं॥१३॥

चिन्मय गुण से परिपूरित है परम निराकुल छविवाली,
बाहर भीतर सदा एकसी लवण डली सी अति प्यारी।
सहज स्वयं बस लस लस लसती ललित-चेतना उजयाली,
पीने मुझको सतत मिले बस समता-रस की वह प्याली॥१४॥

ज्ञान सुधा रस पूर्ण भरा है आतम नित्य निरंजन है,
यदपि साध्य साधक वश द्विविधा तदपि एक मुनि रंजन हैं।
ऋद्धि सिद्धि को पूर्ण वृद्धि को यदि पाने मन मचल रहा,
स्वातम साधन करलो करलो चंचल मन को अचल अहा॥१५॥

द्रव्य दृष्टि से निरखो आतम एक एक आकार बना,
पर्यय दृष्टी बनती दिखता अनेक नैकाकारतना।
चंचल मन में वही उतरता विद्या-दृग-व्रत धरा हुआ,
दिखता समाधिरत मुनियों को सचमुच चिति से भरा हुआ॥१६॥

दृग-व्रत-बोधादिक में साधक नियम रूप से ढलता है,
पल-पल पग-पग आगे बढ़ता अविरल शिवपथ चलता है।
एक यदपि वह तदपि इसी से बहुविध स्वभाव धारक है,
इस विध यह व्यवहार कथन है कहते मुनि व्रत पालक हैं॥१७॥

पूर्ण रूप से सदा काल से व्यक्त पूर्ण है उचित रहा,
ज्ञान-ज्योति से विलस रहा है एक आप से रचित रहा।
वैकारिक-वैभाविक भावों का निज आतम नाशक है,
इसीलिये वह माना जाता एक भाव का शासक है॥१८॥

एक स्वभावी नैक स्वभावी द्रव्य गुणों से खिलता है,
ऐसा आतम चिन्तन से वह मोक्षधाम नहिं मिलता है।
समकित-विद्या-व्रत से मिलती मुक्ति हमें अविनश्वर है,
सच्चा साधन साध्य दिलाता इस विध कहते ईश्वर हैं॥१९॥

रत्नत्रय में ढली घुली पर मिली खिली इक सारा है,
धारा प्रवाह बहती रहती जीवित चेतन धारा है।
कुछ भी हो पर स्वयं इसी में अवगाहित निज करता हूँ,
नहिं-नहिं इस बिन शांति, तृप्ति हो आत्म-ताप सब हरता हूँ॥२०॥

स्वपर बोध का मूल स्वानुभव जहाँ जगत प्रतिबिम्बित हो,
जिन-मुनिवर को मिला स्वतः या सुन गुरु वचन अशंकित हो।
पर न विभावों से वे अपना कलुषित करते निजपन है,
कई वस्तुयें झलक रही हैं तथापि निर्मल दर्पण है॥२१॥

मोह मद्य का पान किया चिर अब तो तज जड़मति! भाई,
ज्ञान सुधारस एक घूंट लें मुनिजन को जो अति भाई।
किसी समय भी किसी तरह भी चेतन तन में ऐक्य नहीं,
ऐसा निश्चय मन में धारो, धारो मन में दैन्य नहीं॥२२॥

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिन्तन में,
मर जा 'पर कर निजानुभव कर' घड़ी घड़ी-मत रच तन में।
फलतः पल में परम पूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, सज-धज निजको निज से निज घर जायेगा॥२३॥

दशों दिशाओं को हैं करते स्नपित सौम्य शुचि शोभा से,
शत शत सहस्त्र रवि शशियों को कुन्दित करते आभा से।
हित मित वच से कर्ण तृप्त हैं करते दश-शत-अठ गुण-धर,
रूप सलोना धरते, हरते जन मन जिनवर हैं मुनिवर॥२४॥

गोपुर नभ का चुम्बन लेता ढलती वन-छवि वसुधातल,
गहरी खाई मानो पीती निरी तलातल रासातल।
पुर वर्णन तो पुर वर्णन है पर नहिं पुर-पति की महिमा,
मानी जाती इसीलिये वह केवल जड़मय पुर महिमा ॥२५॥

अनुपम अद्भुत जिनवर मुख है रग-रग में है रूप भरा,
जय हो सागर सम गंभीरा शम यम दम का कूप निरा।
रूपी तन का 'रूप रूप' भर तन से जिनवर हैं न्यारे,
इसीलिए यह तन की स्तुति है मुनिवर कहते हैं प्यारे ॥२६॥

तन की स्तुति से चेतन-स्तुति की औपचारिकी कथनी है,
यथार्थ नहिं तन चेतन नाता यह जिन-श्रुति, अघ-मथनी है।
चेतन स्तुति पर चेतन गुण से निर्विवाद यह निश्चित है,
अतः ऐक्य तन चेतन में वो नहीं सर्वथा किंचित है ॥२७॥

स्वपर तत्त्व का परिचय पाया निश्चय नय का ले आश्रय,
जड़ काया से निज चेतन का ऐक्य मिटाया बन निर्भय।
स्वरस रसिक वर बोध विकासित क्या नहिं उस मुनिवर में हो,
भागा बाधक! साधा साधक! साध्य सिद्ध बस पल में हो ॥२८॥

संयम बाधक सकल संग को मन-वच-तन से त्याग दिया,
बना सुसंयत, अभी नहीं पर प्रमत्त पर में राग किया।
तभी सुधी में निजानुभव का उद्भव होना संभव है,
पर भावों से रहित परिणती अविरत में ना संभव है ॥२९॥

सरस स्वरस परिपूरित परितः सहज स्वयं शुचि चेतन का,
अनुभव करता मन हर्षाता अनुपम शिवसुख केतन का।
अतः नहीं है कभी नहीं है मान मोह-मद कुछ मेरा,
चिदानन्द का अमिट धाम हूँ द्वैत नहीं अद्वैत अकेला ॥३०॥

राग द्वेष से दोष कोष से सुदूर शुचि उपयोग रहा,
शुद्धातम को सतत अकेला बिना थके बस भोग रहा।
निश्चय रत्नत्रय का बाना, धरता नित अभिराम रहा,
विराम-आतम उपवन में ही करता आठों याम रहा॥३१॥

परम शान्त रस से पूरित वह बोध सिन्धु बस है जिनमें,
उज्ज्वल-उज्ज्वल उछल रहा है पूर्ण रूप से त्रिभुवन में।
भ्रम विभ्रम नाशक है प्यारा इसमें अवगाहन करलो,
मोह ताप संतप्त हुए तो हृदय ताप को तुम हरलो॥३२॥

भव बन्धन के हेतुभूत सब कर्म मिटाकर हर्षाता,
जीव देहगत भेद-भिन्नता भविजन को है दर्शाता।
चपल पराश्रित आकुल नहिं पर उदार धृतिधर गत आकुल,
हरा-भरा निज उपवन में नित ज्ञान खेलता सुख संकुल॥३३॥

राग रंग से अंग संग से शीघ्र दूर कर वच तन रे!
सार हीन उन जग कार्यों से विराम ले अब अयि! मन रे!
मानस-सर में एक स्वयं को मात्र मास छह देख जरा,
जड़ से न्यारा सबसे प्यारा शिवपुर दिखता एक खरा॥३४॥

तन-मन-वच से पूर्ण यत्न से चेतन का आधार धरो,
संवेदन से शून्य जड़ों का अदय बनो संहार करो।
आप आप का अनुभव करलो अपने में ही आप जरा,
अखिल विश्व में सर्वोपरि है अनुपम अव्यय आत्म खरा॥३५॥

विश्वसार है सर्वसार है समयसार का सार सुधा,
चेतन रस आपूरित आतम शत शत वन्दन बार सदा।
असार-मय संसार क्षेत्र में निज चेतन से रहे परे,
पदार्थ जो भी जहाँ तहाँ है मुझसे पर हैं निरे निरे॥३६॥

वर्णादिक औ रागादिक ये पर हैं पर से हैं उपजे,
समाधि-रत को केवल दिखते सदा पुरुष जो शुद्ध सजे,
लहरें सर में उठती रहती झिलमिल झिलमिल करती हैं,
अन्दर तल में मौन-छटा पर निश्चित मुनिमन हरती हैं ॥३७॥

जग में जब जब जिसमें जो जो जन्मत हैं कुछ पर्यायें,
वे वे उसकी निश्चित होती समझ छोड़ दो शंकायें।
बना हुआ जो कांचन का है सुन्दरतम असि कोष रहा,
विज्ञ उसे कांचनमय लखते, कभी न असि को, होश रहा ॥३८॥

वर्णादिक हैं रागादिक हैं गुणस्थान की है सरणी,
वह सब रचना पुद्गल की है जिन-श्रुति कहती भवहरणी।
इसीलिए ये रागादिक हैं मल हैं केवल पुद्गल हैं,
शुद्धातम तो जड़ से न्यारा ज्ञानपुंज है निर्मल है ॥३९॥

मृण्मय घटिका यदपि तदपि वह घृत की घटिका कहलाती,
घृत संगम को पाकर भी पर घृतमय वह नहिं बन पाती।
वर्णादिक को रागादिक को तन मन आदिक को ढोता,
सत्य किन्तु यह, यह भी निश्चित तन्मय आत्मा नहिं होता ॥४०॥

आदि हीन है अन्तहीन है अचल अडिग है अचल बना,
आप आप से जाना जाता प्रकट रूप से अमल तना।
स्वयं जीव ही सहज रूप से चम चम चमके चेतन है
समयसार का विश्व सार का शुचिमय शिव का केतन है ॥४१॥

वर्णादिक से रहित सहित हैं धर्मादिक हैं ये पुद्गल,
प्रभु ने अजीव द्विधा बताया जिनका निर्मल अन्तस्तल।
अमूर्तता की स्तुति करता पर जड़ आतम ना लख पाता,
चिन्मय चितिपण अचल अत: है आतम लक्षण चख! साता ॥४२॥

निरा जीव है अजीव न्यारा अपने-अपने लक्षण से,
अनुभवता ऋषि जैसा हंसा जल-जल पय-पय तत् क्षण से।
फिर भी जिसके जीवन में हा! सघन मोहतम फैला है,
भाग्यहीन वह कुधी भटकता भव-वन में न उजेला है ॥४३॥

बोध-हीन उस रंग मंच पर सुचिर काल से त्रिभुवन में,
रागी द्वेषी जड़ ही दिखता रस लेता नित नर्तन में।
वीतराग है वीत-दोष है जड़ से सदा-विलक्षण है,
शुद्धातम तो शुद्धातम है चेतन जिसका लक्षण है ॥४४॥

चेतन तन से भिन्न भिन्न नहिं पूर्ण रूप से हो जब लौं,
कर, कर, कर, कर रहो चलाते आरा ज्ञानमयी तब लौं।
तीन लोक को विषय बनाता ज्ञाता द्रष्टा निज आतम,
पूरण-विकसित चिन्मय बल से निर्मलतम हो परमातम ॥४५॥

॥ जीवाजीवाधिकारः समाप्तः ॥

रग रग में चिति रस भरा खरा निरा यह जीव।
तनधारी दुख सहत, सुख तन बिन सिद्ध सदीव ॥१॥
प्रीति भीति सुख दुखन से धरे न चेतन-रीति।
अजीव तन धन आदि ये तुम समझो भव-भीत ॥२॥

कर्तृकर्माधिकार

चेतनकर्ता मैं क्रोधादिक कर्म रहें मम 'जड़' गाता,
उसके कर्तृ-कर्मपन को जो शीघ्र नष्ट है कर पाता।
लोकालोकालोकित करता ज्ञानभानु द्युति पुंज रहा,
निर्विकार है, निजाधीन है, दीन नहीं दृग मंजु रहा ॥४६॥

पर परिणति को भेदभाव को विभाव भावों विदारता,
ज्ञान दिवाकर उदित हुआ हो समकित किरणें सुधारता।
कर्तापन-तम कुकर्मपनतम फिर क्या वह रह पायेगा?
विधि बंधन का गीत पुराना पुद्गल अब ना गायेगा ॥४७॥

जड़मय पुद्गल परपरिणति से पूर्ण रूप से विरत बना,
निश्चय निर्भय बनकर मुनि जब सहज ज्ञान में निरत तना,
ऊपर उठ सुख-दुख से तजता कर्त्ता कुकर्म-कारणता,
ज्ञाता-द्रष्टा साक्षी जग का पुराण पुरुषोत्तम बनता ॥४८॥

व्याप्यपना औ व्यापकता वह पर में नहिं निज द्रव्यन में,
व्याप्य और व्यापकता बिन नहिं कर्तृकर्म पर-जीवन में,
बार-बार मुनि विचार इस विध करें सदा वे जगा विवेक,
पर कर्तापन तजते लसते अंधकार का भगाऽतिरेक ॥४९॥

ज्ञानी निज पर परिणति लखता लखता पर नहीं पुद्गल है।
निरे निरे हैं अतः परस्पर मिले न चेतन पुद्गल हैं।
जड़ चेतन में कर्तृ-कर्म का भ्रम धारें जड़ शठ तब लौं
आरे सम निर्दय बन काटत बोध उन्हें नहिं झट जब लौं ॥५०॥

स्वतंत्र होकर परिणमता है होता स्वतंत्र कर्ता हैं,
उसका जो परिणाम कर्म है कहते जिन, विधि हर्ता हैं।
जो भी होती परिणति अविरल पदार्थ में है वहीं क्रिया,
वैसे तीनों एकमेक हैं यथार्थ से सुन सही जिया! ॥५१॥

सतत एक ही परिणमती है इक का इक परिणाम रहा,
इक की परिणति होती है यह वस्तु-तत्त्व अभिराम रहा।
इस विध अनेक होकर के भी वस्तु एक ही भाती है,
निर्मल-गुण-धारक जिनवर की वाणी इस विध गाती है ॥५२॥

कदापि मिलकर परिणमते नहिं, दो पदार्थ नहिं, संभव हो,
तथा एक परिणाम न भाता दो पदार्थ में उद्भव हो।
उभय-वस्तु में उसी तरह ही कभी न परिणति इक होती,
भिन्न-भिन्न जो अनेक रहती एकमेक ना, इक होती ॥५३॥

एक वस्तु के कर्ता दो नहिं इसविध मुनिगण गाते हैं,
एक वस्तु के कर्म कभी भी दो नहिं पाये जाते हैं।
एक वस्तु की परिणतियाँ भी दो नहिं कदापि होती है,
एक एक ही रहती सचमुच अनेक नहिं नहिं होती है ॥५४॥

भव-भव भव-वन भ्रमता-भ्रमता जीव भ्रमित हो यह मोही,
पर कर्तापन वश दुख सहता-मदतम-तम में निज द्रोही।
वीतरागमय निश्चय धारे एक बार यदि द्युति शाला,
फैले फलतः प्रकाश परितः कर्म बंध पुनि नहिं खारा ॥५५॥

पूर्ण सत्य है आतम करता अपने-अपने भावों को,
पर भी करता पर-भावों पर, पर ना आतम भावों को।
सचमुच सब कुछ पर का पर है आतम का बस आतम है,
जीवन भी संजीवन पीवन[१], आतम ही परमातम है ॥५६॥

विज्ञा होकर अज्ञ बनी तू पर पुद्गल में रमती है,
गज सम गन्ना खाती पर, ना तृण को तजती भ्रमती है।
मिश्री मिश्रित दधि को पी पी पीने पुनि मति! मचल रही,
रसानभिज्ञा पय को पीने गो दोहत भी विफल रही ॥५७॥

रस्सी को लख सर्प समझ जन निशि में भ्रम से डर जाते,
जल लख मृग मृगमरीचिका में पीने भगते, मर जाते।
पवनाहत सर सम लहराता विकल्प जल्पों का भर्ता,
यदपि ज्ञान-घन व्याकुल बनता तदपि भूल में पर कर्ता ॥५८॥

सहज ज्ञान से स्वपर भेद को परम हंस यह मुनि नेता,
दूध दूध को नीर नीर को जैसा हंसा लख लेता।
केवल अलोल चेतन गण को अपना विषय बनाता है,
कुछ भी फिर ना करता मुनि बन मुनिपन यही निभाता है ॥५९॥

शीतल जल है अनल उष्ण है ज्ञान कराता यह निश्चय,
है अथवा ना लवण अन्न में ज्ञान कराता यह निश्चय।
सरस स्वरस परिपूरित चेतन क्रोधादिक से रहित रहा,
यह भी अवगम, मिटा कर्तृपन ज्ञान मूल हो उदित अहा ॥६०॥

मूढ़ कुधी या पूर्ण सुधी भी निज को आतम करता है,
सदा सर्वथा शोभित होता धरे ज्ञान की स्थिरता है।
स्वभाव हो या विभाव हो पर कर्ता अपने भावों का,
परंतु कदापि आतम नहिं है कर्ता पर के भावों का ॥६१॥

आतम लक्षण ज्ञान मात्र है स्वयं ज्ञान ही आतम है,
किस विध फिर वह ज्ञान छोड़कर पर को करता आतम है।
पर भावों का आतम कर्ता इस विध कहते व्यवहारी,
मोह मद्य का सेवन करते भ्रमते फिरते भव-धारी ॥६२॥

चेतन आतम यदि जड़ कर्मों को करने में मौन रहे,
फिर इन पुद्गल कर्मों के हैं कर्ता निश्चित कौन रहे।
इसी मोह के तीव्र वेग के क्षयार्थ आगम गाता है,
पुद्गल पुद्गल-कर्मों कर्ता जड़ से जड़ का नाता है ॥६३॥

स्वभावभूता परिणति है यह पुद्गल की बस ज्ञात हुई,
रही अतः ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई।
जब जब इस विध निज में जड़ है विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥६४॥

स्वभावभूता परिणति यह है चेतन की बस ज्ञात हुई,
रही अतः ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई।
जब जब इस विध निज में चेतन विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥६५॥

विमल ज्ञान रस पूरित होते ज्ञानी मुनि का आशय है,
ऐसा कारण कौन रहा है क्यों ना हो अघ आलय है।
अज्ञानी के सकल-भाव तो मूढ़पने से रंजित हो,
क्यों ना होते गत-मल निर्मल, ज्ञानपने से वंचित हो ॥६६॥

राग रंग सब तजने नियमित ज्ञानी मुनि-ले निज आश्रय,
अतः ज्ञान जल सिंचित सब ही भाव उन्हीं के हों, भा-मय।
राग रंग में अंग संग में निरत अतः वे अज्ञानी,
मूढ़पने के भाव सुधारे कलुषित पंकिल ज्यों पानी ॥६७॥

निर्विकल्प मय समाधिगिरि से गिरता मुनि जब अज्ञानी,
प्रमत्त बन अज्ञान भाव को करता क्रमशः नादानी।
विकृत विकल्पों विभाव भावों को करता तब निश्चित है,
द्रव्य कर्म के निमित्त कारण जो है सुख से वंचित है ॥६८॥

कुनय सुनय के पक्षपात से पूर्ण रूप से विमुख हुए,
निज में गुप लुप छुपे हुए हैं निज के सम्मुख प्रमुख हुए।
विकल्प जल्पों रहित हुए हैं प्रशांत मानस धरते हैं,
नियम रूप से निशिदिन मुनि-''निज-अमृत-पान'' वे करते हैं ॥६९॥

इक नय कहता जीव बंधा है, इक नय कहता नहीं बंधा,
पक्षपात की यह सब महिमा दुखी जगत है तभी सदा।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७०॥

भिन्न- भिन्न नय क्रमशः कहते आत्मा मोही निर्मोही,
इस विध दृढ़तम करते रहते अपने-अपने मत को ही।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७१॥

इक नय मत है आत्मा रागी इक कहता है गत-रागी,
पक्षपात की निशा यही है केवल ज्योत न वो जागी।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥७२॥

इक नय कहता आत्मा द्वेषी इक कहता है ना द्वेषी,
पक्षपात को रखने वाली सुखदात्री मति हो कैसी?
पक्षपात से रहित बना है मुनिमन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥७३॥

इक नय रोता आत्मा कर्ता कर्ता नहिं है इक गाता,
पक्षपात से सुख नहिं मिलता पक्षपात की यह गाथा।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥७४॥

इक नय कहता आत्मा भोक्ता भोक्ता नहिं है इक कहता,
पक्षपात का प्रवाह जड़ में अविरल देखो वह बहता।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥७५॥

इक नय मत में जीव रहा है इक कहता है जीव नहीं,
पक्षपात से घिरा हुवा मन! सुख पाता नहिं जीव वही।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥७६॥

जीव सूक्ष्म है सूक्ष्म नहीं है भिन्न-भिन्न नय कहते हैं,
इस विध पक्षपात से जड़ जन भव-भव में दुख सहते हैं।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥७७॥

इक नय कहता जीव हेतु है हेतु नहीं है इक गाता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तुतत्त्व को नहिं पाता।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥७८॥

जीव कार्य है कार्य नहीं है भिन्न-भिन्न नय हैं कहते,
इस विध पक्षपात जड़ करते परम तत्त्व को नहिं गहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥७९॥

इक नय कहता जीव भाव है भाव नहीं है इक कहता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तुतत्त्व को नहिं गहता।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८०॥

एक अपेक्षा जीव एक है एक अपेक्षा एक नहीं,
ऐसा चिंतन जड़ जन करते दुखी हुए हैं देख यहीं।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८१॥

जीव सान्त है सान्त नहीं है इस विध दो नय हैं कहते
ऐसा चिंतन जड़ जन करते पक्षपात कर दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८२॥

जीव नित्य है नित्य नहीं है भिन्न-भिन्न नय दो कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है पक्षपात को जड़ गहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन-चेतन है॥८३॥

अवाच्य आत्मा वाच्य रहा है भिन्न-भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८४॥

इक नय कहता आत्मा नाना, नाना ना है इक कहता,
इस विध चिन्तन पक्षपात है करता यदि तू दुख सहता।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८५॥

जीव ज्ञेय हैं ज्ञेय नहीं है भिन्न-भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है, करते जड़ जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८६॥

जीव दृश्य है जीव दृश्य नहिं भिन्न-भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है, करते जड़ जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८७॥

जीव वेद्य है वेद्य जीव नहिं भिन्न-भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८८॥

जीव आज भी प्रकट स्पष्ट है प्रकट नहीं दो नय गाते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़जन दुख पाते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है॥८९॥

पक्षपात-मय नय-वन जिसने सुदूर पीछे छोड़ दिया,
विविध विकल्पों जल्पों से बस चंचल मन को मोड़ दिया।
बाहर भीतर समरस इक रस महक रहा है, अपने को,
अनुभवता मुनि मूर्तरूप से स्वानुभूति के सपने को ॥९०॥

रंग बिरंगी तरल तरंगे क्षणरुचि सम झट उठ मिटती,
विविध नयों की विकल्प माला मानस तल में नहिं उठती।
शत शत सहस्र किरण संग ले झग झग करता जग जाता,
निजानुभव केवल मम चेतन भ्रम-तम लगभग भग जाता ॥९१॥

स्वभाव भावों विभाव भावों भावाभावों रहित रहा,
केवल निर्मल चेतनता से खचित रहा है भरित रहा।
उसी सारमय समयसार को अनुभवता कर वंदन मैं,
विविध विधी के प्रथम तोड़ के तड़ तड़ तड़ तड़ बंधन मैं ॥९२॥

निर्भय निश्चल निरीह मुनि जब पक्षपात बिन जीता है,
समरस पूरित समयसार को सहर्ष सविनय पीता है।
पुण्य पुरुष है परम पुरुष है पुराण पावन भगवंता,
ज्ञान वही है दर्शन भी है सब कुछ वह जिन अरहन्ता ॥९३॥

विकल्पमय घन कानन में चिर भटका था वह धूमिल था,
मुनि का विबोधरस निज घर में विवेक पथ से आ मिलता।
खुद ही भटका खुद ही आत्मा लौटा निज में घुल जाता,
फैला जल भी निचली गति से बह बह पुनि वह मिल जाता ॥९४॥

विकल्प करने वाला आत्मा कर्ता यथार्थ कहलाता,
विकल्प जो भी उर में उठता कर्म नाम वह है पाता।
जब तक जिसका विकल्प दल से मानस तल वो भूषित है,
तब तक कर्तृ-कर्म-पन मल से जीवन उसका दूषित है ॥९५॥

विराग यति का कार्य स्वयं को केवल लखना लखना है,
रागी जिसका कार्य, कर्म को केवल करना करना है।
सुधी जानता इसीलिए मुनि कदापि विधि को नहिं करता,
कुधी जानता कभी नहीं है चूँकि निरंतर विधि करता ॥९६॥

ज्ञप्ति क्रिया में शोभित होती कदापि करोति क्रिया नहीं,
उसी तरह बस करण-क्रिया में ज्ञप्ति क्रिया वह जिया! नहीं।
करण क्रिया औ ज्ञप्ति क्रिया ये भिन्न-भिन्न हैं अतः यदा,
ज्ञाता कर्ता भिन्न-भिन्न ही सुसिद्ध होते स्वतः सदा ॥९७॥

कर्म न यथार्थ कर्ता में हो, नहीं कर्म में कर्ता हो,
हुए निराकृत जब ये दो, क्या कर्तृ-कर्मपन सत्ता हो?
ज्ञान ज्ञान में कर्म कर्म में अटल सत्य बस रहा यही,
खेद! मोह नेपथ्य किन्तु ना तजता, नाचत रहा वहीं ॥९८॥

चिन्मय द्युति से अचल उजलती ज्ञान ज्योति जब जग जाती,
मुनिवर अंतर्जगतीतल को परितः उज्ज्वल कर पाती।
ज्ञान ज्ञान तब केवल रहता रहता पुद्गल पुद्गल है,
ज्ञान कर्म का कर्ता नहिं है ढले न विधि में पुद्गल है ॥९९॥

॥इति कर्तृकर्माधिकारः समाप्तः ॥

निज गुण कर्ता आत्म है पर कर्ता पर आप।
इस विध जाने मुनि सभी निज-रत हो तज पाप ॥१॥
प्रमाद जब तक तुम करो, पर-कर्तापन मान।
तब तक विधि बन्धान हो, हो न 'समय' का ज्ञान ॥२॥

पुण्य-पाप-अधिकार

भेद शुभाशुभ मिस से द्विविधा विधि है स्वीकृत यदपि रहा,
उसको लखता निज अतिशय से बोध 'एक विध' तदपि अहा !
शरद चन्द्र सम बोध चंद्रमा निर्मल निश्चल मुदित हुआ,
मोह महातम दूर हटाता सहज स्वयं अब उदित हुआ ॥१००॥

ब्राह्मणता के मद वश इक है मदिरादिक से बच जीता,
स्वयं शूद्र हूँ इस विध कहता मदिरा प्रतिदिन इक पीता।
यद्यपि दोनों शूद्र रहे हैं युगपत् शूद्री से उपजे,
किन्तु जाति भ्रम वश ही इस विध जीवन अपने हैं समझे ॥१०१॥

कर्म हेतु है पुद्गल-आश्रय पुद्गल, स्वभाव फल पुद्गल,
अतः कर्म में भेद नहीं है अभेद नय से सब पुद्गल।
और शुभाशुभ बंध अपेक्षा एक इष्ट है बंधन है,
अतः कर्म है एक नियम से कहते जिन मुनि-रंजन हैं ॥१०२॥

कर्म अशुभ हो अथवा शुभ हो भव बंधन का साधक है,
मोक्षमार्ग में इसीलिए वह साधक नहिं है बाधक है।
किन्तु ज्ञान निज विराग, शिव का साधक है दुखहारक है,
वीतराग सर्वज्ञ हितंकर कहते शिव-सुख साधक हैं ॥१०३॥

पूर्ण शुभाशुभ करणी तज बन निष्क्रिय निज में निरत रहे,
मुनिगण अशरण नहिं पर सशरण अविरत से वे विरत रहें।
ज्ञान ज्ञान में घुल मिल जाना मुनि की परम शरण बस है,
निशि-दिन सेवन करते रहते तभी सुधामय निज रस हैं ॥१०४॥

अमिट अतुल है अनुपम आतम शान-धाम वह सचमुच है,
मोक्षमार्ग है मोक्षधाम है स्वयं ज्ञान ही सब कुछ है।
उससे न्यारा सारा खारा बंध हेतु है बंधन है,
ज्ञान-लीनता वही स्वानुभव शिवपथ उसको वंदन है ॥१०५॥

ज्ञान ज्ञान में स्थिर हो जाता अन्य द्रव्य में नहिं भ्रमता,
वही ज्ञान का ज्ञानपना है जिसको यह मुनि नित नमता।
आत्म द्रव्य के आश्रित वह है, आश्रय जिसका आतम है,
मोक्षमार्ग तो वही ज्ञान है, कहते जिन परमातम है ॥१०६॥

कर्म मोक्ष का नियम रूप से हो नहिं सकता कारण है,
स्वयं बन्धमय कर्म रहा है भव बंधन का कारण है।
तथा मोक्ष के साधन का भी अवरोधक औ नाशक है,
अतः यहाँ पर निषेध उसका करते जिन, मुनि शासक हैं ॥१०७॥

कर्म रूप में यदि ढलता है मनो ज्ञान वह भूल अहा,
ज्ञान ज्ञान नहिं हो सकता वो ज्ञानपने से दूर रहा।
पुद्गल आश्रित कर्म रहा है मृणमय मूर्त अचेतन है,
अतः कर्म नहिं मोक्ष हेतु नहिं हो सकता सुख केतन है ॥१०८॥

मोक्षार्थी को मोक्ष मार्ग में कर्म त्याज्य जड़ पुद्गल है,
पाप रहो या पुण्य रहो फिर सब कुछ कर्दम दलदल है।
दृग व्रत आदिक निजपन में दल मोक्ष हेतु तब बन जाते,
निष्क्रिय विबोध रस झरता, मुनि स्वयं सुखी तब बन पाते ॥१०९॥

कर्ता नहिं पर मोह उदय वह होता मुनि में जब तक है,
समीचीन नहिं ज्ञान कहाता अबुद्धिपूर्वक तब तक है।
सराग मिश्रित ज्ञान सुधारा बहती समाधिरत मुनि में,
राग बंध का, ज्ञान मोक्ष का कारण हो भय कुछ नहिं पै ॥११०॥

ज्ञान बिना रट निश्चय निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रियाकलापी भी ये डूबे डूबे संयम से-ऊबे।
प्रमत्त बन के कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे,
आत्म-ध्यान में लीन किन्तु मुनि तीन लोक पे तैर रहे ॥१११॥

भ्रमवश विधि में प्रभेद करता मोह मद्य पी नाच रहा,
राग-भाव जो जड़मय जड़ से निज बल से झट काट अहा।
सहज मुदित शुचि कला संग ले केली अब प्रारंभ किया,
भ्रम-तम-तम को पूर्ण मिटाकर पूर्ण ज्ञान शशि जन्म लिया ॥११२॥

॥ इति पुण्यपापाधिकार ॥

विभाव परिणति यह सभी पुण्य रहो या पाप।
स्वभाव मिलता, जब मिटे पाप-पुण्य परिताप ॥१॥
पाप प्रथम मिटता प्रथम, तजो पुण्य-फल भोग।
पुनः पुण्य मिटता, धरो आतम-निर्मल योग ॥२॥

आस्रव-अधिकार

आस्रव भट झट कूद पड़ा है क्रुद्ध हुआ है अब रण में,
महा मान का रस वह जिसके भरा हुआ है तन मन में।
ज्ञान मल्ल भी धनुष्यधारी उस पर टूटा धृति-धर है,
क्षण में आस्रव जीत विजेता यह बलधारी सुखकर है ॥११३॥

राग-रोष से मोह-द्रोह से विरहित आतम भाव सही,
ज्ञान सुधा से रचा हुआ है जिन आगम का भाव यही।
नियम रूप से अभावमय है भावास्रव का रहा वही,
तथा निवारक निमित्त से है द्रव्यास्रव का रहा सही ॥११४॥

भावास्रव के अभावपन पा व्रती विरागी वह ज्ञानी,
द्रव्यास्रव से पृथक रहा हूँ बन के जाना मुनि ध्यानी।
ज्ञान भाव का केवल धारी ज्ञानी निश्चित वही रहा,
निरास्रवी है सदा निराला जड़ के ज्ञायक सही रहा ॥ ११५॥

सुबुद्धिपूर्वक सकल राग से होते प्रथम अछूते हैं,
अबुद्धिपूर्वक राग मिटाने बार-बार निज-छूते हैं।
यमी ज्ञान की चंचलता को तभी पूर्णतः अहो मिटा,
निरास्रवी वे केवलज्ञानी बनते निज में स्वको बिठा ॥११६॥

जिसके जीवन में वह अविरल दुरित दुःखमय जल भरिता,
जड़मय पुद्गल द्रव्यास्रव की बहती रहती नित सरिता।
फिर भी ज्ञानी निरास्रवी वह कैसे इस विध हो कहते,
ऐसी शंका मन में केवल शठजन भ्रमवश हो गहते ॥११७॥

उदयकाल आता नहिं जब तक, तब तक सत्ता नहिं तजते,
पूर्व बद्ध विधि यद्यपि रहते, ज्ञानी जन के उर सजते।
पर ना नूतन नूतन विधि आ उनके मन पे अंकित हो,
रागादिक से रहित हुए हों जब मुनि पूर्ण-अशंकित हो ॥११८॥

ज्ञानी जन के ललित भाल पर रागादिक का वह लांछन,
संभव हो न, असंभव ही है वह तो उज्ज्वलतम कांचन।
वीतराग उन मुनिजन को फिर प्रश्न नहीं विधि-बंधन का
रागादिक ही बंधन कारण कारण है मन-स्पन्दन का ॥११९॥

निर्मल विकसित बोधधाममय विशुद्ध नय का ले आश्रय,
मन का निग्रह करते रहते मुनि-जन गुण-गण के आलय,
राग मुक्त हैं रोष मुक्त हैं मुनि वे मुनि-जन-रंजन हैं,
समरस पूरित समय सार का दर्शन करते वंदन हैं ॥१२०॥

जब यति विशुद्ध नय से चिगते, उलटे लटके वे झूले,
विकृत विभावों निश्चित करते आत्म बोध ही तब भूले।
विगत समय में अर्जित विधि के आस्रव वश बहु विकल्पदल,
करते, बंधते विविध विधी के बंधन से खो अनल्प बल ॥१२१॥

यही सार है समयसार का छंद यहाँ है यह गाता,
हेय नहीं है विशुद्ध नय पर ध्येय साधु का वह साता।
तथापि उसको जड़ ही तजते भजते विधि के बंधन को,
जो नहिं मुनि जन तजते इसको भजते नहिं विधि बंधन को ॥१२२॥

अनादि अक्षय अचल बोध में धृति बांधे विधि नाशक है,
अतः शुद्ध नय उन्हें त्याज्य नहिं मुनि या मुनि जन शासक है।
लखते इसमें स्थित मुनि निज बल आकुंचन कर बहिराता,
एक ज्ञान-घन पूर्ण शांत जो अतुल अचल द्युतिमय भाता ॥१२३॥

रागादिक सब आस्त्रव विघटे जब निज मन्दर में अन्दर,
झांक झांक कर देखा मुनि ने दिखता झग झग अति सुन्दर।
तीन जगत के जहां चराचर निज प्रति-छवि ले प्रकट रहें,
अतुल अचल निज किरणों सह वह बोध भानु मम निकट रहे ॥१२४॥

राग द्वेष अरु मोह से, रंजित वह उपयोग
वसुविध-विधि का नियम से, पाता दुखकर योग ॥१॥
विराग समकित मुनि लिए, जीता जीवन सार।
कर्मास्त्रव से बस बचे, निज में करें विहार ॥२॥

संवर-अधिकार

संवर का रिपु आस्त्रव को यम मन्दिर बस दिखलाती है,
दुख-हर, सुखकर वर संवर धन सहज शीघ्र प्रकटाती है।
पर परिणति से रहित नियत नित निज में सम्यक् विलस रही,
ज्योति-शिखा वह चिन्मय निज खर किरणावलि से विहस रही ॥१२५॥

ज्ञान राग ये चिन्मय जड़ है किन्तु मोह वश एक लगे,
जिन्हें विभाजित निज बल से कर, स्व-पर बोध उर देख जगे।
उस भेद-ज्ञान का आश्रय ले तुम बन कर पूरण गत रागी,
शुद्ध ज्ञान-घन का रस चाखो सकल संग के हो त्यागी ॥१२६॥

धारा प्रवाह बहने वाला ध्रुव बोधन में सुरत यमी,
किसी तरह शुद्धातम ध्याता विशुद्ध बनता तुरत दमी।
हरित भरित निज कुसुमित उपवन में तब आतम रमता है।
पर परिणति से पर द्रव्यन में पल भर भी नहिं भ्रमता है ॥१२७॥

अनुपम अपनी महिमा में मुनि भेद ज्ञानवश रमते हैं।
शुद्ध तत्त्व का लाभ उन्हें तब हो हम उनको नमते हैं।
उसको पावे पर यति निश्चल अन्य द्रव्य से दूर रहे,
मोक्षधाम बस पास लसेगा सभी कर्म चकचूर रहे ॥१२८॥

विराग मुनि में जब जब होता भवहर, सुखकर संवर है,
शुद्धातम के आलम्बन का फल कहते-दिग-अम्बर हैं।
शुचितम आतम भेद-ज्ञान से सहज शीघ्र ही मिलता है,
भेद-ज्ञान तू इसीलिये भज जिससे जीवन खिलता है ॥१२९॥

तब तक मुनिगण अविकल अविरल तन मन वच से बस भावे,
भेद-ज्ञान को, जीवन अपना समझ उसी में रम जावे।
ज्ञान ज्ञान में सहजरूप से जब तक स्थिरता नहिं पावें,
पर परिणतिमय चंचलता को तज निज-पन को भज पावें ॥१३०॥

सिद्ध शुद्ध बन तीन लोक पर विलस रहे अभिराम रहे,
तुम सब समझो भेद ज्ञान का मात्र अहो परिणाम रहे।
भेद-ज्ञान के अभाव वश ही भव, भव, भव-वन फिरते हैं,
विधि बंधन में बँधे मूढ़ जन भवदधि नहिं ये तिरते हैं ॥१३१॥

भेदज्ञान बल शुद्ध तत्त्व में निरत हुवा मुनि तज अम्बर,
राग-दोष का विलय किया मुनि किया कर्म का वर संवर।
उदित हुआ तब मुदित हुआ ध्रुव अचल बोध शुचि शाश्वत है,
खिला हुआ है खुला हुआ है एक आप बस भास्वत है ॥१३२॥

॥ इति संवराधिकार ॥

रागादिक के हेतु को तजते अम्बर छाँव।
रागादिक पुनि मुनि मिटा भजते संवर भाव ॥१॥
बिन रति-रस चख जी रहें निज घर में कर वास।
निज अनुभव-रस पी रहें उन मुनि का मैं दास ॥२॥

निर्जरा अधिकार

रागादिक सब आस्रव भावों को निज बल से विदारता,
संवर था वह भावी विधि को सुदूर से ही निवारता।
धधक रही अब सही निर्जरा पूर्व बद्ध विधि जला-जला,
सहज मिटाती, रागादिक से ज्ञान न हो फिर चला चला ॥१३३॥

यह सब निश्चित अतिशय महिमा अविचल शुचितम ज्ञानन की,
अथवा मुनि की विरागता की समता में रममानन की।
विधि के फल को समय समय पर भोग भोगता भी त्यागी,
तभी नहीं यह विधि से बँधता बँधे असंयत पर रागी ॥१३४॥

इन्द्रिय विषयों का मुनि सेवन करता रहता है प्रतिदिन,
किन्तु विषय के फल को वह नहिं पाता, रहता है रति बिन।
आत्म ज्ञान के वैभव का औ विरागता का यह प्रतिफल,
सेवक नहिं हो सकता फिर भी विषय सेव कर भी प्रतिपल ॥१३५॥

ज्ञान शक्ति को विराग बल को सम्यक्-दृष्टी ढोता है,
पर को तजने निज को भजने में जो सक्षम होता है।
पर को पर ही निज को निज ही जान मान मुनि निश्चित ही,
निज में रमता पर-रति तजता राग करे नहिं किंचित भी ॥१३६॥

दृग-धारक हम अतः कर्म नहिं बंधते हमसे बनते हैं,
रागी मुनि ही इस विधि बकते वृथा गर्व से तनते हैं।
यदपि समितियाँ पालें पालो फिर भी अघ से रंजित हैं,
स्वपर भेद के ज्ञान बिना वे समदर्शन से वंचित हैं ॥१३७॥

चिर से रागी प्रमत्त बनके भ्रमवश करता शयन जहाँ,
दुखकर परघर निजघर नहिं वो जान! खोल तू नयन अहा।
निज-घर तो बस निज-घर ही है सुखकर है सुखकेतन है,
शुद्ध शुद्धतर विशुद्धतम है अक्षय ध्रुव है चेतन है ॥१३८॥

पद पद पर बहु पद मिलते हैं पर वे दुख पद परपद हैं,
सब पद में बस पद ही वह पद सुखद निरापद निजपद है।
जिसके सम्मुख सब पद दिखते अपद दलित-पद आपद हैं,
अतः स्वाद्य है पेय निजीपद सकल गुणों का आस्पद है ॥१३९॥

आदि आतमा निज अनुभव का जान ज्ञान को रख साता,
भेद भिन्नता खेद खिन्नता घटा हटाकर इक भाता।
ज्ञायक रस से पूरित रस को केवल निशिदिन चखता है,
नीरस रस मिश्रित रस को नहिं चखता मुनि निज लखता है ॥१४०॥

सकल अर्थमय रस पी पीकर मानो उन्मद सी निधियाँ,
उजल उजल ये उछल उछलती निज संवेदन की छवियाँ।
अभिन्न चिन्मय रस पूरित हैं भगवन-सागर एक रहे,
अगणित लहरें उठती जिनमें इसीलिए भी नैक रहें ॥१४१॥

सूख सूखकर सोंठ भले हो-शिवपथ-च्युत व्रत भरणों से,
तपन तप्त हो तापस गिरि पे केवल जपतप चरणों से।
मोक्ष मात्र नित निरा निरामय निज संवेदन ज्ञान सही,
ज्ञान बिना मुनि पा नहिं सकते शिव को इस विध जान सही ॥१४२॥

मोक्षधाम यह मिले न केवल क्रियाकाण्ड के करने से,
परंतु मिलता सहज सुलभ निज बोधन में नित चरने से।
सदुपयोग तुम करो इसी से स्वीय-बोध जब मिला तुम्हें,
सतत यतन यति जगत! जगत में करो मिले शिव किला तुम्हें ॥१४३॥
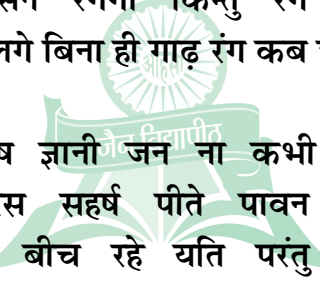
ज्ञानी मुनि तो सहज स्वयं ही देव रूप है सुख-शाला,
चिन्मय चिंतामणि चिंतित को पाता अचिंत्य बल-वाला।
काम्य नहीं कुछ कार्य नहीं कुछ सब कुछ जिसको साध्य हुआ,
पर संग्रह को अतः सुधी नहिं होगा था है बाध्य हुआ ॥१४४॥

स्वपर बोध का नाशक जो है बाधक तम है शिवमग को,
तजकर इस विध विविध संग को दशविध बाहर के अघ को।
भीतर घुस-घुस बनकर मुनि अब केवल ज्ञानावरणी को,
पूर्ण मिटाने मिटा रहा है, मानस-कालुष-सरणी को ॥१४५॥

गत जीवन में अर्जित विधि के उदयपाक जब आता है,
ज्ञानी मुनि को भी उसका रस चखना पड़ तब जाता है।
विषयों के रस चखते पर वे रस के प्रति नहिं रति रखते,
विगतराग हैं परिग्रही नहिं नियमित निज में मति रखते ॥१४६॥

भोक्ता हो या भोग्य रहा हो दोनों मिटते क्षण-क्षण से,
इसीलिये ना इच्छित कोई भोगा जाता तन मन से।
विराग झरना जिस जीवन में झर-झर झर-झर झरता है,
विषय राग की इच्छा किस विध ज्ञानी मुनि फिर करता है? ॥१४७॥

विषय राग के रसिक नहीं मुनि ज्ञानी नित निज रस चखते,
विग्रह-मूल परिग्रह ही है, भाव परिग्रह नहिं रखते।
रंग लगाओ वसन रंगेगा किन्तु रंग झट उड़ सकता,
हलदी फिटकरि लगे बिना ही गाढ़ रंग कब चढ़ सकता? ॥१४८॥

विषय-विषम-विष ज्ञानी जन ना कभी भूलकर भी पीते,
निज रस समरस सहर्ष पीते पावन जीवन ही जीते।
कर्म कीच के बीच रहे यति परंतु उससे ना लिपते,
रागी द्वेषी गृही असंयत पाप पंक से पर लिपते ॥१४९॥

जिसका जिस विध स्वभाव हो, हो उसका तिस विध अपनापन,
उसमें अंतर किस विध फिर हम ला सकते हैं अधुनापन।
अज्ञ रहा वह विज्ञ न होता ज्ञान कभी अज्ञान नहीं,
भोगो ज्ञानी पर वश विषयों तज रति, विधि बंधान नहीं ॥१५०॥

पर मम कुछ ना कहता पर तू भोग भोगता हूँ कहता,
वितथ भोगता तब ए! ज्ञानी भोग बुरा क्यों दुख सहता।
भोगत 'बंध' न हो यदि कहता भोगेच्छा क्या है मन में,?
ज्ञान लीन बन, नहिं तो!! रति वश जकड़ेगा विधि बंधन में ॥१५१॥

कर्ता को विधि बलपूर्वक ना कभी निजी-फल है देता,
कर्ता विधि फल-चखना चाहे खुद ही विधि फल चख लेता।
विधि को कर भी मुनि, विधिफल को, तजता परता सब जड़ता,
विधि फल में ना रचता पचता ना बंधन में तब पड़ता ॥१५२॥

विधि फल तज भी विधि करते मुनि इस विध हम ना हैं कहते,
परन्तु परवश विधिवश कुछ कुछ विधि आ गिरते हैं रहते।
कौन कहें विधि ज्ञानी करते जब या रहते अमल बने,
आ, आ गिरते विधि, रहते निज-ज्ञान भाव में अचल तने ॥१५३॥

वज्रपात भी मुनि पर हो पर धर दृढ़ दृग धृति जपता है,
जबकि जगत यह कायर भय से पीड़ित कप कप कपता है।
आत्म बोध से चिगता नहिं है, ज्ञान धाम निज लखता है,
निसर्ग निर्भय निसंग बनकर भय ना उर में रखता है ॥१५४॥

एक लोक है विरत आत्म का चेतन जो है शाश्वत है,
उसी लोक को ज्ञानी केवल लखता विकसित भास्वत है।
चिन्मय मम है लोक किन्तु यह पर है पर से डर कैसा?
निशंक मुनि अनुभवता तब बस स्वयं ज्ञान बनकर ऐसा ॥१५५॥

भेद रहित निज सुवेद्य वेदक-बल से केवल संवेदन,
विराग मन से आस्वादित हो अचल ज्ञानमय इक चेतन।
परकृत परिवेदन पीड़न से ज्ञानी को फिर डर कैसा,
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५६॥

जो भी सत है वह ना मिटता स्पष्ट वस्तु की यह गाथा,
ज्ञान स्वयं सत रहा कौन फिर उसका पर हो तब त्राता?
अतः अरक्षाकृत भय ज्ञानी जन को होगा फिर कैसा?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५७॥

वस्तु रूप ही गुप्ति रही बस उसमें नहिं पर घुसता है,
उसी तरह वह ज्ञान सुधी का स्वरूप सुख कर लसता है,
अतः अगुप्ति न ज्ञानी जन को हो फिर किससे डर कैसा।?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५८॥

प्राणों का हो कण कण खिरना मरण नाम बस वह पाता,
ज्ञानी का पर ज्ञान न नश्वर कभी नहीं मिट यह जाता,
मरण नहीं निज आतम का है अतः मरण से डर कैसा?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५९॥

आदि अन्त से रहित अचल है एक ज्ञान है उचित सही,
आप स्वतः है जब तक तब तक उसमें पर हो उदित नहीं।
आकस्मिक निज में ना कुछ हो फिर तब उससे डर कैसा?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१६०॥

समरस पूरित शुद्ध बोध का पावन भाजन बन जाता,
विराग दृग धारक विधि-नाशक दृष्टि अंग वसु धन पाता।
इस विध परिणति जब हो मुनि की पर परिणति की गंध न हो,
पूर्व उपार्जित कर्म निर्जरा भोगत भी विधि बंध न हो ॥१६१॥

अष्ट अंग दृग संग संभाले नव्य कर्म का कर संवर,
बद्ध कर्म को जर, जर कर क्षय करते तज मुनिवर अंबर।
आदि अंत से रहित ज्ञान बन स्वयं मुदित हों दृगधारी,
तीन लोक के रंग मंच पर नाच रहा है अघहारी ॥१६२॥

॥ इति निर्जराधिकारः ॥

साक्षी बनकर विषय का करते मुनिवर भोग।
पूर्व-कर्म की निर्जरा हो तब शुचि उपयोग ॥१॥

बंध किये बिन बंध का बंधन टूटे आप।
महिमा यह सब साम्य की विराग- दृग की छाप ॥२॥

बन्ध-अधिकार

बन्ध तत्त्व यह राग मद्य को घुला घुला कर पिला पिला,
सकल विश्व को, मत्त बनाकर खेल रहा था खुला खिला।
धीर निराकुल उदार मानस ज्ञान सहजता जगा रहा,
चिदानन्दमय रस, पीकर अब बन्ध तत्त्व को भगा रहा ॥१६३॥

सचित अचित का वध नहिं विधि के बंध हेतु ना इन्द्रियगण,
भरा जगत भी विधि से नहिं है चंचलतम भी "वच तन मन"।
राग रंग में रचता पचता रागी का उपयोग रहा,
केवल कारण विधि बन्धन को यों कहते मुनि लोग अहा! ॥१६४॥

यदपि भले ही इन्द्रियगण हो चिदचित् वध हो क्षण-क्षण हो,
जग हो विधि से भरा रहा हो चंचलतर ये तन-मन हो।
राग रंग से रंजित करता यदि नहिं शुचि उपयोगन को,
निश्चय विराग दृढ़ धारक मुनि पाता नहिं विधि-योगन को॥१६५॥

परन्तु ज्ञानी मुनि को बनना स्वेच्छाचारी उचित नहीं,
उच्छृंखलपन बन्ध धाम है आत्म ज्ञान हो उदित नहीं।
इच्छा करना तथा जानना युगपत् दो ये नहिं बनते,
बिना राग के कार्य अत: हो मुनि के नहिं तो! विधि तनते ॥१६६॥

जो मुनि निज को जान रहा है वह ना करता विधि बन्धन,
जो विधि करता नहिं निज लखता यही राग का अनुरंजन।
राग रहा है अबोधमय ही अध्यवसायन का आलय,
मिथ्यादर्शन बन्ध हेतु वह जिनवाणी का यह आशय ॥१६७॥

नियत रहे हैं सभी जगत में सुख-दुख मृतिभय जनना रे!
अपने-अपने कर्म-पाक वश पाते जग जन तनधारे।
सुख-दुख देता पर को जीवित करता मैं निज के बल से,
तेरा कहना भूल रही यह फलत: वंचित केवल से ॥१६८॥

पर से जीवन जीता जग है सुख-दुख पाता मरता है,
इस विध जड़ ही कहता रहता मूढ़पना बस धरता है
वसुविध विधि को करता फलतः अहंकार-मद पीता है,
मिथ्यादृष्टी निजघातक है दानव-जीवन जीता है ॥१६९॥

जग के पोषण-शोषण का यह मिथ्यादृष्टी का आशय,
बोध विनाशक नियम रूप से अबोध-तम-तम-का आलय।
कारण! उसका आशय निश्चित भ्रम है भ्रम का कारण है,
दुखत विविध वसुविध-विधि के बस, बन्धन है असु-मारण है ॥१७०॥

दुखमय अध्यवसायन कर कर निज अनुभव से स्खलित हुआ,
दीन-हीन मतिहीन हुवा है संमोहित है भ्रमित हुआ।
मोही प्राणी सबको अपना कहता रहता भूल रहा,
इसीलिये वह इन्द्रिय विषयों-में निशदिन जो झूल रहा ॥१७१॥

सकल विश्व से पृथक रहा वो यद्यपि आत्मा अपना है,
तथापि पर को अपना कहता करता मोही सपना है।
अध्यवसायन-दल यह केवल मोह मूल ही है इसका,
स्वप्न दशा में भी ना यतिवर आश्रय लेते हैं जिसका ॥१७२॥

अध्यवसायन को कहते 'जिन' त्याज्य त्याज्य बस निस्सारा,
जिसका आशय मैं लेता बस छुड़वाया सब व्यवहारा।
शुद्ध ज्ञान-घन में धृति फिर भी क्यों ना धारण करते हैं,
निश्चल बन मुनि निज छवि में हा! क्या कारण नहिं चरते हैं ॥१७३॥

शुचिमय चेतन से हैं न्यारे रागादिक अघ ये सारे,
वसुविध विधि के बंधन कारण यह तुम मत जिन! ए प्यारे।
रागादिक का पर क्या कारण पर है अथवा आतम है,
इस विध शंका यदि जन करते कहते तब परमातम है ॥१७४॥

रागादिक कालुष परिणतियाँ यद्यपि आतम में होती,
स्वभाव से पर वे ना होती कर्म-हेतु वश ही होती।
मोह पाक ही उसमें कारण वस्तु तत्त्व यह उचित रहा,
सूर्य बिम्ब वश सूर्यकान्तमणि से ज्यों अगनी उदित अहा ॥१७५॥

इस विध पर की बिना अपेक्षा वस्तु-तत्त्व का अवलोकन,
सहज स्वयं ही ज्ञानी मुनिजन करते पर का कर मोचन।
रागादिक से अतः स्वयं को करते नहीं कलंकित हैं,
कर्ता कारक बनते नहिं हैं फलतः सदा अशंकित हैं ॥१७६॥

वस्तु-तत्त्व का रूप कभी ना जिनके दृग में अंकित है,
अज्ञानी वे कहलाते हैं निज के सुख से वंचित हैं।
रागादिक से अतः स्वयं को करते सदा-कलंकित हैं,
कर्ता कारक बनते जब हैं फलतः पामर शंकित हैं ॥१७७॥

इसविध विचार विविध विकल्पों को तजने निज भजते हैं,
राग भाव का मूल परिग्रह मुनिवर जिसको तजते हैं।
निजी निरामय संवेदन से भरित आत्म को पाते हैं,
बन्ध मुक्त बन भगवन अपने में तब आप सुहाते हैं ॥१७८॥

बहु विध-वसुविध राग कार्य-विधि-बंध, मिटा बन निरा अदय,
विधि बन्धन के कारण जिनको रागादिक के मिटा उदय।
भ्रम-तम-तम को तथा भगाता, ज्ञान भानु अब उदित हुवा,
जिसके बल को रोक सकेगा कोई ना यह विदित हुवा ॥१७९॥

दोहा

मात्र कर्म के उदय से नहिं वसु विध विधि-बंध।
रागादिक ही नियम से बंध-हेतु, सुन-अंध ॥१॥
बन्ध तत्त्व का ज्ञान ही केवल मोक्ष न देत।
मोह त्याग ही मोक्ष का साक्षात् स्वाश्रित हेतु ॥२॥

मोक्ष अधिकार

भिन्न भिन्न कर बन्ध पुरुष को प्रज्ञामय उस आरे से,
बिठा पुरुष को मोक्ष-धाम में उठा भवार्णव-खारे से!
परम सहज निज चिदानन्दमय-रस से पूरित झील अहो!
सकल कार्य कर विराम पाया ज्ञान सदा जय शील रहो ॥१८०॥

आत्म कर्म की सूक्ष्म संधि में प्रमाद तज जब मुनि झटके,
प्रज्ञावाली पैनी छैनी पूर्ण लगाकर बल पटके।
अबोध-विभाव में विधि, शुचि-ध्रुव चेतन में निज आतम को,
स्थापित करती भिन्न भिन्न कर करे दूर वह हा! तम को ॥१८१॥

जो कुछ भिदने योग्य रहा था उसे भेद निज लक्षण से,
अविभागी निज चेतन शाला नित ध्याऊँ मैं क्षण क्षण से।
कारक गुण धर्मादिक से मुझ, में भले हि कुछ भेद रहे,
तथापि शुचिमय विभुमय चिति में भेद नहीं गत-भेद रहे ॥१८२॥

अभेद होकर भी यदि चेतन तजता दर्शन-ज्ञान मनो,
समान विशेष नहीं रह पाते तजता निज को तभी सुनो!
निज को तजता भजता जड़ता बिना व्याप्य व्यापक चेतन,
होगा विनष्ट अत: नियम से आत्म, ज्ञान - दृग का केतन ॥१८३॥

एक भाव वह द्युतिमय चिन्मय चेतन का नित लसता है,
किन्तु भाव सब पर के पर हैं तू क्यों उनमें फँसता है?
उपादेय है ज्ञेय ध्येय है केवल चेतन-भाव सदा,
भाव हेय हैं पर के सारे सुखद-अचेतन-भाव कदा? ॥१८४॥

जिनकी मन की परिणति उजली मोक्षार्थी वे आराधे,
छविमय द्युतिमय एक आपको शुचितम करके शिव, साधे।
विविध भाव हैं जो कुछ लसते मुझसे विभिन्नपन धारे,
मैं बस चेतन ज्ञान-निकेतन ये पर सारे हैं खारे ॥१८५॥

जड़मय-पुद्गल पदार्थ दल का पर का संग्रह करता है,
वसुविध विधि से अपराधी वह बंधता विग्रह धरता है।
निरपराध मुनि विराग बन के निज में रमता भज संवर,
बँधता कदापि ना वो विधि से निज को नमता तज अंबर ॥१८६॥

मलिन भाव कर अपराधी मुनि अविरल निश्चित विधि पाता,
विधि से बंधता निरपराध नहिं यतिवर निज की निधि पाता।
शुद्धातम की सेवा करता निरपराध मुनि कहलाता,
रागात्मा को भजने वाला सापराध बन दुख पाता ॥१८७॥

विलासतामय जीवन जीते प्रमत्त जन को धिक्कारा,
क्रियाकाण्ड को छुड़ा मिटाया चंचलतम मन की धारा।
शुद्ध-ज्ञान-घन की उपलब्धी जीवन में नहिं हो जब लौं,
निश्चित निज में उनको गुरु ने विलीन करवाया तब लौं ॥१८८॥

प्रतिक्रमण ही विष है खारा गाया जिनने जब ऐसा,
अप्रतिक्रमणा सुधासरस हो सकता सुखकर तब कैसा?
बार-बार कर प्रमाद फिर भी नीचे नीचे गिरते हो,
क्यों ना ऊपर- ऊपर उठते प्रमाद पीछे फिरते हो ॥१८९॥

प्रमाद मिश्रित भाव-प्रणाली शुद्ध-भाव नहिं वह साता,
कषायरंजित पूर्ण रहा है अलस-भाव है कहलाता।
सरस स्वरस परि-पूरित निज के स्वभाव में मुनिरत होवें,
फलतः पावन शुचिता पावें शिव को, पर अविरत रोवें ॥१९०॥

विकृत विभावों के कारण पर-द्रव्यन को बस तजता है,
रुचि लेता मुनि यथार्थ निज में, पर को कभी न भजता है।
तोड़-तोड़ कर वसु-विध-बंधन पाप पंक को धोता है,
चेतन जल से पूरित सर में स्नपित-पूर्ण शुचि होता है ॥१९१॥

अतुल्य अव्यय शिवपद को वह पूर्ण-ज्ञान पा, राग हटा,
जगमग जगमग करता निज को सहज दशा में जाग उठा।
केवल! [१]केवल, रस से पूरित नीर-राशि सम गंभीरा,
ज्योति-धाम निज ओज- तेज से अगम अमित तम, समधीरा ॥१९२॥

॥ इति मोक्षाधिकारः ॥

वसु विध विधि का विलयमय, निलय, समय का मोक्ष।
व्यक्त-रूप है सिद्ध में, तुझमें वही परोक्ष ॥१॥

दृग व्रत-समता धार के, द्रव्य- भव्य भज आप।
निरा निरामय आत्म हो, रूप द्रव्य तज ताप ॥२॥

सर्व विशुद्धज्ञान-अधिकार

कर्तृ-भोक्तृ-मय विभाव भावों घटा, मिटा अघ-अंजन से,
दूर रहा है, पद पद पल पल बंध मोक्ष के रंजन से।
अचल प्रकटतम महिमाधारी ज्ञानपुंज दृग मंजु सही,
शुद्ध, शुद्धतम, विशुद्ध शोभित स्वरस-पूर्ण द्युति पुण्यमही ॥१९३॥

जैसा चेतन आतम का निज संवेदन निज भाव रहा,
वैसा कर्तापन आतम का होता नहिं पर भाव-रहा।
मूढ़पना वश करता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
मिटा मूढ़पन, कर्ता नहिं हो मुनिवर निर्मोही ज्ञानी ॥१९४॥

यदपि स्वरस से भरा जीव है विदित हुवा नहिं कर्ता है,
तीन लोक में फैल रहा ले शुचि-चिति-द्युति शिव धर्ता है।
तदपि मूढ़ता की कोई है महिमा सघना-गम न्यारी,
इसीलिए विधि बंधन होता दुखकारी, सुख-शम-हारी ॥१९५॥

जैसा कर्तापन आतम का होता नहिं निज भाव रहा,
वैसा होता चेतन का नहिं भोक्तापन भी भाव रहा।
मूढ़पना वश भोक्ता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
उसे नाशकर सुखी अवेदक मुनि हो निर्मोही ज्ञानी ॥१९६॥

अज्ञानी विधिफल में रमता निश्चित विधि का वेदक है,
ज्ञानी विधि में रमता नहिं है वेदक ना, निज-वेदक है।
इस विध विचार मुनिगण! तुमको मूढ़पना बस तजना है,
ज्ञानपने के शुद्ध तेज में निज में निज को भजना है ॥१९७॥

ज्ञानी विराग मुनि नहिं विधि का करता वेदन, विधि करता,
केवल विधिवत विधि का विधिपन जाने, गुण-वारिधि धरता।
कर्तापन वेदन-पन को तज केवल साक्षी रह जाता,
शुचितम स्वभाव रत होने से कर्म-मुक्त ही कहलाता ॥१९८॥

निज को पर का कर्ता लखते पर में मुनि जो अटक रहे,
मोहमयी अति घनी निशा में, इधर उधर वे भटक रहे।
यदपि मोक्ष की आशा रखते, तदपि सदा भव दुख पाते,
साधारण जनता सम वे भी नहिं अक्षय शिव सुख पाते ॥१९९॥

आत्म-तत्त्व औ अन्य तत्त्व ये स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रहते हैं,
एक-मेक हो आपस में मिल प्रवाह बन ना बहते हैं।
कर्तृ-कर्म संबंध सिद्ध वह इसविध जब ना होता है,
फिर किस विध पर कर्तृ-कर्म-पन हो, क्यों फिर तू रोता है ॥२००॥

सभी तरह सम्बन्ध निषेधित करते जग के नाथ सभी,
सम्बन्ध न हो एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कभी।
वस्तु भेद होने से, फिर क्या कर्तृ-कर्म की दशा रही,
निज के अकर्तृपन मुनि फलतः लखते, अब ना निशा रही ॥२०१॥

ज्ञान तेज अज्ञान भाव में ढला खेद जिनका तातें,
निज-पर स्वभाव तो ना जाने पागल पामर कहलाते।
मूढ़ कर्म वे करते फलतः लखते निज चैतन्य नहीं,
भाव कर्म का कर्त्ता चेतन अतः स्वयं है, अन्य नहीं ॥२०२॥

कर्म कार्य जब किया हुवा, पर जीव प्रकृति का कार्य नहीं,
अज्ञ प्रकृति भी स्वकार्य फल को भोगे तब अनिवार्य सही।
मात्र प्रकृति का भी न, अचेतन प्रकृति! जीव ही कर्ता है,
भाव कर्म सो चेतनमय है, पुद्‌गल ज्ञान न धरता है ॥२०३॥

मात्र कर्म 'कर्ता' यों कहता निज कर्तापन छिपा रहा,
कथंचिदात्मा 'कर्ता' कहती जिन श्रुति को ही मिटा रहा।
उस निज घातक की लघुधी को महामोह से मुँदी हुई,
विशुद्ध करने अनेकान्तमय वस्तु स्थिती यह कही गई ॥२०४॥

लखे अकर्तामय निज को नहिं जैन सांख्य सम ये तब लौं,
कर्तामय ही लखे सदा, शुचि भेद-ज्ञान नहिं हो जबलौं।
विराग जब मुनि तीन गुप्ति में-लीन, समिति में नहिं भ्रमते,
कर्तृभाव से रहित पुरुष के बोध-धाम में तब रमते ॥२०५॥

कर्ता भोक्ता भिन्न-भिन्न हैं आत्म तत्त्व जब क्षणिक रहा,
इस विध कहता सुगत उपासक जिसमें-बोध, न तनिक रहा।
चेतन का शुचि चमत्कार ही उसके भ्रम को विनशाता,
सरस सुधारस से सिंचन कर मुकुलित कलिका विकसाता ॥२०६॥

अंश भेद ये पल-पल मिटते अंशी से अति पृथक रहे,
अत: विनश्वर अंशी है, हम वस्तु तत्त्व के कथक रहें।
विधि का कर्ता अत: अन्य है विधि का भोक्ता अन्य रहा,
इस विध एकान्ती मत, मत तुम धारो जिन-मत वन्द्य अहा ॥२०७॥

शुचितम निज को लखने वाले अति-व्याप्ति मल जान रहें!
काल उपाधी वश आतम में अधिक अशुचिपन मान रहें!
सूत्र-ऋजु नया, श्रय ले चिति को क्षणिक मान आतम त्यागा,
बौद्धों ने मणि स्वीकारा पर त्यागी माला बिन धागा ॥२०८॥

कर्ता भोक्ता में विधि वश हो अन्तर या ना किंचन हो,
कर्ता भोक्ता हो या ना हो चेतन का पर चिंतन हो!
माला में ज्यों मणियाँ गूँथी चिति चिंतामणि आतम में,
पृथक उन्हें कर कौन लखेगा शोभित जो मम आतम में ॥२०९॥

व्यवहारी मानव दृग की ही केवल यह है विशेषता,
कर्तृ कर्म ये भिन्न-भिन्न ही यहाँ झलकते अशेषता।
निश्चयनय का विषयभूत उस विरागता का ले आश्रय,
मुनि जब लखता निजको, भेद न अभेद दिखता सुख आलय ॥ २१०॥

आश्रय, आश्रय-दाता क्रमशः सुपरिणाम परिणामी है,
अतः कर्म परिणाम उसी का परिणामी वह स्वामी है।
कर्ता के बिन कर्म न पदार्थ दोनों का वह भर्ता है,
वस्तु स्थिति है निज परिणामों का निज ही बस कर्ता है ॥२११॥

अमिट-अमित-द्युति बल ले चेतन जग में विहार करता है,
किन्तु किसी में वह ना मिलता यों मुनि विचार करता है।
यदपि वस्तुएँ परिणमती हैं अपने-अपने भावों से,
तदपि वृथा क्यों व्यथित मूढ़ है स्वभाव तज अघ-भावों से ॥२१२॥

एक वस्तु वह अन्य वस्तु की नहीं बनेगी गुरु गाता,
वस्तु सदा बस वस्तु रहेगी वस्तु तत्त्व की यह गाथा।
इस विध जब यह सिद्ध हुआ पर पर का फिर क्या कर सकता?
एक स्थान पर रहो भले ही मिलकर रहना चल सकता ॥२१३॥

अन्य वस्तु के परिणामों में पदार्थ निमित्त बनता है,
पदार्थ परिणामी परिणमता परकर्ता नहिं बनता है।
अन्य वस्तु का अन्य वस्तु है करती इस विध जो कहना,
व्यवहारी जन की वह दृष्टी निश्चय से तुम ना गहना ॥२१४॥

निज अनुभवता शुद्ध द्रव्य मुनि लखने में जब तत्पर हो,
एक द्रव्य बस विलसित होता, नहीं प्रकाशित तब पर हो।
ज्ञेय ज्ञान में तदपि झलकते ज्ञान बना जब शुचि दर्पण,
किन्तु मूढ़ तू पर में रमता निजपन पर में कर अर्पण ॥२१५॥

शुद्ध आत्म की स्वरस चेतना ज्ञानमयी वह जभी मिली,
विषय विषैली रहे भले पर पृथक पड़ी पर सभी गिरी।
धवलित भूतल करती किरणें शशि की 'भूमय' नहिं होती,
ज्ञान, ज्ञेय को जान 'ज्ञेय मय' नहिं हो, यह शुचितम ज्योति ॥२१६॥

ज्ञान-ज्ञान बन, ज्ञेय निजी को बना, न जब तक शोभित हो,
राग-रोष ये उठते उर में आतम जब तक मोहित हो।
मूढ़पने को पूर्ण हटाकर, ज्ञान ज्ञानपन पाता है,
अभाव-भावों हुए मिटाकर पूरण स्वभाव भाता है ॥२१७॥

मूढ़पने में ढला ज्ञान ही राग-रोष है कहलाता,
समाधिरत मुनि रागादिक को तभी नहीं कर वह पाता।
विराग दृग पा रागादिक का तत्त्व दृष्टि से नाश करो,
सहज प्रकट शुचि ज्ञान ज्योति हो, मोक्षधाम में वास करो ॥२१८॥

रागादिक कालुष भावों का पर-पदार्थ नहिं कारण है,
तत्त्वदृष्टि से जब मुनि लखते अवगम हो अघ-मारण है।
समय-समय पर पदार्थ भर में जो कुछ उठना मिटना है,
अपने-अपने स्वभाव वश ही समझ जरा! तू इतना है ॥२१९॥

मानस सरवर में यदि लहरें राग रंग की उठती हैं,
पर को दूषण उसमें मत दो स्वतंत्र सत्ता लुटती है।
चेतन ही बस अपराधी है, बोध हीन रति करता है,
"बोध-धाम मैं" सुविदित हो यह अबोध पल में टलता है ॥२२०॥

पर पदार्थ ही केवल कारण रागादिक के बनने में,
डरते नहिं है कतिपय विषयी जड़ जन इस विध कहने में।
डूबे निश्चित, कभी नहीं वे मोह सिन्धु को तिरते हैं,
वीतराग विज्ञान विकल बन भव-भव दुख से घिरते हैं॥२२१॥

परम विमल निश्चयतामय निज बोध धार पर से ज्ञानी,
दीप घटादिक से जिस विध ना विकृत प्रभावित मुनि ध्यानी।
निज-पर भेदज्ञान बिन फिर भी राग-रोष कर अज्ञानी,
वृथा व्यथा क्यों भजते, तजते समता, करते नादानी॥२२२॥

राग-रोष से रहित ज्योति धर निज निजपन को छूते हैं,
विगत अनागत कर्म मुक्त हैं कर्मोदय ना छूते हैं।
विरत पाप से, निरत निजी शुचि-चारित में है अति भाते,
निज रस से सिंचित करती जग, 'ज्ञान चेतना' यति पाते॥२२३॥

ज्ञान चेतना करने से ही, शुद्ध, शुद्धतर बनता है,
पूर्ण प्रकाशित ज्ञान तभी हो बद्ध कर्म हर, तनता है।
मूढ़पने के संचेतन से बोध विमलता नशती है,
तभी चेतना नियमरूप से विधि बन्धन में फँसती है॥२२४॥

कृत से कारित अनुमोदन से तन से वच से औ मन से,
विगत अनागत आगत विषयों निकालता मैं चेतन से।
सकल क्रिया से विराम पाया, निज चेतन का आलम्बन,
लेता विराग मुनि बन, तू भी अब तो कर तन मन स्तम्भन॥२२५॥

मैंने मोही बन व्रत में यदि अतिक्रमण का भाव किया,
मन वच तन से उसका विधिवत् प्रतिक्रमण का भाव लिया।
चेतन रस से भरा हुआ, सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा, तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में॥२२६॥

मोह भाव से अनुरंजित हो साम्प्रत कर्म किया करता,
उनका भी मैं आलोचन कर दया भाव निज पे धरता।
चेतन रस से भरा हुआ-सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा! तू भी भ्रमता क्यों जड़ता तम में ॥२२७॥

वीतमोह बन, वीतराग बन निग्रह कर मन स्पंदन का,
प्रत्याख्यान करूँ मैं अब उस भावी विधि के बन्धन का।
चेतन रस से भरा हुआ सब-क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा! तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में ॥२२८॥

इस विध बहुविध विधि के दल को विगत अनागत आगत को,
तजकर करता भाग्य मानकर विशुद्ध नय के स्वागत को।
शशि सम शुचितम चेतन आतम-में बस निशदिन रमता मैं,
निर्मोही बन, निर्विकार बन, केवल धरता समता मैं ॥२२९॥

मेरे विधि के विष-तरु में जो कटु-विष-फल-दल लटक रहे,
सड़े गिरे वे बिना भोग के मन कहता ना निकट रहे।
फलतः निश्चल शैल सचेतन-शुचि आतम को अनुभवता,
इस विध विचार विराग मुनि में समय समय पर उद्भवता ॥२३०॥

अशेष-वसुविध विधि के फल को पूर्ण उपेक्षित किया जभी,
अन्य क्रिया तज निज आतम को मात्र अपेक्षित किया तभी।
अमिट काल की परम्परा मम भजे निरंतर चेतन को,
द्रुत गति से फिर विहार करले सहज स्वयं शिव-केतन को ॥२३१॥

विधि-विष-द्रुम को विगत काल में विभाव जल से सींचा था,
पर अब उसके फल ना खा खा निज फल केवल सुख पाता।
सदा सेव्य है सुन्दरतम है मधुर मधुरतर है साता,
इस विध निज सुख, क्रिया रहित है जिसको मुनिवर है पाता ॥२३२॥

विधि से विधि फल से अविरति से विरत व्रती हो संयत हो,
विकृत चेतना पूर्ण मिटाकर संग रहित हो, संगत हो।
ज्ञान-चेतनामय निज रस से निज को पूरण भर जीवो,
परम-प्रशम रस-सरस सुधारस है मुनि झट घट-भर पीवो ॥२३३॥

ज्ञान ज्ञेय से ज्ञेय ज्ञान से यदपि प्रभावित होते हैं,
पर ये निज निज के कर्ता पर-के कदापि ना होते हैं।
सकल वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं ऐसा निश्चय जभी हुवा,
ज्ञान आप में पाप-ताप बिन उज्ज्वल निश्चल तभी हुवा ॥२३४॥

पर से न्यारा स्वयं संभारा धारा इस विध रूप निरा,
गृहण-त्याग-मय-शील-शून्य है अमल ज्ञान सुख कूप मिरा[१] ?
आदि मध्य औ अन्त रहित है जिसकी महिमा द्युतिशाली,
शुद्ध-ज्ञान-घन नित्य उदित है सहज विभामय सुख-प्याली ॥२३५॥

निज आतम में निज आतम को जिसने स्थापित किया यमी,
कच्छप सम संकोचित इन्द्रिय पूर्ण रूप से किया दमी।
जो कुछ तजने योग्य रहा था उसको उसने त्याग दिया,
ग्राह्य जिसे झट ग्रहण किया, क्यों तूने पर में राग किया? ॥२३६॥

स्वयं सुखाकर ज्ञान दिवाकर इस विध निश्चित प्रकट रहा,
सुचिरकाल से पूर्ण रूप से पर द्रव्यन से पृथक रहा।
उत्तर दो अब ज्ञान हमारा आहारक फिर हो कैसा?
जिससे तुम हो कहते रहते ''काय ज्ञान का हो'' ऐसा!! ॥२३७॥

शशिसम उज्ज्वल उज्ज्वलतर हैं निर्विकारतम ज्ञान महा,
इसीलिए जड़काय ज्ञान का हो नहिं सकता जान अहा!
'यथाजात' ज्ञानी का केवल जड़तन ना शिव-कारण हो,
उपादान कारण शिव का मुनि-ज्ञान, तरण ही तारण हो ॥२३८॥

---

१. मिरा=मेरा

ज्ञान-चरित-समदर्शन तीनों एकमेव घुल मिल जाना,
मोक्षमार्ग है यही समझ लो शिव सुख सम्मुख मिल जाना।
यही सेव्य है यही पेय है उपादेय है ध्येय यही,
मुमुक्षु-मुनि को अन्य सभी बस हेय रही या ज्ञेय रही ॥२३९॥

चरित-ज्ञान-दृगमय ही शिवपथ, जिसमें जो यति थिति पाता,
ध्यान उसी का करता चिन्तन करता निशिदिन थुति साता।
निज में विचरण करता पर से दूर सदा हो जीता है,
वही आर्य! अनिवार्य मुनीश्वर 'समयसाररस' पीता है ॥२४०॥

इस विध पावन शिव फल दाता रत्नत्रय जो तजते हैं,
जड़ तन आश्रित यथाजात में केवल ममता भजते हैं।
अनुपम अखण्ड ज्योतिपिण्ड शुचि समयसार को नहिं लखते,
भले दिगम्बर बने रहें वे आत्म-बोध जब नहिं रखते ॥२४१॥

बाह्य-क्रिया में उलझे रहते जड़ जन उलटे लटके हैं,
भाग्यहीन वे उन्हें न दर्शन मिलते अन्तर्घट के हैं।
जैसा तन्दुल बोध जिन्हें ना तुष का संग्रह करते हैं,
वैसा मोही आत्म ज्ञान बिन, तपा-तपा तन मरते हैं ॥२४२॥

देह-नग्नता भर में केवल, जो मुनि ममता रखते हैं,
समयसार को कभी नहीं वे धर के समता लखते हैं।
निमित्त शिव का देह-नग्नता, पर-आश्रित है पुद्‌गल है,
किन्तु ज्ञान तो उपादान है, निज आश्रित है, सद्‌बल है ॥२४३॥

बस करदो, बहु विकल्प जल्पों से कुछ नहिं होने वाला,
परमारथ का अनुभव कर लो, मानस मल धोने वाला।
स्वरस-सरस भरपूर-पूर्ण-शुचि ज्ञान विभा से भासुर है,
समयसार ही सार विश्व में, जिस बिन आकुल आ-सुर[१] है ॥२४४॥

१. आसुर= देवों तक अर्थात् समग्र संसार

विश्वसार है विश्व-सुलोचन अक्षय, अक्षय-सुखकारी,
समयसार का कथन यहाँ अब पूर्ण हो रहा दुखहारी।
शुद्ध ज्ञान-घन-मय जो शिव सुख पावन परमानन्दपना,
उसे यही बस दिला, नशाता निश्चित मन का द्वंद्वपना ॥२४५॥

अचल उजल यह एक अखंडित निज संवेदन में आता,
किन ही बाधाओं से-बाधित हो न, अबाधित है भाता।
इस विध केवल-ज्ञान निकेतन आत्म तत्त्व यह सिद्ध हुवा,
झुक झुक सविनय प्रणाम उसको करता 'यह मुनि' शुद्ध हुवा ॥२४६॥

॥ इति सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः ॥

ज्ञान दुःख का मूल है ज्ञान हि भव का कूल।
राग सहित प्रतिकूल है राग रहित अनुकूल ॥१॥
चुन-चुन इनमें उचित को अनुचित मत चुन भूल।
समयसार का सार है निज बिन पर सब धूल ॥२॥

स्याद्वाद-अधिकार

उजल उजल स्याद्वाद-शुद्धि हो जो बुध को अति भाती है,
वस्तु-तत्त्व की सरल व्यवस्था इसीलिए की जाती है।
एक ज्ञान ही युगपत् होता उपाय उपेय किस विध है,
इसका भी कुछ विचार करते गुरुवर बुधजन इस विध है ॥२४७॥

पशु सम एकान्ती का निश्चित ज्ञान पूर्णतः सोया है,
पर में उलझा हुवा सदा है निज बल को बस खोया है।
स्याद्वादी का यदपि ज्ञान वह सकल ज्ञेय का है ज्ञाता,
तदपि निजी पन तजता नहिं है स्वरस भरित ही है भाता ॥२४८॥

देख जगत को 'ज्ञान' समझकर एकान्ती बन मनमानी,
पशु सम स्वैरी विचरण करता ज्ञेय-लीन वह अज्ञानी,
जगत-जगत में रहा निरा, पर जगत[१] जानता स्याद्वादी,
जग में रह कर जग से न्यारा, मुनिवर निज रस का स्वादी ॥२४९॥

१. जगत=जागृत, जागते हुए

पर पदार्थ के ग्रहण भाव कर आगत पर-प्रति-छवियों से,
ज्ञान-शक्ति अति निर्बल जिनका जड़ जन नशते पशुओं से।
अनेकान्त को ज्ञानी लखता, ज्ञेय-भेद-भ्रम हरता है,
सतत उदित पर एक ज्ञान का, अबाध अनुभव करता है ॥२५०॥

पर प्रति-छवि से पंकिल चिति को इक विध, शुचि करने मानी,
स्वपर प्रकाशक ज्ञान स्वतः पर उसे त्यागता अज्ञानी।
पर ज्ञेयों से चित्रित चिति को स्वतः शुद्धतम स्याद्वादी,
पर्यायों वश अनेकता बस चिति में लखता निज स्वादी ॥२५१॥

निज का अवलोकन ना करता एकान्ती पशु मर मिटता,
पूर्ण प्रकट स्थिर पर को लखता मुग्ध हुवा पर में पिटता।
स्याद्वादी निज अवलोकन से पूरण-जीवन जीता है,
शुद्ध-बोध द्युति-पाकर भाता तुरत-राग से रीता है ॥२५२॥

निज आतम को नहीं जानता पर में रत, पा विकारता,
विषय-वासना वश निज को शठ सकल, द्रव्यमय निहारता।
पर का निज में अभाव लख, पर-पर को पर ही जान व्रती
निज के शुचितम बोध तेज में स्याद्वादी रममान यती ॥२५३॥

भिन्न क्षेत्र स्थित पदार्थ-दल को विषय बनाता अपना है,
बाहर भ्रमता, मरता निज को परमय लख शठ सपना है।
निज को निज का विषय बनाकर निज में निज बल समेटता,
आत्म क्षेत्र में रत स्याद्वादी होता पर-पन सुमेटता ॥२५४॥

आत्म-क्षेत्र में स्थिति पाने शठ भिन्न-क्षेत्र स्थित पदार्थपन,
तजे संग तज चिति-गत-ज्ञेयों मरता तजता निजार्थपन।
निज में स्थित होकर लखता नित पर में निज की अभावता,
स्याद्वादी मुनि पर तजता पर तजता कभी न स्वभावता ॥२५५॥

पूर्व ज्ञान का विषय बना था उसको नशता लख, सो ही,
स्वयं ज्ञान का नाश मान पशु मरता हताश हो मोही।
बाह्य वस्तुएँ बार-बार उठ मिटती, परन्तु स्याद्वादी,
स्वीय काल वश, त्रिकाल ध्रुव निज को लख रहता ध्रुव स्वादी ॥२५६॥

ज्ञेयालम्बन जब से तब से-ज्ञान हुवा यों कहें वृथा,
ज्ञेयालम्बन-लोलुप बन शठ पर में रमते सहें व्यथा।
भिन्न काल का अभाव निज में मान जान वे गतमानी,
सहज, नित्य, निज-निर्मित शुचितम ज्ञानपुंज में रत ज्ञानी ॥२५७॥

पर परिणति को निज परिणति लख पर में पाखण्डी रमता,
निज महिमा का परिचय बिन पशु एकान्ती भव-भव भ्रमता।
सब में निज-निज भाव भरे हैं उन सबसे अति दूर हुआ,
प्रकट निजामृत को अनुभवता स्याद्वादी नहिं चूर हुआ ॥२५८॥

विविध विश्व के सकल ज्ञेय का उद्भव अपने में माने,
निर्भय स्वैरी शुद्ध भाव तज खेल-खेलते मनमाने।
पर का मुझमें अभाव निश्चित समझ किन्तु यह मुनि ऐसा,
निजारूढ़ स्याद्वादी निश्चल लसे शुद्ध दर्पण जैसा ॥२५९॥

उद्भव व्यय से व्यक्त ज्ञान के विविध अंश को देख, तभी,
क्षणिक तत्त्व को मान कुधी जन सहते दुख अतिरेक सभी।
पै स्याद्वादी चितिपन सिंचित सरस सुधारस सु पी रहा,
अडिग-अचल बन शुद्ध-बोध-घन सु जी रहा, मुनि सुधी रहा ॥२६०॥

निर्मल निश्चल बोध भरित निज आतम को शठ जान अहा।
उजल उछलती चिति परिणति से भिन्न आत्म परमाण अहा।
नित्य ज्ञान हो भंगुर बनता उसे किन्तु द्युतिमान, वही,
चेतन-परिणति बल से ज्ञानी-ज्ञान क्षणिकता लखे सही ॥२६१॥

तत्त्व ज्ञान से वंचित ऐसे मूढ़ जनों को दर्शाता,
ज्ञान मात्र वह आत्म तत्त्व है साधु जनों को हर्षाता।
अनेकान्त यह इस विध होता सतत सुशोभित अपने में,
स्वयं स्वानुभव में जब आता मिटते सब हैं सपने ये ॥२६२॥

वस्तु तत्त्व की सरल व्यवस्था उचित रूप से करता है,
अपने को भी उचित स्थान पर स्थापित खुद ही करता है।
तीन लोक के नाथ जिनेश्वर जिन-शासन पावन प्यारा,
अनेकान्त यह स्वयं सिद्ध है विषय बनाया जग सारा ॥२६३॥

॥ इति स्याद्वादाधिकारः ॥

मेटे वाद-विवाद को, निर्विवाद स्याद्वाद।
सब वादों को खुश रखे, पुनि पुनि कर संवाद ॥१॥
समता भज, तज प्रथम तू पक्षपात परमाद।
स्याद्वाद आधार ले, 'समयसार' पढ़ बाद ॥२॥

साध्य-साधक अधिकार

इसविध अनेक निज बल आकर होकर आतम भाता है,
सहज ज्ञान-पन को फिर भी नहिं तजता पावन साता है।
आत्म द्रव्य पर्यय का न्यारा अक्षय अव्यय केतन है,
क्रम-अक्रम-वर्ती पर्यय से शोभित होता चेतन है ॥२६४॥

वस्तु तत्त्व ही अनेकान्तमय स्वयं रहा, गुरु लिखते हैं,
अनेकान्त के लोचन द्वारा जिसे सन्त जन लखते हैं।
स्याद्वाद की और शुद्धि पा बनते मुनिजन वे ज्ञानी,
जिन मत से विपरीत किन्तु ना जाते बन के अभिमानी ॥२६५॥

किसी तरह पर यत्न सुधी जन वीतमोह बन गतरागी,
केवल निश्चल ज्ञान भाव का आश्रय करते बड़ भागी।
शिव का साधक रत्नत्रय वे फलतः पाकर शिव गहते,
मूढ़ मोह वश विरागता बिन भव-भव भ्रमते दुख सहते ॥२६६॥

स्याद्वाद से पूर्ण कुशलता पा अविचल संयम-धारी,
पल पल अविरल अविकल निर्मल निज को ध्यावे अविकारी।
ज्ञानमयी नय क्रियामयी नय इन्हें परस्पर मित्र बना,
पाता मुनिवर वही अकेला शुद्ध-चेतना मात्रपना ॥२६७॥

चेतन रस का पिण्ड चण्ड है सहज भाव से विहस रहा,
विराग मुनि में इस विध आतम उदित हुआ है विलस रहा।
चिदानन्द से अचल हुवा वह एक रूप ही सदा हुआ,
शुद्ध ज्योति से पूर्ण भरा है प्रभात सुख का सदा हुआ ॥२६८॥

शुद्ध-भावमय विराग मम मन में जब द्युतिपन उदित हुआ,
स्याद्वाद से झगर झगर कर स्फुरित हुवा है मुदित हुवा।
अन्य भाव से फिर क्या मतलब भव या शिव पथ में रखते,
स्वीय भाव बस उदित रहे यह, यही भावना मुनि रखते ॥२६९॥

यद्यपि बहुविध बहुबल आलय आतम तमनाशक साता,
नय के माध्यम ले लखता हूँ खण्ड-खण्ड हो नश जाता।
खण्ड निषेधित अतः किए बिन अखण्ड चेतन को ध्याता,
शान्त, शान्ततम अचल निराकुल छविमय केवल को पाता ॥२७०॥

ज्ञान मात्र हो ज्ञेय रूप में यह जो मैं शोभित होता,
किन्तु ज्ञेय का ज्ञान मात्र नहिं तथापि हूँ बाधित होता।
ज्ञेय रूप-धर ज्ञान विकृतियाँ सतत उगलती उजियाली,
परन्तु ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तु मात्र मम है प्यारी ॥२७१॥

आत्म-तत्त्व मम चित्रित दिखता कभी चित्र बिन लसता है,
चित्राचित्री कभी-कभी वह विस्मित सस्मित हँसता है।
तथापि निर्मल-बोध-धारि के करे न मन को मोहित है,
चूँकि परस्पर बहुविध बहुगुण-मिले आत्म में शोभित हैं ॥२७२॥

द्रव्यदृष्टि से एक दीखता पर्यय वश वह नेक रहा,
क्षण-क्षण पर्यय मिटे क्षणिक है, ध्रुव गुण वश तू देख अहा ?
ज्ञानदृष्टि से विश्व व्याप्त पर स्वीय-देश में खड़ा हुआ,
अद्‌भुत वैभव सहज आत्म का देखो निज में पड़ा हुआ ॥२७३॥

बहती जिसमें कषाय-नाली शांति सुधा भी झरती है,
भव पीड़ा भी वहीं प्यार कर मुक्ति रमा मन हरती है।
तीन लोक भी आलोकित है अतिशय चिन्मय लीला है,
अद्‌भुत से अद्‌भुत-तम महिमा आतम की जय शीला है ॥२७४॥

सकल विश्व ही युगपत् जिसमें यदपि निरन्तर चमक रहा,
तदपि एक बन जयशाली है सहज तेज से दमक रहा।
निज रस पूरित रहा अतः वह तत्त्व बोध से सहित रहा,
चेतन का जो चमत्कार है अचल व्यक्त हो स्फुरित रहा ॥२७५॥

चेतन-मय-शुचि 'अमृतचन्द्र' की सौम्य ज्योति अवभासित है,
अविचल-आतम में आतम से आतम को कर आश्रित है।
बाधा बिन वह रही अकेली रही न काली मोह-निशा,
फैली परितः विमल-धवलिमा उजल उठी हैं दशों दिशा ॥२७६॥

स्वपर-रूप यह विपर्यास हो प्रथम ऐक्य कर निज तन में,
रागादिक कर आतम उलझे कर्तृ-कर्म के उलझन में।
कर्म-'कर्मफल' चेतन का फिर अनुभव-वश नित खिन्न हुआ,
ज्ञान-रूप में निरत वही अब तन-मन से अति भिन्न हुआ ॥२७७॥

वस्तु-तत्त्व की यथार्थता का वर्णन जिसने किया सही,
शब्द-समय ने 'समयसार' का स्वयं निरूपण किया यही।
कार्य-रहा नहिं अब कुछ करने 'अमृतचन्द्र' हूँ सूरि यदा,
लुप्त गुप्त हूँ सुसुप्त निज में सुख अनुभवता भूरि सदा ॥२७८॥

(दोहा)

मेटे वाद विवाद को निर्विवाद स्याद्वाद।
सब वादों को खुश रखे पुनि पुनि कर संवाद ॥१॥
समता भज तज प्रथम तू पक्षपात परमाद।
स्याद्वाद आधार ले समयसार पढ़ वाद ॥२॥

श्री अमृतचन्द्रसूरये नमः

(दोहा)

दृग व्रत चिति की एकता, मुनिपन साधक भाव।
साध्य सिद्ध शिव सत्य है, विगलित बाधक भाव ॥१॥
साध्य साधक ये सभी, सचमुच में व्यवहार।
निश्चयनय-मय नयन में, समय समय का सार ॥२॥

समापन

आशीष लाभ तुम से यदि मैं न पाता,
जाता लिखा नहिं 'निजामृत पान' साता।
दो 'ज्ञानसागर' गुरो! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तजदूँ अविद्या ॥१॥

(दोहा)

'कुन्दकुन्द' को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥२॥
'अमृतचन्द्र' से अमृत, है झरता जग-अपरूप।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥३॥
तरणि 'ज्ञानसागर' गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष ॥४॥

सुफल

मुनि बन मन से जो सुधी करें 'निजामृतपान'।
मोक्ष ओर अविरल बढ़े चढ़े मोक्ष सोपान ॥५॥

मंगलकामना

विस्मृत मम हो विगत सब विगलित हो मद मान।
ध्यान निजातम का करूँ, करूँ निजी-गुण गान ॥१॥

सादर शाश्वत सारमय समयसार को जान।
गट गट झट पट चाव से करूँ 'निजामृतपान' ॥२॥

रम रम शम-दम में सदा मत रम पर में भूल।
रख साहस फलतः मिले भव का पल में कूल ॥३॥

चिदानन्द का धाम है ललाम आतम राम।
तन मन से न्यारा दिखे मन पे लगे लगाम ॥४॥

निरा निरामय नव्य मैं नियत निरंजन नित्य।
जान मान इस विध तजूँ विषय कषाय अनित्य ॥५॥

मृदुता तन मन वचन में धारो बन नवनीत।
तब जप तप सार्थक बने प्रथम बनो भवभीत ॥६॥

पापी से मत पाप से घृणा करो अयि! आर्य।
नर वह ही बस पतित हो पावन कर शुभ कार्य ॥७॥

भूल क्षम्य हो

लेखक, कवि मैं हूँ नहीं, मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़े, धीमान! ॥८॥

स्थान एवं समय परिचय

कुण्डल गिरि के पास है नगर दमोह महान।
ससंघ पहुँचा मुनि जहाँ भवि जन पुण्य महान् ॥९॥
देव-गगन गति गंध की वीर जयन्ती आज।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को निजानन्द के काज ॥१०॥

पूर्ण होने का स्थान दमोह नगर (म० प्र०) और काल वीर निर्वाण सं० २५०४ (महावीर जयन्ती-चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, वि० सं० २०३५, शुक्रवार, २१ अप्रैल १९७८)।

❑ ❑ ❑

द्रव्यसंग्रह

नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव रचित

द्रव्यसंग्रह

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

द्रव्यसंग्रह

(११ जून, १९७८ एवं १६ मई, १९९१)

५८ गाथाबद्ध जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा का एक लघु ग्रन्थ है, जिसमें षट् द्रव्यों का सलक्षण एवं सभेद संक्षिप्त प्रतिपादन हुआ है, अतः अध्यात्म-ग्रन्थ है। लघु होता हुआ भी यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि गागर में सागर वाली उक्ति चरितार्थ होती है। वीर निर्वाण संवत् २५०४, विक्रम संवत् २०३५ की श्रुतपंचमी-ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, शनिवार, ११ जून १९७८ को ग्राम अभाना, दमोह (म० प्र०) में इस 'द्रव्यसंग्रह' का पद्यानुवाद 'ज्ञानोदय छन्द' पूर्ण हुआ तथा दूसरा पद्यानुवाद वीर निर्वाण सं० २५१७ की अक्षय तृतीया (द्वितीय वैशाख शुक्ल तृतीया), विक्रम संवत् २०४८, गुरुवार, १६ मई, १९९१ के दिन श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि (मेंढागिरि) जिला बैतूल (म० प्र०) नित्यानन्द को देने वाला यह अनुवाद समाप्त हुआ।

इसमें जैनदर्शन के विवेच्य विषय चर्चित हुए हैं। जैसे—जीव स्वदेह परिमाण है। वह स्वभाववश ऊर्ध्वगामी होता है। दर्शन के चार भेद, ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि जैसे भेद, प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञान का निरूपण, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् द्रव्य, चतुर्विध गुणयुक्त पुद्गल, पाँच अस्तिकाय, कर्म, बन्ध, संवर तथा निर्जरा आदि तत्त्वों की चर्चा की गई है। सबका पर्यवसान मोक्ष में है।

(ज्ञानोदय छन्द)

जीव सचेतन द्रव्य रहे हैं तथा अचेतन शेष रहें,
जिनवर में भी जिनपुंगव वे इस विध जिन वृषभेश कहें।
शत-शत सुरपति शत-शत वंदन जिन चरणों में सिर धरते,
उन्हें नमूँ मैं भाव-भक्ति से मस्तक से झुक-झुक करके ॥१॥

सुनो! जीव उपयोग-मयी है तथा अमूर्तिक कहलाता।
स्व-तन बराबर प्रमाणवाला कर्त्ता - भोक्ता है भाता ॥
ऊर्ध्वगमन का स्वभाव-वाला सिद्ध तथा है अविकारी।
स्वभाव के वश विभाव के वश कसा कर्म से संसारी ॥२॥

आयु, श्वास और बल इन्द्रिय यूँ चार प्राण को धार रहा।
विगत, अनागत, आगत में यह जीव रहा व्यवहार रहा ॥
किन्तु जीव का सदा-सदा से मात्र चेतना श्वास रहा।
निश्चय नय का कथन यही है दिला हमें विश्वास रहा ॥३॥

आतम में उपयोग द्विविध है आगम ने यह गाया है।
ज्ञान रूप औ दर्शनपन में गुरुवर ने समझाया है ॥
ज्ञात रहे फिर दर्शन भी वह चउविध माना जाता है।
अचक्षुदर्शन चक्षु अवधि औ केवलदर्शन साता है ॥४॥

मति-श्रुत दो-दो और अवधि दो उलटे-सुलटे चलते हैं।
मन-पर्यय औ केवल दो यूँ ज्ञान भेद वसु मिलते हैं ॥
मति-श्रुत परोक्ष, शेष सभी हो विकल-सकल प्रत्यक्ष रहे।
लोकालोकालोकित करते त्रिभुवन के अध्यक्ष कहें ॥५॥

आतम का साधारण लक्षण वसु-चउ-विध उपयोग रहा।
गीत रहा व्यवहार गा रहा सुनो! जरा उपयोग लगा ॥
किन्तु शुद्धनय के नयनों में शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला।
आतम प्रतिभासित होता है बुध-मुनि मन हर्षणहारा ॥६॥

पंच रूप रस पंच, गंध दो आठ स्पर्श सब ये जिनमें।
होते ना हैं 'जीव' वही है कथन किया है यूँ जिन ने॥
इसीलिए हैं जीव अमूर्तिक निश्चय-नय ने माना है।
जीव मूर्त व्यवहार बताता कर्मबंध का बाना है॥७॥

पुद्गल कर्मादिक का कर्त्ता जीव रहा व्यवहार रहा।
रागादिक चेतन का कर्त्ता अशुद्धनय से क्षार रहा॥
विशुद्ध नय से शुद्धभाव का कर्त्ता कहते संत सभी।
शुद्धभाव का स्वागत कर लो कर लो भव का अंत अभी॥८॥

आतम को कृत-कर्मों का फल सुख-दुख मिलता रहता है।
जिसका वह व्यवहार भाव से भोक्ता बनता रहता है॥
किन्तु निजी शुचि चेतन भावों का भोक्ता यह आतम है।
निश्चयनय की यही दृष्टि है कहता यूँ परमागम है॥९॥

समुद्घात बिन सिकुड़न-प्रसरण-स्वभाव को जो धार रहा।
लघु-गुरु तन के प्रमाण होता जीव यही व्यवहार रहा॥
स्वभाव से तो जीवात्मा में असंख्यात-परदेश रहे।
निश्चयनय का यही कथन है संतों के उपदेश रहे॥१०॥

पृथिवी-जल-अगनी-कायिक औ वायु-वृक्ष-कायिक सारे।
बहु-विध स्थावर कहलाते हैं मात्र एक इन्द्रिय धारे॥
द्वय-तिय-चउ-पञ्चेन्द्रिय-धारक त्रसकायिक प्राणी जाने।
भवसागर में भ्रमण कर रहे कीट पतंगे मनमाने॥११॥

द्विविध रहे हैं पञ्चेन्द्रिय भी, रहित मन औ सहित-मना ।
शेष जीव सब रहित-मना हैं कहते इस विध विजितमना॥
स्थावर, बादर सूक्ष्म द्विविध हैं दुःख से पीड़ित हैं भारी।
फिर सब ये पर्याप्त तथा हैं पर्याप्तेतर संसारी॥१२॥

तथा मार्गणाओं में चौदह गुणस्थानों में मिलते हैं।
अशुद्ध-नय से प्राणी-भव में युगों-युगों से फिरते हैं॥
किन्तु सिद्ध-सम विशुद्ध-तम हैं सभी जीव ये अविकारी।
विशुद्धनय का विषय यही है विषय-त्याग दे अघकारी॥१३॥

अष्ट कर्म से रहित हुए हैं अष्ट गुणों से सहित हुए।
अंतिम तन से कुछ कम आकृति ले अपने में निहित हुए॥
तीन लोक के अग्रभाग पर सहज रूप से निवस रहे।
उदय नाश-ध्रुव स्वभाव युत हो शुद्ध सिद्ध हो विलस रहे॥१४॥

पुद्गल-अधर्म-धर्म-काल-नभ पाँच द्रव्य इनको मानो।
चेतनता से दूर रहें ये 'अजीव' तातैं पहिचानो ॥
रूपादिक गुण धारण करता मूर्त द्रव्य 'पुद्गल' नाना।
शेष द्रव्य हैं अमूर्त क्यों फिर मूर्तों पर मन मचलाना? ॥१५॥

टूटन - फूटन रूप भेद औ सूक्ष्म स्थूलता आकृतियाँ ।
श्रवणेन्द्रिय के विषय-शब्द भी प्रतिछवि छाया या कृतियाँ॥
चन्द्र, चाँदनी रवि का आतप अंधकार आदिक समझो ।
'पुद्गल' की ये पर्यायें हैं पर्यायों में मत उलझो॥ १६॥

गमन कार्य में निरत रहे जब जीव तथा पुद्गल भाई।
धर्म द्रव्य तब बने सहायक प्रेरक बनता पर नाही॥
मीन तैरती सरवर में जब जल बनता तब सहयोगी।
रुकी मीन को गति न दिलाता उदासीन भर हो, योगी! ॥१७॥

किसी थान में रुकते हों जब जीव तथा पुद्गल भाई।
अधर्म उसमें बने सहायक प्रेरक बनता पर नाही॥
रुकने वाले पथिकों को तो छाया कारण बनती है ।
चलने वालों को न रोकती उदासीनता ठनती है॥१८॥

योग्य रहा अवकाश दान में जीवादिक सब द्रव्यों को।
वही रहा आकाश द्रव्य है समझाते जिन भव्यों को॥
दो भागों में हुआ विभाजित बिना किसी से वह भाता।
एक ख्यात है लोक नाम से अलोक न्यारा कहलाता॥१९॥

जीव द्रव्य औ अजीव पुद्‌गल काल-द्रव्य आदिक सारे।
जहाँ रहें बस 'लोक' वही है लोकपूज्य जिनमत प्यारे॥
तथा लोक के बाहर केवल फैला जो आकाश रहा।
अलोक वह है केवल-दर्पण में लेता अवकाश रहा॥२०॥

जीव तथा पुद्‌गल पर्यायों की स्थिति अवगत जिससे हो।
लक्षण वह व्यवहार काल का परिणामादिक जिसके हो॥
तथा वर्तना लक्षण जिसका 'काल' रहा परमार्थ वही।
समझ काल को उदासीन पर वर्णन का फलितार्थ यही॥२१॥

इक-इक इस आकाश देश में इक-इक कर ही काल रहा।
रत्नों की वह राशि यथा हो फलतः अणु-अणु काल कहा॥
परिगणनायें ये सब मिलकर अनन्त ना पर अनगिन हैं।
स्वभाव से तो निष्क्रिय इनको कौन देखते बिन जिन हैं॥२२॥

जीव - भेद से अजीव पन से द्रव्य मूल में द्विविध रहा।
धर्मादिक वश षड् विध हो फिर उपभेदों से विविध रहा॥
किन्तु काल तो अस्तिकाय पन से वर्जित ही माना है।
शेष द्रव्य हैं, अस्तिकाय यूँ 'ज्ञानोदय' का गाना है॥२३॥

चिर से हैं ये सारे चिर तक इनका होना नाश नहीं।
इन्हें इसी से 'अस्ति' कहा है जिन ने जिनमें त्रास नहीं॥
काया के सम बहु-प्रदेश जो धारे उनको 'काय' कहा।
तभी अस्ति औ काय मेल से 'अस्तिकाय' कहलाय यहाँ॥२४॥

एक जीव में नियम रूप से असंख्यात परदेश रहे।
धर्म-द्रव्य औ अधर्म भी वह उतने ही परदेश गहे॥
अनन्त नभ में पर पुद्गल में संख्यासंख्यानंत रहे।
एक 'काल' में तभी काल ना काय रहा अरहंत कहें॥२५॥

प्रदेश इक ही पुद्गल-अणु में यद्यपि हमको है मिलता।
रूखे-चिकने स्वभाव के वश नाना स्कन्धों में ढलता॥
होता बहुदेशी इस विध अणु यही हुआ उपचार यहाँ।
सर्वज्ञों ने अस्तिकाय फिर उसे कहा श्रुत-धार यहाँ॥२६॥

जिसमें कोई भाग नहीं उस अविभागी पुद्गल अणु से।
व्याप्त हुआ आकाश-भाग वह 'प्रदेश' माना है जिन से॥
किन्तु एक आकाश देश में सब अणु मिलकर रह सकते।
वस्तु तत्त्व में बुधजन रमते जड़ जन संशय कर सकते॥२७॥

आस्रव-बन्धन-संवर-निर्जर - मोक्ष तत्त्व भी बतलाया।
सात-तत्त्व नव पदार्थ होते पाप-पुण्य को मिलवाया॥
जीव - द्रव्य औ पुद्गल की ये विशेषताएँ मानी हैं।
कुछ वर्णन अब इनका करती, जिन-गुरुजन की वाणी है॥२८॥

द्रव्यास्रव औ भावास्रव यों माने जाते आस्रव दो।
आतम के जिन परिणामों से कर्म बने भावास्रव सो॥
कर्म-वर्गणा जड़ हैं जिनका कर्म रूप में ढल जाना।
द्रव्यास्रव बस यही रहा है जिनवर का यह बतलाना॥२९॥

मिथ्या-अविरत पाँच-पाँच हैं त्रिविध-योग का बाना है।
पन्द्रह-विध है प्रमाद होता कषाय-चउविध माना है॥
भावास्रव के भेद रहे ये रहे ध्यान में जिनवचना।
ध्येय रहे आस्रव से बचना जिनवचना में रच पचना॥३०॥

ज्ञानावरणादिक कर्मों में ढलने की क्षमता वाले।
पुद्गल - आस्रव 'द्रव्यास्रव' है जिन कहते समता वाले॥
रहा एक विध-द्विविध रहा वह चउविध, वसुविध, विविध रहा।
दुखद तथा है, जिसे काटता निश्चित ही मुनि-विबुध रहा ॥३१॥

द्रव्य-भावमय 'बन्ध' तत्त्व भी द्विविध रहा है तुम जानो।
चेतन भावों से विधि बँधता भाव-बन्ध सो पहिचानो॥
आत्म-प्रदेशों कर्म प्रदेशों का आपस में घुल-मिलना।
द्रव्य-बन्ध है बन्धन टूटे आपस में हम तुम मिलना ॥३२॥

प्रदेश, अनुभव तथा प्रकृति थिति 'द्रव्य बन्ध' भी चउविध है।
प्रशम -भाव के पूर, जिनेश्वर-पद-पूजक कहते बुध हैं ॥
प्रदेश का औ प्रकृति-बन्ध का 'योग' रहा वह कारण है ।
अनुभव-थिति बन्धों का कारण 'कषाय' है वृष -मारण है ॥३३॥

चेतनगुण से मंडित जो है, आतम का परिणाम रहा।
कर्मास्रव के निरोध में है कारण सो अभिराम रहा॥
यही 'भाव-संवर' है माना स्वाश्रित है सम्बल वर है।
कर्मास्रव का रुक जाना ही रहा 'द्रव्य-संवर' जड़ है ॥३४॥

पञ्च-समितियाँ तीन-गुप्तियाँ पञ्च-व्रतों का पालन हो।
बार-बार बारह-भावन भी दश-धर्मों का धारण हो॥
तथा विजय हो परीषहों पर बहुविध-चारित में रमना।
भेद 'भाव-संवर' के ये सब रमते इनमें वे श्रमणा ॥३५॥

अपने सुख-दुख फल को देकर जिन भावों से विधि झड़ना।
यथाकाल या तप-गरमी से भाव-निर्जरा उर धरना॥
पुद्गल कर्मों का वह झड़ना द्रव्य-निर्जरा यहाँ कही।
भाव-निर्जरा द्रव्य-निर्जरा सुनो! निर्जरा द्विधा रही ॥३६॥

सब कर्मों के क्षय में कारण आतम का परिणाम रहा।
भाव-मोक्ष वह यही बताता जिनवर मत अभिराम रहा॥
आत्म -प्रदेशों से अति-न्यारा तन का, विधि का हो जाना।
'द्रव्य-मोक्ष' है, मोक्षतत्त्व भी द्रव्य-भावमय सोपाना॥३७॥

शुभ-भावों से सहित हुआ सो जीव पुण्य हो आप रहा।
अशुभ-भाव से घिरा हुआ ही जीव आप हो पाप रहा॥
सुर-नर-पशु की आयु-तीन ये उच्चगोत्र औ सुख साता।
नाम-कर्म सैंतीस पुण्य हैं, शेष पाप हैं दुखदाता॥३८॥

सच्चादर्शन तत्त्वज्ञान भी सच्चा, सच्चा चरण तथा।
'मोक्षमार्ग-व्यवहार' यही है प्रथम यही है शरण-कथा॥
परन्तु 'निश्चय-मोक्षमार्ग' तो निज आतम ही कहलाता।
क्योंकि आतमा इन तीनों से तन्मय होकर वह भाता॥३९॥

ज्ञानादिक ये तीन रतन तो आत्मा में ही झिल-मिलते।
शेष सभी द्रव्यों में झांको कभी किसी को ना मिलते॥
इसीलिए इन रत्नों में नित तन्मय हो प्रतिभासित है।
माना निश्चय मोक्षसौख्य का, कारण आतम भावित है॥४०॥

जीवाजीवादिक तत्त्वों पर करना जो श्रद्धान सही।
'सम-दर्शन' है वह आतम का स्वरूप माना,जान सही॥
जिसके होने पर क्या कहना संशय - विभ्रम भगते हैं।
समीचीन तो ज्ञान बने वह प्राण-प्राण झट जगते हैं॥४१॥

विमोह-विभ्रम जहाँ नहीं है संशय से जो दूर रहा।
निज को निज ही, पर को पर ही जान रहा, ना भूल रहा॥
समीचीन बस 'ज्ञान' वही है बहुविध हो साकार रहा।
मन-वच-तन से गुणीजनों का जिसके प्रति सत्कार रहा॥४२॥

दृश्य रही कुछ अदृश्य भी हैं लघु कुछ, गुरु कुछ 'वस्तु' रही।
इसी तरह बस तरह-तरह की स्वभाववाली अस्तु सही॥
'दर्शन' तो सामान्य मात्र को विषय बनाता अपना है।
विषय भेद तो 'ज्ञान' कराता जिनमत का यह जपना है॥४३॥

पूर्ण-ज्ञान वह जिन्हें प्राप्त ना उन्हें प्रथम तो दर्शन हो।
बाद ज्ञान उपयोग नहीं दो एक-साथ, कब दर्शन हो?
पूर्ण - ज्ञान से पूर्ण - सुशोभित केवलज्ञानी बने हुए।
एक साथ उपयोग धरे दो अन्तर्यामी बने हुए॥४४॥

अशुभ-भावमय पाप-वृत्ति को मन-वच-तन से जो तजना।
शुभ में प्रवृत्ति करना समुचित 'चारित' है मन रे भजना॥
यह 'चारित्र-व्यवहार' कहाता समिति-गुप्ति व्रत वाला है।
इस विध जिनशासन है गाता सुधा-सुपूरित प्याला है॥४५॥

बाहर की भी भीतर की भी क्रिया मात्र को बंद किया।
भव के कारण पूर्ण मिटाना यही मात्र सौगंध लिया॥
उस ज्ञानी का जीवन ही वह रहा परम शुचि चारित है।
जिनवाणी का यही बताना मुनीश्वरों से धारित है॥४६॥

निश्चय औ व्यवहार भेद से द्विविध यहाँ शिव-पंथ रहा।
ध्यान काल में निश्चित उसको पाता है मुनि संत अहा॥
इसीलिए तुम दत्त-चित्त हो एक-मना हो विजित-मना।
सतत करो अभ्यास ध्यान का शीघ्र बनो फिर विगत-मना॥४७॥

शुद्धातम के सहज - ध्यान में होना जब है तल्लीना।
चंचल मन को अविचल करना चाहो यदि निज-आधीना॥
मोह करो मत, राग करो मत, द्वेष करो मत, तुम तन में।
इष्ट रहे कुछ, अनिष्ट भी हैं पदार्थ मिलते त्रिभुवन में॥४८॥

णमोकार 'पैंतीस' वर्ण का मन्त्र रहा सोलह, छह का।
पाँच, चार, दो इक वर्णों का द्वार-ध्यान का, निज-गृह का॥
यों परमेष्ठी-वाचक वर्णों का नियमित जप-ध्यान करो।
या गुरु-संकेतों पर मन को कीलित कर अवधान करो॥४९॥

घाति-कर्म चउ समाप्त करके शुद्ध हुए जो आप्त हुए।
अनन्त-दर्शन अनन्त-सुख-बल पूर्ण- ज्ञान को प्राप्त हुए॥
परमौदारिक तन-धारक हो परम पूज्य अरहन्त हुए।
इन्हें बनाओ ध्येय ध्यान में जय! जय! जय! जयवंत हुये॥५०॥

लोक शिखर पर निवास करते तीन-लोक के नायक हैं।
लोकालोकाकाश तत्त्व के केवलदर्शक-ज्ञायक हैं॥
पुरुष रूप आकार लिए हैं 'सिद्धातम' हैं कहलाते।
स्व-तन-कर्म को नष्ट किये हैं ध्यावें उनको हम तातैं॥५१॥

दर्शन-ज्ञानाचार प्रमुख कर चरित-वीर्य-तप खुद पालें।
पालन करवाते औरों से शिव-पथ पर चलने वाले॥
ये हैं मुनि 'आचार्य' हमारे पूज्यपाद पालक प्यारे।
ध्यान इन्हीं का करें रात-दिन विनीत हम बालक सारे॥५२॥

भव्य - जनों को धर्म-देशना देने में नित निरत रहें।
तीन-रतन से मण्डित होते लौकिकता से विरत रहें॥
'उपाध्याय' ये पूज्य कहाते यतियों के भी दर्पण हैं।
मनसा-वचसा-वपुषा इनको नमन कोटिशः अर्पण हैं॥५३॥

यथार्थ दर्शन तथा ज्ञान से नियम रूप से सहित रहे।
निरतिचार वह 'चारित ही है मोक्षमार्ग' यह विदित रहे॥
इसी चरित की 'साधु' साधना सदा सर्वदा करता है।
ध्यान-साधु का करो इसी से सभी आपदा हरता है॥५४॥

चिंता क्या है, चिन्तन कुछ भी साधु करें वह, पर इतना।
ध्यान रहे बस निरीहता का साधुपना पनपे उतना॥
एक ताजगी निरी-एकता पाता निश्चित साधु वही।
यही ध्यान है निश्चय समझो साधु बनो! पर स्वादु नहीं॥५५॥

कुछ भी स्पन्दन तन में मत ला बंद-मुखी हो, जल्प न हो।
चिंता, चिन्तन मन में मत कर चेतन फलतः निश्चल हो॥
अपने ही आतम में अपना अविचल हो, जो रमना है।
ध्यान रहे यह परम ध्यान है और ध्यान तो भ्रमणा है॥५६॥

व्रत के धारक, तप के साधक श्रुत-आराधक बना हुआ।
वही ध्यान-रथ-धुरा सु-धारे नियम रहा यह बँधा हुआ॥
इसीलिए यदि सुनो तुम्हें भी ध्यानामृत को चखना है।
व्रत में, तप में, श्रुत में निज को निशिदिन तत्पर रखना है॥५७॥

बिन्दु मात्र श्रुत का धारक हूँ, पार सिन्धु का कब पाता।
नेमिचन्द्र नामक मुनि मुझसे लिखा 'द्रव्यसंग्रह' साता॥
दूर हुए दोषों से कोसों - श्रुत - कोषों से पूर हुए।
शोधें वे 'आचार्य' इसे यदि भाव यहाँ प्रतिकूल हुए॥५८॥

❑ ❑ ❑

(वसन्ततिलका छन्द)

मंगलाचरण

देवाधिदेव जिन नायक ने किया है, जो जीव का कथन द्रव्य अजीव का है।
सौ-सौ सुरेन्द्र झुकते जिनके पदों में, वन्दूँ सदा विनत हो उनको अहो मैं ॥१॥

भोक्ता स्वदेह परिमाण सुसिद्ध स्वामी, होता स्वभाव वश हो वह ऊर्ध्वगामी।
कर्त्ता अमूर्त उपयोगमयी तथा है, सो जीव जीवभर की नव ये कथा है ॥२॥

उच्छ्वास स्वाँस बल इन्द्रिय आयु प्यारे, ये चार प्राण जग जीव त्रिकाल धारे।
संगीत यों गुन-गुना व्यवहार गाता, पै जीव में नियम से चिति प्राण भाता ॥३॥

ज्ञानोपयोग इक दर्शन नाम पाता, यों जीव का द्विविध है उपयोग भाता।
चक्षू अचक्षु अवधी वर केवलादि, ये चार भेद उस दर्शन के अनादि ॥४॥

मिथ्या, सही मति श्रुतावधि ज्ञान तीनों, कैवल्य ज्ञान मनपर्यय ज्ञान दोनों।
यों ज्ञान अष्ट विध हैं गुरु हैं बताते, प्रत्यक्ष ज्ञान चहुँ चार परोक्ष भाते ॥५॥

यों चार आठ विध दर्शन-ज्ञानवाला, सामान्य जीव परिलक्षण है निराला।
ऐसा स्वगीत व्यवहार सुना रहा है, पै शुद्ध 'ज्ञान दृग' निश्चय गा रहा है ॥६॥

ये पंच पंच वसु दो रस वर्ण स्पर्श, गंधादि जीव गुण को करते न स्पर्श।
सो जीव निश्चय-तया कि अमूर्त भाता, पै मूर्त्त बन्ध वश है व्यवहार गाता ॥७॥

आत्मा विशुद्धनय से शुचि धर्म का है, औ व्यावहार वश पुद्गल कर्म का है।
कर्त्ता अशुद्धनय से रति भाव का है, चैतन्य के विकृत भाव विभाव का है ॥८॥

रे व्यावहार नय से विधि के फलों को, है भोगता सुख, दुखों जड़ पुद्गलों को।
आत्मा विशुद्धनय से निज-चेतना को, पै भोगता तुम सुनो जिन-देशना को ॥९॥

विस्तार संकुचन शक्ति-तया शरीरी, छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी।
पै छोड़ के समुद्घात दशा हितैषी, है वस्तुतः; सकल जीव असंख्यदेशी ॥१० ॥

पृथ्वी जलानल समीर तथा लतायें, एकेन्द्रि जीव सब थावर ये कहायें।
हैं धारते करण दो त्रय चार पंच, शंखादि जीव त्रस हैं सुख है न रंच ॥११॥

संज्ञी कहाय समना अमना असंज्ञी, पंचेन्द्रि हो द्विविध शेष सभी असंज्ञी।
एकेन्द्रि जीव सब बादर सूक्ष्म होते, पर्याप्त औ इतर ये दिन-रैन रोते ॥१२॥

है मार्गणा व गुणथान तथा विकारी, होते चतुर्दश चतुर्दश कायधारी।
गाता अशुद्धनय यों सुन भव्य! प्यारे, पै शुद्ध, शुद्धनय से, जग जीव सारे ॥१३॥

उत्पाद ध्रौव्य व्यय लक्षण से लसे हैं, लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं।
वे सिद्ध न्यून कुछ अंतिम काय से हैं, निष्कर्म अक्षय सजे गुण आठ से हैं ॥१४॥

आकाश पुद्गल व धर्म अधर्म काल, ये हैं अजीव सुन तू अयि भव्य बाल।
रूपादि चार गुण पुद्गल में दिखाते, है मूर्त्त पुद्गल न, शेष अमूर्त्त भाते ॥१५॥

संस्थान भेद तम स्थूलपना व छाया, औ सूक्ष्मता करम बंधन शब्द माया।
उद्योत आतप यहाँ जग में दिखाते, पर्याय वे सकल पुद्गल के कहाते ॥१६॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता, पै प्राणि पुद्गल चले गति है दिलाता।
मानो चले न यदि वे न उन्हें चलाता, ज्यों नीर मीन-गति में, गति दान-दाता ॥१७॥

ज्यों जीव पुद्गल रुके स्थिति है दिलाता, होता अधर्म वह है स्थिति दान-दाता।
मानों चले, नहिं रुके स्थिति दे न भाई, छाया यथा पथिक को स्थिति में सहाई ॥१८॥

जीवादि द्रव्य दल को अवकाश देता, आकाश सो कह रहे जिन आत्म जेता।
होता वही द्विविध लोक अलोक द्वारा, ऐसा सदा समझ तू जिन शास्त्र सारा ॥१९॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ है, माना गया अमित लोक वही यहाँ है।
आकाश केवल, अलोक वही कहाता, ऐसा वसन्ततिलका यह छन्द गाता ॥२० ॥

जीवादि द्रव्य परिवर्तन रूप न्यारा, औ पारिणाममय लक्षण आदि धारा।
तू मान काल व्यवहार वही कहाता, पै वर्तनामय सुनिश्चिय काल भाता ॥२१॥

जो एक-एक करके चिर से लसे हैं, जो लोक के प्रति प्रदेशन में बसे हैं।
कालाणु हैं रतन राशि समान प्यारे, होते असंख्य कहते ऋषि संत सारे ॥२२॥

हैं द्रव्य भेद छह जीव अजीव द्वारा, श्री वीर ने सदुपदेश दिया सुचारा।
हैं अस्तिकाय इनमें बस पंच न्यारे, पै काल के बिना सुनो अयि भव्य प्यारे ॥२३॥

जीवादि क्योंकि जब हैं इनको इसी से, श्री वीर 'अस्ति' इस भाँति कहें सदी से।
औ काय से सब सदैव बहुप्रदेशी, है 'अस्तिकाय फलतः' समझो हितैषी ॥२४॥

आकाश में अमित जीव व धर्म में हैं, होते असंख्य परदेश अधर्म में हैं।
है मूर्त्त संख्य गतसंख्य अनन्त देशी, ना काल काय फलतः इक मात्र देशी ॥२५॥

है मूर्त्त यद्यपि रहा अणु एक देशी, होता अनेक मिल के अणु नैक देशी।
तो अस्तिकाय फलतः उपचार से है, सर्वज्ञ यों कह रहे व्यवहार से है ॥२६॥

जो पुद्गलाणु जड़ है अविभाज्य न्यारा, आकाश को कि जितना वह घेर डाला।
माना गया वह प्रदेश यहाँ अकेला, सर्वाणु स्थान यदि ले वह दे सकेगा ॥२७॥

जो पुण्य पाप विधि आस्रव बंध तत्त्व, औ निर्जरा सुखद संवर मोक्ष-तत्त्व।
ये भी विशेष सब जीव अजीव के हैं, संक्षेप से गुरु उन्हें कह तो रहे हैं ॥२८॥

तो! आत्म के उस निजी परिणाम से जो, हो कर्म आगमन हा! अविलम्ब से वो।
है भाव आस्रव वही अरु कर्म आना, है द्रव्य आस्रव यही गुरु का बताना ॥२९॥

मिथ्यात्व औ अविरती व प्रमाद-योग, क्रोधादि भावमय आस्रव दुःख योग।
ये पाँच-पाँच दश पाँच त्रि चार होते, देही इन्हें धर सदैव अपार रोते ॥३० ॥

मोहादि कर्म-पन में ढल पुद्गलों का, आता समूह जड़ आतम में जड़ों का।
हो द्रव्य आस्रव वही बहु-भेद वाला, ऐसा जिनेश कहते सुख वेद शाला ॥३१॥

जो कर्म बन्ध जिस चेतन भाव से हो, है भाव बन्ध वह दूर स्वभाव से हो।
दोनों मिले जब परस्पर कर्म आत्मा, सो द्रव्यबन्ध जिससे निज धर्म खात्मा ॥३२॥

है बन्ध चार विध है प्रकृति प्रदेशा, औ आनुभाग थिति है कहते जिनेशा।
ही योग से प्रकृति बंध प्रदेश होते, भाई कषाय वश शेष हमेश होते ॥३३॥

है भाव आस्रव-निरोधन में सहाई, चैतन्य से उदित जो परिणाम भाई।
सो भाव-संवर सुनिश्चय ने पुकारा, द्रव्यास्रवा रुकत संवर द्रव्य न्यारा ॥३४॥

ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत साधनाएँ, सत्यादि धर्म दश द्वादश भावनाएँ।
औ जीतना परिषहों सुचरित्र नाना, हैं भाव-संवर सभी गुरु का बताना ॥३५॥

भोगा गया करम का झड़ना सुचारा, कालानुसार तप से निज भाव द्वारा।
सो भाव, भावमय निश्चित निर्जरा है, औ कर्म का झरण द्रव्य सुनो जरा है॥
सत् त्याग से विधि-झरे अविपाक सो है, छूटे विधी समय पे सविपाक सो है।
यों निर्जरा यह नितान्त द्विधा-द्विधा है, प्राप्तव्य मार्ग अविपाक भली सुधा है॥३६॥

जो आत्म भाव सब कर्म विनाश हेतु, सो भाव-मोक्ष सुन ले जिनदास रे तू।
औ आत्म से पृथक हो जड़ कर्म सारे, सो द्रव्य-मोक्ष मिलता जिन धर्म धारे॥३७॥

देही शुभाशुभ विकार विभावधारी, है पुण्य-पापमय निश्चय से विकारी।
होता शुभायु शुभगोत्र सुनाम साता, है पुण्य शेष बस! पाप किसे सुहाता॥३८॥

रे मोक्ष का सुखद कारण ही वही है, विज्ञान औ चरित दर्शन जो सही है।
ऐसा कहे कि व्यवहार यथार्थ में तो, रत्नत्रयात्मक निजात्म निजार्थ में हो॥३९॥

रे! आत्म द्रव्य तज अन्य पदार्थ में वो, ज्ञानादि रत्नत्रय ही न यथार्थ में हो।
आत्मा रहा इन त्रयात्मक ही स्वतः है, सो मोक्षकारण निजातम ही अतः है॥४०॥

है आत्म रूप वह जीव अजीव श्रद्धा, सम्यक्त्व, किन्तु करता न अभव्य श्रद्धा।
सम्यक्त्व होय तब ज्ञान सुचारु सच्चा, संमोह संशय विमुक्त सुहाय अच्छा॥४१॥

संमोह संभ्रम ससंशय हीन प्यारा, कल्यान खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला।
माना गया स्व पर भाव-प्रभाव दर्शी, साकार नैक विधि शाश्वत सौख्यस्पर्शी॥४२॥

साकार के बिन विशेष किये बिना ही, सामान्य द्रव्य भर का वह मात्र ग्राही।
है भव्य मान वह दर्शन नाम पाता, ऐसा जिनागम यहाँ अविराम गाता॥४३॥

हो पूर्व दर्शन जिसे फिर ज्ञान होता, छद्मस्थ दो न युगपत् उपयोग ढोता।
दो एक साथ उपयोग महाबली को, मेरा उन्हें नमन हो जिन केवली को॥४४॥

जो त्यागता अशुभ को शुभ को निभाना, मानो उसे हि व्यवहार चरित्रवाना।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे, जाते अवश्य व्यवहार-तया पुकारे॥४५॥

जो बाह्य भीतर क्रिया भववर्धिनी है, ज्ञानी निरोध उनका करते गुणी हैं।
वे ही यमी चरित निश्चय धार पाते, ऐसा जिनेश कहते भव-पार जाते॥४६॥

है मोक्षमार्ग द्वय को अनिवार्य पाता, सद्ध्यान लीन मुनि वो निजकार्य धाता।
भाई अतः यतन से शुचि भाव से रे, अभ्यास ध्यान निज का कर चाव से रे ॥४७॥

हो चित्त को अचल मेरु अहो बनाना, हो चाहते सहज ध्यान सदा लगाना।
अच्छे बुरे सुखद दुःखद वस्तुओं में, ना मोह द्वेष रति राग करो जड़ों में ॥४८॥

पैंतीस सोलह छ पाँच व चार दो एक, जो शब्द वाचक रहे परमेष्ठियों के।
या अन्य भी पद मिले गुरु-देशना से, ध्यावो उन्हें तुम जपो शुचि चेतना से ॥४९॥

जो घाति कर्म दल को जड़ से मिटाया, संपूर्ण ज्ञान सुख-दर्शन-वीर्य पाया।
औ दिव्य देह स्थित है अरहन्त आत्मा, है ध्येय-ध्यान उसका कर अन्तरात्मा ॥५० ॥

द्रष्टा व ज्ञायक त्रिलोक अलोक के हैं, आसीन जो शिखर पे त्रयलोक के हैं।
दुष्टाष्ट कर्म तन वर्जित ध्येय प्यारे, आकार से पुरुष सिद्ध सदैव ध्या! रे ॥५१॥

आचार पंच तप चारित्र वीर्य प्यारा, औ ज्ञान दर्शन जिनागम ने पुकारा।
आचार में रत स्वयं पर को कराता, आचार्यवर्य मुनि ध्येय वही कहाता ॥५२॥

धर्मोपदेश समयोचित नित्य देते, ज्ञानादि रत्नत्रय में रस पूर्ण लेते।
होते यतीश उवझाय प्रवीण तातैं, हो आपके चरण में हम लीन जातैं ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान समवेत चरित्र होता, है मोक्षमार्ग वह है सुख को सँजोता।
जो साधते सतत हैं उसको सुचारा, वे साधु हैं नमन हो उनको हमारा ॥५४॥

कोई पदार्थ मन में सुविचारता है, हो वीतराग मुनि राग विसारता है।
एकत्व को नियम से वह शीघ्र पाता, संसार में सुखद निश्चय ध्यान ध्याता ॥५५॥

चिन्ता करो न कुछ भी मन से न डोलो, चेष्टा करो न तन से मुख को न खोलो।
यों योग में गिरि बनो शुभ ध्यान होता, आत्मा निजात्म रत ही वरदान होता ॥५६॥

सद्ज्ञान पा तप महाव्रत धार पाता, वो साधु ध्यान-रथ बैठ स्वधाम जाता।
सद्ध्यान पूर्ण सधने तुम तो इसी से, ज्ञानादि में निरत हो नित हो रुची से ॥५७॥

मैं 'नेमिचन्द्र' मुनि हूँ मति मन्दधी हूँ, है 'द्रव्य संग्रह' लिखा लघु हूँ यमी हूँ।
विज्ञान कोष गत-दोष सुसाधु नेता, शोधें इसे बस यही मन-अक्ष-जेता ॥५८॥

गुरु-स्तुति

हे नेमिचन्द्र! मुनि कौमुद मोदकारी,
सिद्धान्त पारग विराग चिरागधारी।
दो ज्ञानसागर गुरो! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान॥

मंगल कामना

चाहो शाश्वत मोक्ष को, चाहो केवलज्ञान।
संगत्याग कर नित करो, निज का केवल ध्यान॥

रवि से बढ़कर तेज है, शशि से बढ़कर ज्योत।
झाँक देख निज में जरा, सुख का खुलता स्त्रोत॥

पर में सुख कहिं है नहीं, खुद ही सुख की खान।
निजी नाभि में गंध है, मृग भटके बिन ज्ञान॥

आत्म कथा तज क्यों करो, नित विकथा निस्सार।
पय तज, पीते विष भला, क्यों हो निज उद्धार॥

प्रतिदिन सविनय चाव से, इसको पढ़ तू! भव्य।
सुर सुख शिव सुख नियम से, पाते अक्षय द्रव्य॥

समय एवं स्थान परिचय

देव गगन गति गंध की, तिथि श्रुत पंचमि सार।
ग्राम अभाना में लिखा, ध्येय मिले भव पार॥

❑ ❑ ❑

अष्टपाहुड

आचार्य कुन्दकुन्द रचित

अष्टपाहुड

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

अष्टपाहुड

(३१ अक्टूबर, १९७८)

'अष्टपाहुड' आचार्य श्री कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थ 'अष्टपाहुड' का ही हिन्दी पद्यानुवाद है। प्रारम्भ में मंगलाचरण है, जिसमें सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु का स्तवन है। पुनः आचार्य श्री कुन्दकुन्द को नमस्कार है और तदनन्तर गुरु श्री ज्ञानसागरजी महाराज से विघ्नविनाशार्थ करुणापूर्ण आशीर्वाद की प्रार्थना है। अष्टपाहुडों में रचित मूल ग्रन्थ का उसी क्रम से हिन्दी पद्यानुवाद है। इसमें दर्शनपाहुड, सूत्रपाहुड, चारित्रपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड तथा शीलपाहुड का विवरण प्रस्तुत कर अन्य ग्रन्थों की तरह इसका भी समापन निर्माण के स्थान एवं समय परिचय के साथ हुआ है।

अत्यन्त मनोरम नयनाभिराम नैनागिरि क्षेत्र है, जहाँ देवगण सदा विचरण करते हैं तथा ऋषि-मुनि विश्राम कर शान्ति का अनुभव करते हैं। वहीं वीर निर्वाण संवत् २५०५ (विक्रम संवत् २०३५) की कार्तिक कृष्ण अमावस्या दीपमालिका दिवस, ३१ अक्टूबर, १९७८, मंगलवार के दिन यह अनुवाद पूर्ण हुआ।

अनुवाद के अन्त में इस ग्रन्थ की समाप्ति के स्थान एवं समय का परिचय आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज स्वयं इस प्रकार देते हैं—

नयन मनोरम क्षेत्र हैं, नैनागिरि अभिराम।
जहाँ विचरते सुर सदा, ऋषि मन ले विश्राम॥
वर्ण गगन गति गन्ध का, दीपमालिका योग।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, ध्येय मिटे भव रोग॥

अष्टपाहुड

मंगलाचरण

देव-शास्त्र-गुरु-स्तवन

'सन्मति' को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय।
सुर-नर-पशुगति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चांदनी, से जिनधुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढ़ाय।
यह मुनि-मन गुरु भजन में, निशि-दिन क्यों न लगाय ॥३॥

श्री कुन्दकुन्दाय नमः

'कुन्दकुन्द' को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि 'ज्ञानसागर' गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष ॥५॥

दर्शन पाहुड

(वसंततिलका छन्द)

श्री वर्धमान वृषभादि जिनेश्वरों को, मैं वंदना कर सुजोड़ निजी करों को।
संक्षेप से सहज दर्शन-मार्ग खोलूँ, खोलूँ जिनागम रहस्य निजात्म धोलूँ ॥१॥

जो धर्म मूल वह दर्शन नाम पाया, ऐसा सुशिष्यजन को जिन ने बताया,
सद्धर्म का श्रवण ध्यान लगा सुनो रे! वे वन्दनीय नहिं दर्शन-हीन कोरे ॥२॥

वे भ्रष्ट हैं पुरुष दर्शन-भ्रष्ट जो हैं, निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित पा सिझेंगे, पै भ्रष्ट दर्शनतया न कभी सिझेंगे ॥३॥

जाने अनेक विध आगम को तथापि, आराधना न वरती उनको कदापि।
सम्यक्त्व-रत्न तज के पर में रमे हैं, वे बार-बार भवकानन में भ्रमे हैं ॥४॥

वे कोटि वर्ष तक भी तपते रहेंगे, घोराति-घोर तप भी करते रहेंगे।
ना बोधिलाभ उनको मिलता तथापि, सम्यक्त्व से रहित हैं मति मंद-पापी ॥५॥

सम्यक्त्व ज्ञान बल दर्शन वीर्य से हैं, जो वर्धमान, गतमान सदा लसे हैं।
कालुष्य-पूर्ण-कलिका मल पाप त्यागी, सर्वज्ञ शीघ्र बनते, मुनि-वीतरागी ॥६॥

सम्यक्त्व का झर झरा झरना झरेगा, वो साधु का हृदय शीतल तो करेगा।
तो नव्य कर्म मन आ न कभी लगेगा, औ पूर्व-लिप्त मन भी धुलता धुलेगा ॥७॥

ये भ्रष्ट मात्र जिन दर्शन भ्रष्ट जो हैं, निम्नोक्त, निम्नतम-भ्रष्ट कनिष्ठ यों हैं।
धिक्कार ज्ञान-व्रत-भ्रष्ट कुधी कहाते, वे तो स्वयं मिट रहे पर को मिटाते ॥८ ॥

धारा स्वयं नियम संयम भोग-हारी, मूलोत्तरादि गुण ले तप योग-धारी।
ऐसे सुधर्मरत को कुछ भ्रष्ट स्वैरी, दोषी सुसिद्ध करते मुनि-धर्म-वैरी ॥९॥

हो मूल नष्ट जिसका, फल फूल दाता, फूले फले न फिर वो द्रुम सूख-जाता।
त्यों मूल नष्ट जिन दर्शन भ्रष्ट देही, होता न मुक्त भव से न बने विदेही ॥१०॥

ज्यों मूल के वश हि वृक्ष विशाल होता, शाखोपशाख परिवार अपार ढोता।
त्यों मोक्षमार्ग जिनदर्शन मूल भाता, प्यारा जिनेश-मत है इस भाँति गाता ॥११॥

जो भ्रष्ट दर्शन, सुदर्शनधारियों से, हैं चाहते पद प्रणाम व्रती-जनों से।
लूले व मूक बनते परलोक में हैं, पाते न बोधि भ्रमते त्रयलोक में हैं ॥१२॥

लो! जानबूझ यदि दर्शन भ्रष्ट को ही, लज्जा प्रलोभ भय से नमता सुयोगी।
पाता न बोधि जिनलिंग सुधारता भी, जो पाप की विनय है करता वृथा ही ॥१३॥

वाक्काय चित्त पर संयम पूर्ण ढोते, जो अंतरंग-बहिरंग निसंग होते।
ले शुद्ध अन्न स्थित हो शुचि बोध धारें, सो जैन-दर्शन, सुएषण दोष टारे ॥१४॥

सम्यक्त्व से प्रथम उत्तम बोध होता, सद्बोध से सब पदार्थ सुशोध होता।
सत् शोध से पुनि हिताहित ज्ञान होता, सम्यक्त्व मोक्ष-पथ में वर-दान होता ॥१५॥

ज्ञाता बने जब हिताहित के अमानी, मिथ्या कुशील तज शील सुधार ज्ञानी।
स्वर्गीय वैभव विलास नितान्त पाते, औ अन्त में बन अनन्त, भवान्त जाते ॥१६॥

पीयूष है विषय सौख्य विरेचना है, पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है।
भाई जरा-मरण-रोग विनाशती है, संजीवनी सुखकरी जिनभारती है ॥१७॥

है आद्य लिंग जिन-लिंग असंग भाता, दूजा सुक्षुल्लक व ऐलक का कहाता।
है आर्यिका पद तृतीय जिनेश गाया, चौथा न लिंग जिनदर्शन में बताया ॥१८॥

पंचास्तिकाय छह-द्रव्य पदार्थ-नौ हो, जीवादि-तत्त्व पुनि सात यथार्थ औ हो।
श्रद्धान भव्य इन ऊपर है जमाता, मानो उसे तुम सुदृष्टि वही कहाता ॥१९॥

तत्त्वार्थ में रुचि भली भव-सिन्धु सेतु, सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू।
सम्यक्त्व निश्चयतया निज-आतमा ही, ऐसा जिनेश कहते शिवराह-राही ॥२०॥

सोपान जो प्रथम शाश्वत मोक्ष का है, है सार रत्न-त्रय में गुण योग का है।
सम्यक्त्व रत्न वह है जिनदेव गाते, धारो उसे हृदय में अविलंब तातैं ॥२१॥

जो भी बने प्रथम चारित धार लेना, श्रद्धान शेष व्रत पे फिर धार लेना।
श्रद्धान ईदृश किया उस भव्य में है, सम्यक्त्व यों जिन कहें निज द्रव्य में है ॥२२॥

चारित्र ज्ञान सम-दर्शन-लीन, त्यागी, तल्लीन है नियम में तप में विरागी।
साधू करें सुगुण-गान गुणी-जनों का, वे वन्द्य हैं कथन यों जगदीश्वरों का ॥२३॥

निस्संग नग्न मुनि से चिढ़ता सदा है, मात्सर्य भाव उनसे रखता मुधा है।
मिथ्यात्व-मंडित वही मतिमूढ़ मोही, स्वैरी रहा नियम संयम का विरोधी ॥२४॥

शीलादि के सदन है मुनि के गुणों के, जो वन्द्य खेचर नरों असुरों सुरों के।
ऐसे दिगम्बर जिन्हें लख गर्व धारें, सम्यक्त्व से स्खलित वे नर सर्व सारे ॥२५॥

शास्त्रानुसार नहिं केवल वस्त्र त्यागी, वे वन्द्य हैं नहिं असंयत भी सरागी।
दोनों समान इनमें कुछ भेद ना है, है एक भी नहिं यमी गुरुदेशना है ॥२६॥

ये जात-पाँत कुल भी नहिं वन्द्य होते, ना वन्द्य भी तन रहा, गुण वन्द्य होते।
कोई रहे श्रमण श्रावक निर्गुणी हैं, वे वन्दनीय नहिं हैं कहते गुणी हैं ॥२७॥

जो धारते श्रमणता तपते तपस्वी, हैं शील ब्रह्मगुण से लसते यशस्वी।
श्रद्धाभि-भूत वन में शुचि भाव द्वारा, वन्दूँ सुमुक्ति पथ को मुनि को सुचारा ॥२८॥

कल्याण में जगत के रत सर्वदा हैं, हो के निमित्त हरते जग आपदा है।
चौंतीस सातिशय चौसठ चामरों से, शोभें जिनेश नित वन्द्य नरामरों से ॥२९॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप और चरित्र प्यारे, ये हैं सभी गुण सुसंयम के पुकारें।
चारों मिलें तब मिले वह मोक्ष प्यारा, ऐसा कहें कि जिनशासन है हमारा ॥३०॥

है ज्ञान सार नर का जग में कहाता, सम्यक्त्व सार नर का सबमें सुहाता।
सम्यक्त्व से चरित हो वह कार्यकारी, चारित्र से मुकति हो अनिवार्य प्यारी ॥३१॥

आराधना चउ लिए जिन-लिंग धारें, सम्यक्त्व ज्ञान तप चारित पूर्ण पालें।
संदेह क्या फिर भला मुनि सिद्ध होते, वे पाप पंक फलतः अविलम्ब धोते ॥३२॥

सम्यक्त्व शुद्धतम पा समदृष्टि वाले, कल्याण पंच फलतः विरले संभाले।
सम्यक्त्व दिव्य मणि है जग-पूज्य तातैं, क्या मर्त्य क्या सुर सुसाधु उसे पुजाते ॥३३॥

सम्यक्त्व का सुफल मानव जन्म पाता, पाता सुगोत्र कुल उत्तम सद्य पाता।
सम्यक्त्व से मनुज हो यह क्या न पाता, है अंत में अमित अक्षय मोक्ष पाता ॥३४॥

चौंतीस सातिशय से लगते विराट, धारें सुलक्षण जिनेश हजार आठ।
स्वामी विहार करते जबलौं सही है, है स्थावरा शुचिमयी प्रतिमा वही है ॥३५॥

योगी यथाविधि यथाबल कर्म सारे, काटे स्वकीय, तप बारह धर्म धारे।
निर्वाण प्राप्त करते भव-पार जाते, आते न लौट भव में तन धार पाते ॥३६॥

(दोहा)

मुनिवर की वह नग्नता रत्नत्रय का धाम।
दर्शन प्राभृत में सही पाता दर्शन नाम ॥१॥

पूज्य दिगम्बर-पन अतः पूजत पाप पलाय।
चरित ज्ञान दृग मिलत हैं दर्शन आप सुहाय ॥२॥

सूत्रपाहुड

जो भी लखा सहज से अरहंत गाया, सत् शास्त्र बाद गणनायक ने रचाया।
सूत्रार्थ को समझने पढ़ शास्त्र सारे, साधे अतः श्रमण है परमार्थ प्यारे ॥१॥

सत् सूत्र में कथित आर्ष परम्परा से, जो भी मिला द्विविध सूत्र अभी जरा से।
जो जान मान उसको मुनि भव्य होता, आरूढ़ मोक्ष पथ पे शिव सौख्य जोता ॥२॥

साधू विराग यदि है जिन-शास्त्र ज्ञाता, संसार का विलय है करता सुहाता।
सूची न नष्ट यदि डोर लगी हुई हो, खोती नितान्त, यदि डोर नहीं लगी हो ॥३॥

साधू ससूत्र यदि है भव में भले हो, होता न नष्ट भव में भव ही टले वो।
हो जीव यद्यपि अमूर्त सुसूत्र द्वारा, आत्मानुभूति कर काटत कर्म सारा ॥४॥

सूत्रार्थ है वह जिसे जिन ने बताया, जीवादि तत्त्व सब अर्थ हमें दिखाया।
प्राप्तव्य त्याज्य इनमें फिर कौन होते, जो जानते नियम से समदृष्टि होते ॥५॥

जो व्यावहार परमार्थतया द्विधा है, सर्वज्ञ से कथित सूत्र सुनो! सुधा है।
योगी उसे समझते शिव सौख्य पाते, वे पाप पंकपन पूरण हैं मिटाते ॥६॥

विश्वास शास्त्र पर भी नहिं धार पाते, होते सवस्त्र पद भ्रष्ट कुधी कहाते।
माने तथापि निज को मुनि, ध्यान देवो, आहार भूल उनको कर में न देवो ॥७॥

उत् सूत्र पा हरिहरादिक से प्रतापी, जा स्वर्ग कोटि भव में रुलते तथापि।
स्थाई नहीं सहज सिद्धि विशुद्धि पाते, संसार के पथिक हो दुख वृद्धि पाते ॥८॥

निर्भीक सिंह सम यद्यपि हैं तपस्वी, आतापनादि तपते गुरु हों यशस्वी।
स्वच्छन्द हो विचरते यदि, पाप पाते, मिथ्यात्व धार कर वे भवताप पाते ॥९॥

होना दिगम्बर व अम्बर त्याग देना, आहार होकर खड़े कर पात्र लेना।
है मोक्षमार्ग यह शेष कुमार्ग सारे, ऐसा जिनेश मत है बुध मात्र धारें ॥१०॥

संयुक्त साधु नियमों यम संयमों से, उन्मुक्त बाधक परिग्रह संगमों से।
हो वन्द्य वो नर सुरासुर लोक में हैं, ऐसा कहें जिनप, नाथ त्रिलोक के हैं ॥११॥

बाईस दुस्सह परीषह-यातनायें, पूरा लगा बल सहें बल ना छिपायें।
हैं कर्म नष्ट करने रत नग्न देही, वे वन्द्यनीय मुनि, वन्दन हो उन्हें ही ॥१२॥

सम्यक्त्व बोध युत हैं जिनलिंगधारी, जो शेष देश-व्रत पालक वस्त्रधारी।
'इच्छामि' मात्र करने बस पात्र वे हैं, ऐसा नितान्त कहते जिन-शास्त्र ये हैं ॥१३॥

वे क्षुल्लकादि गृहकर्म अवश्य त्यागे, इच्छा सुकार पद को समझे सुजागे।
शास्त्रानुसार प्रतिमाधर शुद्धदृष्टी, पाते सुरेश पद भी शिवसिद्धि सृष्टि ॥१४॥

इच्छादिकार करना निज-चाह होना, इच्छा जिन्हें न निज की गुम-राह होना।
वे धर्म की सब क्रिया करते भले ही, संसार दुःख न टले भव में रुले ही ॥१५॥

तू काय से वचन से मन से रुची से, श्रद्धान आत्म पर तो कर रे इसी से।
तू जान आत्म भर को निज यत्न द्वारा, पा मोक्ष लाभ फलतः ध्रुव रत्न प्यारा ॥१६॥

दाता-प्रदत्त कर में स्थित हो दिवा में, आहार ले, न बहु बार नहीं निशा में।
बालाग्र के अणु बराबर भी अपापी, साधू परिग्रह नहीं रखता कदापी ॥१७॥

है जातरूप शिशु सा मुनि धार भाता, अत्यल्प भी नहिं परिग्रह भार पाता।
लेता परिग्रह मनो बहु या जरा सा, क्यों ना करे फिर तुरन्त निगोदवासा ॥१८॥

जो मानते यदि परिग्रह ग्राह्य साधू, वे वन्दनीय नहिं हैं कहलाय स्वादू।
होता घृणास्पद ससंग अगार होता, निस्संग ही जिन कहें अनगार होता ॥१९॥

जो पाँच पाप तज पंच महाव्रती हैं, निर्ग्रन्थ मोक्ष-पथ पे चलते यती हैं।
निर्दोष पालन करें त्रय गुप्तियाँ हैं, वे वन्दनीय, कहती जिन-सूक्तियाँ है ॥२०॥

जो भोजनार्थ भ्रमते मन मौन पालें, किंवा सुवाक् समिति से कर-पात्र धारें।
सिद्धान्त में कथित वो गृह-त्यागियों का, दूजा सुलिंग परमोत्तम श्रावकों का ॥२१॥

आहार बैठ, कर में इक बार पा ले, आर्या सवस्त्र वह भी इक वस्त्र धारे।
स्त्री का तृतीय वर लिंग यही कहाता, चौथा न लिंग मिलता जिन-शास्त्र गाता ॥२२॥

सद्दृष्टि तीर्थंकर हो घर में भले ही, जो वस्त्र-धारक जिन्हें शिव ना मिले ही।
निर्ग्रन्थ मोक्ष-पथ ही अवशिष्ट सारे, संसार-पंथ तजते समदृष्टि वाले ॥२३॥

हों बाहु मूल तल में स्तननाभि में भी, हों सूक्ष्म जीव महिला-जन-योनि में भी।
वे सर्व वस्त्र तज दीक्षित होय कैसी, आर्या सवस्त्र रहती, रहती-हितैषी ॥२४॥

सम्यक्त्व मंडित सही शुचि दर्पणा है, स्त्री योग्य संयम लिए तज दर्पणा है।
घोरातिघोर यदि चारित पालती है, तो आर्यिका तब न पापवती, सती है ॥२५॥

जो मास-मास प्रति मासिक दोष ढोती, शंका बनी हि रहती मन तोष खोती।
होती निसर्ग शिथिला मति से मलीना, होती स्त्रियाँ सब अतः निज ध्यानहीना ॥२६॥

अन्नादि खूब मिलते पर अल्प पायें, इच्छा मिटी कि मुनि के दुख भाग जाये।
होता अपार जल यद्यपि है नदी पे, धोने स्ववस्त्र जल अल्प गहे सुधी पै ॥२७॥

(दोहा)

सूत्र सूचना, सुन, सुना रहा न पर में स्वाद।
सूत्र-ज्ञान कर, कर स्वयं तप, न कभी परमाद ॥
जिनवर का यह सूत्र है, सुपथ प्रकाशक दीप।
धारन कर, कर में दिखे, सुख कर मोक्ष समीप ॥

चारित्र पाहुड

सर्वज्ञ हैं निखिल दर्शक वीतरागी, हैं वीतमोह परमेष्ठि प्रमाद त्यागी।
जो भव्य जीव स्तुत हैं त्रयलोक द्वारा, अर्हन्त को नमन मैं कर बार-बारा ॥१॥

सर्वज्ञ दिव्य पद दायक पूर्ण साता, ज्ञानादि रत्नत्रय को शिर मैं नवाता।
चारित्र-प्राभृत सुनो! अब मैं सुनाता, जो मोक्ष का परम कारण है कहाता ॥२॥

जो जानता 'समय में' वह ज्ञान होता, श्रद्धान होय वह दर्शन नाम ढोता।
दोनों मिले जब सुनिश्चल शैल होते, चारित्र निश्चय वही मन मैल धोते ॥३॥

ये जीव के त्रिविध भाव न आज के हैं, वैसे अनन्त ध्रुव सत्य अनादि के हैं।
तीनों अशुद्ध पर शुद्ध उन्हें बनाने, चारित्र है द्विविध यों जिन-शास्त्र माने ॥४॥

श्रद्धान जैन-मत में अति शुद्ध होना, सम्यक्त्व का चरण चारित धार लो ना।
औ संयमाचरण चारित दूसरा है, सर्वज्ञ से कथित सेवित है खरा है ॥५॥

मिथ्यात्व पंक तुमने निज पे लिपाया, शंकादि मैल दृग के दृग पे छिपाया।
वाक् काय से मनस से उनको हटाओ, सम्यक्त्व आचरण में निज को बिठाओ ॥६॥

ये अष्ट अंग दृग के, विनिशंकिता है, निःकांक्षिता, विमल-निर्विचिकित्सिता है।
चौथा अमूढ़पन है उपगूहना को, धारो स्थितीकरण, वत्सल-भावना को ॥७॥

श्रद्धान होय जिनमें वह मोक्ष दाता, निःशंक आदि गुण युक्त सुदृष्टि साता।
धारो सुबोध युत दर्शन को सुचारा, सम्यक्त्व आचरण चारित वो तुम्हारा ॥८॥

सम्यक्त्व के चरण से द्युतिमान होता, औ संयमाचरण में रममान होता।
ज्ञानी वही बस नितान्त अमूढ़दृष्टी, निर्वाण शीघ्र गहता तज मूढ़दृष्टी ॥९॥

सम्यक्त्व के चरण से च्युत हो रहे हैं, पै संयमाचरण केवल ढो रहे हैं।
अज्ञान-ज्ञान फल में अनजान होते, मोही न मोक्ष गहते, बिन ज्ञान रोते ॥१०॥

वात्सल्य हो, विनय हो, गुरु में गुणी में, अन्नादि देकर दया करते दुखी में।
निर्ग्रन्थ मोक्ष पथ की करना प्रशंसा, साधर्मि-दोष ढकना, नहिं आत्म शंसा ॥११॥

पूर्वोक्त सर्व गुण लक्षित हो उन्हीं में, सारल्य भावयुत निष्कपटी सुधी में।
मिथ्यात्व से रहित भाव सुधारते हैं, वे ही अवश्य जिन-दर्शन पालते हैं ॥१२॥

रागाभिभूत मत की स्तुति शंस सेवा, उत्साह धार यदि जो करते सदैवा।
अज्ञान मोह-पथ से मन जोड़ते हैं, श्रद्धान जैन-मत का तब छोड़ते हैं ॥१३॥

निर्ग्रन्थ जैन-मत की स्तुति शंस-सेवा, उत्साह धार यदि जो करते सदैवा।
श्रद्धान और जिनमें दृढ़ ही जमाते, सज्ज्ञान पा, न जिन दर्शन छोड़ पाते ॥१४॥

सम्यक्त्व बोध गहते तुम हो इसी से, मिथ्यात्व मूढ़पन को तज दो रुची से।
भाई मिला जब सुधर्म तुम्हें अहिंसा, सारंभ मोह तज दो अघकर्म हिंसा ॥१५॥

त्यागो परिग्रह पुनः धर लो प्रव्रज्या, पालो सुसंयम तपो तप त्याग लज्या।
निर्मोह भाव लसता उर में विरागी, पाता निजी विमल ध्यान सुनो सरागी ॥१६॥

मिथ्यात्व मोह मल दूषित पंथ में ही, आश्चर्य क्या यदि चले मति मन्द मोही।
मिथ्या कुबोध वश ही विधि बंध पाते, अच्छी दिशा पकड़ के कब अन्ध जाते ॥१७॥

विज्ञान-दर्शन-तया समदृष्टि जाने, जो द्रव्य,-द्रव्यगत पर्यय को पिछाने।
सम्यक्त्व से स्वयम पे कर पूर्ण श्रद्धा, चारित्र-दोष हरते, करते विशुद्धा ॥१८॥

सम्मोह से रहित हैं उन ही शमी में, पूर्वोक्त तीन शुचि-भाव बसे यमी से।
श्रद्धाभिभूत निज के गुण गीत गाते, काटे कुकर्म झट से भव जीत पाते ॥१९॥

प्रारंभ में गुण असंख्य पुनश्च संख्या, है कर्म नष्ट करते बनते अशंका।
सम्यक्त्व आचरण पा दुख को मिटाते, संसार को लघु परीत सुधी बनाते ॥२०॥

सागार और अनगार-तया द्विधा है, वो संयमाचरण मोक्षद है सुधा है।
सागार-संग-युत-श्रावक का कहाता, निर्ग्रन्थ रूप 'अनगार' मुझे सुहाता ॥२१॥

सद्दर्शना सुव्रत सामयिकी स्वशक्ति, औ प्रोषधी सचित त्याग दिवाभिभुक्ति।
है ब्रह्मचर्य व्रत सप्तम नाम पाता, आरंभ संग अनुमोदन त्याग साता।
उद्दिष्ट त्याग व्रत ग्यारह ये कहाते, है एक देश व्रत श्रावक के सुहाते ॥२२॥

सानन्द-श्रावक, अणुव्रत पाँच पाले, आरम्भ नाशक, गुण-व्रत तीन धारे।
शिक्षाव्रतों चहुँ धरें वह है कहाता, सागार संयम सुचारित सौख्य दाता ॥२३॥

हो त्याग स्थूल त्रसकायिक के वधों का, औ स्थूल झूठ बिन दत्त परों धनों का।
भाई कभी न पर की वनिता लुभाना, आरम्भ संग परिमाण तथा लुभाना।
ये पंच देशव्रत श्रावक तू निभाना ॥२४॥

सीमा विधान करना कि दशों दिशा में, औ व्यर्थ कार्य करना न किसी दशा में।
भोगोपभोग परिमाण तथा बनाना, ये तीन श्रावक गुणव्रत तू निभाना ॥२५॥

सामायिका प्रथम प्रोषध है द्वितीया, सिद्धान्त में अतिथि पूजन है तृतीया।
सल्लेखना चरम ये व्रत चार शिक्षा, शिक्षा मिले तुम बनो मुनि, धार दीक्षा ॥२६॥

होता कला सहित है टुकड़ा सुनो रे! सागार धर्म इस भाँति कहा, गुणों रे!
पै संयमाचरण शुद्ध तुम्हें सुनाता, आराध्य धर्म यति का परिपूर्ण भाता ॥२७॥

पच्चीस हो शुचि क्रिया व्रत पाँच धारे, पंचाक्ष के दमन से सब पाप टारे।
औ गुप्ति तीन समिती मुनि पाँच पाले, वो संयमाचरण साधक नग्न प्यारे ॥२८॥

जो चेतनों जड़तनों अवचेतनों में, अच्छी बुरी जगत की इन वस्तुओं में।
ना राग-रोष मुनि हो करता कराता, पंचाक्ष-निग्रह वही यह छन्द गाता ॥२९॥

हिंसा यथार्थ तजना भजना अहिंसा, हो झूठ स्तेय तज सत्य अचौर्य शंसा।
अब्रह्म-संग तज, ब्रह्म निसंग होना, ये पाँच हैं तुम महाव्रत, धार लो ना ॥३०॥

साधे गये विगत में व्रत ये यहाँ हैं, साधें जिन्हें नित नितान्त महामना हैं।
होते स्वयं सहज सत्य महान तातैं, ये आप सार्थक महाव्रत नाम पाते ॥३१॥

वाक् चित्त-गुप्ति धरना लख भोज पाना, ईर्या समेत चलना उठ बैठ जाना।
आदान निक्षपण से सब भावनायें, ये पाँच आद्य व्रत की सुख-साधनायें ॥३२॥

छोड़ो प्रलोभ, मन आगम ओर मोड़ो, गंभीर हो अभय हो भय हास्य छोड़ो,
संमोह क्रोध तज दर्शन पालना, ये, हैं पाँच सत्यव्रत की शुभ भावनायें ॥३३॥

छोड़े हुए सदन शून्य घरों वनों में, सत्ता जमा कर नहीं रहना द्रुमों में।
साधर्मि से न लड़ना शुचि भोज पाना, ये भावना व्रत अचौर्यन की निभाना ॥३४॥

देखो न अंग महिलाजन संग छोड़ो, स्त्री की कथा श्रवण से मन को न जोड़ो।
संभोग की स्मृति तजो, न गरिष्ठ खाना, ये भावना परम ब्रह्मन की खजाना ॥३५॥

ये शब्द स्पर्श रस रूप सुगंध सारे, पंचाक्ष के विषय हैं कुछ सार खारे।
ना राग रोष इनमें करना कराना, हैं भावना चरम जो व्रत की निभाना ॥३६॥

ईर्या सुभाषणवती पुनि एषणा है, आदान निक्षपण औ व्युतसर्गना है।
पाँचों कही समितियाँ जिन ने इसी से, हो शुद्ध शुद्धतम संयम हो शशी से ॥३७॥

संबोधनार्थ भवि को जिन ने बताया, जो ज्ञान ज्ञान गुण लक्षण को दिखाया।
सो ज्ञान जैनमत में निज आतमा है, यो जान, मान, फलतः दुख खातमा हैं ॥३८॥

होते अजीव अरु जीव निरे निरे हैं, ज्ञानी हुए कि इस भाँति लखे खरे हैं।
औ राग रोष जिस जीवन में नहीं है, सो 'मोक्षमार्ग' जिनशासन में वही है ॥३९॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को शिवराह राही, श्रद्धाभिभूत बन के समझो सदा ही।
योगी इन्हें हि लखते दिन-रैन भाई, निर्वाण शीघ्र लहते सुख चैन स्थाई ॥४०॥

विज्ञान का सलिल सादर साधु पीते, धारें अतः विमल भाव स्वतंत्र जीते।
चूड़ामणी जगत के स्वपरावभासी, वे शुद्ध सिद्ध बनते शिवधाम वासी ॥४१॥

जो ज्ञान शून्य नहिं इष्ट पदार्थ पाते, अज्ञान का फल अनिष्ट यथार्थ पाते।
यों जान, ज्ञान गुण के प्रति ध्यान देना, क्या दोष क्या गुण रहा, कुछ जान लेना ॥४२॥

ज्ञानी वशी चरित के रथ बैठ त्यागी, चाहें न आत्म तज के परको विरागी।
निर्भ्रान्त वे अतुल अव्यय सौख्य पाते, दिग्भ्रान्त ही समझ तू भवदुःख पाते ॥४३॥

सम्यक्त्व संयम समाश्रय से सुहाता, चारित्र सार द्विविधा शिव को दिलाता।
संक्षेप से भविक लोकन को दिखाया, श्री वीतराग जिन ने हमको जिलाया ॥४४॥

चारित्र प्राभृत रचा रुचि से सुचारा, भावो इसे अनुभवो शुचि भाव द्वारा।
तो शीघ्र चारगति में भ्रमना मिटेगा, लक्ष्मी मिले मुकति में रमना मिलेगा ॥४५॥

(दोहा)

चार चाँद चारित्र से जीवन में लग जाय।
लगभग तम भग ज्ञान शशि उगत उगत उगजाय ॥

समकित- संयम आचरण, इस विधि द्विविध बताय।
वसुविध-विधिनाशक तथा सुरसुख शिवसुखदाय ॥

बोध पाहुड

ज्ञाता अनेक विध आगम के यशस्वी, सम्यक्त्व संयम लिए तपते तपस्वी।
धोते कषायमल, निर्मल शुद्ध प्यारे, आचार्य वे नमन हों उनको हमारे ॥१॥

जो भी जिनेश मत में जिन ने बताया, संक्षेप मात्र उसकी यह मात्र छाया।
सम्बोधनार्थ सबको सुन लो! सुनाता, है बोध प्राभृत चराचरमोद-दाता ॥२॥

है आद्य आयतन चैत्यगृहा सुप्यारा, है तीसरी जिनप की प्रतिमा सुचारा।
सद्दर्शना जिनप बिम्ब विराग-शाला, आत्मार्थ ज्ञान यह सात सुनाम माला ॥३॥

औ देव तीर्थंकर अर्हत है प्रव्रज्या, जो हो विशुद्ध गुण से बिन राग लज्जा।
ये हैं जिनोदित यथाक्रम जान लेना, आगे उन्हें कह रहा बस! ध्यान देना ॥४॥

जीते निजी-करण निर्विषयी दमी है, वाक्काय चित्त वश में रखता शमी है।
निर्ग्रन्थ रूप यम संयम कूप भाता, हो सत्य आयतन वो जिन शास्त्र गाता ॥५॥

हैं राग रोष मद को मन में न लाते, चारों कषाय वश में रखते सुहाते।
औ पाँच पाप तज सद्व्रत पाँच पाले, वे शुद्ध आयतन हैं ऋषि-राज प्यारे ॥६॥

साधा निजात्म मुनि निर्मल ध्यान-धारी, हीराभ से विमल केवलज्ञान-धारी।
हैं सिद्ध-आयतन श्रेष्ठ-मुनीश्वरों में, वन्दूँ उन्हें विनय से निशि-वासरों में ॥७॥

विज्ञान धाम निज आतम को सुजाने, चैतन्य पिण्डमय भी पर को पिछाने।
पाने महाव्रत सही खुद ज्ञान होता, वो साधु चैत्यगृह हो सुन! भव्य श्रोता ॥८॥

बंधादि मोक्ष सुख आतम भोगता है, लो धारता जब सचेतन-योगता है।
षट्काय-जीव हितकारक नग्न-स्वामी, जीवन्त चैत्य गृह हैं जिनमार्ग-गामी ॥९॥

सम्यक्त्व बोध शुचि से शुचि वृत्त पालें, जीवन्त जंगम दिगम्बर साधु प्यारे।
निर्ग्रन्थ ग्रन्थ तज-राग, विराग ही हैं, आदर्श-जैन मत में प्रतिमा वही है ॥१०॥

जाने लखे स्वयम को समदृष्टिवाला, है शुद्ध आचरण से चलता निराला।
निर्ग्रन्थ संयममयी प्रतिमा यही है, तो वन्दनीय वह है जग में सही है ॥११॥

पाये अनन्त सुख वीर्य अनन्त पाये, पा ज्ञान दर्शन अनन्त अतः सुहाये।
दुष्टाष्ट कर्म तन के बिन जी रहे हैं, स्वादिष्ट-शाश्वत-सुखामृत पी रहे हैं ॥१२॥

व्युत्सर्गरूप-प्रतिमा ध्रुव हो लसे हैं, लोकाग्र जा स्थिर शिवालय में बसे हैं।
वे सिद्ध जो अतुल निश्चल शैल सारे, हैं क्षोभ से रहित हैं हित हैं हमारे ॥१३॥

सद्धर्म को सहज सम्मुख शीघ्र लाता, सम्यक्त्व मोक्ष पथ संयम को दिखाता।
निर्ग्रन्थ ज्ञानमय 'दर्शन' भी वही है, यों जैनशास्त्र हमको कहता सही है ॥१४॥

आर्या व क्षुल्लक दिगम्बर साधुओं का, वो वेश आलय स्वबोध दृगादिकों का।
हो फूल से तुम सुगन्ध अवश्य पाते, हो दूध से घृत प्रशस्त मनुष्य पाते ॥१५॥

पात्रानुसार विधि-नाशक जैन दीक्षा, देते कृपाकर! कृपा कर उच्च शिक्षा।
हैं वीतराग बन संयम शुद्ध पालें, आचार्य वे हि 'जिन बिम्ब' हमें संभालें ॥१६॥

सेवा करो विनय आदर वन्दना भी, आचार्य की सुखद पूजन भावना भी।
कर्त्तव्य में सतत जागृत ज्ञान वाले, सम्यक्त्व सौध जिनबिम्ब रहे हमारे ॥१७॥

मूलोत्तरादिक गुणों सब सत्तपों से, हैं शुद्ध शुद्धतर शुद्धतमा व्रतों से।
दीक्षादि दान करते गुण के समुद्रा, आचार्य ही नियम से अरहन्त मुद्रा ॥१८॥

सत् साधु की शुचिमयी अकषाय मुद्रा, है वन्द्य पूज्य जित-इन्द्रिय पूत मुद्रा।
वो वस्तुतः सुदृढ़ संयमरूप मुद्रा, हे भव्य स्वीकृत वही अरहन्त मुद्रा ॥१९॥

सत्ध्यान योग यम संयम से सुहाता, सो मोक्ष मार्ग जिन आगम में कहाता।
है लक्ष्य, मोक्ष जिसका वह ज्ञान से हो, ज्ञातव्य ज्ञान यह है निज ध्यान से हो ॥२०॥

भेदे न लक्ष्य बिन बाण धनुष्यधारी, जाने बिना वह धनुष्य न कार्यकारी।
सो लक्ष्यभूत शिव को न कदापि पाता, जो ज्ञान-हीन भव में दुख ही उठाता ॥२१॥

हो शोभता पुरुष जो विनयी सही है, ले ज्ञान लाभ निज जीवन में वही है,
है मोक्ष, मोक्ष पथ का वह लक्ष्य-ध्याता, विज्ञान से सहज मोक्ष अवश्य पाता ॥२२॥

प्रत्यंच हो श्रुत, मती स्थिर हो धनुष्य, हो बाण रत्नत्रय ले कर में अवश्य।
शुद्धात्म लक्ष्य यदि मात्र किया सही है, तो साधु, मोक्ष पथ से चिगता नहीं है ॥२३॥

वे देव धर्म धन काम सुबोध देते, औचित्य जो निकट हो वह दान देते।
है देव के निकट भी शिवदा प्रव्रज्या, है धर्म अर्थ कल केवल ज्ञान विद्या ॥२४॥

हो धर्म शुद्ध सदयावश हो प्रव्रज्या, वो सर्व संग बिन शोभित हो सुसज्या।
वे देव हैं विगत मोह सदा कहाते, सोते सुभव्य जन को सहसा जगाते ॥२५॥

चारित्र से विमल दर्शन औ बनाने, पंचेन्द्रियाँ दमित संयम भी कराने।
दीक्षा प्रशिक्षण गहे गुरु से, सुहाये, साधू स्वतीर्थ भर में डुबकी लगाये ॥२६॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप संयम धर्म सारे, ये साधु के विमल निर्मल हो उजारे।
औ साथ-साथ यदि वो समता रही है, तो तीर्थ जैन मत में सुखदा वही है ॥२७॥

निक्षेप चार वश पर्यय भाव द्वारा, ज्ञानादि पूर्ण गुण के गण भाव द्वारा।
किंवा सुनो! च्यवन आगति आदि द्वारा, अर्हन्त रूप दिखता सुख का पिटारा ॥२८॥

है भाव मोक्ष दृग ज्ञान अनन्त पाये, आठों नवीन विधि-बंधन को मिटाये।
स्वामी! अतुल्य गुण भार नितान्त जोते, वे ही जिनेश मत में अरहन्त होते ॥२९॥

ये पाप पुण्य मृति रोग जरादिकों को, मेटा समूल मल पुद्गल के दलों को,
चारों गती भ्रमण-मुक्त हुए अतः हैं, विज्ञान धाम अरहन्त हुए स्वतः हैं ॥३०॥

पर्याप्ति प्राण गुणथान विधान द्वारा, औ जीव थान सब मार्गण-भाव द्वारा।
सो स्थापना हृदय में अरहन्त की हो, शीघ्राति-शीघ्र जिससे भव अन्त ही हो ॥३१॥

हैं प्रातिहार्य वसु मंडित पूज्य प्यारे, चौंतीस सातिशय वे गुण भी सुधारें।
बैठे उपान्त-गुण थानन में सयोगी, हैं केवली विमल हैं अरहन्त योगी ॥३२॥

ये मार्गणा कि, गति इन्द्रिय काय, योग, औ वेद दुःखद-कषाय व ज्ञान-योग।
पश्चात संजम व दर्शन लेश्य भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञिक अहार सुजान! भव्य ॥३३॥

आहार आदिम शरीर तथैव भाषा, औ आन-प्राण मन, मान! जिनेश दासा।
पर्याप्तियाँ गुण छहों अरहन्त धारे, माने गये परम उत्तम देव प्यारे ॥३४॥

तू पाँच ही समझ इन्द्रिय प्राण होते, वाक्काय चित्त त्रय ये बल प्राण होते।
औ आन प्राण इक आयुक प्राण सारे, माने गये समय में दश प्राण प्यारे ॥३५॥

हो जीव स्थान वह चौदहवाँ, मनुष्य, पंचेन्द्रियाँ मन मिले जिसमें अवश्य।
पूर्वोक्त सर्व गुण पा अरहन्त प्यारे, बैठे उपान्त गुणथानन में उजारे ॥३६॥

वार्धक्य व्याधि दुख भी जिसमें नहीं है, ये श्लेष्म स्वेद मल थूँक सभी नहीं है।
आहार भी नहिं विहार कभी नहीं है, जो दोष कोष न घृणास्पद भी नहीं है ॥३७॥

सर्वांग में रुधिर मांस भरे हुए हैं, गोक्षीर शंख सम श्वेत धुले हुए हैं।
पर्याप्तियां छह मिले दश प्राण सारे, शोभें हजार वसु लक्षण पूर्ण प्यारे ॥३८॥

ऐसे हि श्रेष्ठ गुणधाम प्रमोदकारी, सौगंध-सौध अति निर्मल मोहहारी।
औदारिकी तन रहा अरहन्त का है, पूजो इसे पद मिले भगवन्त का है ॥३९॥

जो राग रोष मद से प्रतिकूल होते, स्वामी कषाय मल से अति दूर होते।
कैवल्य भाव शुचि आर्हत में जगा है, पूरा क्षयोपशम-भाव तभी भगा है ॥४०॥

कैवल्य ज्ञान शुचि दर्शन-नेत्र द्वारा, हैं जानते निरखते त्रय लोक सारा।
सम्यक्त्व से झग झगा लसते निराला, अर्हन्त का विमल भाव स्वभाव प्यारा ॥४१॥

उद्यान शून्य गृह में तरु कोटरों में, भारी वनों उपवनों गिरि गह्वरों में।
किं-वा भयानक श्मशान-धरातलों में, कोई सकारण विमोचित आलयों में ॥४२॥

पूर्वोक्त स्थान भर में रह शील पाले, ऐसे जिनेश मत में मुनि मुख्य प्यारे।
स्वाधीन हों जिन जिनागम तीर्थ ध्यावें, उत्साह साहस स्वतंत्रपना निभावें ॥४३॥

पालें महाव्रत तजें पर की अपेक्षा, हो के जितेन्द्रिय करें सबकी उपेक्षा।
स्वाध्याय ध्यान भर में लवलीन होते, वे ही नितान्त मुनि श्रेष्ठ प्रवीण होते ॥४४॥

आरंभ पाप तज सर्व कषाय जीते, औ गेह ग्रन्थ भर से बन पूर्ण रीते।
सारे सहें परिषहों उनकी प्रव्रज्या, मानी गई समय में वह लोक पूज्या ॥४५॥

वस्त्रादि दान धनधान्य कुदान से भी, छत्रादि स्वर्ण शयनासन दान से भी।
मानी गई न जिनशासन में प्रव्रज्या, निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन ही लसती प्रव्रज्या ॥४६॥

जो साम्य, निंदन सुवंदन में सँभारे, मिट्टी गिरी कनक को तृण को निहारे।
माने समान रिपु बाँधव लाभ हानी, दीक्षा सही श्रमण की यह साधु वाणी ॥४७॥

ना ही करे धनिक निर्धन की परीक्षा, छोटा बड़ा भवन यों न करें समीक्षा।
जाते सभी जगह भोजन लाभ हेतु, दीक्षा सही श्रमण की यह जान रे! तू ॥४८॥

निर्ग्रन्थ हो निरभिमान निसंग प्यारे, निर्दोष निर्मम निरीह नितान्त न्यारे।
नीराग नित्य निरहंपण शीलधारी, दीक्षा उन्हीं श्रमण की सुख झीलवाली ॥४९॥

निर्लोभ भाव रत हैं मुनि निर्विकारी, निर्मोह निष्कलुष निर्भय-भावधारी।
आशा बिना विषय राग बिना विरागी, दीक्षा उन्हीं श्रमण की समझो सरागी! ॥५०॥

नीचे भुजा कर खड़े शिशु-रूप-धारे, वस्त्रास्त्र शस्त्र तज शांत स्व को निहारे,
काटें निशा परकृतों मठ मंदिरों में, दीक्षा उन्हीं श्रमण की समझूँ गुरो! मैं ॥५१॥

धारी क्षमा शमदमान्वित हो सुहाते, स्नानादि तैल तजते तन को सुखाते।
है राग-रोष मद से अति दूर ज्ञानी, दीक्षा उन्हीं श्रमण की सुन मूढ़ प्राणी ॥५२॥

भागीं नितान्त जिनकी मति मूढ़तायें, होंगी विनष्ट वसु ये विधि-गूढ़तायें।
मिथ्या टली दृग विशुद्ध मिली शिवाली, दीक्षा उन्हीं श्रमण की समता- सुप्याली॥५३॥

उत्कृष्ट संहनन या कि जघन्य पावें, निर्ग्रन्थ वे बन सके जिन यों बतावें।
दुष्टाष्ट कर्म क्षय की रख मात्र इच्छा, स्वीकारते भविक हैं जिन लिंग दीक्षा ॥५४॥

अत्यल्प भी विषय राग नहीं रहा है, ना बाह्य का ग्रहण संग्रह भी रहा है।
दीक्षा उन्हीं श्रमण की जिन हैं बताते, जो जानते निखिल को लखते सुहाते ॥५५॥

साधू सहें परिषहों उपसर्ग बाधा, प्रायः रहें विजन में वन मध्य ज्यादा।
एकान्त में शयन आसन साधते हैं, भू पे, शिला, फलक पे निशि काटते हैं ॥५६॥

साधू करें न विकथा व्यभिचारियों से, हो दूर षंड पशुवों महिलाजनों से।
स्वाध्याय-ध्यान रत जीवन हैं बिताते, दीक्षा उन्हीं श्रमण की जिन हैं बताते ॥५७॥

सम्यक्त्व से नियम संयम के गुणों से, होते नितान्त मुनि शुद्ध व्रतों तपों से।
दीक्षा विशुद्ध उनकी गुण-धारती है, प्यारी यही कह रही जिनभारती है ॥५८॥

निर्ग्रन्थ आयतन हो मुनि के गुणों से, पूरा भरा नियम-संयम लक्षणों से।
ऐसा जिनेश मत ने हमको बताया, संक्षेप से मुनिपना हमको दिखाया ॥५९॥

निर्ग्रन्थरूप सुख कूप अनूप प्यारा, षट्काय जीव हितकारक भूप न्यारा।
जैसा जिनेन्द्र मत में जिन ने बताया, बोधार्थ भव्य जन को हमने दिखाया ॥६०॥

भाषा ससूत्र जिननायक ने बताया, सो शब्द का सब विभाव विकार-माया।
मैं भद्रबाहु गुरु का लघु शिष्य छाया, जो ज्ञात था समय के अनुसार गाया ॥६१॥

वाक्देवि के पटु प्रचार प्रसारकर्ता, हे! द्वादशांग श्रुत चौदह पूर्व धर्ता।
हे! भद्रबाहु श्रुत-केवलज्ञानधारी, स्वामी! गुरो गमक हे! जय हो तुम्हारी ॥६२॥

(दोहा)

जिन आलय औ आयतन, प्रतिमा, दर्शन सार।
जैन बिम्ब औ जैन की मुद्रा सुख आगार ॥१॥

ज्ञान, देव, शुचि तीर्थ भी दीक्षा पथ अरहन्त।
ग्यारह ये मुनिरूप हैं धरते भव का अन्त ॥२॥

पाषाणादिक में इन्हें थाप भजो व्यवहार।
यही बोध प्राभृत रहा अबोध मेटन 'हार' ॥३॥

भाव पाहुड

सिद्धादि पंच परमेष्ठि यतीश्वरों से, जो हैं नमस्कृत नरों असुरों सुरों से।
श्रद्धा समेत उनको शिर मैं नवाता, हूँ भाव प्राभृत सुनो! तुम को सुनाता ॥१॥

है भाव लिंग वर मुख्य मुझे सुहाता, है द्रव्य लिंग न यथार्थ जिनेश गाता।
है भाव ही नियम से गुण-दोष हेतु, होता भवोदधि वही भव-सिन्धु-सेतु ॥२॥

ये भाव शुद्ध-तम हो, जब लक्ष्य होता, तो बाह्य संग तजना अनिवार्य होता।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता, है बाह्य त्याग मुनि का वह व्यर्थ जाता ॥३॥

वे कोटि-कोटि शत कोटि भवान्तरों में, साधू तपे तप भले निशि-वासरों में।
नीचे भुजा कर खड़े सब वस्त्र त्यागे, ना, शुद्ध भाव बिन केवलज्ञान जागे ॥४॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते, पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते।
वे भाव शून्य करनी करते कराते, हा! बाह्य त्याग उनको किस काम आते? ॥५॥

रे! भाव लिंग बिन बाहर लिंग से क्या? वैरी मिटे, असि बिना असिकोष से क्या?
है भाव, मोक्ष-पुर का पथ जान पंथी, ऐसा जिनेश कहते तज पूर्ण ग्रंथी ॥६॥

रे! बार-बार घर बाहर लिंग छोड़ा, निर्ग्रन्थ-रूप धर भी मन ना मरोड़ा।
तूने सदा पुरुष हे! दुख बीज बोया, हो! भाव हीन चिर से भव बीच रोया ॥७॥

हो नारकी नरक भीषण योनियों में, तिर्यञ्च में असुर मानव योनियों में।
तूने सही सुचिर दुस्सह वेदनायें, भा, भावना अब निजी-जिन देशनायें ॥८॥

दुस्सह्य दारुण भयंकर दुःख भोगा, पा सातवें नरक में नित शोक रोगा।
तेरा हुआ अहित ही हित ना हितैषी, वैसी सदा गति मिले मति होय जैसी ॥९॥

उत्पाटनों खनन ताड़न छेदनों से, औ बंधनों ज्वलन गालन भेदनों से।
तिर्यञ्च हो कुगति में चिरकाल पीड़ा, तूने निरंतर सही बिन ज्ञान हीरा ॥१०॥

आकस्मिकी सहज दो दुख ये गिनाये, दो और मानसिक कायिक वेदना ये।
तूने मनुष्य भव में दुख भार पाया, बीता वृथा अमित काल, न पार पाया ॥११॥

इन्द्रादि के विभव को लख सूखता था, देवी मरी विरह हेतु दुखी हुआ था।
दुर्भावना सहित हो कब तू सुखी था, हो देव, देव गति में फिर भी दुखी था ॥१२॥

कंदर्प दर्पमय पंच कुभावनायें, भाई, रखीं विषय की उर-वासनायें।
हो बार-बार बस केवल द्रव्य लिंगी, तू नीच-देव बनता अयि, भव्य अंगी ॥१३॥

पार्श्वस्थ भाव, बहु बार विभाव भाया, तूने मिला अमित काल वृथा बिताया।
अज्ञान के वश दुराशय बीज बोया, पा दुःखरूप फल ही, फलरूप रोया ॥१४॥

जो वैभवों वर गुणों सुख सिद्धियों को, हैं श्रेष्ठ देव धरते सुर ऋद्धियों को।
हो नीच देव दिवि में निज में बड़ों को, तू देख मानसिक दुःख सहे अनेकों ॥१५॥

दुर्भाव धार मन में मदमत्त नामी, चारों प्रकार विकथा करता सकामी।
तू निन्द्य देव बनके बहुबार भोगा, है कष्ट, दुष्ट मति से फिर और होगा ॥१६॥

बीभत्स है, अशुचि है, मल का पिटारा, दुर्गन्ध-धाम जननी-जनु गर्भ सारा।
ले जन्म हे मुनि! वहाँ बहु बार रोया, नीचे किए सिर टँगा बहुकाल खोया ॥१७॥

यों काल तो भव-भवों बहुमूल्य बीता, जो भिन्न-भिन्न जननी स्तन दूध पीता।
जानो महाशय! कभी वह दूध सारा, लाखों गुना अधिक सागर से अपारा ॥१८॥

वे भिन्न-भिन्न भव में तव मात रोती, तू था मरा जब, तभी नहिं रात सोती।
रोते हुए नयन से जल जो बहाया, लाखों गुना अधिक सागर से कहाया ॥१९॥

जो हड्डियाँ झड़ गई नख बाल छूटे, तेरे कटे भव-भवों नस नाल टूटे!
कोई सुसंग्रह मनो उनको करेगा, तो साधु, मेरु गिरि से गुरु ही लसेगा ॥२०॥

भू व्योम में अनिल में, जल में वनों में, नद्यादि में अनल में, थल में द्रुमों में।
तूने व्यतीत चिरकाल किया वृथा है, हो कर्म के वश, सही जग में व्यथा है ॥२१॥

तृष्णा लगी तृषित पीड़ित तू विचारा, त्रैलोक्य का सलिल पीकर पूर्ण डारा।
तृष्णा मिटी न फिर भी उर की इसी से, शुद्धात्म चिंतन जरा करले रुची से ॥२२॥

है बार-बार, इक बार नहीं मरा है, तू काय को अमित बार तजा धरा है।
हे धीर! साधु भवसागर में अनन्ता, संत्यक्त काय गिनते गिनते न अन्ता ॥२३॥

भोगा गया सकल पुद्गल भोग खारा, पूरा भरा कि जिससे त्रयलोक सारा।
भाई तथापि नहिं तृप्ति हुई अभी भी, भोगो पुनः तुम भले सुख ना कभी भी ॥२४॥

संक्लेश वेदन वशात् भय सप्त द्वारा, औ रक्त स्त्राव विष भक्षण शस्त्र द्वारा।
आहार-श्वास - अवरोधन से तुरन्ता, हो आयु का क्षय कहें अरहन्त सन्ता ॥२५॥

हा! अग्नि से तुम जले जल मध्य डूबे, शीतातिशीत-हिम से बिन वस्त्र जूझे।
उत्तुंग वृक्ष गिरि पे चढ़ते गिरे थे, टूटे तभी कर पगों भय से घिरे थे ॥२६॥

जाने बिना रस विधी विष सेवने से, अन्याय कार्य कर- क्रूर अनार्य जैसे।
तिर्यञ्च हो मनुज हो अपमृत्यु पाई, हैं आपने दुख सहे बहुबार भाई ॥२७॥

भाई निगोद गति में तुम जो गिरे थे, अन्तर्मुहूर्त भर में दुख में परे थे।
हा! साठ औ छह सहस्त्र व तीन सौ औ, छत्तीस बार मरते कुछ आज सोचो ॥२८॥

अन्तर्मुहूर्त भर में विकलेन्द्रि सारे, अस्सी व साठ द्वय बीस भवों सुधारे।
चौबीस क्षुद्र भव औ धरते विचारे, पंचेन्द्रि जीव तक भी गुरु यों पुकारे ॥२९॥

ज्ञानादि रत्नत्रय के बिन ही मरे हो, जो बार-बार भव कानन में फिरे हो।
ऐसे जिनेश कहते अब जाग जाओ, सानन्द रत्नत्रय धार विराग पाओ ॥३०॥

आत्मा निजात्मरत ही सम-दृष्टि-वाला, जो जानता स्वयम को वह बोध शाला।
है आत्म में विचरता नित है सुहाता, चारित्र पंथ स्वयमेव वही कहाता ॥३१॥

वैसे अनेक भव में मरता रहा है, पै मृत्यु के समय में डरता रहा है।
ले ले अतः मरण उत्तम का सहारा, तो बार-बार मरना मर जाय सारा ॥३२॥

तू द्रव्यलिंग भर बाहर मात्र धारा, हा! मृत्यु को श्रमण होकर भी न मारा।
ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो, तूने जहाँ मरण जन्म नहीं गहा हो ॥३३॥

तू बाह्य मात्र अब लौ जिनलिंग धारा, धारा न भावमय लिंग कभी सुचारा।
पीड़ा सही जनन मृत्यु तथा जरा से, पाया अनन्त भव में सुख ना जरा से ॥३४॥

प्रत्येक आयु परिणाम सुनामकों को, औ पुद्गलों क्षिति-तलों समयादिकों को।
तूने गहा पुनि तजा बहुबार भाई, पीड़ा अनन्त भवसागर में उठाई ॥३५॥

लो तीन सौ फिर तियालिस राजु सारा, है लोक का विदित क्षेत्र जिनेन्द्र द्वारा।
वे छोड़, मेरु तल के वसु देश न्यारे, सारे भ्रमे तुम यहाँ मर जन्म धारे ॥३६॥

तेरा शरीर प्रति, अंगुल भाग में ही, धारे छियानव कुरोग सराग देही।
हे मित्र! शेष तन में कितने पता दे, दुस्सह्य रोग गिनती गिनके बता दे ॥३७॥

हो कर्म के वश अतीत भवों-भवों से, तूने सहे सकल रोग युगों-युगों से।
रागी रहा फिर अनागत में सहेगा, क्या क्या कहें बहुत है भव में भ्रमेगा ॥३८॥

हैं पित्त मूत्र कफ मांस जहाँ भरे हैं, हैं आँत गात नस जाल जिसे घिरे हैं।
माँ के रहा उदर में नव मास भाई, नीचे किये शिर टंगा चिर पीर पाई ॥३९॥

माँ बाप के रजस वीर्य घुला मिला था, संकीर्ण गर्भ जिसमें न डुला हिला था।
खाया हुआ जननि ने वह अन्न खाया, उच्छिष्ट भोज करता महिनों बिताया ॥४०॥

नादान था शिशु रहा शिशु काल में था, तू खेलता नित निजी मल लार में था।
सोता वहीं मल तजा मल खूब खाता, आपाद कण्ठ मल में तब डूब जाता ॥४१॥

ये मांस मेद मद रक्त जहाँ भरे हैं, हैं पित्त पीव नस नाल सड़े निरे हैं।
दुर्गन्ध पूर्ण घट है यह काय तेरा, ऐसा विचार नहिं तो टल जाय वेला ॥४२॥

संमोह-मुक्त, मुनि मुक्त वही कहाता, ना, मुक्त-मात्र हितु बाँधव से सुहाता।
भाई तजो इसलिए उस वासना को, भावो भजो नित निजीय उपासना को ॥४३॥

निर्ग्रन्थ हैं स्वतन से ममता नहीं है, मानी रहा स्वयम में रमता नहीं है।
आतापनादि तप बाहुबली किया है, मासों, तथापि शिवलाभ कहाँ लिया है? ॥४४॥

निर्ग्रन्थ था मुनि बना मधु पिंग नामा, पूरा निरीह तन से तज संग कामा।
भावी निदान फिर भी उससे घिरा था, श्रामण्य से इसलिए वह तो गिरा था ॥४५॥

वैसे वसिष्ठ मुनि भी बहु दुःख पाया, भावी निदान मन से मन को लिपाया।
ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो, मोही यहाँ भटकता न फिरा जहाँ हो ॥४६॥

चौरासि लाख दुखदायक योनियों में, ऐसा न थान अवशेष रहा भवों में।
तूने जहाँ भ्रमण वास नहीं किया हो, हो भाव शून्य मुनि, मात्र मुधा जिया हो ॥४७॥

तू द्रव्य लिंग भर से न कहाय लिंगी, शुद्धात्म भाववश ही कहलाय लिंगी।
तू भाव लिंग धर केवल द्रव्य में क्या? पी नीर, मात्र-जल भाजन डोर से क्या? ॥४८॥

धिक्कार बाहु मुनि ने क्षण में मिटाया, क्रोधाग्नि से नगर दंडक को जलाया।
था बाह्यलिंग जिनलिंग लिया तथापि, जाके गिरा नरक रौरव में कुपापी ॥४९॥

द्वीपायनादि मुनि भी इस भाँति क्रोधी- हो, द्वारिका नगर दग्ध किया अबोधी।
सम्यक्त्व बोध व्रत से च्युत, द्रव्य लिंगी, संसार को दृढ़ किया, सुन भव्य! अंगी ॥५०॥

वर्षों रही युवतियाँ जिन से घिरी थी, तो भी यतीश मति को किसने हरी थी?
थे भाव से श्रमण, मोक्ष गये विरागी, वे धीर थे शिव कुमार मुनीश त्यागी ॥५१॥

थे द्वादशांग श्रुत चौदह पूर्व ज्ञाता, वे भव्यसेन मुनि हो उपदेश दाता।
पै भीतरी श्रमणता उनमें नहीं थी, थी नग्नता न उर ऊपर में रही थी ॥५२॥

ये भिन्न-भिन्न तुष मास सदा सुहाते, ऐसा विशुद्ध मन से रट थे लगाते।
पाई अतः कि शिवभूति मुनीश भाई, आत्मानुभूति शिवभूति, विभूति स्थाई ॥५३॥

जो भाव नग्न वह नग्न यथार्थ होता, पै मात्र नग्न मुनि तो अयथार्थ थोथा।
हो नग्न पूर्ण तन भी मन भी निहाला, तो कर्म शीघ्र, कटते समझो सुचारा ॥५४॥

वो भाव की विमलता यदि है न प्यारी, निर्ग्रन्थरूप वह मात्र न कार्यकारी।
यों जान मान मन आतम में लगा ले, शुद्धात्म का गुन गुनाकर गीत गाले ॥५५॥

काषायिकी परिणती जिसने घटायी, औ निन्द्य जान तन की ममता, मिटायी।
शुद्धात्म में निरत है तज संग-संगी, है पूज्य साधु वह पावन भाव लिंगी ॥५६॥

बोले विशुद्ध मुनि यों निज तत्त्व पाऊँ, त्यागूँ ममत्व परतत्त्व समत्व ध्याऊँ।
आधार मात्र मम निर्मम आतमा है, छोडूँ अशेष सब चूँकि अनातमा है ॥५७॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में, औ प्रत्यख्यान-गुण में लसता गुरो! मैं।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का, है पाक मोक्ष सुख है दुख वासना का ॥५८॥

पूरा भरा दृग विबोध-मयी-सुधा से, मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से।
संयोग जन्य सब शेष विभाव मेरे, रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे! ॥५९॥

हे भव्य! चार गति से निज को छुड़ाना, है चाहना यदि सुशाश्वत सौख्य पाना।
तो शुद्ध भाव कर स्वीय स्वभाव भाना, तू शीघ्र छोड़ परकीय विभाव नाना ॥६०॥

जो जानता सहज जीव यथार्थ में हैं, होता विलीन निज जीव पदार्थ में है।
पाता विमोक्ष द्रुत से कर निर्जरा को, सो नाशता जनन मृत्यु तथा जरा को ॥६१॥

है जीव चेतन निकेतन है निराला, ऐसा जिनेश कहते वह ज्ञान-शाला।
ज्ञातव्य जीव, इस लक्षण धर्म द्वारा, शीघ्रातिशीघ्र मिटता वसु-कर्म-भारा ॥६२॥

जीवत्व का वह अभाव न सर्वथा है, सिद्धत्व में, विमल जीवपना रहा है।
पाता विमोक्ष द्रुत से कर निर्जरा ओ! सो नाशता जनन मृत्यु तथा जरा को ॥६३॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, संस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥६४॥

सद्ज्ञान पंच विध है उसको अराधो, निर्वेग भाव धर के यह कार्य साधो।
अज्ञानरूप तम निश्चित भाग जाता, हो स्वर्ग-मोक्ष सुख केवल जाग जाता ॥६५॥

क्या शास्त्र के पठन-पाठन से मिलेगा, संवेग भाव बिन कर्म नहीं टलेगा।
श्रामण्य श्रावकपना शिव-ज्ञान हेतु, वैराग्य भाव जब हो, यह जान रे! तू ॥६६॥

ये नारकी पशु तथा कुछ आदिवासी, होते दिगम्बर नितान्त सुखाभिलाषी।
पै चित्त में कुटिल कालुष भाव धारे, हैं भीतरी श्रमणता न धरें विचारे ॥६७॥

जो मात्र नग्न बन जीवन है बिताता, संसार में भटकता भव दुःख पाता।
पाता न बोधि वह केवल नग्न साधु, वो साम्य का यदि बना न कदापि स्वादू ॥६८॥

प्राय: प्रदोष पर के पर को बताते, माया व हास्य मद मत्सर धार पाते।
वे पात्र हैं अयश के अघ के घड़े हैं, जो नग्न हैं श्रमण मात्र बढ़े चढ़े हैं ॥६९॥

वैराग्य भाव जल से मन पूर्ण धोलो, निर्ग्रन्थ लिंग धरने सब वस्त्र खोलो।
होता अवश्य उर में जिसके विकारा, लेता वही पर परिग्रह का सहारा ॥७०॥

है दोष-कोष वृष रूप-सुधा न पीते, है इक्षु पुष्प सम सार विहीन जीते।
जो नग्न हो श्रमण हो नट नाचते हैं, वे निर्गुणी विफल हो नहिं लाजते हैं ॥७१॥

हैं रंग संग रखता पर में रमा है, है नग्न किन्तु, न विराग, निरा भ्रमा है।
पाता नहीं सहज बोधि समाधि प्यारा, यों कुन्द-कुन्द जिन-आगम ने पुकारा ॥७२॥

वैराग्य से हृदय नग्न बने सलोना, मिथ्यात्व आदि मल कर्दम पूर्व धोना।
निर्ग्रन्थ रूप फिर सादर धार लो ना, सो ही जिनेन्द्र मत के अनुसार होना ॥७३॥

सद्भाव को श्रमण हो नहिं धार पाता, दुष्टाष्ट कर्म मल को मन पे लिपाता।
तिर्यञ्च हो भटकता अघ धाम रागी, सद्भाव, स्वर्ग-शिव-धाम सुनो विरागी ॥७४॥

चक्री बनो अमर हो सुरसम्पदाएँ, लक्ष्मी मिले अमित दिव्य विलासताएँ।
सद्भाव से परम पावन प्राण प्यारे, ज्ञानादि रत्न मिलते सुख के पिटारे ॥७५॥

होता त्रिधा वह शुभाशुभ शुद्ध न्यारा, है आत्म भाव जिन-शासन ने पुकारा।
जो धर्म-ध्यान-मय है शुभ है कहाता, दुर्ध्यान सो अशुभ है न मुझे सुहाता ॥७६॥

आत्मा निजी विमल आतम लीन होता, सो शुद्ध भाव, विधि-कालुष पूर्ण धोता।
जो श्रेष्ठ इष्ट इनमें चुन भव्य प्राणी, ऐसा जिनेश कहते मुनि-सेव्य-ज्ञानी ॥७७॥

सत् साधु ने दुखद मान गला दिया है, स्वीकार साम्य, सब मोह जला दिया है।
आलोक-धाम जगसार जिसे मिलेगा? बोले प्रभो! यह नियोग नहीं टलेगा ॥७८॥

पंचाक्ष के विषय को तज वासनाएँ, जो भा रहे श्रमण षोडश भावनाएँ।
वे शीघ्र तीर्थंकर नामक कर्म बाँधें, औचित्य कार्य करते सुख क्यों न साधें ॥७९॥

सारे तपो सुतप द्वादश पर्वतों से, पालो त्रयोदश क्रिया मन-वाक्-तनों से।
हे! साधु ज्ञानमय अंकुश से विदारो, उन्मत्त चित्त गज के मद को उतारो ॥८०॥

वैराग्य भाव मन में बहु बार भाना, पश्चात् विशुद्ध जिन-लिंग अहो निभाना।
खाना यथाविधि, धरा पर रात सोना, ढोना द्विसंयम बिना पर गात होना ॥८१॥

हीरा अमूल्य मणि है मणि जातियों में, विख्यात चन्दन रहा द्रुम ख्यातियों में।
त्यों जैनधर्म बहु धर्म प्रणालियों में, है श्रेष्ठ भावि-भव-नाशक, हो उरों में ॥८२॥

संमोह क्षोभ बिन शोभित हो रहा है, सो धर्म, आत्म परिणाम अहो रहा है।
औ दान पूजन तथा व्रत पालना ये, है पुण्य, जैन मत में शुभ भावनाएँ ॥८३॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति, श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति।
चाहे तथापि जड़धी भव भोग पाना, ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥८४॥

जो सर्व दोष तज के निज में रमा है, नीराग आतम निजातम में समा है।
संसार में तरण-तारण धर्म नौका, 'सो ही' 'जिनागम' कहे जग में अनोखा ॥८५॥

पै पुण्य का चयन ही करता कराता, श्रद्धान आत्म पर चूँकि नहीं जमाता।
पाता न सिद्धि शिव है प्रतिकूल जाता, संसार में भटकता यति भूल जाता ॥८६॥

श्रद्धा निजात्म पर पूर्ण करो इसी से, वाक्काय से विनय से मन से रुची से।
हो ध्यान ज्ञान अनुचिन्तन भी उसी का, हो मोक्ष, शीघ्र, फिर पार नहीं खुशी का ॥८७॥

हो भाव से मलिन तन्दुल मच्छ पापी, जा सातवें नरक में गिरता तथापि।
हो जा अतः निरत स्वीय गवेषणा में, श्रद्धा समेत रुचि से जिनदेशना में ॥८८॥

आतापनादि तपना गिरि कन्दरों में, औ बाह्य संग तजना रहना वनों में।
स्वाध्याय ध्यान करना पर से कराना, ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥ ८९॥

जीतो निजी सकल इन्द्रिय फौज वैरी, बाँधो अकम्प मन मर्कट चूँकि स्वैरी।
निर्ग्रन्थ हो मत करो जनरंजना ना! पे आत्म रंजन करो न प्रपंच नाना ॥९०॥

मिथ्यात्व को समझ हेय विसारना है, औ नो कषाय नव को सब त्यागना है।
सत् शास्त्र चैत्य गुरु भक्ति सँभारना है, आज्ञा जिनेश मत की नित पालना है ॥९१॥

सन्मार्ग तीर्थ करने पहले बताया, सत् शास्त्र बाद गण-नायक ने रचाया।
ऐसा अतुल्य शुचि है श्रुत ज्ञान प्यारा, तू नित्य भक्ति उसकी कर भाव द्वारा ॥९२॥

सत् शास्त्र का सलिल सादर साधु पीते, हो प्यास त्रास उर दाह-विहीन जीते।
चूड़ामणी जगत के स्वपराव-भासी, वे सिद्ध शुद्ध बनते शिवधाम-वासी ॥९३॥

तू झेल काय पर, त्याग प्रमाद सारा, बाईस दुस्सह परीषह कष्ट भारा।
शास्त्रानुसार वह भी बन अप्रमादी, हो ध्यान! संयम नहीं बिगड़े समाधि ॥९४॥

निर्ग्रन्थ साधु उपसर्ग परीषहों से, भाई कदापि चिगते नहिं पर्वतों से।
हो दीर्घ काल तक भी जल में तथापि, पाषाण है कठिन क्या गलता कदापि ॥९५॥

भा पंच विंशति सुपावन-भावनाएँ, भा सर्वदा सुखद द्वादश भावनाएँ।
रे! भाव शून्य करनी किस काम आती, ना मात्र वो नगनता सुख है दिलाती ॥९६॥

तूने तजा यदपि संग तथापि, क्या है? तत्त्वार्थ, औ नवपदार्थ यथार्थ क्या है?
क्या-क्या स्वरूप कब जीव-समास धारें, तू जान! चौदह निरे गुणथान सारे ॥९७॥

अब्रह्म है दश विधा उसको हटाना, है ब्रह्मचर्य नवधा जिसको निभाना।
आदी हुआ मिथुन के दुख से घिरा है, संसार के सघन कानन में फिरा है ॥९८॥

वैराग्य भाव जिसके मन में लसे हैं, आराधना वरण भी करती उसे है।
वैराग्य से स्खलित है मुनि कष्ट पाता, संसार को सघन और तभी बनाता ॥९९॥

है भाव से श्रमण है जग नाम पाता, कल्याण पंच करता शिव धाम जाता।
पै बाह्य में श्रमण केवल ना सुहाता, होता कुदेव-पशु मानव दुःख पाता ॥१००॥

जिह्वेन्द्रि का वश हुआ निज को भुलाया, छ्यालीस दोषयुत भोजन को उड़ाया।
तूने अतः विधिवशात् बहुदुःख पाया, तिर्यञ्च हो विगत में कब सौख्य पाया ॥१०१॥

खा, पी लिया सचित भोजन पेय पानी, हो लोलुपी सरस का मति मंद मानी।
तीव्रातितीव्र फलतः दुख ही उठाया, तू सोच आत्म चिरकाल वृथा बिताया ॥१०२॥

बीजादि पत्र फल-फूल समूल खाया, खाके सचित्त फिर भी मद ही दिखाया।
हा! हा! अनन्त भव में भ्रमता फिरा है, कीड़ा बना विषय में रमता निरा है ॥१०३॥

है पाँचधा विनय सो, त्रययोग द्वारा, पालो उसे विनय जीवन हो तुम्हारा।
कैसा गहे अविनयी भव कूल पाता, है भूलता धरम को प्रतिकूल जाता ॥१०४॥

श्रद्धा समेत जिन-भक्ति विलीन प्यारे, आचार्य आदि दश ये बुध सेव्य सारे।
भाई यथाबल यथाविधि साधु सेवा, सद् भक्ति राग वश होकर तू सदैवा ॥१०५॥

जो भी प्रदोष व्रत में त्रय योग द्वारा, मानो लगा जब हुआ उपयोग खारा।
धिक्कारते स्वयम को गुरु पास बोलो, मायाभिमान तज के, उर भाव खोलो ॥१०६॥

वे दुर्जनी कटुक, कर्ण कठोर गाली, देते, सदैव सहते शम-साम्यशाली।
वैराग्य से श्रमण शोभित हो रहे हैं, जो काटने विधि प्रलोभित हो रहे हैं ॥१०७॥

साधू क्षमा रमणि में रमते रमाते, संपूर्ण पाप पल में फलतः मिटाते।
विद्याधरों नरवरों, असुरों सुरों के, होते नितान्त स्तुति-पात्र मुनीश्वरों के ॥१०८॥

धारो क्षमा गुण क्षमा जग जन्तुओं से, माँगो, करो, विनय से मन वाक् तनों से।
क्रोधाग्नि से चिर तपा उर है तुम्हारा, सींचो क्षमा सलिल से फिर शान्तिधारा ॥१०९॥

सम्यक्त्व शुद्ध अविकार अहो सुधारो, दीक्षा गही समय को स्मृति से निहारो।
निस्सार सार तम क्या समझो सयाने, हीरे समा विमल केवलज्ञान पाने ॥११०॥

नग्नत्व आदि जड़ बाहर लिंग धारो, हो के परन्तु भवभीत स्व को निहारो।
हो भाव लिंग बिन द्रव्य न कार्यकारी, वैराग्य से मति करो अनिवार्य प्यारी ॥१११॥

आहार संग भय मैथुन चार संज्ञा, होके विलीन इनमें तज आत्म प्रज्ञा।
संसार के सघन कानन में भ्रमे हो, खोये युगों युग युगों पर में रमे हो ॥११२॥

मैदान में शयन आसन भी लगाना, आतापनादि तपना तरुमूल पाना।
मूलोत्तरादि गुण को रुचि से निभाना, पै ख्याति लाभ यश को मन में न लाना ॥११३॥

है आद्य कार्य निज तत्त्व अहो पिछानो, औ आस्त्रवादिक अशेष सुतत्त्व जानो।
शुद्धात्म में तुम रमो ध्रुव नित्य प्यारा, धर्मार्थ काम मिटते, त्रय योग द्वारा ॥११४॥

तू तत्त्व-भाव-जल से नहिं सिंचता है, औचित्य को न जब लौ यदि चिंतता है।
होते नहीं जनन-मृत्यु-जरा जहाँ पे, हे मित्र! जा न सकता शिव में वहाँ पे ॥११५॥

ये जीव के, समझ तू परिणाम सारे, हो पापरूप कुछ हो कुछ पुण्य प्यारे।
हो बंध मोक्ष निज के परिणाम द्वारा, ऐसा जिनेश मत है अभिराम प्यारा ॥११६॥

मिथ्या असंयम कषाय कुयोग लेश्या, जो भी इन्हें धर रहा कर संक्लेश्या।
बाँधे वही अशुभ कर्म नितान्त मोही, जो है जिनेश मत से अति दूर द्रोही ॥११७॥

सम्यक्त्व संयम यमादिक धारते हैं, वे पुण्य बंध करते, मन मारते हैं।
संक्षेप से विविध है विधि-बंध गाथा, ऐसा जिनेश मत सुन्दर गीत गाता ॥११८॥

मैं ज्ञान आवरण आदिक अष्ट कर्मों, से हूँ बँधा सुचिर से तज आत्म धर्मों।
चैतन्य आदिक अनन्त निजी गुणों को, देखूँ सही, अब जला विधि के गणों को ॥११९॥

सारे अठारह सहस्त्र सुशील होते, चौरासिलाख गुण उत्तर पूर्ण होते।
भावो इन्हें सतत ये शुचि भावना है, क्या व्यर्थ के कथन से? कुछ लाभ ना है ॥१२०॥

रे! आर्त-रौद्रमय ध्यान अवश्य छोड़ो, पै धर्म से शुकल से मन मात्र जोड़ो।
दुर्ध्यान तो सुचिर से कर ही रहे हो, जो बार-बार भव में मर ही रहे हो ॥१२१॥

वे भाव से श्रमण, ध्यान-कुठार द्वारा, काटें सुशीघ्र भववृक्ष समूल सारा।
जो मात्र नग्न मुनि इन्द्रिय दास होते, संसार-वृक्ष-जड़ में जल और देते ॥१२२॥

ज्यों दीप, गर्भ-घर में बुझता नहीं है, उद्दीप्त हो जबकि वायु चली नहीं है।
त्यों ध्यान दीपक अकम्प सही जलेगा, औचित्य! रागमय वात नहीं चलेगा ॥१२३॥

सर्वोत्तमा शरण मंगल चार प्यारे, पूजें जिन्हें खग खगेन्द्र सुरेन्द्र सारे।
आराधना सुगुण नायक हैं गुरो को, ध्याओ सदा विनय से परमेष्ठियों को ॥१२४॥

विज्ञान का विमल शीतल नीर पीते, सद्भाव से भरित भव्य सुधीर जीते।
वे आधि व्याधि मृति जन्म जरादिकों से, होते विमुक्त, शिव हो लसते गुणों से ॥१२५॥

है पूर्णतः जल गया यदि बीज बोओ, औचित्य! अंकुरित भूतल में न हो वो।
लो कर्म-बीज इकबार अहो जलेगा, भाई! भवांकुर पुनः उग ना सकेगा ॥१२६॥

जो भाव से श्रमण है शिवधाम जाता, हो मात्र बाह्य मुनि ना सुख त्राण पाता।
यों जान मान गुण दोष सही सुचारा, भावात्मिका श्रमणता भज विश्व-सारा ॥१२७॥

तीर्थंकरों गणधरों हलधारियों के, उत्कृष्ट अभ्युदय हैं दिविवासियों के।
जो भाव से श्रमण हैं, अनिवार्य पाते, संक्षेप से, सुन जरा जिन आर्य गाते ॥१२८॥

वे धन्य धन्य तम है, तज संग संगी, सम्यक्त्व-बोध-व्रत से शुचि भावलिंगी।
है साधु निष्कपट भी त्रययोग द्वारा, वन्दूँ उन्हें विमल हो उपयोग प्यारा ॥१२९॥

वे ऋद्धि-सिद्धि, खगदेव भले दिखाले, आ पास किंपुरुष किन्नर गीत गाले।
सम्यक्त्व से सहित श्रावक भी ऋषी से, हो मुग्ध लब्ध न प्रभावित हो किसी से ॥१३०॥

हैं मोक्ष को सजल लोचन सिंचते हैं, हैं जानते मनस से नित चिंतते हैं।
ऐसे मुनीश मन-मोहित क्या करेगा? स्वर्गीय स्वल्प सुख वो फिर क्या करेगा? ॥१३१॥

रोगाग्नि, देह घर ना जब लौं जलाती, दुर्वार मारक जरा जबलौं न आती।
पंचेन्द्रियाँ शिथिल हों जबलौं नहीं हैं, रे ! आत्म का हित करो सुघड़ी यही है ॥१३२॥

तू विश्व जीव पर धार दया सुधारा, सारे अनायतन त्याग त्रियोग द्वारा।
तेरा उपास्य बन जाय 'महान सत्ता', जो सर्व जीव गतचेतन ज्ञानवत्ता ॥१३३॥

संभोग सौख्य सबने त्रस स्थावरों को, खाये अनन्त तुमने जग जंतुओं को।
ऐसा अतीत भर में चिरकाल बीता, संसार में भटकता नहिं काल जीता ॥१३४॥

चौरासि लाख इन कुत्सित योनियों में, तू जन्म ले मर मिटा कि भवों-भवों में।
क्या ज्ञात है कि दुख कारण क्या रहा है, हे मित्र! 'प्राणिवध' कारण ही रहा है ॥१३५॥

सद्भाव से अभयदान चराचरों को, देवो, सदा शुचि बना मनवाक्तनों को।
'कल्याण पंच' फलरूप परम्परा से, पावो मुनीश! मुकती, मृति से जरा से ॥१३६॥

हैं वाद सर्व किरिया शत और अस्सी, बत्तीस वाद विनयी अक्रिया चवस्सी।
अज्ञानवाद सडसष्ट अहो! पुकारे, ये वाद, तीन शत औ त्रय साठ सारे ॥१३७॥

सद्धर्म का श्रवण भी करता तथापि, छोड़े अभव्य न अभव्यपना कदापि।
मिश्री मिला यदपि पावन दूध पीता, पै सर्प दर्प विष से रहता न रीता ॥१३८॥

लेता सदोष मत का जड़धी सहारा, मिथ्यात्व से ढक गया उर नेत्र सारा।
सिद्धान्त में बस अभव्य रहा वही है, श्री जैन धर्म जिसको रुचता नहीं है ॥१३९॥

सेवा कुसाधुजन की करता मुधा है, सो ही कुधर्म मत में रत सर्वदा है।
है तापसी कुतप ही तपता वृथा है, हो पात्र हा! कुगति का सहता व्यथा है ॥१४०॥

मिथ्यात्व से भ्रमित दुर्जन संग पाया, भाई तुझे कुनय आगम ने ठगाया।
संसार में फिर रहा चिर काल से तू, हे धीर! सोच चलना निज चाल ले तू ॥१४१॥

पाखंडिवाद त्रय सौ त्रय साठ खारे, उन्मार्ग हैं तुम इन्हें तज दो विसारो।
सौभाग्य! जैन पथ पे निज को चलाओ, रे! वाक् विलास बस हो?मन से भुलाओ ॥१४२॥

सम्यक्त्व के बिन मुनी शव ही कहाता, है मात्र नग्न चलता फिरता दिखाता।
मोही त्रिलोक भर में वह निंद्य होता, आत्मा उड़ा, शव कहाँ कब वन्द्य होता ॥१४३॥

जैसा शशी उजल तारक के गणों में, जैसा मृगेन्द्र बलवान रहा मृगों में।
सम्यक्त्व भी परम श्रेष्ठ सभी गुणों में, माना गया कि मुनि श्रावक के व्रतों में ॥१४४॥

धारा फणा मणि विशेष सुलाल ऐसा, होता सुशोभित फणाधर राज जैसा।
वैसा सुशोभित सदा जिन-भक्त होता, सन्मार्ग में विमल दर्शन युक्त होता ॥१४५॥

तारा समूह नभ में जब जन्म पाता, वो पूर्ण चन्द्र जिस भाँति हमें सुहाता।
निर्ग्रन्थ लिंग उस भाँति लसे सुचारा, सम्यक्त्व-शुद्ध तप ले व्रत युक्त प्यारा ॥१४६॥

मिथ्यात्व दोष, गुण दर्शन को विचारो, भाई! सुरत्न, समदर्शन को सुधारो।
सोपान आदिम शिवालय का रहा है, औ सारभूत गुण रत्न यही अहा है ॥१४७॥

कर्ता, अमूर्त, निज देह प्रमाण वाला, भोक्ता, अनादि अविनश्वर जीव प्यारा।
विज्ञान दर्शनमयी उपयोग प्याला, ऐसा कहें जिन करें जग में उजाला ॥१४८॥

मोहादि घाति विधि के दल को मिटाते, वे भव्य साधु जिन लिंग धरें सुहाते।
वैराग्य से लस रहे दृग पूर्ण खोले, तू खास दास उनका अयि चित्त होले ॥१४९॥

ज्यों चार घाति अघ-कर्म विनाशते हैं, त्यों लोक पूरण अलोक प्रकाशते हैं।
दृक्-ज्ञान-सौख्य-बल ये प्रकटे गुणों से, होते सुशोभित अनन्त चतुष्टयों से ॥१५०॥

लो कर्म मुक्त बनता जब आतमा है, होता सुनिश्चित वही परमातमा है।
ज्ञानी वही शिव चतुर्मुख ब्रह्म भी है, सर्वज्ञ विष्णु परमेष्ठि निजात्म ही है ॥१५१॥

हो घाति कर्म दल से, जब मुक्त स्वामी, प्यारे, अठारह सदोष-विमुक्त नामी।
त्रैलोक्य दीप तुम ही अति दिव्य देही! दो बोधि उत्तम बनूँ फलतः विदेही ॥१५२॥

सद्भाव से भ्रमर हो निशिवासरों में, होता विलीन जिन के पद पंकजों में।
आमूल-जन्म लतिका झट काटता है, वैराग्य शस्त्र बल से शिव साधता है ॥१५३॥

ज्यों शोभता कमलिनी दृग मंजु पत्र, हो नीर में, न सड़ता रहता पवित्र।
त्यों लिप्त हो विषय से न मुमुक्षु प्यारे, होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥१५४॥

नाना कला गुण विशारद हो निहाला, मानूँ उसे मुनि, सुसंयम शील-वाला।
पै दोष-कोष बस केवल नग्न साधू, साधू रहा न वह श्रावक भी न! स्वादू ॥१५५॥

तीखी क्षमा दममयी असि हाथ धारे, वे धीर, नीर-निधि से मुनि वीर प्यारे।
दुर्जेय उद्धत कषाय-बली, भटों को, हैं जीतते सुचिर कालिन संकटों को ॥१५६॥

पंचाक्ष के विषय के मकराकरों में, थे डूबते पतित भव्य भवों-भवों में।
विज्ञान दर्शनमयी कर का सहारा, दे, धन्य ईश उस पार जिन्हें उतारा ॥१५७॥

उत्तुंग मोह तरु पे लिपटी चढ़ी है, मायामयी विषम बेल घनी बढ़ी है।
फूले खिले विषय फूल जहाँ जिसे वे, काटें विरोध असि से मुनि हा! न सेवें ॥१५८॥

कारुण्य से यदपि पूर्ण भरे निरे हैं, संमोह मान मद गौरव से परे हैं।
चारित्र खड्ग कर लेकर, काटते हैं, सम्पूर्ण-पापमय स्तंभ न हाँफते हैं ॥१५९॥

ज्यों पूर्ण पौर्णिम शशी नभ में सुहाता, तारा समूह जिसको जब घेर पाता।
त्यों श्री जिनेश मत के नभ में दिखाते, धारे सुमाल गुण की मुनि चन्द्र भाते ॥१६०॥

होते जिनेन्द्र अमरेन्द्र नरेन्द्र चक्री, हो राम तीर्थंकर केशव अर्ध चक्री,
वे ऋद्धि-सिद्धि गहते मुनि, संग त्यागी, होते गणेश ऋषि तारण हैं विरागी ॥१६१॥

अत्युज्वला अतुल निर्मल है निहाला, उत्कृष्ट सिद्धि सुख है शिव शील-वाला।
वार्धक्य भी मरण भी जिसमें न भाते, साधू विराग जिसको अविलम्ब पाते ॥१६२॥

नीराग हैं नित निरंजन हैं निराले, हैं सिद्ध शुद्ध जग पूजित, पूज्य सारे।
दे, वे मुझे विमल भाव, कषाय धोऊँ, सम्यक्त्व-बोध-व्रत में रत नित्य होऊँ ॥१६३॥

ये धर्म अर्थ पुनि काम विमोक्ष चारों, हैं भाव पे निहित यों तुम तो विचारो।
मंत्रादि सिद्धि सब भी बस!! भाव से हो, कोई प्रयोजन नहीं बकवाद से हो ॥१६४॥

सर्वज्ञ ने प्रथम तो सब जान पाया, सद् 'भाव-प्राभृत' पुनः हमको सुनाया।
जो भी पढ़ें यदि सुनें अविराम भावें, औचित्य, नित्य स्थिर शाश्वत धाम पावें ॥१६५॥

निजी भाव ही दुःख हैं, निजी भाव सुख कूप।
भव-भव भ्रमते भाव से, भूल रहे निज रूप ॥

दुख से बचना चाहते, तजो परिग्रह भाव।
नग्न हुए बिन शिव नहीं, बिना निजातम भाव ॥

मोक्ष पाहुड

देवाधिदेव जिनदेव बने हुए हैं, आत्मीय-ज्ञान-धन पाय तने हुए हैं।
सर्वस्व-त्याग पर का विधि को मिटाते, वन्दूँ उन्हें विनय से शिर को झुकाते ॥१॥

मैं वन्दना कर इन्हें, जिनदेव प्यारे, सच्चे अनन्त दृग बोध स्वयं सुधारें।
उत्कृष्ट योगिजन को रुचि से सुनाता, जो श्रेष्ठ रूप परमातम, का सुहाता ॥२॥

जो पूर्व, जान परमातम, योग ढोते, योगी सुयोग रत ही अविराम होते।
निर्वाण प्राप्त करते सुख कूप साता, निर्बाध शाश्वत अनन्त अनूप भाता ॥३॥

बाह्यात्म और परमातम अन्तरात्मा, आत्मा त्रिधा सब, तजो तुम बाह्य आत्मा।
है अन्तरातम उपाय उसे सुधारो, ध्याओ सदैव परमातम को निहारो ॥४॥

मैं हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता, जो कर्म मुक्त परमातम देव साता।
चैतन्यधाम मुझसे तन है निराला, यों अन्तरात्म कहता समदृष्टि वाला ॥५॥

होते अनीन्द्रिय अनिंद्य अकाय प्यारे, शुद्धात्म मात्र, विधि-पंक-विमुक्त सारे।
शोभे सदा शिव शिवंकर सिद्ध स्थाई, माने गये परम-इष्ट-जिनेश, भाई! ॥६॥

वाक्काय से मनस से तज बाह्य-आत्मा, सौभाग्य है! तुम बनो शुचि अन्तरात्मा।
ध्यावो उसे परम-आतम जो सुहाया, प्राप्तव्य मात्र वह है, जिन ने बताया ॥७॥

वो मूढ़दृष्टि, मन-इन्द्रिय-दास मोही, 'आत्मा' स्वयं समझता निज देह को ही।
आत्मीय बोध-च्युत है फलतः भ्रमा है, बाह्यार्थ में, रच पचा पर में रमा है ॥८॥

है अन्य का स्वतन सा तन देख सोही, सेवा सदैव करता उसकी विमोही।
वो वस्तुतः तन अचेतन ही रहा है, भूला उसे तदपि चेतन ही गहा है ॥९॥

यों देह में स्वपर भान लिए दिखाते, आत्मा जिन्हें विदित है न यथार्थ पाते।
माता पिता सुत सुता निज बाँधवों में, हैं मोह और करते वनितादिकों में ॥१०॥

ना-ना कुबोध भर में रममान होता, मिथ्या-विभाव वश मानव मान ढोता।
संमोह के उदय से यह लोक में भी, माने अभीष्ट तन को परलोक में भी ॥११॥

आरम्भ से रहित निर्भय है विरागी, निर्द्वन्द्व, राग रखते तन में न त्यागी।
योगी नितान्त निज में रममान होता, हो मोक्ष-ओर फलतः गममान होता ॥१२॥

जो राग से सहित है, विधि बंध-पाता, होता विराग, विधि-मुक्त अनन्त ज्ञाता।
हैं मुक्ति की यह तथा विधि-बंध गाथा, संक्षेप से यह जिनागम यों बताता ॥१३॥

तल्लीन जो श्रमण स्वीय पदार्थ में है, साधू नितान्त समदृष्टि यथार्थ में हैं।
सम्यक्त्व मंडित हुआ निज में सुहाता, दुष्टाष्ट कर्म दल को क्षण में मिटाता ॥१४॥

तल्लीन साधु परकीय पदार्थ में हो, मिथ्यात्व-दृष्टि वह क्यों न यथार्थ में हो।
मिथ्यात्व मंडित, नहीं निज धर्म पाता, है बार-बार फलतः वसु-कर्म पाता ॥१५॥

लेना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्षदाता, होता पराश्रय दुरन्त अशांति-धाता।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी, देहादि में, अरुचि ही शिव सौख्यकारी ॥१६॥

जो भी सचेतन अचेतन मिश्र सारे, शुद्धात्म के धरम से अति भिन्न न्यारे।
ऐसा हमें सदुपदेश अहो! सुनाया, सन्मार्ग को निखिल-दर्शक ने दिखाया ॥१७॥

है वस्तुतः अतुल-निर्मल-शील वाला, दुष्टाष्ट-कर्म बिन ज्ञान-शरीर-धारा।
अत्यन्त शुद्ध निज आतम द्रव्य भाता, ऐसा जिनेश कहते, निज-द्रव्य-धाता ॥१८॥

संलग्न पूर्ण जिन के पथ में हुए हैं, औ पूर्णतः विमुख भी पर से हुए हैं।
सद्ध्यान, आत्म भर का करते सदा हैं, पाते विमोक्ष धरते व्रत सम्पदा हैं ॥१९॥

योगी जिनेश-मत के अनुसार ध्याता, शुद्धात्म-ध्यान मन में यदि धार पाता।
निर्वाण लाभ उसको मिलता यदा है, आश्चर्य क्या न मिलती सुरसम्पदा है? ॥२०॥

सौ कोश एक दिन में चलता मजे से, ले के स्वकीय शिर पे गुरु भार वैसे।
क्या अर्ध कोस उसको न निभा सकेगा? शंका नहीं, वह नितान्त निभा सकेगा ॥२१॥

दुर्जेय कोटि-भट है रण में खड़ा है, जीता न जाय भट कोटिन से अड़ा है।
क्या एक मल्ल भट जीत उसे सकेगा, कैसा असम्भव सुसम्भव हो सकेगा? ॥२२॥

घोरातिघोर तप से तन को तपाते, प्रायः सभी अमर हो मुनि स्वर्ग पाते।
सद्ध्यान से सुर बने यदि स्वर्ग जाते, आगे नितान्त शिव शाश्वत सौख्य पाते ॥२३॥

अग्न्यादि का यदि सुयोग्य सुयोग पाता, पाषाण हेम-मय, हेम बने सुहाता।
कालादि योग्य जब साधन-प्राप्त होता, आत्मा अवश्य परमातम आप्त होता ॥२४॥

अच्छा, व्रतादिक-तया, सुर-सौख्य पाना, स्वच्छन्दता अति बुरी, फिर श्वभ्र जाना।
अत्यन्त-अन्तर व्रताव्रत में रहा है, छाया-सुधूप-द्वय में जितना रहा है ॥२५॥

चाहो भयंकर भवार्णव तैर जाना! चाहो यहाँ अब नहीं भव दुःख नाना।
ध्याओ उसे शुचि निजातम है सुहाता, जो शीघ्र कर्म-मय ईंधन को जलाता ॥२६॥

साधू कषाय-घट को झट फोड़ते हैं, संमोहराग मद गारव छोड़ते हैं।
वे त्याग लोक व्यवहार सदा सुहाते, हैं ध्येयभूत निज ध्यान अतः लगाते ॥२७॥

अज्ञान से विमुख हो दिन-रात जागें, मिथ्यात्व पाप सब पुण्य विभाव त्यागें।
सानन्द मौनव्रत गुप्ति तथा निभावें, योगी सुयोग-रत आतम को दिपावें ॥२८॥

जो भी मुझे दिख रहा जग रूप न्यारा, सो जानता न कुछ भी जड़-कूप सारा।
मैं तो अमूर्त नित ज्ञायक शीलवाला, कैसे करूँ कि, किससे कुछ बोल चाला ॥२९॥

वह कर्म के सतत आस्त्रव रोक पाते, है पूर्व संचित तभी विधि को खपाते।
योगी सुयोगरत हो, जिन यों बताते, योगी बनो तुम धरो दृढ़ योग तातैं ॥३०॥

होता सुजागृत वही निज कार्य में है, सोता हुआ सतत लौकिक कार्य में है।
जो जागता सतत लौकिक कार्य में है, सोता वही सतत आत्मिक कार्य में है ॥३१॥

योगी सदैव इस भाँति विचारता है, सारा असार व्यवहार विसारता है।
जो भी जिनोक्त परमात्मपना उसी में, होता विलीन रत, भूल न औ किसी में ॥३२॥

ये पंच पाप तज पंच-महाव्रतों को, पालो सदा समिति पंच त्रिगुप्तियों को।
ज्ञानादि रत्नत्रय में मन को लगाओ, स्वाध्याय ध्यानमय जीवन ही बिताओ ॥३३॥

आराधना वह रही निज के गुणों की, आराधना कर रहा दृग-आदिकों की।
माना गया विमल केवल ज्ञान दाता, आराधना-मय-विधान मुझे सुहाता ॥३४॥

है शुद्ध, सिद्ध निज आतम विश्वदर्शी, सर्वज्ञ है, पर नहीं पर द्रव्य स्पर्शी।
जानो उसे सदन केवल ज्ञान का है, ऐसा कहें जिन, निधान प्रमाण का है ॥३५॥

योगी जिनेश-मत के अनुसार भाता, ज्ञानादि रत्न-त्रय सो उरधार पाता।
शुद्धात्म-ध्यान सर में डुबकी लगाता, निर्भ्रान्त शीघ्र मन के मल को मिटाता ॥३६॥

जो जानता स्वपर को वह ज्ञान भाता, जो देखता सहज दर्शन नाम पाता।
जो पाप पुण्य पर को जड़ से मिटाता, सिद्धान्त में विमल चारित वो कहाता ॥३७॥

सम्यक्त्व, तत्त्व भर में रुचि नाम पाता, तत्त्वार्थ का ग्रहण ज्ञान सही कहाता।
चारित्र शुद्ध, पर का-परिहार साता, ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥३८॥

वो शुद्ध, शुद्ध यदि दर्शन धारता है, निर्वाण प्राप्त करता मन मारता है।
अन्धा बना रहित दर्शन से विचारा, पाता अभीष्ट फल को नहिं मोक्ष प्यारा ॥३९॥

धर्मोपदेश जिनका सुख का पिटारा, है जन्म मृत्यु हरता यह विश्व सारा।
स्वीकारता हृदय से इसको सुहाता, सम्यक्त्व सो श्रमण श्रावक धार पाता ॥४०॥

क्या भेद चेतन अचेतन में रहा है, योगी उसे समझ जीवन में रहा है।
सद्-ज्ञान है नियम से उसका, बताया, सत्यार्थ को निखिल-दर्शक ने दिखाया ॥४१॥

योगी सुरत्नत्रय लक्षण जान लेता, सो पुण्य पाप झट छोड़ नितान्त देता।
है निर्विकल्पमय चारित धार लेता, ऐसा कहें जिन सुनो विधि मार जेता ॥४२॥

हो संयमी स्वबल को न कभी छुपाते, रत्नत्रयी बन तपे तप साधु तातें।
शुद्धात्म-ध्यान धरते रुचि से सुचारा, पाते पुनः परम है पद पूर्ण प्यारा ॥४३॥

मायादि शल्य त्रय त्याग त्रिरत्न पाले, धारें त्रियोग त्रय योग सदा सँभाले।
औ राग-दोष द्वय को जड़ से मिटाते, योगी तभी नियम से परमात्म ध्याते ॥४४॥

माया व क्रोध भय को मन में न लाना, हो लोभ से रहित-जीवन ही चलाना।
है शोभता विमल भाव-स्वभाव द्वारा, पाता अनन्त गुण उत्तम विश्व सारा ॥४५॥

शुद्धात्म-भाव-च्युत हैं विषयी कषायी, हैं रौद्र-भाव धरते भव दुःखदाई।
पाते न सिद्धि सुख हैं विधि से कसे हैं, वे क्योंकि हा! न जिन-लिंगन से लसे हैं ॥४६॥

निर्ग्रन्थ रूप जिन-लिंग वही सुहाया, उत्कृष्ट मोक्ष-सुख है, जिन-देव गाया।
सो स्वप्न में तक जिन्हें रुचता नहीं है, रोते फिरें अबुध वे भव में यहीं हैं ॥४७॥

सद्-ध्यान में उतरता परमातमा है, होता प्रलोभ मलदायक खातमा है।
योगी नवीन विधि आस्रव रोधता है, प्यारी जिनेन्द्र प्रभु की यह बोधता है ॥४८॥

सम्यक्त्व संग दृढ़ चारित पालता है, वैराग्य से नियम से मन मारता है।
योगी निजात्म भर का शुचि ध्यान ध्याता, पाता अतः परम है पद को सुहाता ॥४९॥

चारित्र ही धरम निश्चय से सुहाता, सो धर्म भी सहज साम्य स्वभाव धाता।
है राग रोष रति से वह अन्य होता, जीवात्म का हि परिणाम अनन्य होता ॥५०॥

वो स्वच्छ ही स्फटिक आप स्वभाव से हो, भाई! वही विकृत अन्य प्रभाव से हो।
जीवात्म भी विमल आप स्वभाव से हो, रागादि से मलिन-मैल-विभाव से हो ॥५१॥

साधर्मि-साधु जन, में अनुराग ढोता, सद्भक्त देव गुरु का, अनगार होता,
सम्यक्त्व-ध्यान रत हो वह मात्र योगी, माना गया समय में सुन शास्त्र भोगी ॥५२॥

मोही अनेक भव में जितना खपाता, उग्राति उग्रतप से विधि को मिटाता।
ज्ञानी त्रिगुप्ति बल से उतना खपाता, अन्तर्मुहूर्त भर में, यह 'साधु-गाथा' ॥५३॥

जो पुण्य के उदय में निज को भुलाता, होता विमुग्ध पर में शुभ वस्तु पाता।
है अज्ञ ही इसलिए वह साधु होता, ज्ञानी विराग उससे विपरीत होता ॥५४॥

भोगानुराग अघ आस्रव हेतु जैसा, मोक्षानुराग शुभ आस्रव हेतु वैसा।
है मोक्ष चाह रखता बस अज्ञ होता, शुद्धात्म से इसलिए अनभिज्ञ, होता ॥५५॥

पा कर्म जन्य कुछ इन्द्रिय ज्ञान को है, ना मानता सहज केवलज्ञान को है।
अज्ञान-धाम फलतः वह है कहाता, धिक्कार दोष जिन-शासन में लगाता ॥५६॥

जो मूढ़ ज्ञान बिन-चारित ढो रहा है, सम्यक्त्व से रहित तापस हो रहा है।
संवेग आदि गुण में रुचि भी न लाता, वो मात्र नग्नपन क्या सुख को दिलाता? ॥५७॥

माने सचेतन अचेतन को वही है, है अज्ञ ही चतुर विज्ञ अहो नहीं है।
भाई! सचेतन सचेतन को बताता, ज्ञानी वही नियम से जग में कहाता ॥५८॥

विज्ञान के बिन नहीं तप कार्यकारी, विज्ञान भी तप बिना नहिं कार्यकारी।
भाई! अतः तप तपो तुम ज्ञान द्वारा, निर्वाण प्राप्त करलो सुख खान प्यारा ॥५९॥

निर्वाण का नियम से जब पात्र होते, निर्भ्रान्त तीर्थकर वे चहुँ ज्ञान ढोते।
भाई! तथापि तपते तप भी रुची से, यों जान, ज्ञान समवेत तपो इसी से ॥६०॥

लो मात्र नग्न मुनि है तज वस्त्र सारा, है भाव-लिंग बिन बाहर लिंग धारा।
निर्भ्रान्त भ्रष्ट निज चारित से रहा है, धिक्कार! मोक्ष पथ नाशक सो रहा है ॥६१॥

जो तत्त्व-बोध सुखपूर्वक हाथ आता, आते हि दुःख झट से वह भाग जाता।
वे कायक्लेश-समवेत अतः सुयोगी, तत्त्वानुचिन्तन करें, तज भोग भोगी ॥६२॥

निद्रा तथा अशन आसन जीत लेना, भाई! जिनेन्द्र-मत में रुचि नित्य लेना।
पाके प्रसाद गुरु का उपदेश द्वारा, शुद्धात्म ध्यान करना मन से सुचारा ॥६३॥

चारित्रवान निज आतम ही रहा है, सम्यक्त्व बोध गुण-मंडित भी रहा है।
ध्यातव्य सो सतत है मन से सुचारा, पाके प्रसाद गुरु का उपदेश द्वारा ॥६४॥

श्रद्धा समेत निज आतम जान पाना, सद्भावना स्वयम की अविराम भाना।
पंचाक्ष के विषय से मन को छुड़ाना, दुर्लभ्य पूर्ण क्रमशः सब ये सुजाना! ॥६५॥

जो वासना विषय की जबलौं रखेगा, शुद्धात्म को न नर वो तब लौं लखेगा।
योगी जभी विषय से अति दूर होता, शुद्धात्म को निरखता सुन मूढ़! श्रोता ॥६६॥

कोई सुजान कर आतम को तथापि, सद्भाव से स्खलित हो मतिमंद पापी।
हैं झूलते विषय में अति फूलते हैं, वे मूढ़ चार गति में चिर घूमते हैं ॥६७॥

शुद्धात्म जान जिन भाव समेत सारे, योगी विरक्त विषयादिक को विसारें।
मूलोत्तरादि गुण ले तपते सुहाते, वे छोड़ चार गतियाँ निजधाम जाते ॥६८॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा, मोहाभिभूत बन के पर को लखेगा।
होगा स्व से स्खलित हो विपरीत जाता, मूढात्म हा ! न फलतः भव जीत पाता ॥६९॥

सम्यक्त्व शुद्ध धर शोभित हो रहा है, उत्साह से सुदृढ़ चारित हो रहा है।
शुद्धात्म ध्यानरत निर्विषयी विरागी, निर्वाण प्राप्त करते तज राग-रागी ॥७०॥

जो मोह राग पर में करना कराना, संसार कारण रहा गुरु का बताना।
योगी अतः नित करे निज भावनाएँ, वाक्काय से मनस से तज वासनाएँ ॥७१॥

निन्दा मिले स्तुति मिले न विभाव होना, बन्धू रहो रिपु रहो समभाव होना।
जो साम्य ही विपद में सुख सम्पदा में, माना गया चरित है धरता सदा मैं ॥७२॥

चारित्र मोह विधि से सहसा घिरे हैं, स्वच्छन्द हैं समिति संयम से निरे हैं।
वैराग्य हीन, जड़ यों बकते यहाँ हैं, सद्ध्यान योग्य यह काल नहीं अहा है! ॥७३॥

सम्यक्त्व ज्ञान बिन जीवन जी रहे हैं, भोगोपभोग रस सादर पी रहे हैं।
जो ध्यान योग्य यह काल नहीं बताते, वे ही अभव्य, नहिं, मोक्ष कदापि जाते ॥७४॥

पाले न पंच व्रत पालन की न इच्छा, धारे न गुप्ति समिती धरते न दीक्षा।
चारित्र बोध बिन यों जड़ ही पुकारे, है ध्यान योग्य यह काल नहीं विचारे ॥७५॥

लो धर्म ध्यानरत, भारत देश में भी, साधू मिले दुखद पंचम काल में भी।
ऐसे निजात्म रत साधु जिन्हें न माने, वे अज्ञ मूढ़ कहलाय, सुनो सयाने ॥७६॥

ज्ञानादि रत्नत्रय से शुचि हो सुहाते, लो आज भी मुनि निजातम ध्यान ध्याते।
लौकांतिका सुरप या फलरूप होते, आ स्वर्ग से मुनि बने शिव को सँजोते ॥७७॥

हो पाप पंक मल से मन को बिगारा, हा! साधु ने यदपि है जिन लिंग धारा।
पै पाप मात्र करता दिन-रैन पापी, पाता न मोक्ष पथ को तजता तथापि ॥७८॥

जो पंचधा वसन को रखते सदा हैं, हैं मूढ़ याचक, रखें धन सम्पदा हैं।
हा! पाप कार्य भर में रस ले रहे हैं, सन्मार्ग को बस जलांजलि दे रहे हैं ॥७९॥

सारे परीषह सहें अनिवार्य भाते, हैं हेय मान तजते अघ कार्य तातैं।
निर्ग्रन्थ हैं विगत मोह कषाय जेता, वे मोक्षमार्ग भजते दृग के समेता ॥८०॥

हा! तीन लोक भर में कुछ है न मेरा, होगा, न था, न अब है, बस मैं अकेला।
योगी निरन्तर अहो इस भाँति गाता, जाता स्वधाम ध्रुव शाश्वत शान्ति साता ॥८१॥

जो भक्त देव गुरु के मन से बने हैं, निर्वेग रूप रस में सहसा सने हैं।
शुद्धात्म ध्यानरत निश्चल भी रहे हैं, वे ही विमोक्ष पथ से चल भी रहे हैं ॥८२॥

आत्मार्थ, आतम निजातम में समाता, सच्चा सुनिश्चित चरित्र वही कहाता।
हे भव्य! पावन पवित्र चरित्र पालो, पालो अपूर्व पद को, निज को दिपालो ॥ ८३॥

आकार से पुरुष आतम शैल योगी, सम्यक्त्व ज्ञानमय है विमलोपयोगी।
योगी सदैव करता निज ध्यान प्यारा, निर्द्वन्द्व आप बनता हर पाप सारा ॥ ८४॥

धर्मोपदेश इस भाँति हमें सुनाया, श्रामण्य क्या श्रमण का जिन ने बताया।
सागार-धर्म सुनलो भव को मिटाता, उत्कृष्ट कारण रहा, शिव का सुहाता ॥८५॥

सम्यक्त्व का प्रथम श्रावक! लो सहारा, जो है अकम्प, गिरि सा शुचि शांत धारा।
सम्यक्त्व पे हि तुम ध्यान अहो जमा लो, हो दुःख का क्षय यही कि प्रयोजना हो ॥८६॥

सम्यक्त्व ध्यान करता यदि है सुचारा, भाई सुनो वह रहा समदृष्टि वाला।
सम्यक्त्व से सहित जो लसता सुहाता, दुष्टाष्ट कर्म दल को वह ही मिटाता ॥८७॥

जो भी हुए विगत में शिव सिद्ध प्यारे, होंगे भविष्य भर में कटिबद्ध सारे।
ज्यादा कहाँ तक कहें महिमा निराली, सम्यक्त्व ही वह रही, सुखदा शिवाली ॥८८॥

है धन्य शूर नर श्रेष्ठ कृतार्थ सारे, वे ही प्रकाण्ड बुध पंडित पूज्य प्यारे।
लो स्वप्न में तक कलंकित न किया है, सम्यक्त्व को विमल धारण ही किया है ॥८९॥

निर्ग्रन्थ मोक्षपथ हो गुरु ग्रन्थ त्यागी, वे देव अष्टदश दोष बिना विरागी।
हिंसा बिना धरम हो सबको सुहाता, श्रद्धान होय इनमें 'दृग' नाम पाता ॥९०॥

जो सर्व संग बिन संयत हो रहा हो, है जातरूप शिशु सा मुनि हो रहा हो।
सग्रन्थ लिंग मुनि का नहिं ध्यान देना, सम्यक्त्व प्राप्त करना पहचान लेना ॥९१॥

जो देव शास्त्र गुरु कुत्सित शीलवाले, हिंसादि में निरत निर्दय शीलवाले,
मिथ्यात्व मंडित इन्हें नमते विचारे, लज्जाभिभूत भय गारव भाव धारे ॥९२॥

भोगार्थ-राज भय से बन साधु मोही, है पूजता यदि कुदेव कुसाधु को ही।
मिथ्यात्व धारक सुनिश्चित ही रहा है, सम्यक्त्व का न वह धारक ही रहा है ॥९३॥

निर्दिष्ट धर्म जिनसे सुख पूर्ण प्याला, सो धर्म श्रावक करे समदृष्टि-वाला।
मिथ्यात्व धारक रहा वह भूल जाता, सद्धर्म से सतत जो प्रतिकूल जाता ॥९४॥

मिथ्यात्व धारक यहाँ सुख को न पाता, भाई! अनेक कटु दुस्सह दुःख पाता।
है बार-बार मृति-जन्म-जरा गहाता, संसार में सुचिर जीवन है बिताता ॥९५॥

मिथ्यात्व कौन समदर्शन कौन जानो, क्या दोष क्या गुण रहें इनके पिछानो।
धारो उसे अब तुम्हें रुचता सुहाता, क्या लाभ है अधिक वाचन है न साता ॥९६॥

लो बाह्य संग तज नग्न भले बने हैं, मिथ्यात्व रूप मल में फिर भी सने हैं।
क्या लाभ हो तप तपे स्थित मौन से क्या? जाने न साम्य निज का निज गौण से क्या? ॥९७॥

है दोष मूल गुण में मुनि हो लगाता, पै बाह्य उत्तर गुणादिक को निभाता।
पाता न सिद्धि सुख को बिन संग का है, होता विराधक निरा जिन लिंग का है ॥९८॥

मासोपवास करले कर क्या करेगा, आतापनादि तप ले तप क्या करेगा।
तू बाह्य कर्म कर केवल क्या करेगा, जाता विलोम निज से सुख क्या मिलेगा? ॥

पालो अनेक विधि चारित को बढ़ाओ, भाई! भले सकल शास्त्र पढ़ो, पढ़ाओ।
वे सर्व बाल श्रुत चारित ही कहाते, शुद्धात्म से यदि अरे विपरीत जाते ॥१००॥

साधू सदा विमुख अन्य पदार्थ से है, वैराग्य लीन निज लीन यथार्थ से है।
आत्मीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होते, भोगादि से बहुत दूर विरक्त होते ॥१०१॥

मूलोत्तरादि गुण से तन को सजाया, स्वाध्याय ध्यान भर में मन को लगाया।
आदेय हेय जिनको सब ज्ञान होते, साधू गहे स्वपद वे जिन आप्त होते ॥१०२॥

आत्मा निजी नमन योग्य नमस्कृतों से, आत्मा निजी परम स्तुत्य सुसंस्तुतों से।
ध्यातव्य भी बस वही सब ध्यानियों से, देहस्थ को निरख लो तुम ज्ञानियों से ॥१०३॥

अर्हन्त सिद्ध शिव ये परमेष्ठि प्यारे, आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सारे।
ये आत्म से निरख लो दिखते सुचारा, आत्मा अतः शरण हो मम हो सहारा ॥१०४॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप चारित सत्य प्यारे, चारों निजात्म गुण हैं गुरु यों पुकारे।
देखूँ इन्हें स्वयम में दिखते सुचारा, आत्मा अतः शरण हो मम हो सहारा ॥१०५॥

यों मोक्ष के प्रथम पाहुड को बताया, धर्मोपदेश, जिन ने हमको सुनाया।
जो भी पढ़े सुन इसे अविराम भावें, श्रद्धा समेत स्थिर शाश्वत धाम पावें ॥१०६॥

(दोहा)

रत्नत्रय से द्विविध है, निश्चय औ व्यवहार।
प्रथम साध्य साधक द्वितिय रत्नत्रय उर धार ॥

नग्न दिगम्बर बिन बने, रत्नत्रय नहिं होय।
रत्नत्रय के बिन कभी, निज सुख मोक्ष न होय ॥

लिंगपाहुड

मैं वन्दना कर उन्हें परमेष्ठियों को, सिद्धों तथा जिनवरों जिन आर्हतों को।
सत् प्राभृती श्रमण लिंग सुखी बनाता, संक्षेप से तुम सुनो! तुमको सुनाता ॥१॥

सद्धर्म से सहित हो वह लिंग सारा, पावे न धर्म-धन, केवल-लिंग द्वारा।
तू जान भावमय धर्म अरे ! रुची से, है मात्र लिंग वह व्यर्थ रहा इसी से ॥२॥

निर्ग्रन्थ लिंग जिसने मुनि हो सुधारा, पै पाप पंक मल से मन को बिगारा।
वो "भाव लिंग" जिसकी करता हँसी है, सो अन्य साधु-मुख में लगती मषी है ॥३॥

निर्ग्रन्थ-रूप धर वाद्य मनो बजाता, है नित्य नृत्य करता रति गीत गाता।
है पाप पंक मल से मन पे लिपाता, होता नहीं श्रमण वो पशु ही कहाता ॥४॥

जो संग का ग्रहण रक्षण में लगे हैं, हैं आर्त ध्यान करते मुनि हो डिगे हैं।
हैं पाप पंक मल से मन को लिपाते, होते नहीं श्रमण वे पशु ही कहाते ॥५॥

खेलो जुवा कलहवाद वृथा करे हैं, मानी प्रमत्त बन के मद से भरे हैं।
निर्ग्रन्थ बाह्य मुनि यद्यपि हैं तथापि, पाताल में उतरते कर पाप पापी ॥६॥

निर्ग्रन्थ हो सहित मैथुन कार्य से हैं, पापी बने उदय पूर्ण अनार्य से हैं।
हैं पापरूप मल से मन औ लिपाते, संसार के विपिन में भ्रम दुःख पाते ॥७॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत ये शिव हेतु प्यारे, मोही बने मुनि परन्तु इन्हें न धारें।
हैं आर्त ध्यान भर में मन को लगाते, संसार को अमित और अतः बनाते ॥८॥

मोही, विवाह अविवाहित का कराते, वाणिज्य जीव वध औ कृषि भी कराते।
निर्ग्रन्थ नग्न मुनि यद्यपि हैं तथापि, पाताल में उतरते कर पाप पापी ॥९॥

चोरों नृपों यदि परस्पर में लड़ाता, है पाप कार्य करता पर से कराता।
तासादि खेल मुनि होकर खेलता है, सो आत्म को नरक में हि ढकेलता है ॥१०॥

सम्यक्त्व ज्ञान चरणों व्रत पालनों में, आवश्यकों नियम संयम सत् तपों में।
निर्ग्रन्थ हो यदि मनो दुख मानता है, जाता अतः नरक सो अनजानता है ॥११॥

हो लोलुपी सरस भोजन का बना है, कामादि पाप भर में फलतः सना है।
होता नहीं श्रमण वो व्यभिचारकर्ता, मायाभिभूत पशु है मद-मार-धर्त्ता ॥१२॥

लो भोजनार्थ सहसा बस भाग जाते, साधर्मि से कलह भी कर भात खाते।
विद्वेषपूर्ण रखते मुनि सन्त से हैं, वे दूर ही श्रमण हो शिवपंथ से हैं ॥१३॥

निन्दा परोक्ष पर की करता बनाता, दोषी, प्रदत्त बिन दान स्वयं गहाता।
निर्ग्रन्थ लिंग जिसने बस बाह्य धारा, सो चोर सा श्रमण है नहिं साम्य धारा ॥१४॥

हैं खोदते अवनि को चलते दिखाते, हैं दौड़ते उछलते गिर भाग जाते।
ईर्यामयी समिति धारक, ना कहाते, होते नहीं श्रमण वे पशु ही कहाते ॥१५॥

हिंसादि जन्य विधि बंध, नहीं गिनाता, खोदे धरा तरु लता दल को गिराता।
है छेदता श्रमण हो तरु के गणों को, हा! साम्य हीन, धरता पशु के गुणों को ॥१६॥

दोषावरोप करता मुनि सज्जनों में, आसक्त रात-दिन है महिला जनों में।
सम्यक्त्व ज्ञान गुण से अति दूर होता, होता नहीं श्रमण वो पशु मूढ़ होता ॥१७॥

है धारते परम स्नेह असंयतों में, किंवा विमुग्ध निज शिष्य सुसंयतों में।
आचार से विनय से च्युत हो रहे हैं, होते नहीं श्रमण वे पशु तो रहे हैं ॥१८॥

पूर्वोक्त दुर्गुण लिये मुनि संयतों में, सत् संघ में रह रहा गुणधारियों में।
होता विशारद जिनागम में तथापि, होता नहीं श्रमण भावविहीन पापी ॥१९॥

विश्वास नारिजन में रखता, दिलाता, सम्यक्त्व ज्ञान व्रत भी उनको सिखाता।
पार्श्वस्थ से अधिक निंद्य रहा तथापि, होता नहीं श्रमण वंद्य रहा कुपापी ॥२०॥

आहार लेत व्यभिचारिणि के यहाँ हैं, शंसा करें स्तुति करें उसकी अहा है।
वे बाल अज्ञ निज भाव-विहीन पापी, होते नहीं श्रमण, लिंग धरें तथापि ॥२१॥

यों लिंग प्राभृत रहा मुनिलिंग प्यारा, सर्वज्ञ ने यह कहा हमको सुचारा।
जो भी इसे यतन से यदि पाल पाता, औचित्य ! स्वीय परमोत्तम धाम जाता ॥२२॥

(दोहा)

नग्न मात्र बाहर बना, भीतर भरी कषाय।
शिव सुख पाता वह नहीं, बसता नहीं अकाय ॥१॥

बाहर भीतर एक-सा, यथाजात जिन लिंग।
दर्पण सम शुचि यदि बना, वह नर बने अलिंग ॥२॥

शीलपाहुड

उत्फुल्ल लाल पद पद्म भले निराले, हैं वीर के विमल नेत्र विशाल प्यारे।
मैं वन्दना कर उन्हें त्रय योग द्वारा, हूँ शील प्राभृत सुनो! कहता सुचारा ॥१॥

ये ज्ञान शील नहिं आपस में विरोधी, ऐसा कहें जिन सुधारक पूर्ण-बोधि।
जो शील से रहित जीवन हैं बिताते, जो ज्ञान को विषय सेवन से मिटाते ॥२॥

श्रद्धा समेत निज पावन ज्ञान पाना, सद्भावना स्वयम की अविराम भाना।
पंचाक्ष के विषय से मन को छुड़ाना, दुर्लभ्यपूर्ण क्रमशः सब ये सुजाना ॥३॥

हा! वासना विषय की जब लौं रखेगा, विज्ञान को न नर वो तब लौं लखेगा।
पंचाक्ष के विषय में यदि लीन होता, ना पूर्व बद्ध विधि को मति हीन खोता ॥४॥

जो मूढ़, ज्ञान बिन चारित ढो रहा है, निर्ग्रन्थ साधु, दृग के बिन हो रहा है।
आतापनादि तप संयम ना निभाता, सो सर्व ही तप निरर्थक ही कहाता ॥५॥

सम्यक्त्व शुद्ध धर शोभित हो रहा है, विज्ञान संग दृढ़ चारित ढो रहा है।
निर्ग्रन्थ संयम समेत, तपे, सुहाता, हो अल्प भी तप महाफल है दिलाता ॥६॥

कोई सुजान कर ज्ञानन को तथापि, संभोग लीन नर है मतिमन्द पापी।
हैं झूलते विषय में अति फूलते हैं, वे मूढ़ चार गति में चिर घूमते हैं ॥७॥

विज्ञान जान निज भाव समेत सारे, योगी विरक्त विषयादिक को विसारे।
मूलोत्तरादि गुण ले तपते सुहाते, शंका न चार गति तोड़ स्वधाम जाते ॥८॥

जैसा सुहाग-लवणोदक लेप द्वारा, होता विशुद्धतम भासुर स्वर्ण प्यारा।
वैसा हि ज्ञान जल से यह आतमा है, होता विशुद्धतम है परमातमा है ॥९॥

ज्ञानी भला बन गया मद धारता है, वो मूढ़ कापुरुष हा! न विचारता है।
देखो अत: विषय में रम मान होता, दोषी वही, न उसका वह ज्ञान होता ॥१०॥

सम्यक्त्व दर्शन लिये तपते तपस्वी, विज्ञान आचरण में रमते यशस्वी।
चारित्र शुद्ध बनता उनका स्वत: है, निर्वाण लाभ मिलता उनको अत: है ॥११॥

पा शुद्ध दर्शन सुरक्षित शील वाले, चारित्र को सुदृढ़ से, नहिं ढील पाले।
भोगादि से बहुत दूर विरक्त होते, निर्वाण पा नियम से भव मुक्त होते ॥१२॥

रागी गृही तदपि वो पथ पा सकेगा, सम्यक्त्व-प्राप्त जिसको शिव जा सकेगा।
उन्मार्ग का पथिक ना सुख इष्ट पाता, निस्सार ज्ञान उसका अति कष्ट पाता ॥१३॥

सद्ज्ञान शीलव्रत को यदि न निभाता, दुस्शास्त्र का कुमत का यदि गीत गाता।
होगा अनेक विध आगम ज्ञानवाला, आराधना-रहित दूषित ज्ञानशाला ॥१४॥

शोभे युवा सुभग भासुर-देह-धारी, सत्-शील से रहित हैं यदि हैं विकारी।
है गर्व रूप-धन का करता तथापि, निस्सार व्यर्थ उसका यह जन्म पापी ॥१५॥

वैशेषिकादि व्यवहार सुमानता है, औ न्याय के विशद शास्त्र सुजानता है।
होता विशारद जिनागम में तथापि, सत्शील उत्तम रहा सबमें अपापी ! ॥१६॥

जो भव्य शील गुण-मण्डितनाथ होते, हैं पूजते सुर उन्हें नत माथ होते।
वे प्रेम पात्र तक भी श्रुत पारगामी, होते नहीं जगत में गत-शील, कामी ॥१७॥

हो वृद्ध हो स्वतन से कुबड़े भले हों, हो जाँत पाँत कुलहीन निरे गले हो।
सत्शील-गीत जिनका मन गा रहा है, मानुष्य जीवित अभी उनका रहा है ॥१८॥

अस्तेय, सत्य, दम, जीवदया, सुप्यारी, औ ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह दुःखहारी।
सम्यक्त्व, ज्ञान, तप, भव्य सुनो सयाने, हैं शील के सकल ये परिवार माने ॥१९॥

है शील ही विमल सत् पथ ही सही है, है ज्ञान शुद्ध शुचि दर्शन भी वही है।
पंचाक्ष के विषय का रिपु शील ही है, सोपान, मोक्ष घर का,सुख झील भी है ॥२०॥

सर्पादिकों विषधरों त्रस स्थावरों को- भी मारते विषय, ये विष ना सबों को।
हैं वस्तुतः विषय दारुण दुःख हाला, है छोड़ता विबुध ही इसको निहाला ॥२१॥

जो एक बार विष सेवन हा! करेगा, तो एक बार वह जीवन में मरेगा।
धिक्कार है विषय सेवन जो करेगा, सो बार-बार भव कानन में मरेगा ॥२२॥

पंचाक्ष के विषय में मन जो लगाना, हो नारकी नरक में अति दुःख पाना।
तिर्यञ्च हो मनुज हो दुख ही उठाना, हो हीन देव दिवि में अपमान पाना ॥२३॥

जैसा कि शुष्क तृण को यदि हो उड़ाना, हे भव्य! द्रव्य तब क्या पड़ता लगाना ?
त्यों विज्ञ, शील तप से मन पूर्ण जोड़े, हाला लखे विषय को खल भाँति छोड़े ॥२४॥

लो अर्ध गोल समगोल सुडोल प्यारे, ज्यों अंग देह भर में लसते निराले।
हो प्राप्त ईदृश सुदेह, तथापि भाई! शोभे तभी कि जब शील धरे सुहाई ॥२५॥

दुःशास्त्र को पढ़ कुधी कुमतानुगामी, पंचाक्ष के विषय में रत मूढ़ कामी।
संसार में भटकते पर को भ्रमाते, जैसे कि नित्य भ्रमते घटि यंत्र भाते ॥२६॥

रागी हुए विषय के विषयी बने थे, बाँधे कुकर्म दल को पर में सने थे।
काटे कृतार्थ मुनि ये उनको गुणों से, शीलों सुसंयम तपों मुनि के व्रतों से ॥२७॥

पूरा भरा रतन से जलधी तथापि, ज्यों शोभता सलिल से सुन मूढ़ पापी।
दानादि रत्न विनयादि तपादि ढोता, पै शील से विलसता मुनि मुक्ति जोता ॥२८॥

गो श्वान गर्दभ तथा पशु आदिकों को, होता विमोक्ष नहिं है महिला जनों को।
देखो जरा तुम सुनो! अयि भव्य श्रोता, धारें करें पुरुष ही पुरुषार्थ चौथा ॥२९॥

ज्ञानी बना विषय लोलुपपूर्ण पापी, मानो! विमोक्ष मिलता उसको तथापि।
क्यों ? वो भला नरक सात्यकि पुत्र जाता, तू ही बता जबकि था दस पूर्व ज्ञाता ॥३०॥

आत्मा सुशील बिन, केवलज्ञान द्वारा, होता विशुद्ध, यदि यों बुध ने पुकारा।
तो क्यों नहीं विमल शुद्ध हुआ प्रमाता, वो रुद्र भी यदपि था दश पूर्व ज्ञाता ॥३१॥

जो नारकीय दुख वेदन झेलते हैं, आसक्त हो विषय में नहिं झूलते हैं।
आ! श्वभ्र से पद गहें अरहन्त का है, है वर्धमान मत यों मत सन्त का है ॥३२॥

हो शील, मोक्ष पद की मिलती सुधा है, भाई, अतीन्द्रिय अनश्वर सम्पदा है।
प्रत्यक्ष ज्ञान दृग पा जिन यों बताया, सर्वज्ञ हो विविध बोध हमें सुनाया ॥३३॥

सम्यक्त्व वीर्य तप चारित ज्ञान प्यारे, आचार पंच निज आतम के पुकारे।
ये पूर्व बद्ध विधि को क्षण में जलाते, ज्यों वायु औ अनल कानन को जलाते ॥३४॥

हो दूर भी विषय से मुनि दक्ष सारे, ध्यानाग्नि से विधि जला मन-अक्ष-मारे।
सत् शील से विनय से तप से लसे हैं, वे सिद्ध सिद्धगति में बस जा बसे हैं ॥३५॥

लावण्य पूर्ण तन है मन शीलवाला, है शोभता श्रमण जीवन वृक्ष प्यारा।
सो शीलमंडित, शुभाश्रय हो इसी का, फैले वितान गुण का जग में उसी का ॥३६॥

सद्ध्यान दर्शन तथा शुचि ज्ञान प्यारा, औ वीर्य के बिन नहीं यह योग सारा।
सम्यक्त्व दर्शन बिना नहिं बोध होता, है जैनशासन यही सुन भव्य श्रोता ॥३७॥

साराभिभूत, जिनके मत को गहे हैं, भोगादि भी तज तपोधन भी हुए हैं।
हैं शील के सलिल से मन को धुलाते, वे मोक्षधाम सुख को अनिवार्य पाते ॥३८॥

मूलोत्तरादि गुण से विधि को घटाया, पा साम्य, दु:ख सुख में मन को धुलाया।
लो चार घाति रज को फलतः उड़ाया, आराधना, बन जिनेन्द्र हमें दिखाया ॥३९॥

निर्ग्रन्थरूप शुचि दर्शन युक्त होना, सम्यक्त्व है जिनप में, शुभ भक्ति होना।
सो शील है विषय के प्रति राग ना हो, वो ज्ञान कौन कब है इनके बिना हो ? ॥४०॥

(दोहा)

मणियों में वर नील ज्यों, मुनिगण गण में शील।
शील बिना ना शिव धरो, शील करो मत ढील ॥१॥

शील बिना ना ज्ञान हो, ज्ञान बिना ना शील।
ज्ञान निहित है शील में, निहित ज्ञान में शील ॥२॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं, मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़े धीमान् ॥१॥

गुरु-स्तुति

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥२॥
कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय-कुन्द खिल जाय।
परम सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥३॥
समय-समय पर समय में, सविनय समता धार।
सकल संग संबंध तज, रम जा, सुख पा सार ॥४॥
भव, भव भववन भ्रमित हो, भ्रमता-भ्रमता काल।
बीता अनन्त वीर्य, बिन, बिनसुख बिन वृषसार ॥५॥
पर पद, निज पद जान, तज पर पद, भज निजकाम।
परम पदारथ फल मिले, पल-पल जप निज नाम ॥६॥
मोक्ष-मार्ग पर तुम चलो, दुख मिट, सुख मिल जाय।
परम सुगंधित ज्ञान की, मृदुल कली खिल जाय ॥७॥
तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश।
रवि शशि से भी अधिक है, तुममें दिव्य प्रकाश ॥८॥
विषय-विषम विष है सुनो! विष सेवन से मौत।
विषय कषाय विसार दो, स्वानुभूति सुख स्त्रोत ॥९॥

स्थान एवं समय-परिचय

नयन मनोरम क्षेत्र है, नैनागिरि अभिराम।
जहाँ विचरते सुर सदा, ऋषि मन ले विश्राम ॥१॥
वर्ण गगन गति गंध का, दीपमालिका योग।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, ध्येय मिटे भव रोग ॥२॥

❑ ❑ ❑

नियमसार

आचार्य कुन्दकुन्द रचित

नियमसार

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

नियमसार

(२५ अगस्त, १९७९)

आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज, आचार्य कुन्दकुन्द के परम भक्त हैं, वास्तव में कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार आदि ग्रन्थों की रचना कर भगवान् महावीर की तात्त्विक गिरा को भव्यजनों के लिए सुबोध बना दिया है। यही कारण है कि इन्होंने भी आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का पद्यानुवाद अधिक किया है। जैन गीता में भी समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि की गाथाएँ अधिक हैं, जिनका हिन्दी पद्यानुवाद सर्वप्रथम इन्होंने किया। इसके पश्चात् 'समयसार कलश', प्रवचनसार, नियमसार आदि का पद्यानुवाद किया।

मोह और प्रमाद के निवारणार्थ यह पद्यमय अनुवाद किया गया है। केवली या श्रुतकेवली आचार्यों ने जिस नियमसार को कहा है, वही यहाँ विद्यमान है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तो प्राणिमात्र के लक्षण हैं, पर मोक्षाधिकारी मानव को स्वैराचार वर्जित है। उसे यदि स्वभाव से प्रतिष्ठित होना है तो नियम-संयमपूर्वक जिजीविषा की चरितार्थता के लिए चर्या बनानी पड़ेगी।

थूबौन नाम का रम्यक्षेत्र मध्यप्रदेश के गुना जिले में स्थित है तथा नियमों की दृष्टि से तपोवन ही है, जहाँ वास करते हुए मुनि का मन मौनी बनकर ध्यान में उतर जाता है, वहाँ भगवान् शान्तिनाथ के दर्शन से परमाह्लाद प्राप्त होता है। इस वर्ष उन्हीं के चरणों में वर्षावास का योग लगा। वर्ष था वीर निर्वाण संवत् २५०५, शनिवार, २५ अगस्त, १९७९ तथा तिथि भाद्रपद शुक्ल तृतीया थी, जब सांसारिक भोगों से मुक्ति का बीजरूप यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर-नर-पशु-गति सब मिटे गति पंचमगति होय ॥१॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय ॥२॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष ॥३॥

चन्दन, चन्दर चान्दनी से जिन धुनि अतिशीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन कर नीत ॥४॥

नियमसार, का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन यह रहा मोह मिटे परमाद ॥५॥

(वसंततिलका- छन्द)

सच्चे अनन्त दृग ज्ञान स्वभाव धाता, वे वीर हैं जिन जिन्हें शिर मैं नवाता।
भाई तुम्हें नियमसार सुनो सुनाता, जो केवली व श्रुतकेवलि ने कहा था॥१॥

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया, सन्मार्ग-मार्ग-फल को जिनने बताया।
सन्मार्ग तो परम-मोक्ष-उपाय प्यारा, निर्वाण ही फल रहा जिसका निराला॥२॥

जो भी रहा नियम से करतव्य सत्ता, सोही रहा नियम दर्शन ज्ञान वृत्ता।
मिथ्यात्व आदि विपरीतन को मिटाने, संयुक्त 'सार' पद है सुन तू सयाने॥३॥

हैं मोक्ष का नियम सत्य उपाय साता, निर्वाण ही फल रहा इसका सुहाता।
प्रत्येक का यह जिनागम-गीत गाता, ज्ञानादि रत्नत्रय रूप हमें दिखाता॥४॥

लो! आप्त-आगम- सुतत्त्वन में जमाना, श्रद्धा, नितान्त समदर्शन लाभ पाना।
हो दोष-रोष-मन से अति दूर सारे, निर्दोष, कोष-गुण के वह आप्त प्यारे॥५॥

ये स्वेद खेद मद मृत्यु विमोह खारे, उद्वेग नींद भय विस्मय जन्म सारे।
औ रोग रोष रति राग जरा क्षुधा रे, चिन्ता तृषादिक सदोष, जिनेश टारे॥६॥

निश्शेष दोष बिन शोभित हो रहे हैं, कैवल्यज्ञान दृग वैभव ढो रहे है।
सिद्धान्त में परम आतम वे कहाते, दोषी कदापि परमात्मपना न पाते॥७॥

पूर्वापरा सकल दोष विहीन प्यारा, जो पूज्य आप्त मुख से निकला निहाला।
सोही जिनागम रहा गुरुदेव गाते, तत्त्वार्थ वे कथित आगम में सुहाते॥८॥

नाना निजीय गुण पर्यय-माल धार, थे जीव पुद्गल-ख धर्म अधर्म काल।
जो शोभिते जगत में स्वयमेव सारे, 'तत्त्वार्थ वे कहत हैं जिनदेव प्यारे॥९॥

है जीव लक्षण रहा उपयोग भाता, है ज्ञान-दर्शनमयी द्विविधा कहाता।
'ज्ञानोपयोग' वह भी द्विविधा निराला, भाई स्वभावमय और विभाव शाला॥१०॥

होता अतीन्द्रिय स्वभावज ज्ञान प्यारा, जो नित्य 'केवल' न ले पर का सहारा।
सत् ज्ञान औ वितथ ज्ञान विभाव बाना, दोनों मिटे मिलत कैवल का ठिकाना॥११॥

सत् ज्ञान भी मति श्रुतावधि तीन, चौथा, सिद्धान्त मान्य मनपर्यय ज्ञान होता।
अज्ञान भी त्रिविध है जिन हैं बताते, जो मत्यज्ञान कुश्रुतावधि ना सुहाते॥१२॥

हे मित्र! दर्शनमयी उपयोग होता, द्वेधा स्वभावपन और विभाव ढोता।
होता अतीन्द्रिय स्वभावज एक प्यारा, कैवल्य दर्शन न लें पर का सहारा ॥१३॥

होता विभावमय दर्शन भी त्रिधा है, चक्षू अचक्षु अवधी सुन तू मुधा है।
पर्याय दो रहित कर्म उपाधि से हैं, वे हैं स्वभावमय, युक्त सुखादि से हैं ॥१४॥

तिर्यञ्च नारक नरामररूप सारी, पर्याय ये बस विभावमयी हमारी।
पर्याय जो रहित कर्म उपाधि से हैं, वे हैं स्वभावमय, युक्त सुखादि से है ॥१५॥

ये कर्म-भोगमय भूमिज भेद से हैं, होते मनुष्य द्विविधा युत खेद से हैं।
हैं सप्त ही नरक की मिलती मही हैं, तो सप्तधा, समझ नारक भी वहीं हैं ॥१६॥

होते चतुर्दश विधा पशु नित्य रोते, भाई चतुर्विध सुरासुर सर्व होते।
विस्तार चूँकि इनका यदि जानना है, तो 'लोक भाग' जिन आगम बांचना है ॥१७॥

भोक्ता निजातम रहा चिरकाल से है, कर्त्ता कुकर्म-जड़ का व्यवहार से है।
भाई अशुद्धनय से भवराह राही, रागादि को करत भोगत आतमा ही ॥१८॥

है द्रव्य दृष्टिवश आतम भिन्न न्यारा, पूर्वोक्त भाव-दल का नहिं ले सहारा।
पर्याय दृष्टिवश तो स्वपरावलम्बी, किंवा नितान्त निरपेक्ष निजावलम्बी ॥१९॥

दो भेद 'स्कंध' 'अणु' पुद्गल के पिछानो, हैं स्कंध भेद छह दो अणु के सु जानो।
है कार्य-रूप अणु कारण-रूप दूजा, पै चर्म चक्षु अणु की करती न पूजा ॥२०॥

है स्थूल-स्थूल फिर स्थूल व स्थूल-सूक्ष्म, औ सूक्ष्म-स्थूल पुनि सुसूक्ष्म सूक्ष्म।
भू नीर आतप हवा विधि-वर्गणायें, ये हैं उदाहरण स्कन्धन के गिनाये ॥२१॥

भू-शैल-काष्ठ तन आदिक जो दिखाते, ये स्थूल-स्थूलमय स्कन्ध सभी कहाते।
घी दूध तेल जल पुद्गल की दशायें, ये हैं उदाहरण स्थूलन के सुनाये ॥२२॥

उद्योत छाँव रवि आतप आदि सारे, ये स्थूल-सूक्ष्ममय स्कंधन के पिटारे।
नासादि के विषय जो बिन रूप प्यारे, है सूक्ष्म- स्थूलमय स्कन्ध गये पुकारे ॥२३॥

जो भी बने, बन सके विधिवर्गणाएँ, वे सूक्ष्म स्कन्ध सब हैं गुरुदेव गाये।
जो शेष स्कन्ध इनसे विपरीत सारे, वे सूक्ष्म-सूक्ष्म इस सार्थक नाम धारे ॥२४॥

भू आदि धातु इनका जब हेतु होता, सो मित्र कारणमयी परमाणु होता।
पै कार्यरूप परमाणु रहा वही है, जो स्कन्ध के क्षरण से उगता सही है ॥२५॥

जो द्रव्य होकर न इन्द्रियगम्य होता, आद्यन्त मध्य खुद ही त्रय रूप होता।
हो खण्ड खण्ड न कभी अविभाज्य भाता, ऐसा कहें जिन यही परमाणु गाथा ॥२६॥

दो स्पर्श एक रस गन्ध सवर्ण ढोता, धारी स्वभाव गुण का परमाणु होता।
स्पर्शादि नैक गुण का जग स्पष्ट होता, धारी विभाव गुण का अणु स्कन्ध होता ॥२७॥

पर्याय एक रखती पर की अपेक्षा, स्वापेक्ष एक रहती पर की उपेक्षा।
स्कंधात्मिका परिणती जु विभावशाली, द्रव्यात्मिका परिणती स्व स्वभाववाली ॥२८॥

है 'द्रव्य' निश्चय तथा परमाणु भाता, पै स्कन्ध द्रव्य व्यवहार तथा कहाता।
सो स्कन्ध नैक अणु से बनता इसी से, है द्रव्य रूप व्यपदेश धरे सदी से ॥२९॥

जीवादि द्रव्य भरके अवकाश दाता, आकाश-द्रव्य वह सार्थक नाम पाता।
औ जीव पुद्गल की स्थिति वा गती में, होते अधर्म पुनि धर्म निमित्त ही में ॥३०॥

होता द्विधा समय आवलिहार द्वारा, है काल, या त्रिविध है व्यवहारवाला।
संख्यात आवलि व सिद्ध प्रमाणवाला, है भूतकाल सुन सांप्रत भाविवाला ॥३१॥

लो जीव से व जड़ से वह काल भावी, होता अनन्त गुण सांप्रत काल भाई।
त्रैलोक्य के प्रति प्रदेशन पे सुहाते, एकैक काल अणु 'निश्चय' वीर गाते ॥३२॥

रे काल का वह अनुग्रह तो रहे हैं, जीवादि द्रव्य परिवर्तित हो रहे हैं।
जो जीव पुद्गल बिना अवशेष सारे, धारे स्वभावमय पर्यय द्रव्य प्यारे ॥३३॥

जीवादि द्रव्य दल जो बिन काल सारा, है अस्तिकाय इस सार्थक नाम वाला।
है काय का सरल अर्थ बहु प्रदेशी, है जैन शासन कहे सुन तू हितैषी ॥३४॥

होता मितामित अनन्त प्रदेश वाला, सो मूर्त पुद्गल इसी व्यपदेश वाला।
आत्मा अधर्म फिर धर्म असंख्य देशी, विश्वास धार इनमें दृढ़ तू हितैषी ॥३५॥

होता उसी तरह लोक असंख्य देशी, हो सर्व में गुरु अलोक अनन्त देशी।
पै काल कायपन को धरता नहीं है, वो एक देश धरता अणु सा सही है ॥३६॥

ये पाँच द्रव्य नभ धर्म अधर्म काल, औ जीव शाश्वत अमूर्तिक है निहाल।
है मूर्त पुद्गल सदा सुन भव्य प्यारे, है जीव चेतन, अचेतन शेष सारे ॥३७॥

कर्मादि के उदय या क्षय से मिले हैं, पर्याय और गुण वे मुझसे निरे हैं।
प्राप्तव्य ध्येय निज आतम मात्र प्यारा, जीवादि बाह्य सब हेय अपात्र न्यारा ॥३८॥

ये हर्षभाव नय निश्चय से नहीं हैं, जीवात्म में नहिं विषाद अहर्ष ही है।
मानापमानमय भाव विभाव से हैं, हैं दूर जीव निज स्थान स्वभाव से हैं ॥३९॥

ना जीव में वह रहा स्थिति बन्ध स्थाना, ना जीव में यह रहा अनुभाग स्थाना।
लो बन्ध ही जबकि निश्चय में नहीं है, तो जीव में उदय स्थान कहाँ? नहीं है ॥४०॥

ना हो क्षयोपशम भाव स्वभाव स्थाना, होते न औपशमिकादि स्वभाव स्थाना।
होते न औदयिक क्षायिक भाव स्थाना, ये जीव के सुन सुनिश्चय से न बाना ॥४१॥

संसार संक्रमण ना कुल योनियाँ हैं, ना रोग शोक गति जाति विजातियाँ हैं।
ना मार्गणा न गुणथानन की दशायें, शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥४२॥

आत्मा मदीय गत दोष अयोग योग, निश्िंचत है निडर है निखिलोपयोग।
निर्मोह एक नित है सब संग त्यागी, है देह से रहित निर्मम वीतरागी ॥४३॥

संतोष कोष गत शेष अदोष ज्ञानी, नि:शल्य शाश्वत दिगम्बर हैं अमानी।
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी, आत्मा मदीय नय निश्चय से अकामी ॥४४॥

संस्थान संहनन ना कुछ ना कलाई, ना वर्ण स्पर्श रस गंध विकार भाई।
ना तीन वेद नहिं भेद अभेद भाता, शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥४५।

आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, संस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥४६॥

वे मुक्त हैं जनन मृत्यु तथा जरा से, सामान्य आठ गुण से लसते सदा से।
जैसे विशुद्ध सब सिद्ध प्रशान्त प्यारे, वैसे विशुद्ध नय से भवधारि सारे ॥४७॥

शुद्धात्म सिद्ध अविनश्वर है विदेही, लोकाग्र पे स्थित अतीन्द्रिय जान देही।
ये सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे, तू देख शुद्ध नय से मद को हटा रे ॥४८॥

पर्याय ये विकृतियाँ व्यवहार से हैं, जो भी यहाँ दिख रहे जग में तुझे हैं।
पै सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे, तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे! ॥४९॥

लो! पूर्व में कथितभाव विभाव सारे, है हेय द्रव्य परकीय स्वभाव टारे।
आत्मीय द्रव्य वह अन्तर तत्त्व प्यारा, आदेय है शुचि निरंतर साधु-शाला ॥५०॥

श्रद्धान हो वितथ आशय हीन प्यारा, सम्यक्त्व है वह जिनागम में पुकारा।
संमोह विभ्रम ससंशय हीन सारा, सज्ज्ञान है सुखसुधारस पूर्ण प्याला ॥५१॥

श्रद्धान जो चलमलादि अगाढ़ता से, हो शून्य, दर्शन धरो अविलम्बता से।
आदेय हेय वह क्या? यह बोध होना, सज्ज्ञान है उर धरो बनलो सलोना ॥५२॥

सम्यक्त्व का वह जिनागम मात्र साता, होता निमित्त, अथवा जिन शास्त्र ज्ञाता।
पै अंतरंग वह हेतु सुनो सदा ही, होता क्षयादिक कुदर्शनमोह का ही ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान भर से शिव पंथ होता, ऐसा नहीं चरित भी अनिवार्य होता।
होता सुनिश्चयमयी व्यवहारशाला, चारित्र भी द्विविध है सुन लो सुचारा ॥५४॥

होते सुनिश्चय नयाश्रित वे अनूप, चारित्र और तप निश्चय सौख्य कूप।
पै व्यावहार नय आश्रित ना स्वरूप, चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥५५॥

जो जीव स्थान कुल मार्गण-योनियों में, पा जीव बोध, करुणा रखता सबों में।
आरम्भत्याग उनकी करता न हिंसा, वो साधु-भाव व्रत आदिम है अहिंसा ॥५६॥

संमोह रोष रति से नहिं बोलता है, भाषा असत्य मन से बस छोड़ता है।
होता द्वितीय व्रत सत्य महा उसी का, साधू वही स्तवन मैं करता उसी का ॥५७॥

लो! ग्राम में नगर में वन में विहार, साधू करें पर न ले पर द्रव्य भार।
वे स्तेय भाव तक भी मन में न लाते, अस्तेय है व्रत यही जिन यों बताते ॥५८॥

स्त्री रूप देखकर भी मन में न लाता, संभोग भाव उनसे मन को हटाता।
है ब्रह्मचर्य व्रत, मैथुन भाव रीता, किंवा रहा कि जिससे मुनिलिंग जीता ॥५९॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग होता, भोगाभिलाष बिन चारित सार जोता॥
है पाँचवाँ व्रत परिग्रह त्याग पाता, पाता स्वकीय सुख तू दुख क्यों उठाता ॥६०॥

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो, जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो।
ले स्वीय कार्य कुछ, पै दिन में चलोगे, ईर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥६१॥

साधू करे न परनिंदन आत्म शंसा, बोले न हास्य-कटु कर्कश पूर्ण भाषा।
स्वामी करे न विकथा मितमिष्ट बोले, भाषामयी समिति में नित ले हिलोरे ॥६२॥

जो दोष मुक्त कृत कारित सम्मती से, हो शुद्ध, प्रासुक यथागम-पद्धती से।
सागार अन्न दिन में यदि दान देता, ले साम्य धार, मुनि एषण पाल लेता ॥६३॥

जो देख भाल, कर मार्जन पिच्छिका से, शास्त्रादि वस्तु रखना गहना दया से।
आदान निक्षिपण है समिती कहाती, पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥६४॥

एकान्त हो विजन विस्तृत, ना विरोध, सम्यक् जहाँ बन सके त्रस जीव शोध।
ऐसा अचित्त थल पे मल मूत्र त्यागे, व्युत्सर्ग रूप-समिति गह साधु जागे ॥६५॥

रागादि का अशुभ भाव प्रणालियों का, जो त्याग कालुषमयी दुखनालियों का।
श्री वीर के समय में व्यवहारवाली, मानी गई कि मन गुप्ति यही शिवाली ॥६६॥

स्त्री राज की अशन चोरन की कथायें, जो पाप तापमय है जिनसे व्यथाएँ।
है पूर्ण त्याग इनका वच गुप्ति भाति, या पापरूप वच त्याग सुखी बनाती ॥६७॥

जो देह की छिदन भेदन की क्रियाएँ, किंवा सभी हलन चालन की क्रियाएँ।
पाती विराम मुनि साधक की दशा में, सो काय गुप्ति, धरते मिटती निशायें ॥६८॥

रागादि का शमन जो मन से कराना, गुप्ति रही मनस की प्रभु का बताना।
हिंसामयी वचन त्याग, व मौन बाना, गुप्ती वही वचन की सुन तू निभाना ॥६९॥

हिंसादि की विरति हो तन गुप्ति होती, वाणी कहे जिनप की मन मैल धोती।
पावे विराम सब ही तन की क्रियायें, कायोतसर्ग अथवा तन गुप्ति पायें ॥७०॥

है घाति कर्म दल को जिनने नशाया, पाये विशुद्ध गुण केवलज्ञान पाया।
चौंतीस सातिशय मंडित हैं सुहाते, वे ही विशिष्ट 'अरिहन्त' सुधी बताते ॥७१॥

सामान्य आठ गुण पाकर जो लसे हैं, लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं।
दुष्टाष्ट कर्ममय बन्धन को मिटाया, वे सिद्ध, सिद्ध-पद में शिर मैं नवाया ॥७२॥

आचार पंच परिपूर्ण सदा निभाते, पंचेन्द्रिय रूप गज के मद को मिटाते।
गंभीर नीरनिधि से गुणधीर भाते, आचार्य वे समय में युग वीर गाते ॥७३॥

निःस्वार्थ भाव धरते कुछ भी न लेते, शास्त्रानुसार वह भी उपदेश देते।
सारे परीषह सहे बलवान होते, धारी स्वरत्नत्रय के उवझाय होते ॥७४॥

आराधना स्वयम की करते सदा हैं, व्यापार लौकिक तजे जड़ संपदा हैं।
निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन शोभत वीतमोही, वे साधु, पूज उनको भवभीत मोही ॥७५॥

ऐसी निरन्तर रहे शुभभावनायें, तो भेदरूप वह चारित्र हाथ आये।
चारित्र निश्चय नयाश्रित जो कहाता, आगे यही तुम सुनो उसको सुनाता ॥७६॥

तिर्यञ्च भाव नहीं नारक भाव मैं हूँ, ना देव भाव नहीं मानव भाव मैं हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७७॥

मैं जीव थान नहीं हैं गुण थान ना हूँ, भाई सुनो विविध मार्गण थान ना हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे न उनका अनुमोद दाता ॥७८॥

मैं हूँ नहीं युवक बालक भी नहीं हूँ, हूँ वृद्ध भी न उन कारण भी नहीं हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७९॥

मैं रोष कोष नहिं राग कभी नहीं हूँ, मोही नहीं व उन कारण भी नहीं हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८०॥

मैं क्रोध रूप नहिं हूँ मद मान ना हूँ, माया न लोभ उन कारणवान ना हूँ।
मैं वस्तुतः न इनको करता कराता, कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८१॥

यों भेद ज्ञानमय भानु उदीयमान, मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण।
ऐसे चरित्र गुण में पुनि पुष्टि लाने, होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ॥८२॥

रागादि भाव मल को मन से हटाता, हो निर्विकल्प मुनि जो निज ध्यान ध्याता।
सारी क्रिया वचन की तजता सुहाता, सच्चा प्रतिक्रमण-लाभ वही उठाता ॥८३॥

आराधनामय सुधारस नित्य पीते, छोड़े विराधन, सभी अघ से सुरीते।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु यों बताते, तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८४॥

साधू अनाचरण पूरण छोड़ते हैं, स्वाचार में स्वयम को दृढ़ जोड़ते हैं।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते, तल्लीन क्योंकि रह जीवन हैं बिताते ॥८५॥

उन्मार्ग में विचरते मन को हटाते, सन्मार्ग में स्वयम को थिर हैं लगाते।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते, तल्लीन क्योंकि रह जीवन हैं बिताते ॥८६॥

जो शल्य भाव तजते वह साधु होते, निःशल्य भाव भजते अघ आशु खोते।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते, तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८७॥

भाई अगुप्तिमय भाव स्वयं विसारे, औ तीन गुप्तिमय भाव अहो सुधारे।
साधू 'प्रतिक्रमण' वे गुरु हैं बताते, तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८८॥

जो आर्त रौद्रमय ध्यान सदा विसारे, पै धर्म-शुक्लमय ध्यान सदा सुधारे।
वे ही प्रतिक्रमण साधु प्रशान्त प्यारे, तल्लीन क्योंकि रह जीवन को सुधारे ॥८९॥

जीवात्म ने अमित बार अरे सदी से, मिथ्यात्व आदि सब भाव किये रुची से।
सम्यक्त्व आदि समभाव किये नहीं है, शुद्धात्म दर्शन अवश्य किये नहीं है ॥९०॥

मिथ्यात्व-ज्ञान-व्रत की जड़ काटता है, संस्कार भी न उनका रख डालता है।
सम्यक्त्व ज्ञान व्रत को उर में बिठाता, सोही प्रतिक्रमण लाभ अहो उठाता ॥९१॥

है सर्वश्रेष्ठ निज आत्म पदार्थ साता, हो आत्म में स्थित यती विधि को नशाता।
सच्चा प्रतिक्रमण आतम ध्यान होता, तू आत्म ध्यान कर, केवल ज्ञान होता ॥९२॥

सद्ध्यान-रूप सर में अवगाह पाता, साधू-स्वदोष मल को पल में धुलाता।
सद्ध्यान ही विषमकल्मष पातकों का, सच्चा प्रतिक्रमण है घर-सद्गुणों का ॥९३॥

जो भी प्रतिक्रमण नामक शास्त्र बोले, भाई प्रतिक्रमण की विधि नेत्र खोले।
जानो यथाविधि उसे उस भावना को, भाना प्रतिक्रमण है तज वासना को ॥९४॥

हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प सारे, साधू अनागत शुभाशुभ भाव टारे।
शुद्धात्म-ध्यान सर में डुबकी लगाते, ये प्रत्यखान गुण-धारक है कहाते ॥९५॥

मेरा स्वभाव वर केवलज्ञानवाला, कैवल्य दर्शन मदीय स्वभाव-शाला।
कैवल्य शक्ति मम मात्र स्वभाव ऐसा, ज्ञानी करे सुखद चिंतन को हमेशा ॥९६॥

लो आतमा न तजता निज भाव को है, स्वीकारता न परकीय विभाव को है।
द्रष्टा बना निखिल का परिपूर्ण लाता, मैं ही रहा वह, सुधी इस भाँति गाता ॥९७॥

स्थित्यादि भेदवश बंध चतुर्विधा है, आत्मा परन्तु उससे लसता जुदा है।
'सो मैं' निरंतर विचार करे उसी में, ज्ञानी निवास कर नित्य रहे निजी में ॥९८॥

मैं तो मदीय ममता द्रुत त्यागता हूँ, निर्मोह भाव गहता नित जागता हूँ।
आत्मा मदीय अवलोकन एक मेरा, छोड़ूँ सभी पर, रहूँ बन में अकेला ॥९९॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में, औ प्रत्यखान गुण में लसता गुरो! मैं।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का, है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१००॥

है जीव एक मरता जग में मुधा है, है एक ही जनमता रहता सदा है।
हो एक का मरण भी जब अन्त वेला, हो मुक्त, कर्मरज से तब भी अकेला ॥१०१॥

पूरा भरा दृग विबोधमयी सुधा से, मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से।
संयोग जन्य सब शेष विभाव मेरे, रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥१०२॥

जो भी दुराचरण है मुझमें दिखाता, वाक्काय से मनस से उसको मिटाता।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मैं, तो बार-बार तन धार नहीं मरूँ मैं ॥१०३॥

ना वैरभाव मम हो जग में किसी से, हो साम्य-भाव त्रस स्थावर से सभी से।
आशा सभी तरह की तजना कहाती, सच्ची समाधि अनुपाधि मुझे सुहाती ॥१०४॥

साधू कषाय तज इंद्रिय जीत होता, संसार के दुखन से भयभीत होता।
सारे परीषह सहे नित अप्रमादी, हो प्रत्यखान उसका गुरु ने बतादी ॥१०५॥

यों जीव भेद, विधि भेदन का सुचारा, अभ्यास है कर रहा जग को विसारा,
सो संयती नियम से बस धार पाता, है प्रत्यखान पद को भव पार जाता ॥१०६॥

नो-कर्म-कर्म बिन शाश्वत है सुहाता, होता विभावगुण पर्यय हीन साता।
ऐसी निजात्म छवि का यदि ध्यान ध्याता,आलोचना श्रमण वो उरधार पाता ॥१०७॥

आलोचना अविकृती करुणा निराली, आलुंचना विमलभाव विशुद्धि प्यारी।
आलोचना चउविधा जिन शास्त्र गाता, जो भी धरे परम पावन पात्र पाता ॥१०८॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावे, वे साम्य के सदन में सहसा सुहावे।
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना में, आलोचना बस यही जिन-देशना में ॥१०९॥

ऐसा अपूर्व बल को वह धारता है, आमूल कर्ममय वृक्ष उखाड़ता है।
स्वाधीन साम्य-मय भाव स्वकीय होता, आलुंचना वह रहा भजनीय होता ॥ ११०॥

आत्मा स्वकर्म दल से अति भिन्न न्यारा, हीराभ शुभ्र गुणधाम अखिन्न प्यारा।
माध्यस्थभाव धर यों मुनि भा रहा हो, सिद्धान्त में अविकृती-करुणी रहा वो ॥१११॥

मायाभिमान-मद-मोह-विहीन होना, है भाव शुद्धि जिससे शिव सिद्धि लोना।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा, सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥११२॥

जो भाव है समिति शीलव्रतों यमों का, प्रायश्चिता वह सही दम इन्द्रियों का।
ध्याऊँ उसे विनय से उर में बिठाता, होऊँ अतीत विधि से विधि खो विधाता ॥११३॥

क्रोधादि भाव, जिनका क्षय होय कैसा, साधू विचार करता दिन-रैन ऐसा।
आत्मीय शुद्धात्म चिंतन लीन होता, प्रायश्चिता वह सही अघ हीन होता ॥११४॥

माया हरो परम आर्जव भाव द्वारा, औ मान मर्दन सुमार्दव भाव द्वारा।
मेटो प्रलोभ धर तोष, क्षमा सुधा से, क्रोधाग्नि शान्त कर दो अविलम्बता से ॥११५॥

शुद्धात्म के सतत चिंतन में लगा है, शुद्धात्म ज्ञान करता निज में जगा है।
शुद्धात्म बोध कर जीवन है बिताता, प्रायश्चिता नियम से उसका कहाता ॥११६॥

भारी तपश्चरण साधु महर्षियों का, प्रायश्चिता वह सभी गुणधारियों का।
क्या क्या कहूँ बहुत भी कहना वृथा है, है सर्व कर्म-क्षय हेतु यही कथा है ॥११७॥

जो भी शुभाशुभ कुकर्म युगों-युगों में, बाँधा हुवा विगत में कि भवों-भवों में।
सम्यक् तपश्चरण से मिट पूर्ण जाता, प्रायश्चिता इसलिए तप ही कहाता ॥११८॥

आत्मा विनष्ट करता पर भाव सारा, लेके स्वकीय गुण का रुचि से सहारा।
सर्वस्व है इसलिए निजध्यान प्यारा, लेऊँ अतः शरण मैं निज की सुचारा ॥११९॥

छोड़ी विभावमय राग प्रणालि की भी, चेष्टा शुभाशुभ सभी वचनावली की।
पश्चात् स्वकीय शुचि ध्यान लगा रहा है, वो साधु का 'नियम' मित्र सगा रहा है ॥१२०॥

जो ध्यान आत्म गुण का करता निहाला, हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प-माला।
देहादि से बन निरीह स्व में बसा है, कायोतसर्ग मुनि का वह है लसा है ॥१२१॥

वाक् योग-रोक जिसने मन-मौन धारा, औ वीतराग बन आतम को निहारा।
होती समाधि परमोत्तम हो उसी की, पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥१२२॥

हो संयमी नियम औ तप धारता है, औ धर्म-शुक्लमय ध्यान निहारता है।
होती समाधि परमोत्तम हो उसी की, पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥१२३॥

मासोपवास करना वनवास जाना, आतापनादि तपना तन को सुखाना।
सिद्धान्त का मनन मौन सदा निभाना, ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥१२४॥

आरम्भ दम्भ तज के त्रय गुप्ति पाले, हैं पंचइन्द्रियजयी समदृष्टि वाले।
स्थायी सुसामयिक है उनमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२५॥

जो साधुराज जड़ जंगम जंतुओं में, सौभाग्यमान धरता समता सबों में।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२६॥

हो संयमी नियम में यम में बिठाता, जो आत्म को पतन से अघ से उठाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२७॥

ये राग-द्वेष मुनि में रहते तथापि, उत्पन्न वे न करते विकृती कदापि।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२८॥

लो आर्त-रौद्रमय ध्यान नहीं लगाता, पै साधु नित्य उनको मन से हटाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२९॥

लो पाप-पुण्यमय भाव कभी न लाता, पै साधु नित्य उनको मन से हटाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३०॥

जो शोक को अरति को रति-हास्य त्यागे, हो नित्य दूर उनसे मुनि नित्य जागे।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३१॥

ग्लानी त्रिवेद भय को मुनि त्यागता है, हो दूर नित्य उनसे नित जागता है।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३२॥

जो धर्म-शुक्लमय ध्यान सदा लगाता, होना न दूर उनसे यह साधु गाथा।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता, यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३३॥

सम्यक्त्व-ज्ञान-व्रत की मुनि श्रावकों से, जो भक्ति हो नियम-संयमधारियों से।
निर्वाण-भक्ति उनकी वह है कहाती, वाणी जिनेन्द्र कथिता इस भाँति गाती ॥१३४॥

सन्मार्ग पे विचरते मुनि साधुओं के, भेदोपभेद गुण जान यतीश्वरों के।
होना विलीन उनकी शुचि भक्ति में है, निर्वाण-भक्ति वह भी व्यवहार में है ॥१३५॥

जो साधु मोक्ष पथ पे निज को चलाता, निर्वाण-भक्ति-भर में मन को लगाता।
स्वाधीनपूर्ण-गुण-युक्त निजी दशा को, पाता नितान्त, कर नष्ट निरी निशा को ॥१३६॥

रागादि मोह परिणामन को मिटाने, जो साधु उद्यत निरंतर हैं सयाने।
वे योग-भक्ति सर में डुबकी लगाते, पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाते ॥१३७॥

संकल्प जल्प सविकल्पन से छुड़ाता, हो निर्विकल्प निज को निज में सुलाता।
सो योग-भक्ति सर में डुबकी लगाता, पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाता? ॥१३८॥

मिथ्यात्व भाव परिणाम विभाव त्यागे, हो जैन तत्त्व भर में रत आप जागे।
सो योग, भाव निज का अभिराम साता, ऐसा वसन्ततिलका अविराम गाता ॥१३९॥

तीर्थंकरों वृषभ-सन्मति आदिकों ने, की योग-भक्ति यम-संयम-धारकों ने।
पश्चात् बने शिव बने शिवधामवासी, धारो अतः तुम सुयोग बनो उदासी ॥१४०॥

जो इन्द्रियों व मन के वश में न आता, आवश्यका वह रहा मुनि कार्य साता।
जो योग है करम नाशक है कहाता, निर्वाण मार्ग वह आगम यों बताता ॥१४१॥

हो अन्य के वश नहीं अवशी कहाता, आवश्यका, अवश का वह कार्य भाता।
है युक्ति का उचित अर्थ उपाय होता, ऐसा अवश्यक सयुक्तिक सिद्ध होता ॥१४२॥

वैभाविकी अशुभ आशय बो रहा है, जो अन्य के, श्रमण हो, वश हो रहा है।
आवश्यका न उसका वह कार्य होता, अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोता ॥१४३॥

जो साधु, भाव शुभ में रत हो रहा है, भाई नितान्त पर के वश हो रहा है।
आवश्यका, न उसका वह कार्य होता, अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोता ॥१४४॥

पर्याय द्रव्य-गुण में मन है लगाता, वो भी यती वश रहा पर के कहाता।
मोहान्धकार परिपूर्ण भगा रहे हैं, ऐसा कहे श्रमण जो कि जगा रहे हैं ॥१४५॥

सद्ध्यान में श्रमण अन्तरधान हो के, रागादि भाव पर है पर भाव रोके।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे, जाते अवश्यक कहें उन कार्य सारे ॥१४६॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है, होके समाहित स्व में मन मारना है।
हीराभ सामयिक में द्युति जाग जाती, सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती ॥१४७॥

जो साधु ना हि षडवश्यक पालता है, चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है, आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है ॥१४८॥

जो साधु सादर अवश्यक धारता है, सो अंतरातम रहा मन मारता है।
पै साधु हो नहिं अवश्यक पालता है, सो है अवश्य बहिरातम, बालता है ॥१४९॥

जो अंतरंग बहिरंग-प्रजल्पधारी, होता नितांत बहिरातम है विकारी।
सम्पूर्ण जल्प भर से अति दूर होता, सो अंतरातम रहा सुख पूर होता ॥१५०॥

सद्धर्म-शुक्लमय ध्यान-सुधा सुपीता, सो अंतरात्म सुख जीवन नित्य जीता।
पै साधु हो तदपि ध्यान नहीं लगाता, होता नितांत बहिरात्म वही कहाता ॥१५१॥

सामायिकादि षडवश्यक नित्य पाले, जो साधु निश्चय सुचारित भव्य धारे।
तो वीतराग शुचि चारित में यमी वो, शीघ्रातिशीघ्र फलतः नित उद्यमी हो ॥१५२॥

आलोचना, नियम आदिक मूर्तमान, भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यखान।
स्वाध्याय से सफल है गुरु हैं बताते, होते विकल्पमय भेद चरित्र तातैं ॥१५३॥

संवेग-धारक यथोचित शक्ति वाले, ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधु पाले।
ऐसा नहीं यदि बने उर धार लेना, श्रद्धान तो दृढ़ रखो अघ मार देना ॥१५४॥

सामायिकादि विधि की कर लो परीक्षा, सो जैन शास्त्र कहता बन के निरीच्छा।
योगी बने इसलिये मन मौन धारो, साधो स्वकार्य नित पै अघ को न धारो ॥१५५॥

संसार में विविध कर्म प्रणालियाँ हैं, ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ है।
भाई अतः मत विवाद करो किसी से, साधर्मि से अनुज से पर से अरी से ॥१५६॥

ज्यों वित्त को खरचता निज पोषणों में, भोगी सुभोग करता दिन-रात्रियों में,
पा नित्यज्ञान निधि, नित्य नितांत ज्ञानी, त्यों भोगता न रमता पर में अमानी ॥१५७॥

जो भी पुराण पुरुषोत्तम रे! हुए हैं, सामायिकादि षडवश्यक वे किये हैं।
सप्तादि पूर्ण गुणथान पुनः चढ़े हैं, हैं केवली बने फिर हमसे बड़े हैं ॥१५८॥

ये केवली प्रभु सदा व्यवहार नाते, हैं जानते सकल विश्व निहार पाते,
पै केवली नियम से निज को अमानी, हैं जानते निरखते पर को न ज्ञानी ॥१५९॥

ये ज्ञान दर्शन स्वयं जिन के, बली के, हो एक साथ सुन मित्र सु केवली के।
होते प्रभाकर प्रकाश प्रताप जैसे, देते सभी सदुपदेश अपाप ऐसे ॥१६०॥

होता सदैव वह ज्ञान परप्रकाशी, होता नितांत वह दर्शन स्वप्रकाशी।
आत्मा तथा स्वपर का रहता प्रकाशी, ऐसा कहो यदि अरे! विषयाभिलाषी ॥१६१॥

तू ज्ञान को परप्रकाशक ही कहेगा, तो ज्ञान से पृथक दर्शन हो रहेगा।
औ अन्य-द्रव्यगत दर्शन भी नहीं है, यों पूर्व के कथन में मिलता सही है ॥१६२॥

आत्मा मनो पर प्रकाशक ही रहा हो, तो आत्म से पृथक दर्शन ही रहा वो।
औ अन्य-द्रव्य गत दर्शन भी नहीं है, यों पूर्व के कथन में मिलता सही है ॥१६३॥

ज्यों ज्ञान, मात्र व्यवहारतया प्रकाशी, त्यों अन्य का यह सुदर्शन भी प्रकाशी।
ज्यों आत्म मात्र व्यवहारतया प्रकाशी, त्यों अन्य का वह सुदर्शन भी प्रकाशी ॥१६४॥

ज्यों ज्ञान, मात्र व्यवहारतया प्रकाशी, त्यों हो सुदर्शन अतः निज का प्रकाशी।
ज्यों आत्म निश्चयतया निज का प्रकाशी, त्यों हो सुदर्शन अतः निज का प्रकाशी ॥१६५॥

ये केवली नियम से निज को निहारे, ना देखते सकल लोक अलोक सारे।
कोई मनो यदि कहे इस भाँति भाई, क्या दोष दूषण रहा इसमें बुराई ॥१६६॥

संसार के अमित मूर्त अमूर्त सारे, ये द्रव्य चेतन अचेतन आदि प्यारे।
जो जानता निज समेत इन्हें सुचारा, प्रत्यक्ष है वह अतीन्द्रिय ज्ञान सारा ॥१६७॥

पूर्वोक्त द्रव्य दल जो दिखता अपारा, नाना गुणों विविध-पर्यय का पिटारा।
जाने सही न उसको युगपत् कदापि, होता परोक्ष वह ज्ञान कहें अपापी ॥१६८॥

हैं देखते सकल लोक अलोक सारे, ये केवली पर नहीं निज को निहारें।
कोई मनो यदि कहें इस भाँति भाई, क्या दोष दूषण रहा इसमें बुराई ॥१६९॥

है ज्ञान आतम सरूप सदा सुहाता, आत्मा अतः बस निजातम जान पाता।
माना न ज्ञान निज आतम को जनाता, तो आत्म से पृथक ज्ञान बना, न पाता ॥१७०॥

तू आत्म को समझ ज्ञान अनूप प्याला, औ ज्ञान को समझ आतम रूपवाला।
ये ज्ञान दर्शन अतः स्वपर-प्रकाशी, संदेह के बिन, कहे मुनि सत्यभाषी ॥१७१॥

इच्छा किये बिन सुकेवल ज्ञानधारी, हैं जानते निरखते सब को अघारी।
होते अतः सब अबंधक निर्विकारी, रोते यहाँ सतत बंधक ये विकारी ॥१७२॥

संकल्पपूर्वक कभी कुछ बोलना है, सो बंध हेतु, पय में विष घोलना है।
संकल्प-मुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी, होता न बंध उनको सुन भव्यप्राणी! ॥१७३॥

इच्छा समेत कुछ भी वह बोलना है, लो बंध हेतु, पय में विष घोलना है।
इच्छा विमुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी, होता न बंध उनको सुन भव्य! प्राणी ॥१७४॥

इच्छा बिना सहज से उठ बैठ जाते, है केवली इसलिये नहीं बंध पाते।
मोही बना जगत ही विधि बन्ध पाता, ऐसा वसन्ततिलका वह छन्द गाता ॥१७५॥

है आयु का प्रथम तो अवसान होता, निश्शेष कर्म दल का फिर नाश होता।
पश्चात् सुशीघ्र शिव दे पल में लसेंगे, लोकाग्र पे स्थित शिवालय में बसेंगे ॥१७६॥

दुष्टाष्ट कर्म तजते सकलावभासी, होते अछेद्य परमोत्तम ना विनाशी।
ज्ञानादि अक्षय चतुष्टय रूप धारे, वार्धक्य जन्म-मृति-मुक्त सुसिद्ध सारे ॥१७७॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे, वे सिद्ध हैं अचल नित्य अनूप सारे।
होते अतीन्द्रिय पुनः भव में न आते, हैं पुण्य-पाप-विधि-मुक्त मुझे सुहाते ॥१७८॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीड़ा, आती न गन्ध दुख की सुख की न क्रीड़ा।
ना जन्म है मरण है जिसमें दिखाते, निर्वाण जान वह है गुरु यों बताते ॥१७९॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है, ये इन्द्रियाँ जड़मयी जिसमें नहीं हैं।
होते कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा हैं, निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ॥१८०॥

चिंता नहीं उपजती चिति में जरा-सी, नो कर्म भी नहिं नहीं वसु कर्म राशी।
होते जहाँ नहिं शुभाशुभ ध्यान चारों, निर्वाण है वह, सुधी तुम यों विचारो ॥१८१॥

कैवल्य - बोध - सुख - दर्शन - वीर्यवाला, आत्मा प्रदेशमय मात्र अमूर्त शाला।
निर्वाण में निवसता निज नीति धारी, अस्तित्त्व से विलसता जग आर्तहारी ॥१८२॥

निर्वाण ही परम सिद्ध रहा सुहाता, या सिद्ध शुद्ध निर्वाण सदा कहाता।
जो कर्म-मुक्त बनते अविराम जाते, लोकाग्र लौं फिर सुसिद्ध विराम पाते ॥१८३॥

यों प्राणि पुद्गल, जहाँ तक धर्म होता, जाते वहाँ नहिं जहाँ नहिं धर्म होता।
यों जीव की व जड़ की गति में सहाई, धर्मास्तिकाय बनता सुन भव्य भाई ॥१८४॥

हो शास्त्र भक्तिवश शास्त्र सही बनाया, मैंने यहाँ 'नियम' के फल को दिखाया।
पूर्वापरा यदि विरोध यहाँ दिखावें, शास्त्रज्ञ दूर कर नित्य पढ़ें पढ़ावें ॥१८५॥

ईर्ष्याभिभूत जन सुंदर पंथ की भी, निंदा करे शरण ले अघ ग्रन्थ की भी।
भाई कभी न उनसे अनुकूल होना, आस्था जिनेश पथ की मत भूल खोना ॥१८६॥

पूर्वापरा-सकल दोष-विहीन प्यारा, होता जिनागम अपार अगाध न्यारा।
मैंने स्वकीय-शुचिभाव-निमित्त भाया, जाना उसे 'नियमसार' पुनः रचाया ॥१८७॥

इति शुभं भूयात्

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

स्थान एवं समय परिचय

रहा तपोवन नियम से रम्य क्षेत्र थूबौन,
जहाँ ध्यान में उतरता मुनि का मन हो मौन ॥२॥

शांतिनाथ जिननाथ है दर्शन से अति हर्ष।
धारा वर्षायोग उन चरणन में इस वर्ष ॥३॥

गात्र गगन गति गंध की भाद्र पदी सित तीज।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है भुक्ति मुक्ति का बीज ॥४॥

मंगल कामना

विस्मृत मम हो विगत सब विगलित हो मद मान।
ध्यान निजातम का करूँ करूँ निजी गुणगान ॥१॥

सादर शाश्वत सारमय समयसार को जान।
गट गट झट पट चाव से करूँ निजामृत पान ॥२॥

रम रम शम दम में सदा मत रम पर में भूल।
रख साहस फलतः मिले भव का पल में कूल ॥३॥

चिदानन्द का धाम है ललाम आतमराम।
तन मन से न्यारा दिखे मन पे लगे लगाम ॥४॥

निरा निरामय नव्य मैं नियत निरंजन नित्य।
यह केवल नियमित जपूँ तजूँ विषय अनित्य ॥५॥

मन वच तन में सौम्यता धारो बन नवनीत।
सार्थक तब जप तप बने प्रथम बनो भवभीत ॥६॥

रति रतिपति से मति बने गति पंचम गति होय।
कारण सादृश कार्य हो समाधान मति होय ॥७॥

सार यही जिनशास्त्र का सादर समता धार।
रहा बंध पर राग है विराग भवदधि पार ॥८॥

❑ ❑ ❑

प्रवचनसार

आचार्य कुन्दकुन्द रचित

प्रवचनसार

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

प्रवचनसार

(१९७९)

आचार्य कुन्दकुन्द के मान्य ग्रन्थों में प्रवचनसार भी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें तीन अधिकार हैं—ज्ञानतत्त्व प्रतिपादक महाधिकार, सम्यग्दर्शन या ज्ञेयाधिकार और चारित्राधिकार। महाधिकार में ज्ञानाधिकार, सुखाधिकार एवं शुभ परिणामाधिकार सम्मिलित हैं। ज्ञेयाधिकार में द्रव्य एवं द्रव्य के भेदों का लक्षण एवं उनका विवेचन है तथा चरणानुयोग चूलिका अधिकार में मुनिधर्म, आगम-महत्त्व, मोक्षमार्ग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का वर्णन है।

आचार्यश्री ने इस अविकल ग्रन्थ का पद्यानुवाद वसन्ततिलका छन्द में किया है। यह पद्यानुवाद श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र थूबौन जी, गुना (म.प्र.) में सन् १९७९ के चातुर्मास-वर्षायोग काल में हुआ था।

वसन्ततिलका छन्द

कर्त्ता सुतीर्थ वृष के सुख पूर्ण शाला, है घाति कर्म-मल धोकर पूर्ण डाला।
वे वर्धमान उनको प्रणमूँ करों से, जो हैं नमस्कृत सुरों असुरों नरों से ॥१॥

सिद्धों समेत अवशेष जिनेश्वरों को, तीर्थंकरों शुचितरों गुण-धारियों को।
सद्ज्ञान-वीर्य-तप-दर्शन-वृत्त वालों, वन्दूँ लिए श्रमणता श्रमणों निहालों ॥२॥

जो भी यहाँ मनुज क्षेत्रन में सुहाते, हैं पूज्य तीर्थंकर हैं अरहन्त नाते।
मैं भिन्न-भिन्न अथवा इक साथ ध्याऊँ, पूजूँ उन्हें विनय से नत माथ भाऊँ ॥३॥

सिद्धों पुनीत अरहन्तन को जिनों को, पूज्यों वरों गणधरों मुनिनायकों को।
आचार्यवर्य-उवझाय सुसाधुओं को, मैं वन्दना कर सभी परमेष्ठियों को ॥४॥

है मुख्य ज्ञान-दृग आश्रम जो उन्हीं का, पूरा प्रयास कर आश्रय ले उसी का।
सम्यक्तया श्रमण हो समता भजूँ मैं, निर्वाण प्राप्त फलतः ममता तजूँ मैं ॥५॥

सम्यक्त्व ज्ञान समवेत प्रधान होता, चारित्र को जब सुजीव सुजान ढोता।
पाता सुरासुर-नरेन्द्र-सुसम्पदा को, निर्वाण का पद पुनः गहता सदा वो ॥६॥

चारित्र ही परम-धर्म यथार्थ में है, साधू जिसे शममयी लख साधते हैं।
मोहादि से रहित आतम भाव-प्यारा, माना गया समय में शम साम्य सारा ॥७॥

जो द्रव्य ज्यों परिणमें जिस रूप ढोता, तत्काल तन्मय बना उस रूप होता।
सद्धर्म रूप ढलता जब आतमा ही, औचित्य, धर्ममय हो शिवराहराही ॥८॥

आत्मा रहा शुभ जभी शुभ में ढलेगा, होता तभी अशुभ तत्पन में ढलेगा।
शुद्धत्व से परिणमें जब शुद्ध होता, सद्भाव शुद्धपन का तब सिद्ध होता ॥९॥

भाई ! न अर्थ परिणाम बिना कभी हो, औ अर्थ के बिन नहीं परिणाम भी हो।
पर्याय-द्रव्य गुण में स्थित अर्थ होता, अस्तित्व रूप गुण मण्डित अर्थ होता ॥१०॥

शुद्धोपयोग पथ पे मुनि हो खड़ा हो, चारित्र रूप निजधर्मन में ढला हो।
पाता विमोक्ष सुख, पै दिवि योग पाता, जो धर्म रूप शुभ ही उपयोग पाता ॥११॥

आत्मा मनो अशुभ ही उपयोग ढोता, तिर्यंच नारक कुमानव होय रोता।
लाखों प्रकार दुख से फलतः घिरेगा, होता दुखी सुचिर औ भव में फिरेगा ॥१२॥

शुद्धोपयोग वश साधु सुसिद्ध होते, स्वात्मोत्थ सातिशय शाश्वत सौख्य जोते।
जाती कही न जिसकी महिमा कभी भी, ऐसा अपूर्व सुख भूपर ना कहीं भी ॥१३॥

शास्त्रज्ञ हो, श्रमण हो, समधी, तपस्वी, हो वीतराग व्रत संयम में यशस्वी।
जो दुःख में व सुख में समता रखेगा, शुद्धोपयोग वह ही निज में लखेगा ॥१४॥

शुद्धोपयोग-बल पूर्ण स्वयं जगाया, मोहादि घाति रज को खुद ही मिटाया।
आत्मा स्वयं निखिल-विज्ञ स्वको बनाया, यों ज्ञेय का सहज से उस पार पाया ॥१५॥

शुद्धोपयोग बल से निज भाव पाता, सर्वज्ञ हो जगत पूज्य स्व को बनाता।
आत्मा इसी तरह ही बनता स्वयंभू, ऐसा कहें जिन, बने खुद ईश शंभू ॥१६॥

उत्पाद, नाश बिन है शिव में सुहाता, उत्पाद के बिन, विनाश स्वयं दिखाता।
उत्पाद-ध्रौव्य व्यय रूप परम्परा भी, हो सिद्ध में विरमती न स्वयं जरा भी ॥१७॥

पर्याय के वश किसी बस जन्म पाता, पर्याय के वश किसी वह अन्त पाता।
पर्याय के वश किसी ध्रुव कूप होता, ऐसा पदार्थदल है त्रय रूप ढोता ॥१८॥

संसार में प्रवर हैं अरहन्त होते, देवाधिदेव जिनके पद नित्य धोते।
श्रद्धान यूँ कर रहे सुख में पलेंगे, सारे अनिष्ट उनके मिटते मिटेंगे ॥१९॥

शुद्धोपयोगवश घाति चतुष्क भागे, जागे अनन्त बल औ अति तेज जागे।
आत्मा अतीन्द्रिय हुआ, जड़ता नहीं है, विज्ञान में स्वसुख में ढलता वही है ॥२०॥

धारे अनन्त वर केवलज्ञान प्यारे, होते न कायिक उन्हें सुख-दुःख खारे!
वे चूंकि शाश्वत अतीन्द्रिय हो चुके हैं, सर्वज्ञ तो सकल इन्द्रिय खो चुके हैं ॥२१॥

प्रत्यक्ष-ज्ञान धरते जिन भव्य होते, प्रत्यक्ष पर्यय उन्हें सब द्रव्य होते।
ईहादि पूर्वक क्रिया कर ना कदापि, वे जानते गत विकल्प सदा अपापी ॥२२॥

आत्मीय सर्व गुण आकर हो तना है, पूरा अतीन्द्रिय हुआ निज में सना है।
प्रत्यक्ष ज्ञान जिसमें प्रकटा सही है, होता परोक्ष कुछ भी उसको नहीं है ॥२३॥

आत्मा तथापि वह ज्ञान प्रमाण भाता, है ज्ञान भी सकल ज्ञेय-प्रमाण साता।
है ज्ञेय तो अमित लोक-अलोक सारा, भाई अतः निखिल व्यापक ज्ञान प्यारा॥२४॥

आत्मा कदापि नहिं ज्ञान प्रमाण होता, ऐसा त्वदीय मन में अनुमान ढोता।
तो ज्ञान से वह बढ़ा लघु या रहा है, होता सुनिश्चय यही भ्रम जा रहा है ॥२५॥

है ज्ञान से वह बड़ा यदि आतमा है, तो ज्ञान के बिन कथं वह जानता है।
मानो रहा लघु, अचेतन ज्ञान होगा, तो ज्ञान, चेतन बिना, अनजान होगा ॥२६॥

है विश्व को विषय है अपना बनाता, कैवल्यज्ञान, जिसको जिन धार पाता।
तद्ज्ञान में झलकते जग द्रव्य सारे, सर्वत्र व्यापक अतः जिनदेव प्यारे ॥२७॥

विज्ञान आत्म बिन जो रहता नहीं है, सो ज्ञान आत्मभर स्वीकृत है सही है।
होता अतः नियम से वह ज्ञान आत्मा, आत्मा न ज्ञानभर पै कुछ और आत्मा ॥२८॥

ज्ञानी स्वभावमय ज्ञान यथार्थ धारें, हो ज्ञेय मात्र उनके कि, पदार्थ सारे।
ज्यों नेत्र में न घुसते पर रूप सारे, औ रूप में न घुसते मम नेत्र प्यारे ॥२९॥

ज्यों रूप में नयन, ज्ञेयन मध्य ज्ञानी, होते प्रविष्ट न प्रविष्ट सदा अमानी।
जाने सही सकल को जग को निहारे, होते अतीन्द्रिय अतः मम हो सहारे ॥३०॥

ज्यों दूध को स्व द्युति से कर पूर्ण नीला, हो दूध में विलसती मणि इन्द्रनीला।
त्यों ज्ञान शोभित सदैव यथार्थ में हो, है दीखता सकल विश्व पदार्थ में हो ॥३१॥

विज्ञान में न उतरे, यदि द्रव्य सारे, क्यों ज्ञान सर्वगत हो तब, भव्य प्यारे।
हो ज्ञान सर्वगत भी यदि, अर्थ सारे, कैसे न ज्ञान-थित हो, बुध यों विचारें ॥३२॥

ना त्यागते न गहते पर को अपापी, वे केवली न ढलते पर में कदापि।
पै सर्वथा सकल को बस जानते हैं, हैं देखते, हम उन्हें प्रभु मानते हैं ॥३३॥

सिद्धान्त के मनन से जिसने निहारा, शुद्धात्म को सहज-ज्ञायक भाव धारा।
है पूर्ण भावश्रुत-केवलि सो निहाला, ऐसे कहें ऋषि करें जग में उजाला ॥३४॥

ये शब्द पुद्‌गल रहे जिनसे दिया है, संदेश सूत्र जिसको जिन ने कहा है।
सद्ज्ञान में वह निमित्त रहा उसी से, है सूत्रज्ञान वह, सो सुन लो रूपी से ॥३५॥

जो जानता सतत, ज्ञान अहो रहा है, आत्मा न ज्ञानवश ज्ञायक हो रहा है।
विज्ञान ही परिणमें खुद वो जभी है, हो ज्ञान में स्थित पदार्थ सभी तभी है ॥३६॥

है ज्ञेयभूत सब द्रव्य त्रिधा कहाते, उत्पाद ध्रौव्य व्यय भाव सुधार पाते।
है जीव ज्ञान फलतः परिणाम धारे, आत्मा व शेष पुनि द्रव्य सुनाम पाले ॥३७॥

देखो! गतागत अनागत की दशायें, जो भिन्न-भिन्न सब द्रव्यन की घटायें।
वे वर्तमान सम ही इक साथ सारी, विज्ञान में झलकती दिन-रात भाई ॥३८॥

उत्पन्न हो विगत में कुछ अन्त पाई, पर्याय जो न अब लौ कुछ जन्म पाई।
सारी अभावमय वे जिन केवली के, प्रत्यक्ष हैं विगतराग हुए बली के ॥३९॥

उत्पन्न हो विगत में कुछ अन्त पाई, पर्याय जो न अब लौं कुछ जन्म पाई।
प्रत्यक्ष हो न यदि वे जिन केवली के, क्या दिव्यज्ञान धरते फिर क्या बली वे ॥४०॥

जो अर्थ हैं सकल इन्द्रियगम्य भाते, ईहादि पूर्वक जिन्हें जन जान पाते।
वे ना लखें गत अनागत की दशाएँ, होती परोक्ष उनको गुरु यों बतायें ॥४१॥

पर्याय हो गत अनागत मूर्त या हो, हो काल, कायमय द्रव्य अमूर्त या हो।
जाने इन्हें वह अतीन्द्रिय ज्ञान वाले, ऐसा कहें जिन ऋषीश प्रमाण धारे ॥४२॥

जो ज्ञान उद्यत हुआ पर ज्ञेय पाने, सो ज्ञान क्षायिक नहीं सुन रे सयाने!।
कर्मानुभूति करता तब आतमा है, ऐसा जिनेश कहते परमातमा हैं ॥४३॥

संसारि में, जिनवरादिक आर्य गाते, कर्मांश के उदय तो अनिवार्य आते।
संमोह शेष रति जो उनमें करेगा, सो कर्मबन्ध करके भव में फिरेगा ॥४४॥

धर्मोपदेश, सुख आसन बैठ जाना, आकाश में विचरना स्थिति और पाना।
अर्हन्त-काल जब उक्त क्रिया तथा हो, माया स्वभाव महिलाजन का यथा हो ॥४५॥

लो! पुण्य-पाक अरहन्त दशा जिया है, औचित्य औदयिक ही उनकी क्रिया है।
मोहादि से रहित हो रहती अतः हैं, मानी गई परम क्षायिक वे यतः हैं ॥४६॥

आत्मा स्वयं, निज स्वभाव विभाव द्वारा, मानो नहीं यदि शुभाशुभ भाव धारा।
संसार का फिर पता चल ना सकेगा, कोई दुखी फिर यहाँ मिल ना सकेगा ॥४७॥

स्थाई त्रिकाल रहते जड़ चेतनादि, नाना स्वरूप धरते रहते अनादि।
जो एक साथ इनको परिपूर्ण जाने, विज्ञान क्षायिक वही बुध सर्व माने ॥४८॥

त्रैलोक्य में स्थित त्रिकाल पदार्थ सारे, होते अनन्तगुण पर्यय के पिटारे।
जो एक साथ इनको नहिं जानता हो, सो एक द्रव्य तक भी नहिं जानता वो ॥४९॥

लो! एक द्रव्य, गुण धर्म अनन्त धारे, ऐसे त्रिलोकगत द्रव्य अनन्त सारे।
जो एक द्रव्य तक भी नहिं जान पाता, क्या एक साथ फिर वो सब जान पाता ॥५०॥

ले ज्ञेयभूत परद्रव्यन का सहारा, उत्पन्न ज्ञान यदि हो क्रमशः विचारा।
सो ज्ञान क्षायिक नहीं नहिं नित्य होता, होता न सर्वगत भी नहिं सत्य होता ॥५१॥

ये द्रव्य कालत्रय-लोकन में सुहाते, सर्वत्र हैं विविध रूप सुधार पाते।
जो एक साथ इनको बस जानता हो, माहात्म्य मात्र जिन केवलज्ञान का वो ॥५२॥

ना ज्ञेय में उपजते ढलते न पाते, ज्ञेयाभिभूत पर को बस जान जाते।
होते अबन्धक अतः जिन केवली हैं, मेरा उन्हें नमन हो प्रभु वे बली हैं ॥५३॥

सारे सुरासुर नरेश विनीत होके, सर्वज्ञ को विनमते सब गर्व खोके।
सो भक्त है तदनुसार त्रिलोक सारा, मैं भी वहीं नत खड़ा सब को बिसारा ॥५४॥

आत्मोत्थ इन्द्रियज मूर्त अमूर्त द्वारा, यों ज्ञान सौख्य द्विविधा गुरु ने उचारा।
जो भी रहा उचित हो इनमें विचारो, स्वीकार लो बस उसे पर को बिसारो ॥५५॥

धर्मादि द्रव्य चउ नित्य अमूर्त होते, हैं मूर्त में अणु अतीन्द्रिय मूर्त होते।
जाने इन्हें निज समेत जिनेश होते, प्रत्यक्ष ज्ञान धरते जड़ शेष रोते ॥५६॥

आत्मा विभाववश मूर्त अहा बना है, पै वस्तुतः वह अमूर्त स्वयं तना है ।
हो मूर्त, मूर्तपन मूर्तिक ज्ञान द्वारा, अत्यल्प जान सकता जग को न सारा ॥५७॥

ये स्पर्श गन्ध रस वर्ण सशब्द सारे, पंचेन्द्रि के विषय पुद्गल के पिटारे।
पै एक साथ इनको नहिं जानती हैं, वे इन्द्रियां बल अनन्त न धारती हैं ॥५८॥

ये इन्द्रियाँ न निज आत्म स्वभाव प्यारी, मानी गई पर अशुद्ध विभाव खारी।
तो ज्ञात अर्थ इनसे किस भाँति होगा, प्रत्यक्ष, किन्तु निज आतम को न होगा ॥५९॥

होती अपेक्ष पर की जिस ज्ञान में हैं, सो है परोक्ष कहते जिन ज्ञान में हैं।
हो जाय ज्ञान यदि केवल आतमा से, प्रत्यक्ष वो जब दिखे अघ खातमा से ॥६०॥

पूरा अनन्त जग को चखता निराला, सम्पूर्ण है उदित आप स्वयं निहाला।
ईहादि-ज्ञान बिन केवलज्ञान होता, होता वही सुख-सही गतमान होता ॥६१॥

कैवल्यज्ञान भर सौख्य ललाम होता, जाने सभी पर निजी परिणाम ढोता।
होता न खेद उसमें कहते ऋषी ये, है घाति का क्षय किया जिसने इसी से ॥६२॥

जो ज्ञान, ज्ञेय गिरि की इति टोंक पे है, औ व्याप्त दर्शन त्रिलोक अलोक में है।
जो था अनिष्ट झट नष्ट किया उसे है, था श्रेष्ठ इष्ट घट प्राप्त किया उसे है॥६३॥

है घाति कर्म-दल को जिनने मिटाया, है श्रेष्ठ सौख्य सुख में उनका सुहाया।
श्रद्धान किन्तु उसपे न अभव्य लाते, शंका परन्तु उसमें नहिं भव्य लाते ॥६४॥

संत्रस्त हैं सहज प्राप्त स्व इन्द्रियों से, इन्द्रादि मानव सुरासुर वे युगों से।
दुस्सह्य दुःख सह, ना सकते सभी हैं, मायामयी विषय में रमते तभी हैं ॥६५॥

पंचेन्द्रि के विषय में जिनकी रती है, होता उन्हें दुख स्वतः कहते यती हैं।
मानो उन्हें यदि नहीं दुख हो रहा है, व्यापार क्यों विषय में फिर हो रहा है? ॥ ६६॥

स्पर्शादि पंच विध इन्द्रिय ज्ञान द्वारा, जो इष्ट है विषय का जब ले सहारा।
आत्मा करे परिणती सुख मात्र सो ही, पै देह तो सुख नहीं सुन शास्त्र मोही ॥६७॥

स्वर्गीय क्यों न तन से तनधारियों को, देता कभी न सुख है दिवि में सुरों को।
ज्यों भोगते विषय को सुख-दुःख होते, वे आत्म के नियम से परिणाम होते ॥६८॥

लो! प्राप्त दृष्टि जब है तमहारिणी है, क्या दीप जोति तब कारज कारिणी है।
आत्मा स्वयं विलसता सुखधाम प्यारे, तू ही बता विषय ये किस काम सारे ॥६९॥

आकाश में अरुण लौकिक देव भाता, तेजोमयी प्रखर ज्यों स्वयमेव धाता।
त्यों सिद्ध भी शुचि स्वयं सुख ज्ञान धारे, सद्देव हैं शरण ये जग में हमारे ॥७०॥

ईशत्व पा सकल दर्शन बोध वाले, शोभे समोशरण में निज सौख्य पाले।
संसार के प्रमुख देव सदैव भाते, सो सार्वभौम पद ले अरहन्त तातैं ॥७१॥

संसार में फिर कभी नहिं लौट आते, पूरे जहाँ गुण खिले नहिं खोट पाते।
पूरे परे नर सुराधिप के पने से, वन्दूँ सुसिद्ध गण को मन से घने से ॥७२॥

सद्देव शास्त्र गुरु पूजन लीन होता, दानादि कार्यरत और सुशील होता।
आत्मा रहा वह अवश्य शुभोपयोगी, ऐसा जिनेश कहते तज भोग भोगी! ॥७३॥

जो भी यहाँ शुभमयी उपयोग पाते, तिर्यंच या मनुज या सुर लोक पाते।
औ काल का न जब लौं वह अन्त आता, पाते अनेक विध इन्द्रिय सौख्य साता ॥७४॥

है निर्विकार सुख आतम में सुहाता, सो है अलभ्य सुर को यह शास्त्र गाता।
होते दुखी अमर कायिक वेदना से, डूबे तभी विषय में च्युत चेतना से ॥७५॥

तिर्यंच देव नर नारक आदि सारे, हैं भोगते यदि स्वकायिक दुःख खारे।
तो भेद वो नहिं शुभाशुभ में मिलेगा, देखो विशुद्धनय से इक ही दिखेगा ॥७६॥

चक्री सुरेश शुभ के उपयोग द्वारा, पाते अतः विषयभोग नियोग खारा।
हो भोग लीन तन आदिक पोषते हैं, हो जोंक से सुखित, आतम शोषते हैं ॥७७॥

वे पुण्य हों विविध हों अभिराम से हों, उत्पन्न जो शुभमयी परिणाम से हों।
भोगाभिलाष भर को मन में जगाते, स्वर्गीय देव तक को फिर भी सताते ॥७८॥

तीव्राभिलाषवश पीड़ित देहधारी, तृष्णाभिभूत बनते बनते विकारी।
दुःखाग्नि तप्त, भरते दिन-रैन आहें, आमृत्यु वैषयिक सौख्य चखे व चाहें ॥७९॥

बाधा समेत पर आश्रित है विनाशी, है बन्ध हेतु विषमाति सुनो विलासी!।
सो सौख्य ऐन्द्रियज है भव बीच होता, है वस्तुतः दुख रहा दुखबीज बोता ॥८०॥

ना भेद, पुण्य-अघ में कुछ है दिखाता, ऐसा जिसे न रुचता वह भूल जाता।
घोरातिघोर भव कानन में भ्रमेगा, मोहाभिभूत बन के पर में रमेगा ॥८१॥

यों पुण्य-पाप सम जान स्वयं किसी से, ना राग-द्वेष करता समता सभी से।
शुद्धोपयोग जल से निज को धुलाता, सो देह-जन्य दुख वेदन को मिटाता ॥८२॥

जो पाँच पाप तज, पावन पुण्य पाता, हो दूर भी अशुभ से शुभ को जुटाता।
मोहादि भाव फिर भी यदि ना तजेगा, शुद्धात्म को न मुनि होकर भी भजेगा ॥८३॥

रीते क्षुधादिक अठारह दोष से हैं, होते प्रसिद्ध तप संयम कोष से हैं।
पूजे सुदेव दल से शिर को नमाता, लोकाग्र जा निवसते द्वय सौख्य धाता ॥८४॥

ये देव देवगण के जिनदेव होते, त्रैलोक्य के गुरु रहे यतिदेव होते।
श्रद्धा लिए मनुज जो नमते इन्हें हैं, मानो, अनन्त सुख भी मिलता उन्हें है ॥८५॥

अर्हन्त स्वीय गृह को द्रुत जा रहे हैं, वे शुद्ध द्रव्य गुण पर्यय पा रहे हैं।
यों जानता यदि उन्हें, निज जानता है, संमोहकर्म उसका झट भागता है ॥८६॥

आत्मा बना यदपि मोहविहीन, भाता, पाया अशंक बन के निज तत्त्व साता।
रागादि को तदपि वो जब त्यागता है, शुद्धात्म प्राप्त करता जब जागता है ॥८७॥

यों जान साधु, अरहन्त स्वरूप सारे, हैं कर्म काट बनते अरहन्त प्यारे।
देते वही सदुपदेश पुनः पधारें, वे मोक्ष, वन्दन उन्हें शतशः हमारे ॥८८॥

चारित्र पूर्ण धर संयम मात्र होते, सत्कार दर्श पद पूजन पात्र होते।
सम्यक्त्व की रुचि लिए दृढ़बोध धारे, वे साधु हैं हम उन्हें रुचि से निहारें ॥८९॥

पर्याय-द्रव्य-गुण में यदि मूढ़ता से, सो मोह भाववश आतम गूढ़ता हो।
तो राग-रोष करके वह भूल जाता, है क्षोभ भाव करता प्रतिकूल जाता ॥९०॥

जो मोह भाव धरता निज भाव त्यागी, या द्वेष भाव करता बनता सरागी।
पाता वही नियम से विधि बंध नाना, मोहादि को इसलिये जड़ से मिटाना ॥९१॥

स्वीकारना, कि अयथार्थ पदार्थ बाना, तिर्यंच में मनुज में करुणा न लाना।
औ गृद्धता विषयलम्पटता, कहाते, ये मोह चिह्न त्रय हैं गुरु हैं बताते ॥९२॥

प्रत्यक्ष आदि अनुमान प्रमाण द्वारा, जाने पदार्थ जिन आगम भान द्वारा।
तो नाश मोह उसका अनिवार्य होता, सद्शास्त्र का मनन तू कर आर्य श्रोता ॥९३॥

पर्याय द्रव्य गुण का दल जो कहाता, अन्वर्थ नाम उसका वह अर्थ भाता।
पर्याय और गुण का वह द्रव्य स्वामी, धर्मोपदेश गुरु का यह भव्य नामी ॥९४॥

धर्मोपदेश जिनका निज को पिलाता, संमोह रोष रति को जड़ से मिटाता।
निर्वाण प्राप्त करता अविलम्बता से, होता विमुक्त भव से दुख आपदा से ॥९५॥

ज्ञानाभिभूत निज को निज रूप से ही, कालादि द्रव्य पर को पर रूप से ही।
ऐसा सुनिश्चय सुधी यदि जानता है, सो मोह का क्षय करें वह जागता है ॥९६॥

कालादि द्रव्य गण को उसके गुणों से, शुद्धात्म द्रव्यपन को अपने गुणों से।
सत् शास्त्र के मनन से बस जानना है, निर्मोह भाव कब हो यदि कामना है ॥९७॥

धारे पदार्थ सविशेष समान सत्ता, जो जानता न इनको बिन बुद्धिमत्ता।
श्रामण्य ऊपर भले वह धार पाता, होता नहीं श्रमण, धर्म न पाल पाता ॥९८॥

संमोह का हनन भी जिसने किया है, सत्शास्त्र का मनन भी रुचि से किया है।
औ वीतराग व्रत पालक हो तना है, सो धर्म है श्रमण सत्य महामना है ॥९९॥

जो उक्त साधुजन को जब देख लेते, होके प्रसन्न उन स्वागत नेक देते।
सत्कार दे नमन, आसन पे बिठाते, धर्माभिभूत बन धर्मयश: बढ़ाते ॥१००॥

सद्धर्म से मनुज या पशु शीघ्र से ही, हो देव और मनुजोत्तम वीर देही।
ऐश्वर्य वैभव अपार उन्हें मिलेगा, पूरे मनोरथ हुये, शिव ना टलेगा ॥१०१॥

ऐसा विचार मुनि को नमता हुआ मैं, श्रद्धा समेत उसमें रमता हुआ मैं।
संक्षेप से परम आगमसार दूँगा, श्रामण्य को प्रकट भी फलत: करूँगा ॥१०२॥

हैं अर्थ द्रव्यमय निश्चय से रहे हैं, औ द्रव्य भी गुणगणात्मक वे रहे हैं।
पर्याय, द्रव्य गुण में उगती, कुधी है, पर्याय-मुग्ध, परया समया वही है ॥१०३॥

पर्याय में निरत हैं नित झूलते हैं, वे हैं पराय समया निज भूलते हैं।
आत्मीयभाव रत हो दृग खोलते हैं, वे हैं स्वकीय स्वमया गुरु बोलते हैं ॥१०४॥

जो छोड़ता निज स्वभाव नहीं कदापि, उत्पाद, ध्रौव्य, व्यय शील धरे तथापि।
पर्यायवान, गुणवान सदा सुहाता, गाता जिनागम, यही बस द्रव्य गाथा ॥१०५॥

नाना प्रकार अपने गुण पर्ययों से, उत्पाद, ध्रौव्य, व्यय रूप प्रवर्तनों से।
सद्भाव द्रव्य गुण का रहता हमेशा, सो ही स्वभाव उसका कहते जिनेशा ॥१०६॥

ये सर्व द्रव्य जग में निज लक्षणों से, हैं भिन्न-भिन्न अवभाषित हैं युगों से।
पै एक सर्वगत लक्षण सत् सुधारे, यों धर्मनायक कहें जिननाथ प्यारे ॥१०७॥

हैं सत् स्वभाववश द्रव्य रहा जिया है, यों वस्तुत: कथन भी जिनने किया है।
सो ही जिनागम कहे, जिसको न माने, वे ही पराय समया, सुन तू सयाने! ॥१०८॥

पर्याय और गुण में ध्रुव ध्वंस जन्मा, धारा प्रवाह बहता परिणाम नामा।
सो द्रव्य का निज स्वभाव कहें विमोही, औ सत् स्वभाव भर में स्थित द्रव्य सोही॥१०९॥

उत्पाद के बिन विनाश कभी न भाता, उत्पाद भी नहिं विनाश बिना सुहाता।
औ ध्रौव्य रूप उस अर्थ बिना कदापि, उत्पाद नाश दिखते न कहें अपापी ॥११०॥

ये एक साथ ध्रुवता व्ययता प्रसूती, पर्याय में विलसती रहती विभूती।
पर्याय द्रव्य भर में रहती स्वतः है, सो द्रव्य निश्चित त्रयात्मक ही अतः है ॥१११॥

उत्पाद ध्रौव्य व्यय शील त्रिलक्षणों से, हो युक्त द्रव्य यह निश्चित है युगों से।
औ एक ही समय में उन रूप होता, भाई अतः वह त्रयात्मक द्रव्य होता ॥११२॥

पर्याय एक उगती दिखती यदा है, तो दूसरी मरण भी करती तदा है।
पै द्रव्य द्रव्य भर हो लसता सदा है , उत्पन्न हो न मिटता ध्रुव संपदा है ॥११३॥

तादात्म्य रूप गुण से गुण अन्य पाता, सो आप ही परिणमें वह द्रव्य भाता।
भाई अतः स्वगुण पर्यय रूप स्वामी-है द्रव्य शाश्वत कहें जग-भूप नामी ॥११४॥

होता न द्रव्य यदि सत् मत हो तुम्हारा, कैसा बने ध्रुव असत् वह द्रव्य प्यारा।
या सत्त्व से यदि निरा वह द्रव्य होवे, सत्ता स्वयं इसलिए फिर क्यों न होवे ॥११५॥

होते प्रदेश अपने-अपने निरे हैं, पै वस्तु में, न बिखरे बिखरे पड़े हैं।
पर्याय-द्रव्य-गुण लक्षण से निरे हैं, पै वस्तु में, जिन कहे जग से परे हैं ॥११६॥

पर्याय द्रव्य गुण ये सब सत् सुधारे, विस्तार सत् समय का गुरु यों पुकारे।
सत्तादि का रहत आपस में अभाव, सो ही रहा समझ मिश्र अतत् स्वभाव ॥११७॥

जो द्रव्य है वह कभी गुण हो न पाता, है वस्तुतः गुण नहीं बन द्रव्य पाता।
सो ही रहा अतद्भाव सही कथा है, होता कथंचित् अभाव न सर्वथा है ॥११८॥

द्रव्यत्व का स्व परिणाम सदा सुहाता, अस्तित्वधाम गुण सो जिन शास्त्र गाता।
सत्ता स्वभाव भर में स्थित द्रव्य सोही, है सत् रहा कि इस भाँति कहें विमोही॥११९॥

पर्याय का जनन भी कब कौन होई ? लो द्रव्य के बिन नहीं गुण होय कोई।
द्रव्यत्व ही तब रहा ध्रुव जन्मनाशी, सत्ता स्वरूप खुद द्रव्य अतः विभासी ॥१२०॥

एवं अनेकविध स्वीय स्वभाव वाला, होता सुसिद्ध जब द्रव्य स्वयं निराला।
पर्याय द्रव्य नय से वह द्रव्य भाता, भाई अभावमय भावमयी सुहाता ॥१२१॥

जीवत्व जीव धरता नर देव होता, तिर्यंच नारक तथा स्वयमेव होता।
पै द्रव्य द्रव्यपन को जब ना तजेगा, कैसा भला परपना फिर वो भजेगा ॥१२२॥

हो देव मानव न या नर देव ना हो, किं वा मनुष्य शिव भी स्वयमेव ना हो।
ऐसी दशा जब रही व्यवहार गाता, कैसे अनन्यपन को वह धार पाता ॥१२३॥

द्रव्यार्थि के वश सभी बस द्रव्य भाता, पर्याय अर्थिवश पर्यय रूप पाता।
ऐसा कथंचित् अनन्य व अन्य होता, तत्काल क्योंकि वह तन्मय द्रव्य होता ॥१२४॥

पर्याय के वश किसी वह द्रव्य भी है, है, है न, है उभय, शब्द अतीत भी है।
औ शेष भंग मय भी वह है कहाता, ऐसा कथंचित् वही सबमें सुहाता ॥१२५॥

पर्याय नाश बिन रहती कहाँ क्या ? वैभाविकी परिणती भि नहीं तथा क्या ?
उत्कृष्ट धर्म यदि निष्फल हो सुहाता, संसार का सुवर्तन किस भाँति भाता ॥१२६॥

जो नामकर्म अपने बल ले सुहाता, शुद्धात्म की उस निजी शुचिता मिटाता।
औ जीव को वह कभी नर भी बनाता, तिर्यंच नारक कभी सुर या बनाता ॥१२७॥

या कर्म आप अपने-अपने बसों से, पाये स्वभाव बिन ही अब लौं युगों से।
हैं नामकर्म वश हो भव बीच रोते, तिर्यंच देव नर नारक जीव होते ॥१२८॥

संसार तो क्षणिक है यह तो सही है, कोई यहाँ जनमता मरता नहीं है।
उत्पाद सो विलय निश्चय गा रहा है, है जन्म नाश विविधा व्यवहार, हा! है ॥१२९॥

शुद्धात्म सा शुचि अतः कुछ ना सही है, कोई स्वभाव स्थित ही जग में नहीं है।
संसारि की वह क्रिया रति राग माया, संसार है भटकता न हि जाग पाया ॥१३०॥

आत्मा लिपा करम के मल से अनादि, सो ही कुकर्म करता रति राग आदि।
लो कर्म कीच फँसता फिर से ततः है, रागादि ये करम चूँकि सभी अतः हैं ॥१३१॥

आत्मा स्वयं हि परिणाम रहा सही है, आत्माभिभूत परिणाम क्रिया वही है।
है भावकर्म रति आदि क्रिया स्वतः है, कर्ता न जीव जड़बंधन का अतः है ॥१३२॥

आत्मा सचेतनमयी परिणाम ढोता, छोड़े कभी न उसको अभिराम होता।
सो चेतना त्रिविध है, प्रभु ने कही है, है कर्म, कर्मफल, ज्ञानवती रही है ॥१३३॥

ज्ञेयानुकार वह ज्ञान सचेतना है, औ सौख्य दुःख विधि का फल चेतना है।
आत्मा शुभाशुभ शुची उपयोग ढोता, सो कर्मचेतन वही भवयोग होता ॥१३४॥

आत्मा नितान्त परिणाममयी दिखाता, सो ज्ञान कर्मफल हो परिणाम भाता।
आत्मा रहा नियम से फलतः स्वतः है, जो कर्म कर्मफल ज्ञानमयी अतः है ॥१३५॥

कर्ता तथा करण भी फल कर्म सारा, आत्मा रहा श्रमण ने यदि यों निहारा।
रागादिरूप फिर वो ढलता नहीं है, शुद्धात्म को नियम से गहता सही है ॥१३६॥

ये द्रव्य हैं अमिट जीव अजीव सारे, चैतन्यरूप उपयोग सुजीव धारे।
पै शेष द्रव्य सब पुद्गल आदि न्यारे, होते अचेतन अजीव सुधी विचारें ॥१३७॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ हैं, माना गया अमित लोक यही यहाँ है।
आकाश केवल अलोक सदा सुहाता, ऐसा वसन्ततिलका यह छन्द गाता ॥१३८॥

ये जीव पुद्गल परस्पर में कभी हैं, लो दीखते बिछुड़ते मिलते कभी हैं।
उत्पाद, ध्रौव्य व्यय रूप कई दशायें, होती नितान्त जिनसे त्रय में समाये ॥१३९॥

आत्मीय चिह्नवश जीव अजीव सारे, जो ज्ञात हैं जगत में अयि! जीव प्यारे!।
वे सर्वचिह्न गुण मूर्त अमूर्त भाते, जो द्रव्य आश्रित विशेष स्वभाव तातैं ॥१४०॥

ये इन्द्रियां पकड़ती गुण मूर्त तातैं, होते अनन्य जड़ पुद्गल के कहाते।
होते अमूर्त गुण द्रव्य अमूर्त होते, स्वीकारते न इसको शठ धूर्त होते ॥१४१॥

ये वर्ण स्पर्श रस गन्ध जहाँ बसे हैं, वे द्रव्य पुद्गल अनन्त यहाँ लसे हैं।
गुर्वी धरा तक वही अणु से, खिले हैं, औ शब्द रूप विविधा जड़ ही ढले हैं ॥१४२॥

आकाश का गुण रहा अवकाश देना, धर्मास्तिकाय गुण है गति दान देना।
होता अधर्म गुण है स्थिति नाम वाला, विश्वास भव्य करता मतिज्ञान वाला ॥१४३॥

लो काल का गुण रहा परिवर्तना है, औ जीव का समुपयोग रहा तना है।
संक्षेप में गुण रहे गुण ये कहाते, भाई अमूर्त उन द्रव्यन के सुहाते ॥१४४॥

आकाश जीव जड़ धर्म अधर्म सारे, धारे असंख्य परदेश सुधी विचारें।
पै काल काय न कदापि असंख्य देशी, ऐसा जिनागम कहे सुन तू हितैषी ॥१४५॥

ये पाँच द्रव्य बिन काल यहाँ दिखाते, हैं अस्तिकाय गुरु यों हमको बताते।
सो काय का सरल सार्थक अर्थ माना, मानो अनेक परदेश समूह बाना ॥१४६॥

आकाश व्याप्त त्रय लोक अलोक में है, है व्याप्त धर्म व अधर्म त्रिलोक में है।
औ जीव पुद्गलन को लख ज्ञान होता, है काल लोकत्रय में परमाण होता ॥१४७॥

आकाश-देश परमाणु प्रमाण द्वारा, हैं ज्ञात शेष सब द्रव्य प्रदेश भारा।
उद्भूत देश सब ये अणु से अतः हैं, है एक देश अणु में अणु वो स्वतः है ॥१४८॥

अत्यन्त मन्द गति से परमाणु जाता, ज्यों पूर्व देश तजता पर देश पाता।
कालाणु का समय हेतुक अप्रदेशी, आकाश का इक प्रदेश घिरा, हितैषी! ॥१४९॥

पूर्वोक्त सा अणु चला तब जो लगा है, सो काल ही समय है सुन तू जगा है।
जो था पुरा अब रहा वह अर्थ होता, है काल औ समय तो व्यय जन्म ढोता ॥१५०॥

आकाश व्याप्त जितना अणु से रहा है, माना गया नभ प्रदेश वही रहा है।
चाहे सभी अणु वहीं रहना, चलेगा, सो ही प्रदेश, उनको श्रय दे सकेगा ॥१५१॥

यों एक दो बहु असंख्य अनन्त आदि, ये सर्व द्रव्य परदेश धरें अनादि।
पै काल का समय ही परदेश होता, श्री वीर का तुम सुनो उपदेश श्रोता! ॥१५२॥

कालाणु में सतत दो परिणाम होते, जो एक ही समय में व्यय जन्म होते।
सो ही स्वभाव स्थित हो चिर से रहा है, कालाणु जो समय है गुरुने कहा है ॥१५३॥

लो एक ही समय, काल पदार्थ में हो, उत्पाद ध्रौव्य व्यय भाव यथार्थ में वो।
त्रैरूप्य भाव यह जो लसता यदा है, सद्भाव काल अणु का फलतः सदा है ॥१५४॥

मानो, अनेक परदेश न धारता है, किं वा प्रदेश तक भी नहिं धारता है।
सो शून्य अर्थ सुन शास्त्र सुना रहा है, अत्यन्त भिन्न उस सत्पन से रहा है ॥१५५॥

जो भी पदार्थ दल है परदेश धारा, सम्पूर्ण लोक जिससे कि भरा सुचारा।
सो लोक ज्ञेय भर है चिर नित्य भाता, पै चार प्राणधर जीव जिसे जनाता ॥१५६॥

उच्छ्वास आयु बल इन्द्रिय आदि सारे, ये चार प्राण जिनको जग जीव धारे।
ऐसा यहाँ कह रहा यह शास्त्र साता, विश्वास भव्य जिस पे दृढ़ है जमाता ॥१५७॥

स्पर्शादि पाँच मिलती सब इन्द्रियाँ हैं, कायादि तीन मिलते बल भी यहाँ हैं।
उच्छ्वास श्वास फिर आयु सभी मिला लो, हो प्राण ये दश दया इनपे दिखा ओ॥१५८॥

सो जीव है विगत में चिर जी चुका है, औ चार प्राण धर के अब जी रहा है।
आगे इसी तरह जीवन जी सकेगा, उच्छ्वास आयु बल इन्द्रिय पा लसेगा ॥१५९॥

मोहादि कर्मदल से चिर से घिरा है, तो चार प्राण फलतः जिसने धरा है।
आत्मा स्वकर्मफल को जब भोगता है, है और कर्म बंधता नहिं रोकता है ॥१६०॥

संमोह द्वेष उर में यदि धारता है, मानो कभी स्वपर प्राण विदारता है।
दुष्टाष्ट कर्ममय कर्दम में फँसेगा, संसार में दुखित हो चिर औ बसेगा ॥१६१॥

पंचेन्द्रि के विषय तो विष ही रहे हैं, जो छोड़ते न इनको नित पी रहे हैं।
कर्माभिभूत बन धर्म बिगाड़ते हैं, तो बार-बार तन प्राण सु-धारते हैं ॥१६२॥

योगी जितेन्द्रिय बने गतमान भाते, शुद्धोपयोगमय आतम ध्यान ध्याते।
तो कर्म रेणु उन पे न कभी लगेंगे, क्यों बार-बार फिर प्राण उन्हें मिलेंगे? ॥१६३॥

संस्थान संहनन आदिक भेद वाली, पर्याय जो उपजती त्रयवेद वाली।
अस्तित्त्व में नियत आतम की नहीं है, कर्माभिभूत जड़ पुद्गल की रही है ॥१६४॥

तिर्यंच देव नर नारक आदि सारी, ये भिन्न-भिन्न सब पर्यय की प्रणाली।
है नामकर्म जनिता भवधारियों में, होती परन्तु नहिं है शिवधारियों में ॥१६५॥

सद्भाव-रूप यह द्रव्य स्वभाव होता, पर्याय द्रव्य गुण हो त्रय भाव ढोता।
जो जानता यति उसे निज ज्ञान द्वारा, होता न मुग्ध पर में मतिमान प्यारा ॥१६६॥

आत्मा सदैव उपयोगमयी सुहाता, औ ज्ञान-दर्शनमयी उपयोग भाता।
सो ही शुभाशुभ कभी उपयोग होता, मोहादि का स्वयम में जब योग होता ॥१६७॥

ज्यों जीव में शुभमयी उपयोग होता, तो पुण्य का विपुल संचय योग होता।
मानों कभी अशुभ हो तब पाप आता, दोनों मिटे तब न आस्रव आप आता ॥१६८॥

जो सिद्ध में विनय से जिन साधुओं में, श्रद्धान पूर्ण रखता परमेष्ठियों में।
पूरी दया रख चराचर में सुहाता, सो ही रहा शुभमयी उपयोग साता ॥१६९॥

मोहादि में विषय में रत नित्य अंगी, कामादि शास्त्र पढ़ दुर्मन हो कुसंगी।
हो क्रूर हो कुपथ रूढ़ अशान्त प्राणी, ढोता सदा अशुभ ही उपयोग मानी ॥१७०॥

रीता रहूँ अशुभ के उपयोग से मैं, जोडूँ न चित्त शुभ के उपयोग से मैं।
ज्ञानाभिभूत निज आतम लीन होऊँ, माध्यस्थ धार पर में विधि हीन होऊँ ॥१७१॥

हूँ ज्ञानवान, मन ना तन ना न वाणी, होऊँ न कारण कभी उनका, न मानी।
कर्ता न कारक न हूँ अनुमोद दाता, धाता स्वकीय गुण का परसे न नाता ॥१७२॥

ये काय भी वचन भी मन आदि सारे, माने गये जड़ज पुद्गल के पिटारे।
जो पिंड हो अमित पुद्गल के तने हैं, भाई अनन्त अणु द्रव्यन से बने हैं ॥१७३॥

मैं पुद्गलात्मक नहीं मम ये नहीं हैं, मेरे न कार्य जड़ पुद्गल हैं सही हैं।
तो काय में पर न काय बना सदी से, कर्ता कदापि तन का नहिं हूँ इसी से ॥१७४॥

पा योग अन्य अणु का अणु स्कन्ध होता, है स्निग्ध रूक्ष गुणधारक चूँकि होता।
ना शब्द रूप अणु है, इक-देश-धारी, प्रत्यक्ष ज्ञान लखता अणु निर्विकारी ॥१७५॥

जो स्निग्ध रूक्ष गुण हैं अणु में सुहाते, होते स्वभाव वश बाहर से न आते।
वे एक एक करके परिणाम द्वारा, पाते अनन्तपन को सुन तू सुचारा ॥१७६॥

ये स्निग्ध रूक्ष सम वैषम से चलेगा, दो दो रहे अधिक बंध तभी बनेगा।
भाई जघन्य गुण से नहिं बंध होता, ऐसा सदा समझ तू जड़ अन्ध श्रोता ॥१७७॥

हो स्निग्ध चार गुण या गुण दो चलेगा, औचित्य बंध इन आपस में बनेगा।
हो रूक्ष पाँच गुण या त्रय भी चलेगा, सम्बन्ध क्यों न इन आपस में बनेगा ॥१७८॥

ये सूक्ष्म स्थूल द्व्यणुकादिक स्कन्ध बाना, संस्थान धारण किये जब मध्य नाना।
भू नीर अग्नि पवनादिक रूप सारे, हो आप आप अपने परिणाम धारे ॥१७९॥

सूक्ष्मादि स्कन्ध दल से त्रय लोक सारा, पूरा ठसाठस भरा प्रभु ने निहारा।
हैं योग्य स्कन्ध उनमें विधि-रूप पाने, होते अयोग्य कुछ हैं सुन तू सयाने ॥१८०॥

ज्यों जीव के विकृत भाव निमित्त पाती, वे वर्गणा विधिमयी विधि हो सताती।
आत्मा उन्हें न विधि-रूप हठात् बनाता, होता स्वभाववश कार्य सदा दिखाता॥१८१॥

प्राचीन कर्मवश देह नवीन पाते, संसारि जीव पुनि कर्म नये कमाते।
यों बार-बार कर कर्म दुखी हुए हैं, वे कर्मबन्ध तज सिद्ध सुखी हुए हैं ॥१८२॥

औदारिकादि बस! पाँच शरीर सारे, निर्जीव मात्र जड़ पुद्गल के पिटारे।
आत्मा सचेतन निकेतन है निराला, भूला गया कि हमसे चिर से विचारा ॥१८३॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, संस्थान से विकल है सुख का पिटारा ॥१८४॥

स्निग्धादि स्पर्शवश आपस में मिले हैं, रूपादि भाव जड़ बंधन में ढले हैं।
आत्मा अमूर्त जब है विधि बंध कैसा, है पूछता अब तुम्हें यह छन्द ऐसा ॥१८५॥

आत्मा अमूर्त बस मात्र पिछानता है, रूपादि द्रव्य गुण को बस जानता है।
मानो विकार मन में तब भूल लाता, जानो वही करम बंध अतः कहाता ॥१८६॥

पंचेन्द्रि के विषय संगम चूँकि पाता, आत्मा स्वकीय उपयोगन को दुखाता।
संमोह रोष रति से निज को रंगाता, सो भावबंध जिन आगम में कहाता ॥१८७॥

मोही मिले विषय को रति भाव द्वारा, हो जानता निरखता निज को बिसारा।
रंजायमान पुनि हो पुनि कर्म पाता, है गा रहा समय यों नहिं धर्म पाता ॥१८८॥

स्पर्शादि भाव वश पुद्गल बंध पाता, रागादि भाव वश आतम बंध पाता।
ये जीव पुद्गल परस्पर मेल पाते, हो एक क्षेत्र अवगाहक खेल पाते ॥१८९॥

हैं आत्म में बहु असंख्य प्रदेश भाते, आके यहाँ जड़निकाय प्रवेश पाते।
संश्लिष्ट हो उचित आश्रय और पाते, हैं पूर्ण आयु कर बाहर ओर जाते ॥१९०॥

जो राग से सहित है वसु कर्म पाता, होता विराग भव-मुक्त अनन्त ज्ञाता।
संसारि जीव भर की विधि बंध गाथा, संक्षेप में समझ क्यों रति गीत गाता ॥१९१॥

है बन्ध तत्त्व लसता परिणाम द्वारा, संमोह रोष रति ये परिणाम भारा।
संमोह रोष अशुभाश्रित ही अहा है, पै राग तो वह शुभाशुभ भी रहा है ॥१९२॥

है पाप जो अशुभ भाव वही तुम्हारा, है पुण्य सौम्य शुभ भाव सभी विकारा।
है निर्विकार निज भाव नितान्त प्यारा, हो दुःख नष्ट जिससे सुखशान्तिधारा ॥१९३॥

ये जीव काय त्रस स्थावर आदि सारे, माने गये परम आगम में विचारे।
हैं शुद्ध जीवपन से रहते निराले, औ शुद्ध जीव उनसे अति भिन्न प्यारे ॥१९४॥

लेता स्वभाव भर का नहिं जो सहारा, शुद्धात्म तत्त्व जिसने यदि ना निहारा।
संमोह से भ्रमित अध्यवसान ऐसा, मैं हूँ मदीय तन यों करता हमेशा ॥१९५॥

आत्मा स्वभाव करता रहता यदा है, कर्ता स्वकीय उस भावन का तदा है।
कर्ता परन्तु पर पुद्गल का नहीं है, हो एक साथ इक कार्य यही सही है ॥१९६॥

आत्मा सदा यदपि पुद्गल मध्य जीता, हो निर्विकार, न कभी विधि मद्य पीता।
स्वीकारता न तजता कुछ भी कदापि, कर्त्ता नहीं करम का बनता अपापी ॥१९७॥

आत्मा विकार निज में जब भूल लाता, कर्त्ता अवश्य उसका बन दुःख पाता।
तो कर्म के ग्रहण से घट फूट जाता, प्राचीन कर्मफल दे कुछ छूट जाता ॥१९८॥

जो राग-रोष युत होकर के चलेगा, आत्मा तभी अशुभ में शुभ में ढलेगा।
दुष्टाष्ट कर्म मल आ उसमें घुसेगा, सो देह गेह भर में चिर औ बसेगा ॥१९९॥

संक्लेश तो अशुभ में अनुभाग डाले, डाले विशुद्धि शुभ में करमों सम्भाले।
ये तीव्र मन्द जब हो जिनशास्त्र गाते, उत्कृष्ट औ अधम ही रस डाल पाते ॥२००॥

संमोह रोष रति आकर क्लेश शाला, होता कषायवश जीव प्रदेश वाला।
तो कर्म कर्दम फँसा फँस और जाता, सो बन्ध है समय है इस भाँति गाता ॥२०१॥

संसारि जीव-भर की यह बन्ध गाथा, भाई विशुद्ध नय है इस भाँति गाता।
पै द्रव्य बंध वह तो व्यवहार से है, ऐसा जिनेश कहते अनगार से है ॥२०२॥

मैं हूँ मदीय तन यों रटता सदा है, ना त्यागता अहमता ममता मुधा है।
श्रामण्य को श्रमण हो तजता स्वतः है, उन्मार्ग पे विचरता सहसा अतः है ॥२०३॥

मेरे नहीं पर यहाँ पर का न मैं हूँ, हूँ एक हूँ विमल केवलज्ञान मैं हूँ।
यों ध्यान में सतत चिन्तन जो करेगा, ध्याता स्व का बन सुमुक्ति-रमा वरेगा ॥२०४॥

है ज्ञान-दर्शन-मयी शुचि शुद्ध शाला, होता अतीन्द्रिय अनर्घ्य अबद्ध प्यारा।
स्वाधीन है अचल है ध्रुव भी रहा है, मानूँ सदैव निज तत्त्व यही रहा है ॥२०५॥

ये देह गेह वनिता धन सम्पदा ये, वैरी सहोदर तथा सुख आपदायें।
हैं जीव के नहिं रहें ध्रुव भी नहीं है, आत्मा अनन्त उपयोगमयी सही है ॥२०६॥

यों जान मान शुचि आतम जो बने हैं, आत्मीय ध्यान धर में रत हैं सने हैं।
साकार या कि अनकार सुचित्त वाले, हैं मोहग्रन्थि जड़ से झट काट डालें ॥२०७॥

जो मोह नष्ट करके तन से उदासी, होता अतः श्रमण है रति रोष नाशी।
औ साम्य दुःख-सुख में जब धारता है, पाता अनन्त सुख है जग तारता है ॥२०८॥

जो पूर्णतः विषय सौख्य विसारता है, धो मोह रूप मल को मन मारता है।
भाई स्वभाव भर में स्थिर हो सुहाता, आत्मीय ध्यान करता वह साधु ध्याता ॥२०९॥

लो! घाति कर्म दल को मुनि ने विदारा, प्रत्यक्ष ज्ञान धर के सबको निहारा।
ज्ञातव्य था सकल ज्ञात हुआ बली हैं, क्या ध्यान से फिर प्रयोजन केवली हैं? ॥२१०॥

जैसे अतीन्द्रिय अनक्ष बने बली हैं, बाधा जिन्हें कुछ नहीं जिन केवली हैं।
आत्मोत्थ पूर्ण सुख ज्ञान नितान्त पाते, उत्कृष्ट सौख्य भर को दिन-रात ध्याते॥२११॥

एवं जिनेश जिन औ श्रमणादि सारे, सन्मार्ग पाकर बने शुचि सिद्ध प्यारे।
पूजूँ उन्हें विनय से तज ग्रन्थ को मैं, वन्दूँ तथैव उनके शिवपंथ को मैं ॥२१२॥

आत्मा स्वभाव वश ज्ञायक शुद्ध मेरा, ऐसा अतः समझ के नित मैं अकेरा।
सम्पूर्णतः विषमता ममता विसारूँ, आसीन, निर्मम बनूँ निज में निहारूँ ॥२१३॥

निर्दोष दर्शन लिये मति शोध डाले, शंकादि दोष बिन सार्थक बोध पाले।
वन्दूँ उन्हें विनय से मुनिपुंगवों को, बाधा बिना निरत नित्य निरंजनों को ॥२१४॥

सिद्धों पुनः नमन हो श्रमणों जिनों को, श्रामण्य क्या कुछ कहूँ सुख-वांछकों को।
तू चाहता यदि भवोदधि पार जाना, श्रामण्य से श्रमण हो उर धार बाना ॥२१५॥

माता पिता सुत सुता वनिताजनों को, है छोड़ता प्रथम पूछ स्व बांधवों को।
पश्चात् वहाँ पहुँच नम्र बना पुजारी, जो ज्ञान वीर्य तप दर्शन वृत्त-धारी ॥२१६॥

हैं योग्य रूप कुल में वय में गणी हैं, हैं साधु पूज्य श्रमणेश वशी गुणी हैं।
स्वामी! कृतार्थ कर दो नत माथ बोले, आचार्य दीक्षित करें शिव पाथ खोले ॥२१७॥

मेरे नहीं पर यहाँ पर का न मैं हूँ, हूँ एक, हूँ विमल, केवलज्ञान मैं हूँ।
यों सत्य को समझ अम्बर रूप टारा, साधू जितेन्द्रिय दिगम्बर रूप धारा ॥२१८॥

दाढ़ी व मूँछ शिर केश उखाड़ना हो, हो पूर्ण नग्न सब वस्त्र उतारना हो।
औ पाँच पाप तजना बिन संग होना, होना निरीह तन से शुचि लिंग लो ना! ॥२१९॥

आरम्भ मोह-मद से अति दूर होता, योगोपयोग शुचि से भरपूर होता।
होता पराश्रित न, स्वाश्रित मात्र होता, सो जैन लिंग शिवकारण पात्र होता ॥२२०॥

यों बार-बार गुरु को शिर भी झुकाता, है भव्य, श्रेष्ठ गुरु से मुनि लिंग पाता।
जो भी रही व्रत क्रिया सुन पूर्ण लेता, हो स्वस्थ हो श्रमण वो सुख पूर्ण लेता ॥२२१॥

हैं पाँच ही समितियाँ व्रत पंच सारे, पंचेन्द्रि का जयन लोच अचेल प्यारे।
अस्नान भूशयन औ स्थिति भोज भुक्ति, ना दन्तधावन अवश्यक एक भुक्ति॥२२२॥

ये मूल में श्रमण के गुण हैं कहाते, हैं बीस आठ, हमको जिन हैं बताते।
साधू प्रमाद करता गुण हैं निभाता, छेदोप-थापक तभी फलतः कहाता ॥२२३॥

दीक्षा प्रदान करते गुरु वे कहाते, आचार्य आदिक जिनागम यों बताते।
जो छेद को पुनि सुचारु सुधार पाते, निर्यापका श्रमण शेष सुधी कहाते ॥२२४॥

शास्त्रादि को यतन से रखता उठाता, संभाव्य है श्रमण को कुछ दोष आता।
आलोचना कर प्रतिक्रमणादि द्वारा, निर्दोष संयम बने फिर से सुचारा ॥२२५॥

दोषी बना श्रमण तो गुरु पास जाता, शास्त्रज्ञ जो श्रमण दण्डविधान ज्ञाता।
आलोचना कर वहाँ मन पाप खोले, औ प्राप्त दण्ड व्रत से मन साफ धोले ॥२२६॥

भोगोपभोगमय भावन को निवारे, होते ससंघ अथवा बिन संघ प्यारे।
श्रामण्य में नहिं कलंक कभी लगाते, निर्भीक हो श्रमण जीवन को बिताते ॥२२७॥

स्वाधीन हो श्रमण हैं करते विहारा, विज्ञान दर्शनमयी गुण में सुचारा।
होके सतर्क निज मूलगुणादि पालें, वे पूर्णतः श्रमण संस्कृति रूप धारें ॥२२८॥

आहार के ग्रहण में उपवास में भी, आवास पर्यटन में वनवास में भी।
शास्त्रादि में उपधि में विकथादिकों में, होता न मुग्ध मुनि हैं, मुनि साधुओं में॥२२९॥

पाले बिना समितियाँ उठ बैठ जाता, आता तथा शयन आसन भी लगाता।
होगा भले श्रमण, ना पलती अहिंसा, वो तो प्रमाद करता दिन-रैन हिंसा ॥२३०॥

जी जाय जीव अथवा मर जाय हंसा, पालो नहीं समितियाँ बन जाय हिंसा।
होती रहे वह भले कुछ बाह्य हिंसा, तू पालता समितियाँ पलती अहिंसा ॥२३१॥

आता यती समिति से उठ बैठ जाता, भाई तदा यदि मनो मर जीव जाता।
साधू तथापि नहिं है अघकर्म पाता, दोषी न हिंसक अहिंसक ही कहाता ॥२३२॥

संमोह को तुम परिग्रह नित्य मानो, हिंसा प्रमाद भर को सहसा पिछानो।
अध्यात्म आगम अहो इस भाँति गाता, भव्यात्म को सतत शान्ति सुधा पिलाता॥२३३॥

जो यत्न से श्रमण हो चलता नहीं है, षट्काय का वधक बंधक भी वही है।
हो अप्रमत्त यदि वो चलता सुहाता, निर्लिप्त है जलज ज्यों जल में नहाता ॥२३४॥

साधू चले तबहि जीव मनों मरेगा, हो जाय बंध अथवा नहिं हो चलेगा।
पै संग के ग्रहण से ध्रुव बंध होता, निस्संग ही श्रमण थे, तज संग स्त्रोता ॥२३५॥

जो संग को श्रमण हो करके रखेगा, क्या चित्त में विमलता रख वो सकेगा ?
लो, चित्त ही न जिसका यदि शुद्ध होवे, तो कर्म का क्षय भला किस भाँति होवे? ॥२३६॥

स्वीकारता श्रमण हो यदि वस्त्र को है, हो मान्य भाण्ड रखना जिनशास्त्र को है।
स्वाधीन जीवन भला कब जी सकेगा, आरम्भ से रहित क्या फिर भी रहेगा? ॥२३७॥

जो वस्त्र खण्ड अथवा पयपात्र धारे, या अन्य वस्तु मुनि होकर के सम्भारे।
तो प्राणघात समझो फिर ना टलेगा, औचित्य ! चित्त तल व्याकुल हो जलेगा ॥२३८॥

जो वस्त्रखण्ड पय भाजन माँग लाता, धो धूल शुद्ध कर धूपन में सुखाता।
कोई न ले इसलिए डरता, डराता, रक्षार्थ यत्न करता बहुकाल जाता ॥२३९॥

क्यों हो न मोह उसमें जब संग ढोता, आरम्भ भी वह असंयम क्यों न होता।
मोही निरन्तर भला पर को चखेगा, कैसा स्वकीय परमातम को लखेगा ॥२४०॥

यों क्षेत्र काल अनुसार करे विचारा, लेवें उसी उपधि का मुनि ये सहारा।
चारित्र दूषित न हो, जिससे भलाई, श्रामण्य में श्रमण के बनता सहाई ॥२४१॥

जो मांगना नहिं पड़े गृहवासियों से, ना हो विमोह ममतादिक भी जिन्हों से।
ऐसे परिग्रह रखे उपयुक्त होवे, पै अल्प भी अनुपयुक्त न साधु ढोवे ॥२४२॥

दुर्गन्ध अंग तक संग जिनेश गाया, यों देह से खुद उपेक्षित से दिखाया।
क्षेत्रादि बाह्य सब संग अतः विसारो, होके निरीह तन से तुम मार मारो ॥२४३॥

लोकेषणा न सुरलोकन की अपेक्षा, मोक्षार्थ धर्मपथ है सबकी उपेक्षा।
तो शास्त्र में कथित क्यों पद आर्यिका का, सो पूछना यह रहा इस कारिका का ॥२४४॥

ना मोक्ष हो नियम से गृहवासियों को, वैसा उसी जनम से श्रमणीजनों को।
औचित्य सावरण लिंग कहा इसी से, सत् शास्त्र में रुचि सभी धर लो सु-धी से ॥२४५॥

नारी रची प्रकृति से परमाद से है, सो कोष में कि प्रमदा अनुवाद से है।
है निर्विवाद जब वो प्रमदा सदी से, मानी प्रमाद बहुला समझो इसी से ॥२४६॥

है मोह भीति मन में, वचनों, तनों में, माया विचित्र पलती, प्रमदाजनों में।
कुत्सा जिन्हें नियम से कब छोड़ पाती, निर्वाण-धाम तक ये नहिं दौड़ पाती ॥२४७॥

एकाध, दोष तक भी नहिं टाल पाते, पूर्वोक्त दोष सब ही इनमें दिखाते।
निर्वस्त्र हो विचरना न इन्हें सुहाता, सो योग्य वस्त्र पहने जिनशास्त्र गाता ॥२४८॥

उद्रेक काम रिपु का जिनको सताता, शैथिल्य भाव जिन को दिन-रैन खाता।
होती तथा ऋतुमती प्रतिमास में है, हो सूक्ष्म मर्त्य जिनके तनु-वास में हैं ॥२४९॥

जो नाभि कक्ष कटि में प्रमदा स्तनों में, गुह्यांग में जनमते मरते क्षणों में।
ऐसी दशा जब रही,यह नारि जाति, कैसी भली सकल संयम धार पाती ॥२५०॥

सम्यक्त्व से सहित होकर आर्यिका ये, एकादशांग श्रुत को यदि पार पाये।
अत्यन्त घोर तपती सहती ततूरी, पै, निर्जरा करम की इनकी अधूरी ॥२५१॥

होती अतः कुलवती रूप-वाली, आरोग्य, योग्य वय ले, तन को सम्भाली।
आर्या, सवस्त्र रह आचरणा सुधारें, ऐसा कहें जिन करे जग में उजारे ॥२५२॥

हैं तीन वर्ण जिनमें इक वर्ण वाला, आरोग्य से सहित हो, मुख सौम्य धारा।
सामर्थ्यवान तप में दृढ़ अंग वाला, ना बालवृद्ध पर हो मुनिलिंग वाला ॥२५३॥

सम्यक्त्व बोध व्रत भंग हि भंग होता, ऐसा कहे जिन सुनो मन दंग होता।
निर्ग्रन्थ साधु फिर वो नहिं हो सकेगा, हो अंग भंग जिसका मन रो सकेगा ॥२५४॥

सत्शास्त्र का मनन औ गुरु -देशना ये, श्रद्धा समेत गुरुदेव उपासना ये।
औ जात रूप दिग-अम्बर लिंग प्यारे, सन्मार्ग में सब निमित्त गये पुकारे ॥२५५॥

ना ख्याति लाभ निज पूजन की अपेक्षा, ना स्वर्ग चाह रखता सबकी उपेक्षा।
शास्त्रानुसार, मित भोजन आदि लेता, होता वही श्रमण पूज्य,कषाय-जेता॥२५६॥

वे चार चार मिलती विकथा कषायें, पंचाक्ष के विषय पाँच यहाँ दिखायें।
निद्रा तथा प्रणय पंद्रह हैं इन्हीं से, होते प्रमत्त मुनि हैं गिरते गिरी से ॥२५७॥

आहार से नहिं अपेक्षित हो कदापि, साधू उपेक्षित रहा तप से तथापि।
रे अन्य भोजन अनेषण ही कहाता, भाई अतः अनशनी मुनि है सुहाता ॥२५८॥

लो संग तो श्रमण का तन ही अकेला, ऐसा कभी न कहता तन चूँकि मेरा।
शास्त्रानुसार तन को तप में लगाता, औचित्य है, न तन के बल को छिपाता ॥२५९॥

सागार दे अशन पै नहिं मांग लेना, लेना अपूर्ण भरपेट कभी न लेना।
जो भी मिला दिवस में इक बार लेना, हो मुक्त मांस मधु से रस टार लेना ॥२६०॥

जो मांस में बिन पके पकते पकाये, होते निगोद गुरु ने जग को बताये।
वे भी स्वजाति रस गन्ध स्ववर्ण वाले, जन्में निरन्तर अनन्त, अनन्त सारे ॥२६१॥

जो जानबूझ कर भी यदि मांस खाता, छूता तथापि कर से वह भूल जाता।
सो मारता बहुत जीवन को करोड़ों, पालो दया जिन कहें, मन को मरोड़ो ॥२६२॥

आहार शुद्ध कर-भाजन में मिला है, देना उसे उचित ना पर को कहा है।
देके उसे फिर न भोज करे करेगा, तो दण्ड पात्र उसको बनना पड़ेगा ॥२६३॥

लो, बाल भी श्रमण जो वय में रहे हों, या रोगग्रस्त श्रम से थक भी गये हों।
या वृद्ध हो व्रत स्वयोग्य सदा निभाले, हो मूल छेद जिससे न, स्वयं विचारे ॥२६४॥

जो देह देश श्रम काल बलानुसार, आहार ले यदि व्रती करता विहार।
तो अल्प कर्म मल से वह लिप्त होता, औचित्य एक दिन है भवमुक्त होता ॥२६५॥

एकाग्रचित्त जिसका मुनि चूँकि होता, तत्त्वार्थ निश्चय करे स्थिर चित्त होता।
कर्त्तव्य शास्त्र पढ़ना नित चाव से हो, यों शास्त्र पान वर है नित चाव से हो ॥२६६॥

सत्शास्त्र को श्रमण हो नहिं जान पाता, सो आत्म को व पर को न पिछान पाता।
जो जानकार निज या पर का न होगा, तो कर्म का क्षय भला किस भाँति होगा? ॥२६७॥

है चर्म चक्षु जगजंगम जन्तुओं की, है चक्षु तो अवधिज्ञान सुरासुरों की।
सर्वात्म ही नयन सिद्धन की कही है, पै साधु चक्षु जिन आगम ही सही है ॥२६८॥

नाना प्रकार गुण पर्यय से भरे हैं, सिद्धान्त में कथित अर्थ निरे-निरे हैं।
सिद्धान्त में श्रमण जो अवगाह पाता, है जानता सब पदार्थ यथार्थ गाथा ॥२६९॥

शास्त्रानुसार सम-दर्शन जो न धारा, सो दूर है श्रमण संयम से विचारा।
सिद्धान्त यों कह रहा कहते यती हैं, कैसा भला श्रमण हो कि असंयती है ॥२७०॥

श्रद्धान ही यदि पदार्थन में न होगा, तो शास्त्र ज्ञान भर से नहिं मोक्ष होगा।
श्रद्धान हो दृढ़ तथापि असंयमी है, निर्वाण हो न उसको कहते यमी हैं ॥२७१॥

है कर्म नष्ट करता जितना वनों में, जा अज्ञ धार तप कोटि भवों-भवों में।
ज्ञानी निमेष भर में त्रय गुप्ति द्वारा, है कर्म नष्ट करता उतना सुचारा ॥२७२॥

देहादि के विषय को न विसारता है, संमोह राग कण भी यदि धारता है।
भाई कभी न उसको मुक्ती मिलेगी, होगा विशारद जिनागम में भले ही ॥२७३॥

आरम्भ से रहित हो बिन संग होना, पंचाक्ष के विषय का नहिं रंग होना।
जेता कषाय रिपु का शिवपंथ माना, आदर्श संयम यहाँ जयवन्त बाना ॥२७४॥

हो तीन गुप्तियुत औ मन अक्ष जेता, पाँचों सही समितियाँ नित पाल लेता।
सम्यक्त्वज्ञान युत हो यदि है सुहाता, जानो वही श्रमण संयत है कहाता ॥२७५॥

हो कांच कंचन जिन्हें इक सार सारे, जो एक से मरण जीवन को निहारे।
निंदा प्रशंस स्तुति में रिपु बान्धवों में, धारे समा श्रमण वे दुख में सुखों में ॥२७६॥

वैराग्य पा श्रमण शोभित हो रहा हो, सम्यक्त्व ज्ञान व्रत में रत हो रहा हो।
एकत्व धारक जिनागम में कहाता, श्रामण्य को बस वही परिपूर्ण पाता ॥२७७॥

ना मोह रोष रति भी करते किसी से, जीते सदा श्रमण हो शुचि हैं शशी से।
वे ही अनेक विध कर्म विनाश डालें, स्थाई सही परम पूर्ण प्रकाश वाले ॥२७८॥

लेके कभी पर पदार्थन का सहारा, संमोह रोष करता यदि राग खारा।
अज्ञान से श्रमण भूषित हो वहीं से, नाना कुकर्मवश दूषित हो इसी से ॥२७९॥

धारें विशुद्ध शुभ या उपयोग प्यारे, माने गये श्रमण आगम में उजाले।
शुद्धोपयोग युत साधु निरास्त्रवी हों, पै शेष वे सुकृत साधक सास्त्रवी हों ॥२८०॥

आचार्यवर्य उवझाय सुसाधुओं में, वात्सल्य, भक्ति रखना जिननायकों में।
होता वही शुभमयी उपयोग साता, श्रामण्य में श्रमण को सहयोग दाता ॥२८१॥

ज्ञानी बड़े श्रमण हो उनकी सदैवा, पूजा सुभक्ति नमनादर और सेवा।
ऐसी सराग यम संयम में चलेगी, चर्या, निषेध नहिं है, मति तो गलेगी ॥२८२॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत का उपदेश देना, है शिष्य को शरण पोषण भेष देना।
धर्मोपदेश जिनपूजन आदि सारी, चर्या सराग मुनि की शुभ भाव वाली ॥२८३॥

साधू चतुर्विध सुसंघन की सुसेवा, है भक्ति-भाव वश हो करता सदैवा।
पीड़ा न हो यदि तदा त्रसस्थावरों को, सो श्रेष्ठ उत्तम सराग व्रती जनों को ॥२८४॥

सेवार्थ जो श्रमण उद्यत हो रहा हो, षट्काय का वध तदा यदि हो रहा हो।
ना वो रहा श्रमण, श्रावक ही कहाता, सो धर्म चूंकि उस श्रावक का रहा था ॥२८५॥

वैराग्य से सकल या व्रत देश धारा, सेवा करो सदय हो उसकी सुचारा।
हो अल्प बंध उसमें वह क्षम्य होता, लोकेषणावश करो नहिं क्षम्य होता ॥२८६॥

रोगी हुआ तृषित त्रासित भी हुआ हो, संत्रस्त भी क्षुधित श्रामित भी हुआ हो।
ऐसा मनो श्रमण है जब है दिखाता, साधू यथा बल सुखी उसको बनाता ॥२८७॥

बाधा नहीं तब असंयत श्रावकों से, संसर्ग हो सकल लौकिक सज्जनों से।
लो बाल वृद्ध मुनि की शुभभाव द्वारा, सेवा करो, जब बुरे अघभाव टारा ॥२८८॥

चर्या प्रशस्ततम हो मुनि साधुओं की, उत्कृष्ट या उन असंयत श्रावकों की।
पाते उसी शुभ सराग चरित्र द्वारा, सागार स्वर्ग, क्रमशः शिव सौख्य सारा ॥२८९॥

भाई प्रशस्ततम राग वही कहाता, पात्रानुसार फल पाक सदा दिलाता।
ज्यों भिन्न-भिन्न धरती पर बीज बोवो, नाना प्रकार फल को जब सींच लो वो॥२९०॥

अल्पज्ञ के कथन को उर धारता है, औ ध्यान दान व्रत आदिक पालता है।
पाता कभी न उससे शिव सौख्य प्यारा, पाता पुनः सुकृत ही सुर-सौख्य न्यारा ॥२९१॥

जो झूलते विषय में कुकषाय धारे, शुद्धात्म तत्त्व जिनने न कभी निहारे।
दानादि देकर उन्हें उनकी सुसेवा, जो भी करे कुनर हो बनते कुदेवा ॥२९२॥

ये पाप ही विषय और कषाय सारे, ऐसा सदा जबकि आगम ये पुकारे।
तू ही बता फिर भला विषयी कषायी, हो जाय क्यों? 'तरणतारण' आततायी ॥२९३॥

जो पाँच पाप तजते बनते अपापी, धारे सुसाम्य सबमें समता सुधा पी।
वैराग्य से भरित हैं गुणगात्र होते, सन्मार्ग के श्रमण वे शुचि पात्र होते ॥२९४॥

उन्मुक्त जो अशुभ के उपयोग से हैं, संयुक्त शुद्ध शुभ या उपयोग से हैं।
निर्भ्रान्त वे श्रमण ही जग तार पाते, पूजें उन्हें अमर हो भव पार पाते ॥२९५॥

निर्ग्रन्थ हो श्रमण जो दिख जाय ज्यों ही, साधु क्रिया झट करे नमनादि त्यों ही।
औ पूछताछ करना फिर बाद भाई! शास्त्रानुसार निज आतम बात भाई ॥२९६॥

प्रत्यक्ष सम्मुख सुधी गुरु सन्त आते, होना खड़े कर जुड़े शिर को झुकाते।
दे आसनादि करना गुण वृद्ध सेवा, पाना सुशीघ्र जिससे गुणवृन्द मेवा ॥२९७॥

साधू विशारद जिनागम में तपस्वी, जो ज्ञान संयम तपादिक में यशस्वी।
वे ध्येय सेव्य भजनीय प्रणम्य सारे, पूजें उन्हें श्रमण क्षुल्लक भाव धारे ॥२९८॥

भाई भले नियम संयम पालता हो, औ शास्त्र ज्ञान भरपूर सु-धारता हो।
श्रद्धान के बिन जिनोक्त पदार्थ में है, हो जी रहा श्रमण सो न यथार्थ में है ॥२९९॥

ईर्षाभिभूत धरता अभिमानता है, निर्ग्रन्थ को श्रमण को नहिं मानता है।
दोषी उसे कह तथा जग को बताता, चारित्र को श्रमण हो करके मिटाता ॥३००॥

होता गुणाधिक नहीं यदि साधुओं से, है चाहता विनय मान गुणाधिकों से।
मैं भी बना श्रमण यों मद ढो रहा है, संसार दीर्घ उसका अति हो रहा है ॥३०१॥

साधू गुणाधिक स्वयं गुणहीनकों की, है वन्दनादि करता यदि साधुओं की।
मिथ्यात्व से वह सुशोभित हो रहा है, चारित्र से स्खलित मोहित हो रहा है ॥३०२॥

शुद्धात्म के कथक आगम को सुजाना, जीता कषाय दल को तप धार नाना।
पै छोड़ता न यदि लौकिक संगती है, ये तो असंयत रहा नहिं संयती है ॥३०३॥

जो भूख प्यास वश पीड़ित को निहारा, सो आप भी व्यथित दु:खित हो विचारा।
लेता लगा निज भले उसको कृपा पा, मानी वही कि उसकी सुखदानुकम्पा ॥३०४॥

निर्ग्रन्थ हो निरत ना निज कार्य में है, धिक्कार किन्तु रत लौकिक कार्य में है।
सो वस्तुत: श्रमण लौकिक ही कहाता, लो! बाह्य में नियम संयम भी निभाता॥३०५॥

जो हैं समान गुणधारक हो वशी हैं, या हो गुणाधिक सुधी सबसे ऋणी हैं।
संसार में उचित है उन संग पाना, हो चाहते यदि भला भव पार जाना ॥३०६॥

जो मूढ़ तत्त्व भर को उलटे पिछाने, जो भी पढ़ा वह सही इस भाँति माने।
औचित्य है भव-भवान्तर में भ्रमेंगे, मोहाभिभूत बन के पर में रमेंगे ॥३०७॥

तत्त्वार्थ निश्चय किया जिसने सही है, छोड़ा दुराचरण शान्त बना वशी है।
पा पूर्णत: श्रमणता अघ से सुरीता, संसार में अब नहीं चिर काल जीता ॥३०८॥

जो अन्तरंग बहिरंग निसंग होते, जाने यथार्थ परमार्थ निशंक होते।
आसक्त ना विषय में मुनि वे कहाते, शुद्धोपयोग बल से भव पार जाते ॥३०९॥

शुद्धोपयोग मुनि हो उर में जगाता, पाता वही श्रमणता दृग ज्ञान पाता।
निर्वाण सिद्ध शिव लाभ वही उठाता, मैं बार-बार उसको शिर हूँ नवाता ॥३१०॥

सागार या कि अनगार चरित्र वाले, हो जानते यदि इसे जिनशास्त्र प्यारे।
वे शीघ्र से प्रवचनात्मक सार पाते, भाई अपार भवसागर पार जाते ॥३११॥

❑ ❑ ❑

द्वादशानुप्रेक्षा

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी रचित

द्वादशानुप्रेक्षा

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

द्वादशानुप्रेक्षा

(१९७९)

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में लिखे गए ग्रन्थ का यह पद्यानुवादात्मक भाषान्तरण है। द्वादश भावनाएँ ही द्वादश अनुप्रेक्षाएँ हैं–

अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, बोधिदुर्लभ तथा धर्म-इन अनुप्रेक्षाओं का मार्मिक विवरण दिया गया है।

ये भावनाएँ वैराग्यरूपी उपवन में शांति सुखामृत का रसास्वादन कराने वाली हैं। इन भावनाओं को यदि माता का रूप दिया जाये तो कल्याण की भावना से मोक्षमार्ग पर तत्पर मुमुक्षुरूपी बालक की ये सदा रक्षा/सहायता करती हैं। इन भावनाओं का माहात्म्य प्रकट करते हुए भगवत् कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि–भूत, वर्तमान अथवा भविष्य में हुए, हो रहे अथवा होंगे उन सभी ने इन भावनाओं का ही सहारा लिया था।

वसंततिलका छंद के ९१ पद्यों में यह कृति अनुदित हुई है। मात्र ६९ वीं गाथा ऐसी है जिसका अनुवाद वसंततिलका के ४ पदों के स्थान पर ६ पंक्तियों में हुआ है। ग्रन्थ का समापन श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र थूबौनजी, जिला-गुना (म० प्र०) में ईस्वी सन् १९७९ के वर्षायोग के दौरान हुआ था।
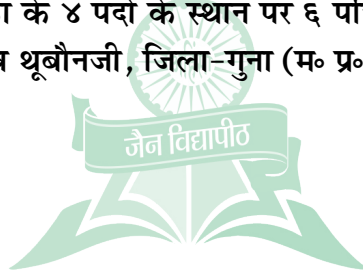
द्वादशानुप्रेक्षा

(वसंततिलका छन्द)

मंगलाचरण

प्रतिज्ञा वाक्य

उत्कृष्ट ध्यान बल से भव बंध तोड़ा, दे सिद्ध ढोक उनको द्वय हाथ जोड़ा।
चौबीस तीर्थंकर की कर वंदना मैं, पश्चात् कहूँ सुखद द्वादश भावनाएँ ॥१॥

संसार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है, अन्यत्व औ अशुचि, अध्रुव, संवरा है।
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये, भावें सुधी सतत द्वादश भावनायें ॥२॥

अनित्यानुप्रेक्षा

सर्वोत्तमा भवन वाहन यान सारे, ये आसनादि शयनादिक प्राण प्यारे।
माता पिता स्वजन सेवक दास दासी, राजा प्रजाजन सुरेश विनाश राशी ॥३॥

लावण्य-लाभ बल यौवन रूप प्यारा, सौभाग्य इन्द्रिय सतेज अनूप सारा।
आरोग्य संग सबमें पल आयु वाले, हो नष्ट ज्यों सुरधनु बुध यों पुकारें ॥४॥

होके मिटे कि बलदेव नरेन्द्र का भी, नागेन्द्र का सुपद त्यों न सुरेन्द्र का भी।
ये मेघ दृश्य सम या जल के बबूले, विद्युत् सुरेश धनु से नसते समूले ॥५॥

लो! क्षीर नीर सम, मिश्रित, काय यों ही, जो जीव से दृढ़ बंधा नश जाय मोही !
भोगोपभोग अघकारण द्रव्य सारे, कैसे भले ध्रुव रहें व्यय शील-वाले ॥६॥

है वस्तुतः नर सुरासुर वैभवों से, आत्मा रहा पृथक भिन्न भवों-भवों से।
ऐसा करो सतत चिंतन, जी रहा है, आत्मा वही अमर शाश्वत ही रहा है ॥७॥

अशरणानुप्रेक्षा

घोड़े बड़े, रथ खड़े, मणि मंत्र हाथी, विद्या दवा सकल रक्षक संग साथी।
पै मृत्यु के समय में जग में हमारे, होंगे नहीं शरण ये बुध यों विचारे ॥८॥

है स्वर्ग-दुर्ग सुरवर्ग सुभृत्य होता, है वज्र शस्त्र जिसका वह इन्द्र होता।
ऐरावता गज गजेन्द्र सवार होता, ना! ना! उसे शरण अंतिम बार होता ॥९॥

अश्वादि पूर्ण बल है चतुरंग सेना, दो सात रत्न निधियाँ नव रंग लेना।
चक्रेश को शरण ये नहिं अन्त में हो, खा जाय काल लखते लखते इन्हें वो ॥१०॥

लो रोग से जनन-मृत्यु-जरादिकों से, रक्षा निजात्म निज की करता अघों से।
त्रैलोक में इसलिए निज आतमा ही, है वस्तुत; शरण लो अघ खातमा ही ॥११॥

ये पाँच इष्ट अरहंत सुसिद्ध प्यारे, आचार्यवर्य उवझाय सुसाधु सारे।
आत्मा निजात्ममय ही करता इन्हें है, आत्मा अतः शरण ही नमता मुझे है ॥१२॥

सद्ज्ञान और समदर्शन भी लखे हैं, सच्चा चरित्र तप भी जिसमें बसे हैं।
आत्मा वही नियम से समझो कहाता, आत्मा अतः शरण हो मम प्राण त्राता ॥१३॥

एकत्वानुप्रेक्षा

आत्मा यही विविध कर्म करे अकेला, संसार में भटकता चिर से अकेला।
है एक ही जनमता मरता अकेला, है भोगता करम का फल भी अकेला ॥१४॥

है एक ही विषय की मदिरा सदा पी, औ तीव्र लोभवश हो, कर पाप पापी।
तिर्यञ्च की नरक की दुख योनियों में, भोगे स्व-कर्म फल एक भवों भवों में ॥१५॥

दे पात्र दान उस धर्म निमित्त आत्मा, है एक ही करत पुण्य अये महात्मा।
होता मनुष्य फलतः दिवि देव होता, पै एक ही फल लखे स्वयमेव ढोता ॥१६॥

उत्कृष्ट पात्र वह साधु अहो रहा है, सम्यक्त्व से सहित शोभित हो रहा है।
सम्यक्त्व धार इक देशव्रती सुहाता, है पात्र मध्यम सुश्रावक ही कहाता ॥१७॥

सम्यक्त्व पा अविरती रहता सरागी, होता जघन्य वह पात्र न पाप-त्यागी।
सम्यक्त्व से रहित मात्र अपात्र जानो, भाई अपात्र अरु पात्र सही पिछानो ॥१८॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो हैं, निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेंगे, पे भ्रष्ट दर्शनतया नहिं वे सिजेंगे ॥१९॥

मैं हूँ विशुद्धतम निर्मम हूँ अकेला, विज्ञान दर्शन सुलक्षण मात्र मेरा।
एकत्व का सतत चिंतन साधु ऐसा, आदेय मान करते रहते हमेशा ॥२०॥

अन्यत्वानुप्रेक्षा

माता पिता सुत सुता वनिता व भ्राता, हैं जीव से पृथक हैं रखते न नाता।
ये बाह्य में सहचरी दिख भी रहे हैं, मोहाभिभूत मदिरा नित पी रहे हैं ॥२१॥

स्वामी मरा मम, रहा मम प्राण प्यारा, यों शोक नित्य करता जड़ ही विचारा।
पै डूबता भव पयोनिधि में निजी की, चिंता कभी न करता गलती यही की ॥२२॥

मैं शुद्ध चेतन, अचेतन से निराला, ऐसा सदैव कहता समदृष्टिवाला।
रे देह नेह करना अति दुःख पाना, छोड़ो उसे तुम यही गुरु का बताना ॥२३॥

संसारानुप्रेक्षा

संसार पंच विध है दुख से भरा है, है रोग शोक मृति जन्म जहाँ जरा हैं।
जो मूढ़ गूढ़ निज को न निहारता है, संसार में भटकता चिर हारता है ॥२४॥

संसार में विषय पुद्‌गल में अनेकों, भोगे तजे बहुत बार नितान्त देखो।
संसार द्रव्य परिवर्तन वो रहा है, अध्यात्म के विषय में जग सो रहा है ॥२५॥

ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो, तूने गहा न तन को क्रमशः जहाँ हो।
छोटे बड़े धर सभी अवगाहनों को, संसार 'क्षेत्र' पलटे बहुशः अनेकों ॥२६॥

उत्सर्पिणीव अवसर्पिणि की अनेकों, कालावली वरतती अयि भव्य देखो।
यों जन्म मृत्यु उनमें बहु बार पाये, हो मूढ़ काल परिवर्तन भी कराये ॥२७॥

तूने जघन्य नरकायु लिए बिताये, ग्रैवेयकांत तक अंतिम आयु पाये।
मिथ्यात्व धार भव के परिवर्तनों को, पूरे किये बहु व्यतीत युगों युगों को ॥२८॥

लो सर्व कर्म स्थिति यों अनुभाग बंधो, बाँधे प्रदेश विधि के अयि भव्यबंधो!
मिथ्यात्व के वश हुए भव में भ्रमाये, ऐसे अनंत भव भावमयी बिताये ॥२९॥

स्त्री पुत्र मोह वश ही धन है कमाता, पापी बना विषम जीवन है चलाता।
तो दान धर्म तजता निज भूल जाता, संसार में भटकता प्रतिकूल जाता ॥३० ॥

स्त्री पुत्र धान्य धन ये मम कोष प्यारे, यों तीव्र लोभ-मद पी सब होश टारे।
सद्धर्म से बहुत ही बस ऊब जाते, मोही अगाध भव सागर डूब जाते ॥३१॥

मिथ्यात्व के उदय से जिन धर्म निंदा, पापी सदैव करता नहिं आत्म निंदा।
जाता कुतीर्थ, व कुलिंग कुधर्म माने, संसार में भटकता, सुन तू सयाने ॥३२॥

हो क्रूर जीव वध भी कर मांस खाता, पीता सुरा मधु-चखे तन दास भाता।
पापी पराय धन स्त्री हरता सदा है, संसार में गिर, सहे दुख आपदा है ॥३३॥

संसार में विषय के वश जो रहेगा, सो यत्न रात-दिन भी अघ का करेगा।
मोहांधकार युत जीवन जी रहा है, संसार में भटकता 'लघुधी रहा है ॥३४॥

दोनों निगोद चउ थावर सप्त सप्त, हैं लक्ष हो विकल इन्द्रिय है षडत्र।
हैं वृक्ष लक्ष दश चौदह लक्ष मर्त्य, चौरासि-लक्ष सब योनि सुजान मर्त्य ॥३५॥

मानापमान मिल जाय अलाभ होता, होता कभी सुख कभी दुख लाभ होता।
होता वियोग विनियोग सुयोग होता, संसार को निरख तू उपयोग जोता ॥३६॥

हैं कर्म के उदय से जग जीव सारे, दिग् मूढ़ घोर भव कानन में विचारे।
संसार-तत्त्व नहिं निश्चय से तथापि, हैं जीव मुक्त विधि से चिर से अपापी ॥३७॥

होता अतीत भव से पढ़ आत्म गाथा, आदेय-ध्येय वह जीव सदा सुहाता।
संसार दुःख सहता दिन-रैन रोता, ऐसा विचार वह केवल हेय होता ॥३८॥

लोकानुप्रेक्षा

जीवादि द्रव्य-दल शोभित हो रहा है, है लोक स्वीकृत सुनो तुम वो रहा है।
पाताल-मध्य पुनि ऊर्ध्व प्रभेद द्वारा, सो लोक भी त्रिविध है दुख का पिटारा ॥३९॥

नीचे जहाँ नरक, नारक नित्य रोते, हैं मध्य में जलधि द्वीप असंख्य होते।
हैं ऊर्ध्व में स्वरग त्रेसठ भेदवाले, लोकान्त में परम मोक्ष मुनीश पाले ॥४०॥

हैं एकतीस पुनि सात व चार दो हैं, है एक एक छह यों क्रमवार जो हैं।
औ तीन बार त्रय हैं इक एक सारे, ऋज्वादि ये पटल त्रेसठ है उजाले ॥४१॥

स्वर्गीय मर्त्य सुख हो शुभ से सुनो रे! शुद्धोपयोग बल से शिव हो गुणो रे।
पाताल हो अशुभ से पशु या विचारो, यों लोक चिंतन करो अघ को विसारो ॥४२॥

अशुच्यानुप्रेक्षा

पूरी ढकी चरम से बहु अस्थियों से, काया बंधी व लिपटी पल पेशियों से।
कीड़े जहाँ बिलबिला करते सदा हैं, मैली घृणास्पद यही तन संपदा है ॥४३॥

बीभत्स है तन अचेतन है विनाशी, दुर्गन्ध मांस पल का घर रूपराशी।
धारा स्वभाव सड़ना गलना सदा ही, ऐसा सुचिंतन करो शिव राह राही ॥४४॥

मज्जा व मांस रस रक्त व मेद वाला, है मूत्र पीव कृमिधाम शरीर कारा।
दुर्गन्ध है अशुचि चर्ममयी विनाशी, जानो अचेतन अनित्य अरे विलासी ॥४५॥

है कर्म से रहित है तन से निराला, होता अनन्त सुखधाम सदा निहाला।
आत्मा सचेतन निकेतन है अनोखा, भा भावना सतत तू इस भाँति चोखा ॥४६॥

आस्रवानुप्रेक्षा

मिथ्यात्व औ अविरती व कषाय चारों, औ योग आस्रव रहें इनको विसारो।
ये पाँच पाँच क्रमशः चउ तीन भाते, सत् शास्त्र शुद्ध इनका शुचि गीत गाते ॥४७॥

एकान्त औ विनय औ विपरीत चौथा, अज्ञान संशय करे निजरीत खोता।
मिथ्यात्व यों नियम से वह पंचधा है, हिंसादि से अविरती वह पंचधा है ॥४८॥

माया प्रलोभ पुनि मान व क्रोध चारों, होते कषाय दुख दे इनको विसारो।
वाक्काय और मन ये त्रय योग होते, वे सिद्ध योग बिन हो उपयोग ढोते ॥४९॥

होता द्विधा वह शुभाशुभ भेद द्वारा, प्रत्येक योग समझो गुरु ने पुकारा।
आहार आदिक रही यह चार संज्ञा, होता वही अशुभ है 'मन' मान अज्ञा ॥५०॥

लेश्या सभी अशुभ जो प्रतिकूल बाना, धिक्कार इन्द्रिय सुखों नित झूल जाना।
ईर्षा विषाद, इनको जिनशास्त्र गाता, ये ही रहे अशुभ सो मन, दुःखदाता ॥५१॥

नौ नोकषायमय जो परिणाम होना, संमोह रोष रति को अविराम ढोना।
हो स्थूल सूक्ष्म कुछ भी जिन का बताना, वे ही रहे अशुभ सो मन दुःख बाना ॥५२॥

स्त्री राज चोर अरु भोजन की कथायें, माना बुरा वचन योग, करें व्यथा ये।
औ छेदनादि वधनादि बुरी क्रियायें, सो काय का अशुभ योग, यती बतायें ॥५३॥

पूर्वोक्त जो अशुभ भाव उन्हें विसारे, छोड़े तथा अशुभ द्रव्य अशेष सारे।
हो संयमी समिति शील व्रतों निभाना, जानो उसे शुभ रहा मन योग बाना ॥५४॥

बोलो वही वचन जो भव दुःखहारी, सो योग है वचन का शुभ सौख्यकारी।
सद्देव शास्त्र गुरु पूजन लीन काया, सो काय योग शुभ है जिन ईश गाया ॥५५॥

जो दुःखरूप जल जंगम से भरा है, ले दोषरूप लहरें लहरा रहा है।
खाता, भवार्णव जहाँ यह जीव गोता, है कर्म-आस्रव सहेतु सदीव होता ॥५६॥

ज्यों ही कुधी करम-आस्रव खूब पाता, त्यों ही अगाध भवसागर डूब जाता।
सद्ज्ञान मंडित क्रिया कर तू जरा से, है मोक्ष का वह निमित्त परंपरा से ॥५७॥

ज्यों ही कुधी करम-आस्रव खूब पाता, त्यों ही अगाध भवसागर डूब जाता।
जो आस्रवा वह क्रिया शिव का न हेतु, ऐसा विचार कर नित्य नितान्त रे तू ॥५८॥

हो सास्त्रवी वह क्रिया न परंपरा से, निर्वाण हेतु तुम तो समझो जरा से।
संसार के गमन का वह हेतु होता, है निंद्य आस्त्रव हमें भव में डुबोता ॥५९॥

पूर्वोक्त आस्त्रव विभेद निरे निरे हैं, आत्मा विशुद्ध नय से उनसे परे है।
आत्मा रहा उभय आस्त्रव मुक्त ऐसा, चिंते सभी तज प्रमाद सुधी हमेशा ॥६०॥

संवरानुप्रेक्षा

सम्यक्त्व का दृढ़ कपाट विराट प्यारा, जो शून्य है चलमलादि अगाढ़ द्वारा।
मिथ्यात्वरूप उस आस्त्रव द्वार को है, जो रोकता जिन कहें जग सार सो है ॥६१॥

पाले मुनीश-मन पंच महाव्रतों को, रोके सही अविरतीमय आस्त्रवों को।
जो निष्कषायमय पावन भाव-धारे, रोके कषायमय आस्त्रव द्वार सारे ॥६२॥

औचित्य है कि शुभ योग विकास पाता, सद्यः स्वतः अशुभ योग विनाश पाता।
शुद्धोपयोग शुभयोगन को नशाता, ऐसा वसंततिलका यह छन्द गाता ॥६३॥

शुद्धोपयोग बल वो मिलता जिसे है, तो धर्म शुक्लमय ध्यान मिले उसे है।
है ध्यान हेतु विधि संवर का इसी से, ऐसा करो सतत चिंतन भी रुची से ॥६४॥

जीवात्म में न वर संवर भाव होता, वो तो विशुद्ध नय से शुचि भाव ढोता।
आत्मा विमुक्त वर संवर भाव से रे! ऐसा सुचिंतन सदा कर चाव से रे ॥६५॥

निर्जरानुप्रेक्षा

जो भी बंधा पृथक हो विधि आतमा से, सो निर्जरा जिन कहे निज की प्रभा से।
हो संवरा जिस निजी परिणाम द्वारा, हो निर्जरा वह उसी परिणाम द्वारा ॥६६॥

सो निर्जरा द्विविध, एक असंयमी में, होती सभी गतिन में इक संयमी में।
आद्या स्वकाल विधि का झरना कहाती, दूजी तपश्चरण का फल रूप भाती ॥६७॥

धर्मानुप्रेक्षा

है धर्म ग्यारह तथा दश भेदवाला, सम्यक्त्व से सहित है निज वेद शाला।
सागार और अनगार जिसे निभाते, पा श्रेष्ठ सौख्य जिन यों हमको बताते ॥६८॥

सद्दर्शना सुव्रत सामयिकी सुभक्ति, औ प्रौषधी सचित त्याग दिवाभिभुक्ति।
है ब्रह्मचर्य व्रत सार्थक नाम पाता, आरंभ संग अनुमोदन त्याग साता।
उद्दिष्टत्याग व्रत ग्यारह ये कहाते, हैं एकदेश व्रत श्रावक के सुहाते ॥६९॥

प्यारी क्षमा मृदुलता ऋजुता सचाई, औ शौच संयम धरो तप धार भाई।
त्यागो परिग्रह अकिंचन गीत गा लो, तो! ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगा लो ॥७०॥

साक्षातकार यदि हो उससे, खड़ा है, जो क्रोध का जनक बाहर में अड़ा है।
पै क्रोध-लेश तक भी मन में न लाते, पाते क्षमा धरम वे मुनि हैं कहाते ॥७१॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी, ज्ञानी सुशील अतिसुन्दर हूँ तपस्वी।
ऐसा नहीं श्रमण हो मन मान लाते, औचित्य! वे ''परम मार्दव धर्म' पाते ॥७२॥

कौटिल्य-छोड़ मुनि चारित पालता है, हीराभ सा विमल मानस धारता है।
सो तीसरा परम आर्जव धर्म पाता, है अन्त में नियम से शिवशर्म पाता ॥७३॥

मिश्री मिले वचन ये रुचते सभी को, संताप हो श्रवण से न कभी किसी को।
कल्याण हो स्वपर का मुनि बोलता है, सो सत्य धर्म उसका दृग खोलता है ॥७४॥

भोगाभिलाष जिसने मन से हटाया, वैराग्य भाव दृढ़ से निज में जगाया।
ऐसा महा मुनिपना मुनि ही निभाता, सो, शौच धर्ममय जीवन है बिताता ॥७५॥

जो पालता समिति इन्द्रिय जीतता है, है योग-रोध करता, व्रत धारता है।
ऐसा महा-श्रमण जीवन जी रहा है, सद्धर्म संयम-सुधा वह पी रहा है ॥७६॥

फोड़ा कषाय घट को, मन को मरोड़ा, लो साधु ने विषय को विष मान छोड़ा।
स्वाध्याय ध्यान बल से निज को निहारा, पाया नितान्त उसने तप धर्म प्यारा ॥७७॥

वैराग्य धार भव भोग स्वदेह से वो, देखा स्व को यदि सुदूर विमोह से हो।
तो त्याग धर्म समझा उसने लिया है, संदेश यों जगत को प्रभु ने दिया है ॥७८॥

जो अंतरंग-बहिरंग निसंग नंगा, होता दुखी नहिं सुखी बस नित्य चंगा।
निर्द्वन्द्व हो विचरता अनगार होता, भाई वही वर अकिंचन धर्म ढोता ॥७९॥

सर्वांग देखकर भी वनिता जनों के, होते न मुग्ध उनमें मुनि हैं अनोखे।
तो ब्रह्मचर्य व्रत धारक वे रहे हैं, कन्दर्प-दर्प-अपहारक वे रहे हैं ॥८०॥

सागार-धर्म तज के अनगार होते, शास्त्रानुसार यति के व्रतसार जोते।
रीते रहे न शिव से अनिवार्य पाते, यों धर्म चिंतन करो अयि! आर्य तातें ॥८१॥

सागार-धर्म यति-धर्म निरे-निरे हैं, आत्मा विशुद्ध नय से उनसे परे है।
मध्यस्थ भाव उनमें रखना इसी से, शुद्धात्मचिंतन सदा करना रुची से ॥८२॥

सद्ज्ञान होय जिस भाँति उपाय द्वारा, चिंता करें उस उपायन की सुचारा।
चिंता वही परम बोधि अहो कहाती, सो बोधि दुर्लभ अतीव मुझे सुहाती ॥८३॥

जो भी क्षयोपशम ज्ञानन की छटायें, हैं हेय कर्मवश लो उपजी दशायें।
आदेय मात्र निज आतमद्रव्य होता, सद्ज्ञान सो यह सुनिश्चय भव्य होता ॥८४॥

होते असंख्यतम लोक प्रमाण सारे, मूलोत्तरादि विधि ये परद्रव्य न्यारे।
आत्मा विशुद्धनय से निज द्रव्य भाता, ऐसा जिनागम निरंतर नित्य गाता ॥८५॥

ऐसा सुचिंतन जभी दिन-रात होता, आदेय हेय वह क्या वह ज्ञात होता।
आदेय हेय नहिं निश्चय में सयाने, चिंता सुबोध मुनि सो भवकूल-पाने ॥८६॥

है वस्तुतः सकल-बारह भावनायें, आलोचना सुखद शुद्ध समाधियाँ ये।
ये ही प्रतिक्रमण है बस प्रत्यखाना, भा भावना नित अतः इनकी सयाना ॥८७॥

आलोचना सुसमता व समाधि पाले, सच्चा प्रतिक्रमण का शुचिभाव भा ले।
औ प्रत्यखान कर रे दिन-रात भाई, है चाँदनी क्षणिक तो फिर रात आई ॥८८॥

भा बार-बार बस बारह भावनायें, वे भूत में शिव गये जिनभाव पाये।
मैं बार-बार उनको प्रणमूँ त्रिसंध्या, मेरा प्रयोजन यही तजदूँ अविद्या ॥८९॥

जो भी हुए विगत में शिव और आगे, होंगे नितान्त पुरुषोत्तम और आगे।
माहात्म्य मात्र वह द्वादश भावना का, क्या अर्थ है अब सुदीर्घ प्ररूपणा का ॥९०॥

जो कुन्दकुन्द मुनि नायक ने निभाया, है निश्चयादि व्यवहार हमें सुनाया।
भाता विशुद्ध मन से इसको वही है, निर्वाण प्राप्त करता शिव की मही है ॥९१॥

❑ ❑ ❑

गुणोदय

आचार्य गुणभद्र रचित

आत्मानुशासन

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

गुणोदय

(२६ अक्टूबर, १९८०)

श्री गुणभद्राचार्य द्वारा विरचित 'आत्मानुशासन' नामक अध्यात्म काव्य का 'गुणोदय' पद्यानुवाद है। आचार्य गुणभद्र श्री जिनसेनाचार्य के सुशिप्य थे। इन्होंने ही अपने गुरु द्वारा प्रारब्ध महापुराण की रचना अपूर्ण रहने पर उसे पूर्ण किया था। आचार्य जिनसेन ने केवल ४२ सर्ग और ७ श्लोक ही लिखे थे, शेष भाग एवं उत्तरपुराण की रचना आचार्य गुणभद्र ने ही की। विद्वानों ने इनका समय शक संवत् की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है। आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज गुणोदय की प्रस्तावना रूप 'अमिताक्षर' में इसके सम्बन्ध में लिखते हैं—''यह कृति जो आधुनिक शब्द विन्यासों, विविध भावाभिव्यञ्जनाओं एवं छन्दबन्ध-मुक्त-उन्मुक्त लयधाराओं से आकृत है। व्यक्तित्व की सत्ता को नहीं छूती हुई, सहज स्वतंत्र महासत्ता से आलिंगित परम पदार्थ की प्ररूपिका है; परम शान्त अध्यात्मरस से आद्योपान्त आपूरित।''

आगे इसकी प्रेरणा, रचना-स्थल एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि—''इस कृति के सामयिक सत्प्रेरक 'तीर्थंकर' पत्रिका के सम्पादक डॉ॰ नेमिचन्द जी हैं। फलस्वरूप जहाँ की हरित-भरित पर्वतीय प्रकृति ने मानो कोटिशः आत्माओं की प्रकृति को विषय-कषायों से पूर्णरूपेण बचाकर मुक्ति दी है, उस परम पावन मुक्तिप्रदा मुक्तागिरि पर भीतरी घटना का घटक, आत्मतत्त्व से भावों, भावों से शब्दों एवं शब्दों से भाषा को रूप मिलकर इसका सम्पादन हुआ है। धन्य! पूर्ण विश्वास है कि इसका सदुपयोग होगा, उपलब्ध उपयोग होगा।''

इसमें आत्मानुशासन के आद्योपान्त समस्त २६९ श्लोकों का पद्यानुवाद हुआ है। इसके अतिरिक्त मूल ग्रन्थ के पूर्व सात दोहों में मंगलाचरण है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य गुणभद्र एवं गुरु आचार्य ज्ञानसागर के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित किये गये हैं तथा अन्त में पद्यानुवाद का प्रयोजन बतलाया गया है—आत्मानुशासन के पद्यमयी अनुवाद में मेरा प्रयोजन केवल यही है कि मेरा मोह और प्रमाद नष्ट हो जाये।

श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि (म॰ प्र॰) पर वर्षावास किया और परम आत्मानन्द प्राप्त किया। वहीं पर इस वर्षाकाल में वी॰ नि॰ सं॰ २५०६ के कार्तिक मास की कृष्णा तृतीया, रविवार, २६ अक्टूबर, १९८० के दिन इस ग्रन्थ को समाप्त किया, जो संसार के भोगों से मुक्ति का कारण है।

आत्मानुशासन में आत्मा को अनुशासित करने के लिए उपाय बतलाये गये हैं-अनुशासक—वक्ता कैसा हो?, श्रोता भी कैसा हो?, पाप-पुण्य के फल, सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं भेद, धर्म की महत्ता, मृगया-पिशुनतादि पाप कर्मों की अनुपादेयता, पुण्य कर्मों की उपादेयता, विषयान्धता की सदोषता, परिग्रह, त्याग तृष्णा निग्रह, न्यायपूर्वक धनोपार्जन, रागद्वेष से हानि, आभ्यन्तर शान्ति, विषयभोगों की अस्थिरता, तृष्णा की प्रबलता, स्त्री-पुत्र-धनादि दुःखकर हैं, संसार में सभी दुःखी हैं, सुखी तो तपस्वी हैं, जन्म-मरण के ताप, दैव, मनुष्य पर्याय-अवस्थाएँ, मिथ्यात्व, यम-दमादि, तपश्चरण, वैराग्य, मुक्तिपथ और मोक्षादि विषयों पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला गया है और इस प्रकार संसार के अज्ञजनों को अनुशासन का पाठ पढ़ाया गया है।

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चान्दनी से जिन-धुनि अति शीत!
उसका सेवन मैं करूँ मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक गुरु-चरण-रज सर पर सुचढ़ाय।
यह मुनि-मन गुरु-भजन में निशि-दिन क्यों न लगाय ॥३॥

कुन्द-कुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगंधित महक में जीवन मम घुल जाय ॥४॥

गुण-गण-निधि गुणभद्र-गुरु महके अगुरु सुगन्ध।
अर्पित जिनपद में रहें गंधहीन मम छन्द ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

आतम अनुशासन का पद्यमयी अनुवाद।
करूँ, प्रयोजन बस यही मोह मिटे परमाद ॥६॥

गुणोदय

सादर उर में बिठा वीर को जिनके विधि सब विलय हुए।
समवसरण की श्री शोभा से शोभित, गुणगण निलय हुए॥
आतम दर्शक आतमशासन नामक आगम की रचना।
भविकजनों को मोक्ष मिले बस करूँ प्रयोजन औ कुछ ना॥१॥

सुख की आशा करते-करते युग-युग अब तक बीत गये।
भव-भव, भव-दुख सहते-सहते भव-दुख से अति भीत हुए॥
मनवांछित फल मिले तुम्हें बस यहीं भावना भाकर मैं।
दुख का हारक सुख का कारक पथ्य कहूँ जिन चाकर मैं॥२॥

इसका सेवन करते आता यदि कुछ-कुछ कटु स्वाद मनो।
किन्तु अन्त में मधुर-मधुरतम सुख बनता निर्बाध बनो॥
स्वल्प मात्र भी इसीलिए मत इससे मन में भय लाना।
रोग मिटाने रोगी चखता जिस विधि कटु औषध नाना॥३॥

करुणा रस पूरित उर वाले जग-हित में नित निरत रहें।
दुर्लभ जग में, सुलभ अदयजन वाचाली बस फिरत रहें॥
ढुलमुल- ढुलमुल-नभ में डोले बिन जल बादल बहुत बके।
सजल जलद हैं जल वर्षाते कम मिलते मन मुदित भले॥४॥

जन-मन हारक पर निंदक नहिं विविध प्रश्न भी सहन करें।
उत्तर मुख में रखते प्रतिभा, निधि गुणगण को ग्रहण करें॥
शमी दमी व्यवहार चतुर हैं शास्त्र ज्ञान के सही धनी।
हित मित मिश्री मिश्रित प्रकटित बोल बोलते सुधी गणी॥५॥

शिवपथ पथिकों को पथदर्शित करने रत बोधित भवि को।
दोष रहित श्रुत पूरण धरते धरते शुचि चारित छवि को॥
निरीह निर्मद लोक विज्ञ मृदु बुधजन से भी वंदित हैं।
यतिपति गुण ये जिनमें वह 'गुरु' और गुणों से मंडित हैं॥६॥

मम हित किसमें निहित रहा यों चिंतित दुःखित प्रति श्वासा।
धर्म-श्रवण, निर्णय, धारण बल रखे भव्य, शिव-सुख आशा॥
प्रमाण नय से सिद्ध, दयामय धर्म श्रवण का अधिकारी।
दूर दुराग्रह से हो सुनकर धर्म धारता सुखकारी॥७॥

हिंसादिक इन पाप कर्म कर, प्राणी पल-पल दुख पाता।
लोक-मान्य यह सूक्ति रही है धर्म कर्म कर सुख पाता॥
सुर-सुख या शिव-सुख चाहो यदि पूर्ण पाप का त्याग करो।
चर्म-राग तज, धर्म भाव में भाग्य मान अनुराग करो॥८॥

सभी चाहते शिव-सुख पाना मिले शीघ्र शिव करम नशे।
वह शुचि व्रत से, व्रत धी से, धी आगम से, श्रुति परम वशे॥
श्रुति जिन से जिन दोष रहित हो, दोष सहित जिन आप्त नहीं।
सही समझ शिव-सुखद आप्त को भजो तजो अघ व्याप्त मही॥९॥

द्विविध त्रिविध दशविध समदर्शन मदादि बिन भव काम हने।
संवेगादिक से वर्धित, त्रय वितथ बोध शुचि-धाम बने॥
मोक्ष महल सोपान प्रथम जो शिव पथ के सब पथिकों को।
तत्त्वों अर्थों का विषयक है सेव्य सदा बुधपतियों को॥१०॥

आज्ञा उद्भव मार्ग समुद्भव सदुपदेश-भव, यथा रहा।
सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, समास उद्भव तथा रहा॥
विस्तृत उद्भव अर्थ समुद्भव इस विध दश विध दर्शन है।
आवगाढ़, परमावगाढ़ है गाता यह जिन-दर्शन है॥११॥

मोह नाश से जिन की आज्ञा पालन आज्ञा दर्शन है।
ग्रन्थ-श्रवण बिन शिव सुख पथ में रुचि हो मारग दर्शन है॥
परम पूततम पुरुष कथा सुन परम दृष्टि जो पाना है।
ग्रन्थ स्रजक गणधर ने उसको सदुपदेश-भव माना है॥१२॥

पदार्थ दल को अल्प जान रुचि हो समासभव वही भला।
शास्त्र अर्थ जो अगम ज्ञात हो किसी बीज पद सही खुला॥
मोह कर्म के वर उपशम से बीज समुद्भव दृष्टि खिली॥
मुनि-व्रतविधि-सूचक सूतर सुन सूत्र दृष्टि वह दृष्टि मिली॥१३॥

द्वादशांग सुन श्रद्धा करना वह है विस्तृत दृष्टि रही।
अंग बाह्य बिन सुन तदंश में रुचि हो सार्थक दृष्टि वही॥
मथन अंग का अंग बाह्य का दृष्टि वही 'अवगाढ़' रही।
पूर्ण ज्ञान में आगत में रुचि दृष्टि 'परम-अवगाढ़' वही॥१४॥

मन्द मन्दतम कषाय कर, धर बोध चरित खरतर तपना।
वृथा भार पाषाण खण्ड सम समदर्शन बिन सब सपना॥
समदर्शन से मंडित यदि हो सहज सधे अघ-विधि खपना।
मंजु-मंजुतम मणि-माणिक सम पूज्य बने, फिर 'शिव' अपना॥१५॥

किसमें मम, हित अहित निहित है तुझको यह ना विदित रहा।
हुआ हिताहित लाभ हानि ना मोह-रोग से व्यथित रहा॥
क्लेश बिना शिशु को जननी ज्यों शिवपथ परिचित करा रहे।
कोमल समकित संस्कारों से हम संस्कारित करा रहे॥१६॥

विषम विषयमय अशन उड़ाया तुमने कितना पता नहीं।
मोह महाज्वर तभी चढ़ा है तृष्णा तुमको सता रही॥
अणुव्रत लेना निःशंकित तुमको समयोचित सार यही।
प्रायः पाचक पथ्य पेय से प्रारंभिक उपचार सही॥१७॥

सुखमय जीवन जीते हो या दुखमय जीवन बीत रहा।
धर्म एक ही शरण जगत् में आगम का यह गीत रहा॥
सुखमय जीवन यदि है मानो धर्म उसे औ पुष्ट करे।
दुखमय जीवन बीत रहा यदि धर्म उसे झट नष्ट करे॥१८॥

मनवांछित इन्द्रिय विषयों के भाँति-भांति के सुख सारे।
धर्म रूप वर नन्दन वन के तरुओं के रस फल प्यारे॥
कुछ भी कर तू वृष तरुओं का किसी तरह रक्षण करना।
प्राप्त फलों को संचय कर कर सुचिर काल भक्षण करना॥१९॥

भव्य भद्र सुन धर्म एक ही अनुपम सुख का साधक है।
साधक जो हो, स्वीय कार्य का नहीं विराधक बाधक है॥
मन में भय हो, यदि हो सकता इस सुख का अवसान कहीं।
किन्तु स्वप्न में भी नहिं होना धर्म विमुख धर ध्यान सही॥२०॥

धर्म पालते फलतः मिलता अतुल विभव भरपूर सही।
भोग-भोगते उनका भोगो किन्तु धर्म को भूल नहीं॥
प्रथम बीज बोकर कृषि करता कृषक विपुल फल पाता है।
किन्तु पृथक् रख बीज सुरक्षित पुनः शेष फल खाता है॥२१॥

कल्पवृक्ष से यथायोग्य ही कल्पित फल भर मिलता है।
चिंतामणि से मन में चिंतित मिलता पर मन खिलता है॥
किन्तु कल्पना चिंता के बिन अनुपम अव्यय फल देता।
सत्य धर्म है क्यों ना मन तू तदनुसार रे, चल लेता॥२२॥

पाप-पुण्य का केवल कारण अपना ही परिणाम रहा।
विज्ञ बताते इस विध आगम गाता यह अभिराम रहा॥
अतः पाप का प्रलय कराना प्रथम आपका कार्य रहा।
पल-पल अणु-अणु परम पुण्य का संचय अब अनिवार्य रहा॥२३॥

धर्म त्याग कर पागल पामर पापाश्रित हैं गिरे हुए।
विषय सुखों का सेवन करते मोह भाव से घिरे हुए॥
सरस फलों से लदा हुआ है मूल सहित द्रुम छेद रहें।
फल खाने में निरत हुए हैं नहीं अनागत वेद रहे॥२४॥

कृत भी हो, पर से कारित भी अनुमत भी अनिवार्य रहा।
मन से वच से औ तन से भी पूर्ण शक्य जो कार्य रहा॥
उसी धर्म का धारण पालन किस विध फिर नहीं हो सकता।
उज्ज्वल जल है पी लो धोलो पल भर में मल धो सकता॥२५॥

जब तक जिसके जीवन में वह जीवित जागृत धर्म रहा।
मारक को भी नहीं मारते तब तक ना अघ कर्म रहा॥
चूंकि धर्म च्युत पिता पुत्र भी कट-पिट आपस में मिटते।
अत: धर्म ही सबका रक्षक जिससे सब सुख हैं मिलते॥२६॥

पाप बन्ध वह हो नहिं सकता सुख के सेवन करने से।
किन्तु पाप हो धर्म विघातक हिंसादिक अघ करने से॥
मिष्ट अन्न के अशन मात्र से अपच रोग नहिं वह आता।
अशन रसन का किन्तु दास अति अधिक अशन खा दुख पाता॥२७॥

सप्त व्यसन तो स्पष्ट दु:ख हैं पर भव में भी दुखकारी।
पाप ताप हैं किन्तु उन्हें तुम मान रहे अति सुखकारी॥
इन्द्रिय सुख में अनासक्त ज्यों बुधजन जिसको अपनाते।
उभय लोक में सुखद धर्म को क्यों न मानते अपनाते॥२८॥

दोष रहित हैं, त्राण रहित हैं रहती हैं भयभीत यहीं।
देह गेह ही धन है जिनका जिनकी जीवन रीत यही॥
दंत पंक्ति में मिले मृदुल तृण भोजन करतीं मृगीं व्यथा।
व्याध उन्हें भी मार मिटाते पर की अब क्या रही कथा॥२९॥

पर निन्दन तज दैन्य दंभ से सभी सर्वथा दूर रहो।
मृषा वचन मत बोलो मुख से करो न चोरी भूल अहो॥
चूंकि धर्म-धन यश-धन धी-धन इष्ट तुम्हें हैं सुखकर हैं।
इह भव हित भी पर भव हित भी अर्जित कर लो अवसर है ॥३० ॥

पुण्य करो निज पुण्य पुरुष को कुछ नहिं करती आपद है।
आपद ही वह बन जाती है सुखद संपदा आस्पद है॥
निखिल जगत को निजी ताप से तपन तपाता यदपि यहाँ।
सकल दलों सह कमल दलों को खुला खिलाता तदपि अहा ॥३१॥

सुरगुरु मन्त्री सुर सैनिक थे जिसके शिर पर 'हरिकर' था।
स्वर्ग दुर्ग था वज्र शस्त्र था ऐरावत वर कुंजर था।
बली इन्द्र भी इस विध रण में रावण दानव से हारा॥
अत: शरण बस दैव, वृथा है पौरुष को बहु धिक्कारा ॥३२॥

धरणीपति सम अचल कुलाचल मोह भाव से रहित हुए।
जलनिधि सम धन राग रहित हो गुण मणि निधि से सहित हुए॥
पर आश्रित ना नभ सम स्वाश्रित जग हित में निर निरत हुए।
सन्त आज भी लसे पुराने मुनि सम कतिपय विरत हुए ॥३३॥

नृप-पद जैसे सुख लव पाने मोह मद्य पी भ्रमित हुए।
पिता पुत्र को पुत्र पिता को ठगते धन से भ्रमित हुए॥
अहो! मूढ़जग जनन-मरण के दीर्घ दाढ़ में पड़ा हुवा।
नहिं लखता, रत, तन हरने में निकट काल को खड़ा हुवा ॥३४॥

मोही जड़ जन अन्ध बने हैं विषयों में जो झूल रहे।
महा अन्ध हैं अन्धों से भी सत्यपंथ को भूल रहे॥
नेत्रों से जो अन्ध बने हैं मात्र रूप को नहिं लखते।
किन्तु मूढ़ विषयान्ध बने कुछ भी न लखें सुध नहिं रखते ॥३५॥

प्रति प्राणी में आशारूपी गर्त पड़ा है महा बड़ा।
जिसमें सब संसार समाकर लगता अणुसम रहा पड़ा॥
किसको कितना उसका भाजित भाग मिले फिर बता सही।
विषय वासना इसीलिये बस विषय-रसिक की वृथा रही ॥३६॥

उचित आयु धन तन सुख मिलते पास पुण्यमय रतन रहा।
यदि वह नहिं तो धनादि भी नहिं भले करो अब यतन महा॥
यही सोच इस भव सुख पाने रुचि लेते ये आर्य नहीं।
परभव सुख के निशिदिन करते कार्य सुधी अनिवार्य सही ॥३७॥

कटु कटुतम विषसम विषयों में कौन स्वाद तू लुभित सुधी।
जिसे ढूँढने निजी अमृत का मूल्य मलिन कर अमित दुखी॥
मन के अनुचर विषय रसिक इन इन्द्रिय गण से विकृत हुवा।
पित्त ज्वराकुल नर मुख सम तव स्वाद, खेद यह विदित हुवा ॥३८॥

विरत भाव से विरत रहा तू विषय राग रसिकेश रहा।
खाता खाता भोग्य जगत को तेरे मुख से शेष रहा॥
चूँकि शक्ति नहिं तुझमें उतनी भोग सके जो पूर्ण इसे।
राहु केतु के मुख से जिस विध शेष रहे शशि सूर्य लसे ॥३९॥

किसी तरह भी विश्वसारमय सार्वभौम पद प्राप्त किया।
किन्तु अन्त में तजा उसे तब चक्री शिव पद प्राप्त किया॥
त्याज्य परिग्रह ग्रहण पूर्व तज नहिं तो तव उपहास हुवा।
पतित धूल में मोदक ले ऋषि का जिस विध यश नाश हुवा ॥४० ॥

सुबुध-चरित को भी यह करता पूर्ण पापमय कभी-कभी।
कभी-कभी तो पूर्ण धर्ममय, पाप धर्ममय कभी-कभी॥
अंध रज्जु संपादन सम गज स्नान सदृश गृह धर्म रहा।
या पागल चेष्टा सम इससे हित न सर्वथा शर्म रहा ॥४१॥

खेद बोध बिन नृप सेवक बन सुखार्थ धन से प्यार किया।
कृषि करता बन वनिक वनिकता करता वन नद पार किया॥
विष में जीवन तेल रेत में ढूँढ रहा दिन-रात अहा।
मोह भूत के निग्रह बिन सुख नहीं, तुझे क्या ज्ञात रहा॥४२॥

दुख से बचने तू सुख पाने चलता उलटी राह रहा।
दुख के कारण आशावर्धक भोग संपदा चाह रहा॥
तपन ताप से तपा हुवा नर शांति खोजता दुखी बड़ा।
बाँस जल रही उसकी छाया में जाकर बस वहीं खड़ा॥४३॥

प्यास लगी जल निकट जानकर भू खोदत, पाषाण मिला।
अब क्या करता कार्य चल रहा खोदत ही पाताल चला॥
बिल-बिल करते कृमि-कुल जिसमें जहाँ मिला जल क्षार भरा।
प्यास बुझी ना, कण्ठ सूखता हाय भाग्य से हार मरा॥४४॥

नीति न्याय से धन अर्जन कर जीवन अपना बिता रहे।
उनका वह धन बढ़ नहिं सकता साधु सन्त यों बता रहे॥
पूर्ण सत्य है नदियाँ बहतीं जग में जल से भरी-भरी।
मलिन सलिल से सदा भरीं वे विमल सलिल से कभी नहीं॥४५॥

अधर्म जिसमें पलता नहिं है धर्म वहीं पर पलता है।
गन्ध दुःख की आती नहिं है उसमें ही सुख फलता है॥
वही ज्ञान है वहीं ज्ञान है जहाँ नहीं अज्ञान रहा।
वही सही गति चहुँ गतियों का जब होता अवसान रहा॥४६॥

धन-कन-कंचन संचय करने असि मषि कृषि में बन श्रमधी।
बार-बार कटु पीर पा रहा विषय लंपटी बन भ्रमधी॥
शम-यम-दम-नियमादिक धरता यदि जाने शिवधाम सही।
जनन-मरण औ जरण जनित दुख-जीवन का फिर नाम नहीं॥४७॥

बाह्य-वस्तु को मान रहा यह अनिष्ट यह है इष्ट रहा।
तत्त्व बोध बिन वृथा समय खो बार-बार पा कष्ट रहा॥
निर्दय यम के ज्वालामय मुख में जब तक नहिं जल मरता।
तब तक पीले निजी शांतिमय अविकल अविरल जल झरता ॥४८॥

परवश आशा सरिता में तुम बह-बह कर अति दूर गये।
इसे तैरने सक्षम तुम ही, क्या न पता, क्या भूल गये? ॥
निजाधीन हो निज अनुभव कर शीघ्र तैरकर तीर गहो।
नहिं तो पातक मरण मगर मुख, में पड़ भवदधि पीर सहो ॥४९॥

रस ले लेकर नीरस कहकर विषयी जन सब विषय तजे।
उन्हें मूढ़ तुम अपूर्व समझे करें उन्हीं की विनय भजे॥
आशारूपी पाप खानमय रिपु सेना की रही ध्वजा।
मिटे न तब तक विषय कीट! रे शांति नहीं ना निजी मजा ॥५० ॥

विषम नाग सम भोग भोगते खुद मर सुर सुख नहिं पाते।
निर्भय निर्दय बन, पर को मर, - वाते तातैं दुख पाते॥
साधु जनों ने जिनको त्यागा चाह उन्हीं की नित करते।
काम क्रोध के वशीभूत जन क्या-क्या अनर्थ नहिं करते ॥५१॥

जिसको भावी कल है वह ही उसे विगत का कल बनता।
ध्रुव कुछ नहिं जग काल अनिल से बदल रहा बादल घनता॥
भ्रात! भ्रान्ति तज कुछ तो देखो आँख खोलकर सही सही।
बार-बार हो भ्रमित रम रहा विषयों में ही वहीं-वहीं ॥५२॥

नरकों में दुख सहन किये हैं करनी की थी पाप भरी।
दूर रहें वे बीत गये हैं जिनकी स्मृति भी ताप करी॥
मदन बाण सम स्त्री कटाक्ष से, रे निर्धन! तू जला मरा।
हिम से मृदुतरु जलता जिस विध उसे याद कर भला जरा ॥५३॥

आत्म प्रवंचक चरित रहित है आधि व्याधि से सहित रहा।
सप्त धातुमय तन-धारक है क्रोधी तन से उदित अहा॥
जीर्ण जरा का कवल बनेगा काल गाल में पतित हुवा।
हे जन्मी! क्यों? अहित विधायक विषयों में तू मुदित हुवा॥५४॥

तरुण अरुण की खरतर अरुणिम किरणों से नर तप्त यथा।
इन्द्रियमय अति ज्वाला से अति तृषित जगत संतप्त तथा॥
कुधी विषय सुख मिलते नहिं तब अघकर उस विध दुख पाता।
नीर निकट-तम कीच बीच फँस बैल क्षीण बल दुख पाता॥५५॥

उचित रहा यह अगनी जलती, समयोचित इन्धन पाती।
इन्धन जब इसको ना मिलता, जलती ना झट बुझ जाती॥
मोह अग्नि तो किन्तु निरन्तर, धू-धू करती ही जलती।
भोग मिले तो भले जले पर नहीं मिले तब भी जलती॥५६॥

दुखमय ज्वाला लपटों से क्या कभी काय तब जला नहीं।
मधु मक्खी सम प्रखर पाप से क्या तव जीवन छिला नहीं॥
गर्जन करते काल वाद्य के, भयद शब्द क्या सुना नहीं।
क्यों न तजी फिर निंद्य मोह की नींद, भाव यह गुना नहीं॥५७॥

तन में घुलमिल रहना अघविधि फल चखना तव काम रहा।
पुनि पुनि पल पल विधि बंधन में पड़ना भी अविराम रहा॥
मृति ध्रुव फिर भी मृति भय रखता, निद्रा ही विश्राम रहा।
फिर भी जन्मी! भव में रमता, विस्मय का यह धाम रहा॥५८॥

स्थूल हाड़मय काष्ठ रचित है सिरा नसों से बंधा हुवा।
विधि-रिपु रक्षित रुधिर पिशित से लिप्त चर्म से ढका हुवा॥
लगा जहाँ पर आयु रूप गुरु-सांकल है तव तन घर है।
मूढ़ उसे तू जेल समझ, मत वृथा राग कर, अघकर है॥५९॥

विधि बंधन के मूल बंधुजन शरण काय नहिं अशरण है।
आपद गृह के महाद्वार हैं चिर परिचित प्रमदा जन हैं॥
स्वार्थ परायण सुत, रिपु हैं यदि तुमको है शिव चाह रही।
तजो इन्हें बस भजो धर्म शुचि यही रही शिव राह सही ॥६० ॥

जिनसे तृष्णा अनल दीप्त हो इंधन सम क्या उस धन से?।
पाप जनक संबंध रहा है जिनका क्या उन परिजन से?।
मोह नाग का विशाल बिल सम गेह रहा क्या, क्या तन से?।
भज समता देही! सुख-वांछक! प्रमाद तज तू तन मन से! ॥६१॥

सेनापति औ बली जनों के सर्वप्रथम आश्रित रहती।
सैनिक रक्षित, असिधर रक्षक, - दल से फिर आवृत रहती ॥
चमर अनिल से दीप शिखा सम, झट नरपति श्री भी मिटती।
भला बता फिर साधारण जन की लक्ष्मी की क्या गिनती ॥६२॥

जनन-मरण से व्याप्त रहा है जड़मय तेरा यह तन है।
खेद, खेद का अनुभव करता तन में स्थित हो निशिदिन है॥
अग्नि लगी एरण्ड काष्ठ में दोनों मुख जिसके जलते।
जैसे उसमें स्थित कीड़े हा! दुख पाते मरते जलते ॥६३॥

दुराचार कर अघ करता क्यों दुखित हुवा सम नौकर के।
इन्द्रिय पति मन से प्रेरित हो सुख पाने सुध खोकर के॥
विषय त्याग, बन इन्द्रिय विजयी इन्द्रिय तेरे दास बने।
अकलुष निज लख शिव सुख पाने पाल चरित, विधि नाश घने ॥६४॥

धन का अभिलाषी नहिं धन पा, दुखी रहें निर्धनी सदा।
धन पाकर भी तृप्त नहीं हों दुखी रहें नित धनी मुधा॥
धनिक दुखी हैं दुखी निर्धनी खेद यहाँ सब देख दुखी।
अंतरंग बहिरंग संग तज निसंग मुनि बस एक सुखी ॥६५॥

सुखाभास है केवल दुख है सुख जो पर के आश्रित है।
यथार्थ सुख तो शाश्वत शुचितम सुख यह निज के आश्रित है॥
ऐसा भी सुख मिल सकता क्या यदि मन शंकित इस विध है।
द्वादश विध तप तपते तापस सुखी सदा फिर किस विध है॥६६॥

निजाधीन हो विचरण करते बिना याचना अशन करें।
बुधजन संगति करते श्रुत का मनन करें मन शमन करें॥
बाह्य-द्रव्य में मन की गति कम, किस वर तप का सुफल रहा।
यह सब सोचा सुचिर काल पर, जान सका ना, विफल रहा॥६७॥

विरति विषय से कर श्रुत चिंतन उर से करुणा अति बहती।
जिनकी मति एकान्त-तिमिर को हरने में नित रत रहती॥
अशन अन्त में तज तन तजना पर आगम बल पर चलना।
महामना उन मुनियों का यह लघु तप विधि का प्रतिफल ना!॥६८॥

कोटि- कोटि खुद उपाय कर लो तन लक्षण नहिं संभव है।
पर से करवाते करवा लो यह तो सदा असंभव है॥
पल-पल गलना चलता तन का मिटना रहता क्षण-क्षण है।
तन रक्षण का हट छोड़ो तुम समझो यह 'तन लक्षण' है॥६९॥

निसर्ग नश्वर स्वभाव वाले आयु काय आदिक सारे।
ज्ञात हुआ यह निश्चित तुमको तरंग जीवन यह प्यारे॥
इसके मिटने से यदि मिलता शाश्वत शुचितम शिव पद है।
बिना कष्ट बस मिला समझ लो स्वयं आ गई संपद है॥७० ॥

उच्छ्वासों का निःश्वासों का करता है अभ्यास सदा।
जीव चाहता तन से निकलूँ बाहर, शिव में वास कदा॥
किन्तु मनुज कुछ श्वास रोक लो, आयु बढ़ेगी कहते हैं।
अजर अमर आतम बनता है फलतः जड़ जन बहते हैं॥७१॥

अरहट घट दल के जल सम यह आयु घटे बस पल-पल है।
तथा आयु का सहचर होकर चलता अविरल तन खल है॥
काय आयु के आश्रित जीवन फिर पर से क्या अर्थ रहा।
किन्तु नाव-थित नर सम निज को भ्रान्त लखे स्थिर व्यर्थ अहा ॥७२॥

बिना खेद उच्छ्वास जनम ना लेता वह दुख कूप रहा।
टिका हुआ है जिस पर नियमित जीवन का यह स्तूप रहा॥
जब वह लेता विराम निश्चित जीवन का अवसान तभी।
आप बता दो किस विध सुख का पान करे फिर प्राण सभी ॥७३॥

जनन ताड़ के पादप से तो प्राणी फल दल पतित हुए।
अधोमुखी हैं निराधार हैं पथ में हैं वे पथिक हुए॥
भले अभी तक मरण रूप इस धरती तल तक नहिं आये।
कब तक फिर वे अन्तराल में अधर गगन में रह पाये ॥७४॥

नीचे नारक असुरों ऊपर देवों को बस! बसा दिये।
मध्य मानवों को रख अमितों द्वीप सागरों घिरा दिये॥
तीन वातवलयों से वेष्टित कर विधि ने नभ को ताना।
पर नरपति ना बचा बचाता अटल काल का सो बाना ॥७५॥

विदित निलय जिसका ना तन भी दुष्ट राहु तापस पापी।
पूर्ण निगलता खेद! भानु को भासुरतम जो परतापी॥
दश शत प्रखर किरण कर बल से निखिल प्रकाशित कर पाता।
उचित समय यदि कर्म उदय हो कौन बली फिर बच पाता ॥७६॥

ठग सम निर्दय कर्म ब्रह्म खुद मोह महामद पिला-पिला।
सकल जगत् को संमोहित कर सही पंथ से भुला-भुला॥
सघन भयानक भव-कानन में हन्ता बनकर विचर रहा।
उसे मारता कौन बली वह कहाँ रहा है किधर रहा ॥७७॥

आता है कब किस विध आता काल कहाँ से आता है।
महादुष्ट है काल विषय में कुछ भी कहा न जाता है॥
वह तो निश्चित आता ही पै तुम क्यों बैठे मन माने।
विज्ञ! करो नित यतन निजोचित निज सुख पाने शिव जाने ॥७८॥

किसी तरह संबंध नहीं हो दुष्ट काल से बस जिसका।
कुछ भी कर लो किसी तरह भी शोध लगाओ तुम उसका॥
देश काल विधि हेतु वही इक जहाँ मोह का नाम नहीं।
शरण उसी की ले बिन चिंता रहो रहा शिवधाम वही ॥७९॥

बार-बार उपकार किया पर, बार-बार अपकार मिला।
इस विधि दारा तन है नारक दुख का भारी द्वार खुला॥
परम पुण्य को जला-जलाकर भस्म बनाती यह ज्वाला।
किस विध इसमें मुग्ध हुवा तू जिसे कहे जड़ सुख प्याला ॥८० ॥

विपद पर्वमय मूल भोग्य, ना रस बिन जिस का चूल रहा।
तथा बहुत से रोगों से भी ग्रसित रहा दुख शूल रहा॥
घुण-भक्षित उस इक्षु दण्ड सम ऊपर केवल मनहर है।
परभव सुख का बीज बना बस मानव जीवन अघहर है ॥८१॥

निशि में करता शयन मृतक सम चेष्टा विहीन हो जाता।
जागृत हो जीवन साधन में दिन भर विलीन हो पाता॥
इस विध प्रतिदिन नियमित जीवन इस प्राणी का बीत रहा।
किन्तु काय में कब तक टिक कर गा पायेगा गीत अहा ॥८२॥

अरे! हितैषी इस जीवन में बन्धुजनों से क्या पाया।
सत्य-सत्य बस हमें बता दे क्या! हित अनुभव कर पाया?॥
केवल इतना करते मरता जब तू तज कंचन तन को।
जला-जला वे राख बनाते अहित दुरित घर तव तन को ॥८३॥

राग रंगमय भववर्धक है विवाह आदिक कार्य रहें।
उनको करने में ही परिजन निरत सदा अनिवार्य रहें॥
अतः वस्तुतः परम शत्रु हैं परिजन इस विधि जान अरे!।
अन्य शत्रु तो एक बार पर बार-बार ये प्राण हरें॥८४॥

जिसके जीवन में वह जलता आशारूपी अनल महा।
जिसमें डाले धन इंधन का ढेर ढेर जड़ विकल अहा॥
प्रतिफल में वह प्रतिपल जलती जलती दीपित हो जाती।
भ्रान्त समझता शान्त उसे पै बुद्धि भ्रान्ति वश खो जाती॥८५॥

धवल धवल तम बालों से तव मस्तक शशि सम धवलित है।
इसी बहाने तव मति शुचिता बाहर निकली मम मत है॥
जरा दशा में जरा सोचना भी किस विध फिर बन सकता।
परभव हित का अतः स्मरण भी किस विध यह मन कर सकता॥८६॥

तृप्ति जनक, ना, इष्ट अर्थमय अब सुख खारा उदक रहा।
बहुविध मानस दुख वडवानल जिसके भीतर धधक रहा॥
जनन जरा मृति तरंग उठती मोह मगर मुख खोले हैं।
भवदधि में गिरने से कुछ ही बच पाते दृग खोले हैं॥८७॥

अविरल सुख परिकर से लालित यौवन मद से स्पर्शित था।
ललित युवति दल नयन कमल ले तुझे निरख कर हर्षित था॥
फिर भी तप कर काय सुखाया धन्य हुवा यदि सुधी रखे।
जली कमलिनी का भ्रम कर तुझ दग्ध वनी में मृगी लखे॥८८॥

निर्बल तन मन बालक जब थे नहीं हिताहित विदित हुए।
युवा हुए कामान्ध युवति तरु वन में निशिदिन भ्रमित हुए॥
प्रौढ़ हुए धन तृषा बड़ी फिर कृषि आदिक कर विकल बने।
वृद्ध हुए फिर अर्धमृतक कब जनम धरम कर सफल बने॥८९॥

बाल्य काल में जो कुछ बीता उसकी स्मृति अब उचित नहीं।
धन संचय करता तब विधि ने किया तुझे क्या दुखित नहीं॥
अन्त समय तो दांत तोड़कर इसने तव उपहास किया।
फिर भी तू दुर्मति विधिवश हो विधि पर ही विश्वास किया ॥९० ॥

घृणित दशा तव देख सके ना तभी नेत्र तव अन्ध हुये।
तव निंदा पर से सुन सुनकर बधिर कान अब बन्द हुये॥
निकट काल को लख भय वश तव पूर्ण कांपता वदन तथा।
फिर भी रहता अकंप जर्जर तन में जलता भवन यथा॥९१॥

परिचय जिनका अधिक हुवा हो वहीं अनादर तनता है।
सूक्ति रही यह नवीनतम जो प्रीति तथा ऽऽदर बनता है॥
दोष कोष में निरत हुवा क्यों गुण-गण से अति विरत हुवा।
उचित उक्ति को वृथा मृषा क्यों करता यह ना उचित हुवा॥९२॥

हंस कभी ना खाते जिसको दिन में खिलता जलज रहा।
जल में रहकर जल ना छूता कठोर कर्कश सहज रहा॥
जलज धर्म ना ज्ञात भ्रमर को भ्रमित वृथा फँस मर जाता।
स्वहित विषय में विषय रसिक कब समुचित विचार कर पाता॥९३॥

तीन लोक में प्रज्ञा दुर्बल स्वपर बोध का हेतु रही।
शुभ गति दात्री और दुर्लभा भवदधि में शुभ सेतु सही॥
इस विध प्रज्ञा पाकर भी यदि पद पद प्रमाद पाले हैं।
उनका जीवन चिन्त्य रहा है बोल रहे मतिवाले हैं॥९४॥

जगदधिपति धरतीपति सुरपति हुये विगत में अगणित हैं।
सुकृत सुफल वह बाह्य-वाक्य से यद्यपि सब जन परिचित हैं॥
किन्तु खेद है वीर धीर औ बुधजन तक भी किन्नर हैं।
इन्हीं सुराधिप भूपजनों के जिन पर हँसते शंकर हैं॥९५॥

श्रेष्ठ धर्म के बल पर नरपति महावंश में जनन धरें।
सुधी धनी हो जिन्हें निर्धनी धनार्थ सविनय नमन करें॥
यह पथ शम मय जिस पर चलना विषयी का वह कार्य नहीं।
धर्म कथ्य नहिं महाजनों को जिसे लखें जिन आर्य सही ॥९६॥

अशुचिधाम तन दुखद रहा है इसमें चिर से निवस रहा।
निरीह इससे हुवा नहीं तू राग बढ़ा प्रति दिवस रहा॥
घटे राग तव, सदुपदेश में अत: निरत नित यतिजन ये।
महाजनों की परहित की रति देख जरा, तज रति मन ऐ! ॥९७॥

'इस विध' 'उस विध' तन है इस विध कहने से कुछ अर्थ नहीं।
पुनि पुनि तन धर तजकर तूने व्यथा सही क्या व्यर्थ नहीं॥
फिर भी यह संकेत मात्र है सदुपदेश सुन संपद है।
भव भ्रमितों का यह जड़ तन सब विपदाओं का आस्पद है ॥९८॥

मल घर माँ का उदर जहाँ चिर क्षुधित तृषित मुख खोल पड़ा।
पड़ा अन्न मल-मिश्रित खाया विधिवश ले दुख मोल सड़ा॥
निश्चल था तव कृमि कुल सहचर तभी मरण से भीत हुवा।
चूंकि जनन का मरण जनक है यही मुझे परतीत हुवा ॥९९॥

अजा कृपाणक समान तुमने चिर से अब तक कार्य किया।
नहीं हिताहित हुवा विदित हे आर्य दुरित अनिवार्य किया॥
अन्धक वर्त्तन न्याय मात्र से प्राप्त किया सुख क्षणिक रहा।
वह भी आत्मिक सुख ना इन्द्रिय दुख मिश्रित सुख तनिक रहा ॥१०० ॥

हा! आकस्मिक वनितादिक की काम कामना करवाता।
निज को पंडित माने उनके पंडितपन को भरमाता॥
फिर भी पंडित धीर धार कर इसको सहते यह विस्मय।
सुतप अनल से क्रूर काम को नहीं जलाते बन निर्दय ॥१०१॥

समझ विषय को तृण सम कोई याचक को निज धन देता।
तृष्णा वर्धक अघमय गिन इक बिना दिये धन तज देता॥
किन्तु प्रथम ही दुखद जान धन नहिं लेता वह बड़भागी।
एक एक से क्रमशः बढ़कर, सर्वोत्तम हैं ये त्यागी॥१०२॥

विलासतायें प्राप्त संपदा संत साधु ये यदि तजते।
विस्मय क्या है इस घटना में विरागता को जब भजते॥
उचित रहा यह जिसके प्रति है घृणा मनो, नर यदि करता।
रसमय भोजन भला किया हो तुरत वमन क्या नहिं करता॥१०३॥

श्रम से अर्जित लक्ष्मी तजता रोता तव जड़मति-वाला।
तथा संपदा तजता यद्यपि मद करता हिम्मत-वाला।
ना मद करता ना रोता है किन्तु संपदा तजता है।
वही विज्ञ है वीतराग है तत्त्व ज्ञान नित भजता है॥१०४॥

जड़मय तन जननादिक से ले मृति तक सोचो भला जरा।
क्लेश अरुचि भय निंदन आदिक से पूरा बस भरा परा॥
त्याज्य, तजो तन रति जब मिलती मुक्ति भली फिर कौन कुधी।
दुर्जन सम तन राग तजे ना उत्तर दो तुम मौन सुधी॥१०५॥

मिथ्या मतिवश राग रोष कर दुराचार में लीन हुवा।
बार-बार तन धार-धार मर दुखी हुवा अति दीन हुवा॥
राग हटाकर विराग बनकर एक बार यदि निज ध्याता।
अक्षय बनकर अक्षय फल पा निश्चित बनता शिव धाता॥१०६॥

जीवदया-मय इन्द्रिय-दम-मय संग-त्यागमय पथ चलना।
मन से तन से और वचन से पूर्ण यत्न से तज छलना॥
जिस पर चलने से निश्चित ही मिले मुक्ति की मंजिल है॥
निर्विकल्प है अकथनीय है अनुपम शिवसुख प्रांजल है॥१०७॥

ज्ञान भाव से प्रथम हुवा हो मोह भाव का शमन महा।
किया गया पुनि पाप-मूल उस सकल संग का वमन अहा॥
अजर अमर पद का कारण वह मुक्तिरमा खुद वरती है।
रही 'कुटी परवेश क्रिया' ज्यों विशुद्ध तन को करती है॥१०८॥

योग्य भोग उपभोग योग पा भोग भाव नहिं मन लाते।
किन्तु विश्व को उपभोजित कर स्वयं भोग सब तज पाते॥
मार मार कौमार्य काल में बाल ब्रह्मचारी प्यारे।
चकित हुए हम इस घटना से उन चरणों को उर धारें॥१०९॥

सदा अकिंचन मैं चेतन हूँ इस विध चिंतन करना है।
तीन लोक का ईश शीघ्र बन मुक्ति रमा को वरना है॥
योग धार कर योगी जिसको विषय बनाते अपना है।
परमातम का गूढ़रूप यह प्राप्य! और सब सपना है॥११०॥

अल्प काल ही मानव गति है काल आय कब ज्ञात नहीं।
दुर्लभ तम है अशुचिधाम है जिसकी दुखमय गात रही॥
इस गति में ही तप बन सकता तप से ही शिव मिलता है॥
अतः करे तप तापस बनकर तप से ही विधि हिलता है॥१११॥

ध्यान समय में जगन्नाथ, प्रभु ध्येय बने बुध सम्मति है।
जिन पद स्मृति ही क्लेशमात्र है क्षति यदि है तो विधि क्षति है॥
साधन मन है साध्य सिद्धि सुख काल लगेगा पल भर ही।
सब विध बुधजन निशिदिन चिंतन करें कष्ट ना तिल भर भी॥११२॥

धन की आशा जिसे जलाती कभी सुखी क्या बन सकता ?
तप के सम्मुख काम व्याध आ मनमाना क्या तन सकता ?
छू सकती अपमान धूल क्या तप तपते उन चरणन को?
बता कौन वह तप बिन वांछित सुख देता भवि जन-जन को? ॥११३॥

यहीं सहज कोपादिक पर भी पाता तापस विजय अहा!
प्राणों से जो अधिक मूल्य है पाता गुण-गण निलय महा!
पर भव में फिर परम सिद्धि भी स्वयं शीघ्र बस वरण करें।
ताप पाप हर तप कर फिर नर क्यों ना नित आचरण करें ॥११४॥

अपक्व फल से लगा फूल ज्यों यथा समय पर गलता है।
त्यों मुनि तन भी सुतप बेल से लिपटा शुभ फल फलता है॥
दूध सुरक्षित रख जल सूखे समाधि अगनी में जिसकी।
आयु सूखती वृष रक्षित कर धन्य! वही जय हो उसकी ॥११५॥

राग रंग बहिरंग संग तज विराग पथ पर चलते हैं।
किन्तु उपेक्षित नहिं है समुचित पालन तन का करते हैं॥
जीवन भर चिर तापस बनकर खरतर तपते अचल महा।
भ्रात ज्ञात हो निश्चित ही यह आत्म ज्ञान का सुफल रहा ॥११६॥

आत्म ज्ञान वह चूंकि हुवा हो तन का परिचय स्पष्ट रहा।
पल भर भी पलमय तन का फिर पालन किसको इष्ट रहा॥
तन का पालन करने में बस तदपि प्रयोजन एक रहा।
ध्यान सिद्धि वर ज्ञान सिद्धि हो आत्मसिद्धि अतिरेक रहा ॥११७॥

जीरण तृण सम सकल संपदा तजी वृषभ ने तपधारा।
क्षुधित दीन सम बिन मद, पर घर जाते पाने आहारा॥
बहुत दिवस तक मिली नहीं विधि भिक्षार्थी बन भ्रमण किया।
सुखार्थ हम क्या नहीं सहे जब जिन ने परिषह सहन किया ॥११८॥

जिनका सुत नवनिधियों का पति कुलकर मनु वृषभेश महा।
गर्भ पूर्व ही विनीत सेवक जिनका था अमरेश रहा॥
भूतल पर प्रभु भटके भूखे पुरुषोत्तम छह मास यहाँ।
कौन टालता विधान विधि का बल वह किसके पास कहाँ ॥११९॥

प्रथम संयमी स्वपर तत्त्व का अवभासक हो चलता है।
जिस विध सबको दीपक करता आलोकित है जलता है॥
तदुपरान्त वह सुतप ध्यान से और सुशोभित हो जाता।
प्रखर प्रभा आलोक ताप से जिस विध नभ में रवि भाता ॥१२० ॥

ज्ञान विभा से चरित चमक से भासुर धी-निधि यमी दमी।
दीप बने है उन्हें नमूँ मम-अघ-तम की हो कमी-कमी॥
समीचीन आलोक-धाम से करा स्वपर को उजल रहें।
कर्म रूप अलि काला कज्जल फलत: पल-पल उगल रहें ॥१२१॥

सही सही आगम का भवि जब चिंतन मंथन करता है।
अशुभ असंयम तज शुभ संयम प्रथम यथाविधि धरता है॥
फिर बनता वह विशुद्धतम है सकल कर्म-मल धुलता है।
उचित रहा रवि प्रभात से जब मिलता फिर तम टलता है ॥१२२॥

विषय राग को मिटा रहा है तप श्रुति में अनुराग हुवा।
भविक-जनों का भाग्य खुला है सुख का ही अनुभाग हुवा ॥
प्रभात में जब बाल भानु की कोमल हलकी सी लाली।
अणु-अणु कण-कण खुलते खिलते, खिलती जग जीवन डाली॥१२३॥

तत्त्वज्ञान आलोक त्याग यदि विषय राग में रमन करो।
रवरव नारक निगोद आदिक गतियों में गिर भ्रमण करो॥
संध्या की लाली को छूता सघन निशा सम्मुख करके।
प्रखर प्रभा तज, जाय रसातल दिनकर नीचे मुख करके ॥१२४॥

चरित पालकी पड़ाव समुचित स्वर्ग रहा गुण रक्षक हैं।
तप संबल है सहचर-लज्जा ज्ञान रहा पथ-दर्शक है॥
सरल पंथ शम जल से सिंचित दया भाव ही छाँव रही।
बाधा बिन यह यात्रा मुनि को पहुँचाती शिव गाँव सही ॥१२५॥

नाग दृष्टि विष ना, पर नारी रही दृष्टि विष दुरित मही।
जिसके पल भर ही लखने से ही धू-धू जलता जगत सभी।
विलोम उनके तुम हो जिससे क्रुद्ध भटकती विवश सभी।
स्त्री के मिष विष वे उनके वश हो न वशी बस निमिष कभी ॥१२६॥

कभी क्रुद्ध हो नाग काट कर प्राण हरे पर सदा नहीं।
लो औषध भी बहु मिलती झट विष हरती है सुधामयी॥
किन्तु क्रुद्ध या प्रसन्न रह भी "दिखी देख" सबको मारे।
जिस पर औषध नहिं स्त्री-नागिन से योगी भी भय धारे ॥१२७॥

यदि चाहो यह मुक्ति रमा है कुलीन जन को मिलती है।
परम नायिका जन-जन प्रिय है गुण-बगिया में खिलती है॥
इसे सजा गुणगण से इसमें रम जाओ पर मत बोलो।
अन्य स्त्रियों से लगभग महिला ईर्षा करती, दृग खोलो ॥१२८॥

बाहर केवल कोमल कोमल वदन कमल से विलस रही।
तरल लहर सुख से स्त्री सरवर वचन सलिल से विहँस रही॥
बालक सम हा! अज्ञ तृषित ही जिसके तट पर बस जाते।
विषय विषम कर्दम से फिर वे नहीं निकलते फँस जाते ॥१२९॥

भयद क्रुद्ध पापिन इन्द्रिय सब राग आग अति जला जला।
अस्त व्यस्त कर त्रस्त, किया है पूर्ण रूप से धरातला॥
स्त्री मिष निर्मित घात थान का श्रय लेते हा! मरण जहाँ।
मदन व्याधपति से पीड़ित जन-मृग ढूँढत सुख शरण यहाँ ॥१३०॥

हे निर्लज्जित! सुतप अनल से अधजल शवसम तव तन है।
बना घृणा का भय का आस्पद ज्ञात नहीं क्या जड़घन है॥
तव तन को लख महिला डरती चूँकि सहज कातर रहती।
क्या न डराता उन्हें वृथा तव रति उनमें क्यों कर रहती ॥१३१॥

उन्नत दो दो स्तन पर्वतमय दुर्ग परस्पर मिले वहीं।
रोमावलिमय कुपथ बहुत हैं भ्रमत करें पथ दिखे नहीं॥
दुखद त्रिवलियाँ सरितायें है जिसे घिरी, नहिं पार कहीं।
स्त्री-योनी पा विषय-मूढ़! क्या खिन्न हुवा बहु बार नहीं? ॥१३२॥

मदन शस्त्र का नाड़ी व्रण है जहाँ पटकता मल कामी।
काम सर्प को निवास करने बनी हुई है वह बाँमी॥
उन्नत तम शिव मुक्ति शैल का ढका गर्त है बुध गाते।
रम्य-दान्त-वाली स्त्री जन का योनिथान तू तज तातैं॥१३३॥

कृत्रिम गड्ढे में जिस विध गज! तप धारक भी गिरते हैं।
स्त्रीजन के उस योनिथान में विषयों से जब घिरते हैं॥
प्रथम जन्म थल अत: मात वह रागथान! पर जड़ कहते।
उन दुष्टों के दुष्ट वचन से ठगा जगत है हम कहते॥१३४॥

कराल काला काल कूट वह महादेव के गला पड़ा।
पर उस विषधर का विष उस पर नहीं चढ़ा क्या भला चढ़ा॥
तथापि वह तो स्त्री संगति से अति जलता दिन-रात रहे।
निश्चित ही बस विषम विषमतम विष हैं स्त्री जन, ज्ञात रहे॥१३५॥

सकल दोष के कोष यदपि स्त्री-काया की परिणति होती।
शशि आदिक सम सुंदर दिखती जिससे यदि तव रति होती॥
शुचितम शुभतम पदार्थ भर में करो भली फिर प्रीति यहाँ।
किन्तु काम रत मदान्ध जन में कहाँ बोध शुभ रीति कहाँ॥१३६॥

यदा प्रिया को अनुभवता मन केवल कातर बने दुखी।
किन्तु प्रिया को विषयी-इन्द्रिय अनुभवती तब बने सुखी॥
मात्र शब्द से नहीं नपुंसक रहा अर्थ से भी मन ओ।
शब्द अर्थ से पुरुष बने फिर मन के साथी बुधजन हो? ॥१३७॥

न्याय युक्त ही राज्य पूज्य है पूज्य ज्ञान-युत सुतप महा।
राज्य त्याग तप करे महा, लघु करे राज्य, तज सुतप अहा॥
राज्य कार्य से सुतप पूज्य है इस विध बुधजन समझ सभी।
पाप भीत वे आर्य करें बस भव-भय हर तप सहज अभी॥१३८॥

पूर्ण खिले हों पूर्ण सुगंधित फूल महकते जब तक हैं।
देव सुबुध तक मस्तक पर भी धारण करते तब तक हैं॥
छूते पैरों से तक पुनि ना, गंध फूल से नहिं झरता।
अहो जगत् में नाश गुणों का क्या क्या अनर्थ नहिं करता॥१३९॥

अरे चन्द्र तू तूझे हुआ क्या बता समल क्यों बना कुधी।
बनना तुझको समल इष्ट था पूर्ण समल क्यों बना नहीं॥
तव मल को प्रकटाती ज्योत्स्ना व्यर्थ रही बदनाम रही।
मलिन राहु सम यदि बनता तो अदृश्य होता शाम कहीं॥१४०॥

दोष छिपा कुछ शिष्य जनों के स्वयं मनो गुरु चले चला।
दोष सहित यदि शिष्य मरे तो फिर वह गुरु क्या करे भला॥
इसीलिये वह किसी तरह भी हितकारी गुरु नहीं रहा।
स्वल्प दोष भी बढ़ा चढ़ा खल भले कहें गुरु वही महा॥१४१॥

गुरु के वचनों में यद्यपि वह कठोरता भी रहती है।
भविकजनों के मन की कलियाँ तथापि खुलती खिलती हैं॥
प्रखर प्रखरतर दिनकर की वे किरणें अगनी बरसातीं।
कोमल कोमलतम कमलों को किन्तु खुल खिला विहँसाती॥१४२॥

उभय लोक के हित की बातें कई सुनाते सुनते थे।
विगत काल में भी दुर्लभ थे सुनते सुनते गुणते थे॥
धर्म सुनाता कौन सुने अब ये भी दुर्लभ विरल मिले।
हित पथ पर चलने वाले तो 'ईद चन्द्र' सम विरल खिले॥१४३॥

दोष गुणन का ज्ञान जिन्हें है जबकि दिखाते दूषण हैं।
बुधजन को वह सदुपदेश सम प्रिय लगता है भूषण है॥
बुधजन की जो करें प्रशंसा बिन आगम का ज्ञान अहा।
विज्ञ तुष्ट नहिं होते उससे खेद कष्ट अज्ञान रहा ॥१४४॥

सद्गति सुख के साधक गुण-गण जिन्हें अपेक्षित प्यारे हैं।
दुर्गति दुख के कारण सारे हुए उपेक्षित खारे हैं॥
फलत: साधक को भजते हैं अहित विधायक को तजते।
सुबुधजनों में श्रेष्ठ रहे वे जन-जन हैं उनको भजते ॥१४५॥

अविनश्वर शिव सुखप्रद पथ तज अहित पंथ पर चलता है।
कुधी बना है दु:ख दाह से फलत: पल-पल जलता है॥
कुटिल चाल तज सरल चाल से शिव पथगामी यदि बनता।
सुधी नियम से बन अनुभवता तू शाश्वत शिव सुख-धनता ॥१४६॥

मिथ्यात्वादिक दोष रहे हैं मोहादिक से उदित हुए।
सम्यक्त्वादिक गुण लसते हैं मोहादिक जब शमित हुए॥
समझ त्याज्य तज अहित हेतु को हित साधन को गह पाता।
सुख निधि यश निधि वही, वही बुध, वही सुचारित कहलाता ॥१४७॥

बढ़न किसी के घटन किसी के आयु धनादिक हैं चलते।
पूर्व उपार्जित पुण्य पाप फल साधारण सबमें मिलते॥
किन्तु दृगादिक बढ़े, घटे अघ जिनके वे ही विज्ञ रहे।
इससे उल्टा जीवन जिनका सुबुध कहें वे अज्ञ रहे ॥१४८॥

दण्ड नीति ही चलती केवल नरपतियों से कलियुग में।
धनार्थ नरपति इसे चलाते किन्तु नहीं धन मुनिपद में॥
इधर ख्याति रत गुरु शिष्यों को नहिं शिवपथ दिखला सकता।
मूल्य मणी सम महामना मुनि महि में है विरला दिखता ॥१४९॥

निज को मुनि माने अति आकुल महिलाजन के लखने से।
भ्रमते व्याकुल बाण लगे उन घायल मृग के गण जैसे॥
विषय वनी में जिन्हें कभी भी बना असंभव स्थिर रहना।
तूफानी बादल सम चंचल उनकी संगति मत करना॥१५०॥

गेह गुफा हो गगन दिशायें तेरे हो बस वसन सदा।
द्वादशविध तप विकास मधुरिम इष्ट उड़ा ले अशन सुधा॥
परमागम का अर्थ प्राप्त तुझ गुणावली तव वनिता है।
वृथा याचना मत कर अब तू मुनियों की यह कविता है॥१५१॥

सकल विश्व में और दूसरा नभ सम गुरुतम नहीं रहा।
उसी तरह बस यह भी निश्चित अणु सम लघुतम नहीं रहा॥
मात्र इसी पर ध्यान दे रहे सूक्ति यहाँ जो प्रचलित है।
स्वाभिमान मंडित जन औ क्या नहीं दीन से परिचित है॥१५२॥

याचक बनकर दीन याचना दीन भाव से करता है।
मैं मानूँ तब उसका गौरव दाता में जा भरता है॥
मेरा निर्णय मानो यदि यह प्रमाण पन नहिं रखता है।
दान समय में दाता गुरु औ याचक लघु क्यों दिखता है॥१५३॥

ग्रहण भाव को रखने वाले नीचे जाते दिखते हैं।
ग्रहण भाव को नहिं रखते वे ऊपर जाते दिखते हैं।
इसी बात को स्पष्ट रूप से तुला हमें बतलाती है।
भरी पालड़ी नीचे जाती खाली ऊपर जाती है॥१५४॥

धनी-जनों से धन की इच्छा सभी निर्धनी करते हैं।
धनी बनाकर किन्तु तृप्त भी उन्हें धनी कब करते हैं।
याचक की ना प्यास बुझाता धनिकपना क्या काम रहा।
धनिकपना से निर्धनपनमय मुनिपन वर अभिराम रहा॥१५५॥

अतल अगम पाताल छू रही आशा की जो खाई है।
तीन लोक की सब निधियाँ भी जिसे नहीं भर पाई हैं॥
किन्तु उसे बस पूर्ण रूप से स्वाभिमान धन भरता है।
इसीलिये तू मान! मानधन ही धन भव-दुख हरता है॥१५६॥

तीन लोक के नीचे जिसने किया थाह किसने पाई।
थाह नहीं है अथाह आशा खाई दुखदाई भाई॥
किन्तु यही आश्चर्य रहा है किया इसे भी समतल है।
तज तज विषयों को भविकों ने धार तोष धन संबल है॥१५७॥

भाव-भक्ति से शुद्ध अशन यदि यथासमय श्रावक देते।
तन की स्थिति, तप की उन्नति हो तभी स्वल्प कुछ मुनि लेते॥
महामना मुनियों को वह भी लज्जा का ही कारण है।
अन्य परिग्रह को फिर किस विध कर सकते वे धारण हैं॥१५८॥

देह अशन-धन गृही व्रती है दाता इस विध शास्त्र कहें।
निज पर हित हो अशन गहें मुनि निरीह तन से पात्र रहें॥
पात्र दान दे पात्र दान ले रागद्वेष यदि वे करते।
कलियुग की यह महिमा कहते बुध जिस पर लज्जा करते॥१५९॥

त्रिभुवन आलोकित जिससे हो तव वर केवलज्ञान सही।
सहज आत्म सुख इन्हें मिटाया विधि ने विधि पहिचान यही॥
विधि निर्मित इन्द्रिय पा इन्द्रिय सुख तू चखता लाज नहीं।
दीन क्षुधित कुछ खा पीकर ज्यों सुखित बने दुख भाजन ही॥१६०॥

व्रत तप पालो सहो परीषह स्वर्गों में तुम जावोगे।
विषयों की यदि रुचि है मन में विषयों को बस पाओगे॥
भोजन पाने यदपि प्रतीक्षित क्षुधित क्षुधा की व्यथा सहो।
किन्तु पेय पी नष्ट कर रहे भोजन को क्यों वृथा अहो॥१६१॥

बाहर भीतर संग रहितपन मुनिपन ही धन बना हुवा।
मृत्यु महोत्सव सदा मनाना जिनका जीवन बना हुवा॥
साधु-जनों को एक मात्र बस विशद सुलोचन ज्ञान सही।
फिर विधि उनको क्या कर सकता विचलित या भयवान कभी ॥१६२॥

जीवन जीने की अभिलाषा आशा धन की जिन्हें रही।
कर्म उन्हें पीड़ित कर सकता भीति कर्म से उन्हें रही॥
जिनकी आशा निराशता में किन्तु ढली फिर कर्म भला।
उन्हें दुखी क्या कर सकता है सुखमय आतम धर्म भुला ॥१६३॥

चक्री पद को पाकर भी तज तापस बन तप तपते हैं।
परम पूज्य वे बनते, जन-जन नाम उन्हीं के जपते हैं॥
पुरुष बने हैं किन्तु तपों को तज विषयन में झूल रहें।
पद-पद पर उनकी निंदा हो हित का साधन भूल रहें ॥१६४॥

चक्री, चक्रीपन तज तपता विस्मय करना विफल रहा।
अनुपम अव्यय आत्मिक सुख यह चूँकि सुतप का सुफल रहा॥
समझ विषम विष विषयों को तज तपधर, पुनि तज तप मोही।
सुधी उन्हीं का सेवन करते रहा महा विस्मय सो ही ॥१६५॥

उन्नत शैया तल से नीचे भू तल पर आ शिशु गिरता।
संभावित पीड़ा लखकर तब कँपता भय से है घिरता॥
त्रिभुवन से भी उन्नत तप गिरि से गिरते मतिवर यति हैं।
किन्तु भीति नहिं होती उनको होते विस्मित हम अति हैं ॥१६६॥

अतीचार से अनाचार से हुवा महाव्रत दूषित हो।
योग सुतप का उसे मिले तो शुचिपन से झट भूषित हो॥
विमल विमलतम उस तप को भी मलिन मलिनतम करता है।
सदाचार से दूर दुष्ट जो दुराचार भर धरता है ॥१६७॥

जहाँ कहीं भी मिलते सौ सौ कौतुक विस्मयकारी हैं।
उन सबमें भी इन दो पर ही होता विस्मय भारी है॥
परमामृत का प्रथम पानकर पुनः उसे जो वमन करें।
सुकृत रहित वे व्रतधर व्रत तज फिर विषयन में रमण करें ॥१६८॥

बाह्य शत्रु आरंभादिक को पूर्ण रूप से त्याग दिया।
निज बल संग्रह करने वाला अब थोड़ा बस जाग जिया॥
अशन शयन गमनादिक में हो जागृत निज रक्षण करना।
रागादिक का क्षय करना हो व्रत पालन हर क्षण करना ॥१६९॥

कतिपय नयमय शाखाओं में वचन पत्र से सजा हुवा।
अमित धर्म के निलय अर्थमय फूल फलों से लदा हुवा॥
उन्नत 'श्रुत-तरु' समकित मतिमय जड़ जिसकी अति दृढ़तर भी।
बुधजन अपने मन मर्कट नित रमण करावे उस पर ही ॥१७० ॥

अव्यय व्ययमय एक नैक भी विलसित होती निज सत्ता।
वही द्रव्य पर्यय वश लसती गौण मुख्य हो मतिमत्ता॥
आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित भी जगत रही।
इस विध चिंतन बुधजन कर लो रहो जगत में जगत सही ॥१७१॥

एक द्रव्य ही एक समय में ध्रौव्य रूप भी लसता है।
नाश रूप भी वही दिखाता जन्म धार-कर हँसता है॥
यदि इस विधि ना स्वीकृत करते फिर यह निश्चित थोथा है।
नित्यपने का अनित्यपन का ज्ञान हमें जो होता है॥१७२॥

बोधधाम ही क्षणिक नित्य ही अभावमय ही तत्त्व रहा।
चूँकि उचित ना इस विध कहना उस विध दिखता तत्त्व कहाँ॥
भेदाभेदात्मक हो लसता किन्तु तत्त्व वह प्रतिपल है।
इसी भाँति सब आदि अन्त बिन समझो मिलता शिवफल है ॥१७३॥

रवि सम भाता आतम का है स्वभाव केवलज्ञान रहा।
उसका मिलना ही मिलना बस शिवसुख है अभिराम रहा॥
इसीलिए तुम सुचिर काल से शिव सुख की यदि चाह करो।
ज्ञान भावना के सरवर में संग त्याग अवगाह करो॥१७४॥

ज्ञान भावना का फल भी वह ज्ञान मात्र बस भास्वर है।
श्लाघनीय है अर्चनीय है नश्वर नहिं अविनश्वर है॥
किन्तु ज्ञान की सतत भावना अज्ञ करे भव सुख पाने।
अहो! मोह की महिमा न्यारी सुख दुख क्या है ना जाने॥१७५॥

शास्त्र अग्नि में भविजन निज को जला-जला शुचि हो लसते।
मणिसम बनकर मनहर सुखकर लोक शिखर पर जा बसते॥
उसी अग्नि में मलिन मुखी हो राख-राख बनकर नशते।
किन्तु दुष्ट वे विषयी निज को विषय पाश से हैं कसते॥१७६॥

बार-बार बस ज्ञान नेत्र को फैला-फैला लखना है।
पदार्थ दल जिस विध है उस विध उसको केवल चखना है॥
आतम-ज्ञाता मुनि वे केवल ध्यान सुधा का पान करें।
किन्तु भूल भी राग-रोष के कभी नहीं गुणगान करें॥१७७॥

कर्म निर्जरा सहित किन्तु वह जब तक विधि बंधन पलता।
तब तक भवदधि में आतम का भ्रमण नियम से है चलता॥
एक छोर से रस्सी बँधती एक ओर से खुलती है।
तब तक निश्चित मथनी की वह भ्रमण क्रिया बस चलती है॥१७८॥

एक ओर से भले छोड़ दो रस्सी, मथनी नहिं रुकती।
और छोर से नियम रूप से बँधती भ्रमती है रहती॥
उसी भाँति कुछ कर्म छोड़ते बंध भ्रमण पर नहिं मिटते।
पूर्ण निर्जरा यदि करते हो बंध भ्रमण तब सब मिटते॥१७९॥

भले पालते समिति गुप्तियाँ तुम बहुविध तप हो धरते।
बहुविध विधि का बँधन बँधता राग-द्वेष यदि हो करते॥
तत्त्वज्ञान को किन्तु धारते राग-रोष यदि नहिं करते।
उन्हीं समितियाँ गुप्ति पालकर मुक्ति-रमा को झट वरते ॥१८० ॥

हित पथ के प्रति अरुचि भाव औ अहित पंथ का राग वही।
पाप कर्म का बंध कराता अतः उसे तू त्याग यहीं।
इससे जो विपरीत भाव है पाप मिटाता पुण्य मिले।
दोनों मिटते शिव मिलता पर प्रथम पाप पुनि पुण्य मिटे ॥१८१॥

मूल और अंकुर जिस विध वे सदा बीज से उदित रहें।
मोह बीज से राग-द्वेष भी उदित हुए हैं विदित रहें॥
तत्त्वज्ञान के तेज अनल से उन्हें जला कर शान्त करो।
तप्त क्लान्त निज जीवन को तुम सुधा पिलाकर शान्त करो ॥१८२॥

नस पर गहरा घाव पुराना पल-पल पीड़ाप्रद होता।
सदुपचार घृत-आदिक का हो मिटता सीधा पद होता॥
मोह घाव भी संग ग्रहण से सुचिर काल से सता रहा।
संग त्याग से वह भी मिटता शिव मिलता गुरु बता रहा ॥१८३॥

मित्र मानते तुम उनको यदि सुखित तुम्हें जो करते हैं।
तथा शत्रु यदि उन्हें मानते दुखित तुम्हें जो करते हैं॥
किन्तु मित्र जब मरते तब तुम विरह दुःख अति सहते हो।
अतः मित्र भी शत्रु हुए फिर शोक वृथा क्यों करते हो ॥१८४॥

मरण टले ना टाले, मरते अपने परिजन पुरजन हैं।
विलाप कर-कर रोते खुद भी मरण समय में जड़ जन हैं।
उन्हें सुगति यश किस विध मिलते वीर-मरण के सुफल रहें।
सुधी करें ना शोक मरण में फलतः शिव सुख विमल गहें ॥१८५॥

इष्ट वस्तु जब मिटती तब हो शोक, शोक से दुख होता।
इष्ट वस्तु जब मिलती तब हो राग, राग से सुख होता॥
अतः सुधीजन इष्ट हानि में शोक किये बिन मुदित रहें।
सदा सर्वदा सुखी सर्वथा उन पद में हम नमित रहें॥१८६॥

इस भव में जो सुखी हुवा हो वही सुखी पर भव में हो।
दुखी रहा है इस जीवन में वही दुखी पर भव में हो॥
उचित रहा है सुख का कारण सकल संग का त्याग रहा।
उससे उलटा दुख का कारण ग्रहण संग का राग रहा॥१८७॥

मरण प्राप्त कर पुनः मरण को जग प्राणी जो पाते हैं।
उनका वह ही जनम रहा है साधु संत यों गाते हैं॥
किन्तु जन्म में जन्म दिवस में होते मोही प्रमुदित हैं।
मना रहे वे भावी मृति का उत्सव यह मम अभिमत हैं॥१८८॥

सकल श्रुतामृत पी डाला है चिर से खरतर तप धारा।
उनका फल यदि नाम यशादिक चाह रहा गत-मतिवाला॥
तप तरु में जो लगा फूल है उसे तोड़ता वृथा रहा।
सरस पक्व फल किस विध फिर तू खा पायेगा व्यथा रहा॥१८९॥

सदा सर्वदा लोकेषण बिन श्रुत का आलोडन कर लो।
उचित तपों से तन शोषण कर निज का अवलोकन कर लो॥
इन्द्रिय विषयों कषाय रिपुओं जीत विजेता तभी बनो।
तप श्रुत का फल शम है मुनिजन गीत सुनाते सभी सुनो॥१९०॥

विषय रसिक को लखकर क्यों कर विषय भाव मन में लाते।
भले अल्प हो विषय भाव अति अनर्थ जीवन में लाते॥
उचित रहा यह तैलादिक तो अपथ्य रोगी को जैसे।
निषिद्ध मानो निषिद्ध ना है सशक्त भोगी को वैसे॥१९१॥

अहित विधायक विषयों में रत विषयीजन भी त्याग करें।
निज प्रमदा यदि पर पुरुषन में एक बार भी राग करें॥
भव-भव में वे जिनने परखे विषय विषम विष से सारे।
निज हित में रत बुध किस विध फिर विषयों में रत हो प्यारे ॥१९२॥

दुराचार कर दूषित निज को कर चिर बहिरातम रुलता।
अब तुम मुनि बन निज चारित जल से अंतर आतम धुलता॥
मिले आत्म से परमातम पद मिलता केवलज्ञान महा।
आतम से आतम में आत्मिक सुख का कर अनुपान अहा ॥१९३॥

दास बनाकर तन ने अब तक कष्ट दिया अति कटुतर है।
अनशनादि तप से इसको अब कृश कृशतर कर अवसर है॥
जब तक तन की स्थिति है तब तक ले लो तुम इससे बदला।
स्वयं शत्रु आ मिला मिटा ले भीतर का बाहर बल ला ॥१९४॥

प्रथम जनन हो तन का तन में भाँति-भाँति इन्द्रिय उगती।
इन्द्रिय निज-निज विषय चाहती विषय वासना अति जगती॥
फलतः होती मानहानि हो श्रम भय अघ हो दुर्गति हो।
अनर्थ जड़ है तन यह तेरा, तप तपता यदि शिवगति हो ॥१९५॥

मोह भाव से मंडित जन ही तन का पोषण करते हैं।
विषयों का सेवन करते हैं आतम शोषण करते हैं।
सब कुछ उनको सुलभ रहे हैं कोई दुष्कर कार्य नहीं।
विष पीकर भी जीवन जीना चाह रहे वे आर्य नहीं ॥१९६॥

इधर-उधर दिन भर मृगगण वे दुखित हुए वन में भ्रमते।
किन्तु रात में ग्रामादिक के निकट थान में आ जमते॥
इसी भाँति कलियुग में मुनिगण दिन में रहते हैं वन में।
किन्तु खेद! यह निशा बिताते नगर निकट के उपवन में ॥१९७॥

यदपि आज तुम तप धरते हो बचकर रागी बनने से।
यदि लुटती वैराग्य संपदा कल स्त्रीजन के लखने से॥
जनन मरण तो नहीं मिटाता किन्तु बढ़ाता उस तप से।
श्रेष्ठ रहा वह गृहस्थपन ही शास्त्र कह रहा तुम सबसे ॥१९८॥

स्वाभिमान औ लज्जा तजकर जीवन जीता स्वार्थ बिना।
स्त्री के वश अपमानित शत शत बार हुआ अति आर्त्त बना॥
ठगा हुआ है स्त्री तन से तू किन्तु साथ वे नहीं चलते।
रहा सुधी यदि अत: राग तज तन का जिससे विधि पलते ॥१९९॥

एक गुणी से एक गुणी का हो सकता समवाय नहीं।
किन्तु काय से ऐक्य रहा तव कष्ट खेद बस हाय यही॥
तव तन नहिं है तन में रचता अभेद जिसको मान रहा।
छिदता भिदता भव वन में तू बहुत दुखी भयवान रहा ॥२०० ॥

जनन रहा जो मात वही तव मरण रहा ओ तात रहें।
विविध आधियाँ दुखद व्याधियाँ तथा सगे तव भ्रात रहें॥
अन्त समय में साथ दे रहा परम मित्र है जरा वही।
फिर भी तन में आशा अटकी भला सोच तू जरा सही ॥२०१॥

स्वभाव से ही विषय बनाता त्रिभुवन को तव ज्ञान महा।
अमूर्त शुचि हो अशुचि मूर्त तू तन वश तज निज भान अहा॥
मूर्त रहा तन रहा अचेतन अशुचिधाम मल झरता है।
किस किस को ना दूषित करता धिक धिक सबको करता है ॥२०२॥

नर सुर पशु नारक गतियों में सुचिर काल से दुखित हुवा।
उसका कारण तन-धारण तन-पालन में तू निरत हुवा॥
विदित हुवा है तुझे अचेतन अशुचि निकेतन तव तन है।
अब यह साहस! तन तजना तन-राग मिटा, तब शिवधन है ॥२०३॥

जिनके तन में असहनीय हों कर्म योग से रोग रहे।
विचलित यति ना होते फिर भी उनका शुचि उपयोग रहे॥
उचित रहा यह भले बढ़ रहा नीर नदी में बड़ी नदी।
छिद्र रहित नौका में बैठा यात्री डरता कभी नहीं॥२०४॥

साधक तन में रोग हुवा हो उचित रूप उपचार करें।
यदि नहिं मिटता तन तज निज पर समता धर उपकार करें॥
आग लगी हो घर में यदि तो जल से उसका शमन करें।
नहीं बुझे तो वहीं रहें क्या? और कहीं झट गमन करें॥२०५॥

सर पर भारी भार स्वयं ले पथिक चल रहा पथ पर हो।
किसी तरह कंधे पर उसको उतार कर चलता फिर वो॥
यदपि भार तन पर से उतरा नहीं तदपि वह अज्ञानी।
सुख का अनुभव करता इस पर निश्चित हँसते सब ज्ञानी॥२०६॥

सदुपचार से रोगों का यदि प्रतीकार वह हो सकता।
तब तक उनका प्रतीकार भी यथायोग्य बस कर सकता॥
प्रतीकार करने से भी वे यदि ना होते प्रशमित हैं।
क्लेश क्षोभ बिन रहना ही फिर प्रतीकार है, समुचित है॥२०७॥

तन रति रखता फिर-फिर तन धर यह भव वन में भ्रमता है।
निरीह तन से बन तन तजता मुक्ति भवन में रमता है॥
इसीलिए बस इस जीवन में त्याज्य रहा तन रति तन है।
अर्थहीन शत अन्य विकल्पों से तो केवल बंधन है॥२०८॥

रहा अपावन स्वभाव से ही काय रहा यह जड़मय है।
पूज्य बनाता उसे चरित से आतम का यह अतिशय है॥
किन्तु काय तो आतम को भी निंद्य बनाता नीच अहा।
इसीलिये धिक्कार उसे हो कीच रहा भव बीच रहा॥२०९॥

रस रुधिरादिक सप्त धातुमय जिसका आदिम भाग रहा।
ज्ञानावरणादि कार्मिक वह जड़मय मध्यम भाग रहा॥
ज्ञानादिक गुण-गण ले चिर से भाग तीसरा वह भाता।
रहा त्रयात्मक इसविध प्राणी भव-भव भ्रमता दुख पाता ॥२१० ॥

रहा त्रयात्मक भाग सहित यह आतम जीवन जीता है।
नित्य रहा है वसु विध विधि के कलुषित पीवन पीता है॥
सही जानकर दो भागों से पृथक् जीव को कर सकता।
तत्त्व ज्ञान का अवधारक वह शीघ्र भवोदधि तिर सकता ॥२११॥

घोर घोरतर विविध तपों को मतकर यदि नहिं कर सकता।
क्योंकि दीर्घ संहनन नहीं है क्लेश सहन नहिं कर सकता॥
मन निग्रह कर कषाय रिपु पर विजय प्राप्त यदि नहिं करता।
विज्ञ कहें तव यही अज्ञता मैं समझूँ यह कायरता ॥२१२॥

अगाध यद्यपि हृदय सरसि शुचि चेतन जल से भरित रहा।
कषायमय हिंसक जलचर से किन्तु पूर्ण यदि क्षुभित रहा॥
क्षमादि उत्तम दशलक्षण गुण, निश्चित तब तक नहिं मिलते।
यम दम शम सम क्रमशः पालो फलतः पल में ये मिटते ॥२१३॥

शांत मनस की करे प्रशंसा यदपि मोक्ष सुख इष्ट रहा।
किन्तु संग तज समता धरना बुधजन को भी कष्ट रहा॥
बिल्ली चूहा सम उनकी यह दशा यही कलियुग फल है।
जिससे इहभव परभव सुख से वंचित जीवन निष्फल है ॥२१४॥

सागर जल सम यद्यपि तुम में बोध, शास्त्र का मनन किया।
कठिन तपस्या में भी रत हो कषाय का भी हनन किया॥
फिर भी ईर्षा साधर्मी से तुममें उसको शीघ्र तजें।
जिस विधि सर सूखे ऊपर, नहिं दिखता नीचे नीर बचे ॥२१५॥

अबोध वश शिव ने मन में स्थित मनोज को ही भुला दिया।
अन्य वस्तु को 'काम' समझकर क्रोधित होकर जला दिया॥
उसी क्रोध कृत घोर भयानक बुरी दशा को भुगत रहा।
क्रोधोदय से कार्य हानि भी किसकी ना हो? उचित रहा॥२१६॥

बाहुबली के निजी दाहिनी चारु बाहु पर चक्र लसा।
उसे तजा मुनि हुवा वनी में निसंग वन निर्वस्त्र बसा।
उसी समय, पर मुक्त हुवा ना सुचिर काल तक क्लेश सहा।
स्वल्प 'मान' भी महा हानि का दायक है वृषभेश कहा॥२१७॥

दान पुण्य में धन जिनके मन में आगम करुणा उर में।
शौर्य बाहु में सत्य वचन में लक्ष्मी परम पराक्रम में॥
शिवपथ चलते तदपि मान बिन गुणी पूर्व में बहु मिलते।
अब यह विस्मय गुण बिन जीते किन्तु गर्व से हैं चलते॥२१८॥

भू पर सब रहते भू रहती वात वलय के आश्रय ले।
वाल वलय त्रय आश्रित चिर से रहते नभ के आश्रय ले॥
ज्ञेय बना नभ पूर्ण ज्ञान के एक कोन में जब दिखता।
निज से गुरु हैं उनसे लघु फिर किस विध वह मद कर सकता?॥२१९॥

मरीचिका यश सुवरण मृग की माया से ही मलिन हुवा।
तुच्छ युधिष्ठिर हुवा कहा जब अश्वथाम का मरण हुवा॥
कपट बटुक का वेषधार कर सुनो! श्याम घनश्याम बने।
अल्प छद्म भी महा कष्ट दे जहर मिला पय प्राण हने॥२२०॥

माया का जो गर्त रहा है अतल अगम अति बड़ा रहा।
सघन सघनतम मिथ्यातम से ठसा ठसा बस भरा रहा॥
जिसमें अलिसम काली काली कराल कषाय नागिन हैं।
झुक-झुक कर यदि तुम देखो तो नहीं दीखती अनगिन हैं॥२२१॥

भीतर के मम गुप्त पाप वह किसी सुधी से विदित नहीं।
शुचि गुण की वह महा हानि भी मत समझो यों उचित नहीं॥
धवल धवलतम निजकिरणों से ताप मिटाता शांत अहो!
उस शशि को जब निगल रहा हो गुप्त राहु क्या ज्ञात न हो ॥२२२॥

वनचर भय से चमरी भागी विधिवश उलझी पूँछ कहीं।
लता कुंज में बाल लोलुपी अचल खड़ी सुध भूल वहीं॥
फलत: जीवन से धो लेती हाथ यही बस खेद रहा।
विपदाओं से घिरे रहें अति लोभी जन 'यह वेद' रहा ॥२२३॥

तत्त्व मनन यम दम शम पालन तप तपना मन वश करना।
कषाय निग्रह संग त्याग औ विषयों में ना फँस मरना।
दया, भक्ति जिन की करना ये भविक-जनों में प्रकट रहें।
भाग्य खुला बस समझो उनका भवदधि तट जब निकट रहे ॥२२४॥

सब जीवों पर करुणा रखते ध्यानन में नित निरत रहें।
अशन यथाविधि स्वल्प करें मुनि जितनिद्रक हैं विरत रहें॥
दृढ़तर संयम नियम पालते बाहर भीतर शांत रहें।
समूल दुख को नष्ट करें वे सार आत्म का ज्ञात रहे ॥२२५॥

निज हित में ही दत्त चित्त हैं सकल पाप से दूर रहें।
स्वपर भेदविज्ञान सहित हैं इन्द्रिय-विजयी शूर रहें॥
निज पर हित हो बोल बोलते मन में कुछ संकल्प नहीं।
शिव सुख भाजन क्यों ना हो मुनि अनल्प सुख हो अल्प नहीं ॥२२६॥

दास बना है विषयों का जो जीवन जिसका परवशता।
दोष गुणन का बोध जिसे ना काफिर का फिर क्या नशता।
तीन रत्न त्रिभुवन को द्योतित करती हरती सब तम को।
तुमसे इन्द्रिय चोर घिरे हैं डरना जगना है तुमको ॥२२७॥

रम्य वस्तुयें वनितादिक को वीत-मोह बन त्याग दिया।
संयम साधक उपकरणों में वृथा भला क्यों राग किया॥
मुझे बतादे रोग भीति से यदपि अशन ना खाता है।
औषध पी पी अजीर्णता को कौन सुधी वह पाता है॥२२८॥

चोरादिक से रक्षा करता कृषक समय पर कृषि करता।
फसल काट कर लाता तब वह धन्य मानता खुशि धरता।
तप श्रुत का साधन कर उस विध जब निज में अति थिति पाता।
इन्द्रिय तस्कर बाधा से बच कृतार्थ निज को यति पाता॥२२९॥

नाच नचाता आशा रिपु है उसे मिटाओ व्रत असि से।
तत्त्व ज्ञात है ज्ञान गर्व से रहो उपेक्षित मत उससे॥
अपार सागर जल, बाडव को देख! देखकर हिलता है।
शत्रु रहें यदि निकट उसे कब जीवन में सुख मिलता है॥२३० ॥

रागादिक कणिका से भी यदि जिसका मानस दूषित है।
स्तुत्य नहीं वह चरित बोध से यद्यपि जीवन भूषित है॥
पाप कर्म का बंधन जिससे चूँकि निरन्तर चलता है।
दीप उगलता कज्जल काला तेल जलाकर जलता है॥२३१॥

राग रंग से जब तू हटता रोष नियम से करता है।
रोष भाव को तजता फिर से राग रंग में ढलता है॥
किन्तु कभी ना रोष तोष तज लाता मन में समता है।
खेद यही बस अज्ञ दुखी हो भवकानन में भ्रमता है॥२३२॥

तपा लोह का गोला जिस विध जल कण से नहिं शांत बने।
पूर्ण रूप से उसे डूबा दो गहरे जल में शान्त बने॥
दु:ख अनल में तप्त जीव की क्षणिक सौख्य से क्लांति नहीं।
मिटती, मिलती मोक्ष सिंधु में डूबे तो चिर शान्ति सही॥२३३॥

यद्यपि तुमने दिया बयाना समदर्शन का उचित हुवा।
मोक्ष सौख्य पर अमिट रूप से नाम आपका लिखित हुवा॥
निर्मल चारित विमल ज्ञान का सकल मूल्य अब देना है।
तुम्हें शीघ्र शाश्वत शिव सुख को निजाधीन कर लेना है॥२३४॥

यथार्थ में यह सकल विश्व ही एक रूप है योग्य रहा।
निवृत्ति वश तो अभोग्यमय है प्रवृत्ति वश है भोग्य रहा॥
भोग्य रहा हो अभोग्य या हो इस विध विकल्प तजना है।
मोक्ष सौख्य की प्यास तुम्हें यदि निर्विकल्प पन भजना है॥२३५॥

त्याज्य वस्तुयें जब तक तुम नहिं तजते तब तक बुधजन से।
त्याग भावना अविरल भावो मन से वच से औ तन से॥
तदुपरान्त ना प्रवृत्ति रहती निवृत्ति भी वह ना रहती।
अक्षय अव्यय वही निरापद-पद है जिनवाणी कहती॥२३६॥

राग द्वेष यदि मन में उठते प्रवृत्ति वह कहलाती है।
उनका निग्रह करना ही वह निवृत्ति यति को भाती है॥
बाह्य द्रव्य के बिना किन्तु वे रागादिक ना हो पाते।
सर्वप्रथम तुम बाह्य द्रव्य सब तजो भजो निज को तातैं॥२३७॥

महा भयानक भव भँवरों में भ्रमित पड़ा मैं दुख पाता।
जिन भावों को भा न सका अब उन भावों को बस भाता॥
विषय भावना भा-भाकर ही बार-बार भव बढ़ा लिया।
उन्हें तजूँ निज भाव भजूँ है भवनाशक गुरु पढ़ा दिया॥२३८॥

सुनो! शुभाशुभ पुण्य पाप औ सुख दुख छह त्रय युगल रहें।
प्रति युगलों में आदिम त्रय है हित कारण हैं विमल रहें॥
उनको तुम अपने जीवन में धारण कर लो सुख वर लो।
अशुभ पाप दुख शेष अहित हैं अहित हेतुवों को हर लो॥२३९॥

हित-कारक में भी आदिम सुख का तजना अनिवार्य रहा।
पुण्य और सुख स्वयं छूट ही जाते हैं सुन आर्य! महा॥
इस विध शुभ को छोड़ शुद्ध में श्वास श्वास पर बस रमना।
अंत समय में अनंत पद पा अनन्त भव में ना भ्रमना॥२४०॥

जीव रहा चिर बंधन बंधित बंधन तनादि आस्त्रव से।
आस्त्रव कषाय वश वे कषाय प्रमाद के उस आश्रय से॥
वह मिथ्या अविरति वश अविरत कालादिक कारण पाते।
दृग व्रत प्रमाद बिन शम धारे योग रोध कर शिव जाते॥२४१॥

यह तन मेरा रहा, रहा मैं इसका, इसविध प्रीति रही।
तब तक तप फल शिवसुख, आशा वृथा रही यह नीति सही॥
कृषक कृषी है करता पूरण खेत भरी है फसल खड़ी।
ईति भीति आदिक से यदि है घिरी, फलाशा विफल रही॥२४२॥

तन ही मैं हूँ मैं ही तन है इसविध चिर से भ्रान्त रहा।
भवसागर में फलतः अब तक दुखित रहा है क्लान्त रहा॥
अन्य रहा हूँ तन से तन भी मुझसे निश्चित अन्य रहा।
तन तो तन है मैं तो मैं हूँ शिवसुख दे चैतन्य महा॥२४३॥

बाहर कारण बाह्य वस्तु भी विगत काल में अन्ध हुवा।
पर पदार्थ में रत था तू तब दृढ़ दृढ़तम विधि बंध हुवा॥
वही वस्तु वैराग्य ज्ञान वश विधि के क्षय में कारण है।
सुधी-जनों की सहज कुशलता अगम अहो अघमारण है॥२४४॥

किसी जीव को अधिक अधिकतम विधि बंधन वह होता है।
किसी जीव को न्यून न्यूनतम कर्म बंध ही होता है॥
किन्तु निर्जरा किसी किसी को केवल होती ज्ञात रहे।
बंध मोक्ष का यही रहा क्रम यही बात जिननाथ कहें॥२४५॥

गत जीवन में जिसने बाँधा पुण्य रहा औ पाप रहा।
बिना दिये फल वह यदि गलता तप का वह फल आप रहा ॥
वह शुचि उपयोगी है योगी उसे शीघ्र शिवधाम मिले ॥
पुन: कर्म का आस्रव नहिं हो ज्ञान ज्योति अभिराम जले ॥२४६॥

महा सुतपमय विशाल सरवर नयन मनोहर वह साता।
उजल-उजलतम शान्त-शान्ततम गुणमय जल से लहराता ॥
नियमरूप जो बांध बँधी है किन्तु कभी वह ना फूटे।
रहो उपेक्षित मत उससे तुम नहिं तो जीवन ही लूटे ॥२४७॥

मुनि का मुनिपद घर है जिसके सुदृढ़ गुप्तित्रय द्वार रहें।
मतिमय जिसकी नींव रही है धैर्य-रूप दीवार रहें ॥
किन्तु कहीं भी दोष छिद्र यदि उसमें हो तो घुसते हैं।
राग-रोषमय कुटिल सर्प वे भय से मुनि-गुण नशते हैं ॥२४८॥

कठिन कठिनतर विविध तपों को तपता तापस बनकर है।
पूर्ण मिटाने निज दोषों को पूर्ण-रूप से तत्पर है ॥
पर दोषों को अपना भोजन बना अज्ञ यदि जीता है।
निज दोषों को और पुष्ट कर रहता सुख से रीता है ॥२४९॥

विधिवश शशि सम कलंक गुणगण-धारक को यदि है लगता।
मूढ़ अन्ध भी सहज रूप से उसको बस लखने लगता ॥
दोष देखकर भी वह उसकी महानता को कब पाता?।
स्वयं प्रकट शशि कलंक लख भी विश्व कभी शशि बन पाता ॥२५० ॥

विगत काल में जो कुछ हमने किया कराया मरण किया।
बिना ज्ञान अज्ञान भाव से प्रेरित हो आचरण किया ॥
क्रम-क्रम से इस विध योगी को वस्तु तत्त्व प्रतिभासित हो।
ज्ञान भानु का उदय हुवा हो अँधकार निष्कासित हो ॥२५१॥

जिनके मन की जड़ वह ममता-जल से भींगी जब तक है।
महातपस्वी जन की आशा-बेल युवति ही तब तक है॥
अनशन आदिक कठिनी चर्या अत: करें वे बुधजन हैं।
चिर परिचित उस निजी देह से निरीह रहते निशिदिन है ॥२५२॥

क्षीर-नीर आपस में मिलकर एक रूप ही दिखते हैं।
यथार्थ में तो भिन्न-भिन्न ही लक्षण अपने रखते हैं।
उसी भाँति तन आतम भी हैं भिन्न-भिन्न फिर सही बता।
धन कण आदिक पूर्ण भिन्न हैं फिर इनकी क्या रही कथा ॥२५३॥

स्वभाव से जल यद्यपि शीतल अनल योग पा जलता है।
तप्त हुवा हूँ देह योग से सता रही आकुलता है॥
इस विध चिंतन बार- बार कर भव्य जनों ने तन त्यागा।
शान्त हुए विश्रान्त हुए हैं जिनमें अनन्त बल जागा ॥२५४॥

समय समय पर समान बल ले वृद्धि पा रहा नहीं पता।
कब से बैठा मन में मदमय महामोह है यही व्यथा॥
समीचीन निज परम योग से उसका जिनने वमन किया।
भावी जीवन उनका उज्ज्वल उनको हमने नमन किया ॥२५५॥

भव सुख तजने को सुख गिनते विधि फल सुख को आपद है।
तन क्षय को मनवांछित मिलना निसंगपन को संपद है॥
दुख भी सुख भी सब कुछ सुख है जिन्हें साधु वे सही सुधी।
सब कुछ लूटे किन्तु मनावे मृत्यु महोत्सव तभी सुखी ॥२५६॥

सुबुध उदय में असमय में ला तप से विधि को खपा रहे।
स्वयं उदय में विधि यदि आता खेद नहीं विधि कृपा रहे॥
विजय भाव से रिपु से भिड़ने लड़ने भट यदि उद्यत हो।
खुद रिपु चढ़ आता तब फिर क्या हानि लाभ ही प्रत्युत हो ॥२५७॥

सहे परीषह सकल संग तज एकाकी निर्भ्रान्त दमी।
तन भी शिव का कारण इस विध सोच लाज वश क्लान्त यमी॥
निजी कार्यरत अकाय बनने आसन दृढ़ कर ध्यान करें।
गिरि कन्दर में अभय सिंह सम मोह रहित निज ज्ञान धरें॥२५८॥

स्थान शिलातल जिनका भूषण निज तन पर जो धूल लगी।
रहें सिंह वह गुफा गेह हैं शय्या धरती शूलमयी॥
यह मम यह मैं विकल्प छोड़े मोह ग्रन्थियाँ सब तोड़े।
शुद्ध करें मम मन को ज्ञानी निरीह शिव से मन जोड़े॥२५९॥

जिनमें अतिशय तप बल से वर ज्ञान ज्योति वह उदित हुई।
किसी तरह भी निज को पाये तप्त चेतना मुदित हुई॥
चपल सभय मृग अचल अभय हो वन में जिनको लखते हैं।
धन्य साधु चिरकाल बिताते अचिन्त्य चारित रखते हैं॥२६० ॥

आशा आतम में जो अन्तर अज्ञ जनों को ज्ञात नहीं।
उस अन्तर को ज्ञात किये बिन होते बुध विश्रान्त नहीं॥
बाह्य विषय से हटा मनस को निज में नियमित अचल रहें।
शम धन धारे उन मुनि पद रज मम मन को अति विमल करे॥२६१॥

पूर्व जन्म में बँधा शुभाशुभ कर्म वही बस दैव रहा।
वही उदय में आता सुख-दुख पाता तू स्वयमेव अहा॥
स्तुत्य रहें शुभ करते केवल किन्तु वन्द्य वे मुनिजन हैं।
शुभाशुभों को पूर्ण मिटाने तजे संग धन परिजन हैं॥२६२॥

सुख होता या दुख होता जब किया कर्म का स्वफल रहा।
हर्ष भाव क्यों खेद भाव क्यों करना, करना विफल रहा॥
इस विध विचार, विराग यदि हो नया बँध ना फिर बनता।
पूर्व कर्म सब झड़े साधु तब मणि सम मंजुलतर बनता॥२६३॥

पूर्ण विमल निज बोध अनल वह देह गेह में जनम लिया।
यथा काष्ठ को अनल जलाता अदय बना तन भसम किया॥
हुई राख तन तदुपरांत भी उद्दीपित हो जलता है।
विस्मयकारक साधु चरित है पता न बल का चलता है॥२६४॥

गुणी रहा जो वही नियम से विविध गुणों का निलय रहा।
विलय गुणों का होना ही बस हुवा गुणी का विलय रहा॥
अतः 'मोक्ष' गुण गुणी विलय ही अन्य मतों का अभिमत है।
रागादिक की किन्तु हानि ही 'मोक्ष' रहा यह 'जिनमत' है॥२६५॥

निज गुण कर्त्ता निज सुख भोक्ता अमूर्त सुख से पूर रहें।
केवलज्ञानी जनन दुःख से तथा मरण से दूर रहें॥
काय कर्म से मुक्त हुए प्रभु लोक शिखर पर अचल बसे।
अंतिम तन आकार जिन्होंका असंख्य देशी विमल लसे॥२६६॥

कर्म निर्जरा लक्ष्य बनाकर तप में अन्तर्धान रहें।
तब कुछ दुख निश्चित हो तापस किन्तु उसे सुख मान रहें॥
शुद्ध हुए फिर सिद्ध हुए हैं अविनश्वर सुखधाम हुए।
वे किस विध फिर सुखी नहीं हो, जिन्हें स्मरें कृत काम हुए॥२६७॥

इस विध कतिपय शुभ वचनों का माध्यम मैंने बना लिया।
बुध मन रंजक कृत्य रचा है विषयों से मन बचा लिया॥
शिव सुख पाने करते मन में इसका चिंतन अविकल है।
मिटे आपदा मिले संपदा उन्हें शीघ्र सुख निर्मल है॥२६८॥

परम पूत आचार्य दिगंबर वीतराग जिनसेन रहे,
जिनके पद की स्मृति में जिसका मानस रत दिन-रैन रहे॥
वही रहा गुणभद्र सूरि, कृति आतम अनुशासन जिनकी।
सुधा सिन्धु है पीते मिटती क्लान्ति सभी बस तन मन की॥२६९॥

❑ ❑ ❑

रयणमंजूषा

आचार्य समन्तभद्र रचित

रत्नकरण्डक श्रावकाचार

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

रयणमंजूषा

(४ अप्रैल, १९८१)

'रयण-मञ्जूषा' आचार्य समन्तभद्र कृत रत्नकरण्डक-श्रावकाचार का हिन्दी पद्यानुवाद है, जिसे आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज ने अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि (कोनीजी) जिला जबलपुर (म० प्र०) में वीर निर्वाण संवत् २५०७, चैत्र कृष्ण अमावस्या, शनिवार, ४ अप्रैल, १९८१ में पूर्ण किया।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में रत्नस्वरूप श्रावक के आचारों का निरूपण है, अतः इसके अनुवाद का नाम भी आपने रयण-मञ्जूषा अर्थात् रत्न-मञ्जूषा रखा। इसमें एक सौ पचास श्लोक हैं। हम उनमें से भिन्न-भिन्न आचार सम्बन्धी कतिपय वृत्तों का ही अनुवाद उदाहरणतः प्रस्तुत करेंगे; जिससे अनुवाद के मूल्य को आँक सकें। यह अनुवाद 'ज्ञानोदय छन्द' में हुआ है।

श्रावक के आचारों में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को धारण करना है। इसके लिए परमार्थमय आप्त, आगम और तपोधारक मुनियों में श्रद्धा रखनी एवं सम्यग्दर्शन के अष्टांगों का पालन, त्रय मूढ़ता और अष्ट मदों का त्याग अनिवार्य है।

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चाँदनी से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय ॥३॥

महके अगरु सुगन्ध हैं श्री गुरु समन्तभद्र।
श्रीपद में अर्पित रहें गन्धहीन मम छन्द ॥४॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥५॥

रतनकरण्डक का करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन मम रहा मोह मिटे परमाद ॥६॥

रयण मंजूषा

बाहर भीतर श्री से युत हो वर्धमान, गतमान हुए,
विराग-जल से राग-मलिनता धुला स्वयं छविमान हुए।
झलक रहा सब लोक सहित नभ जिनकी विद्या दर्पण में,
मन-वच-तन से जिन चरणों में करूँ नमन मुनि अर्पण मैं ॥१॥

भव-सागर के दु:ख गर्त से ऊपर भविजन को लाता,
उत्तम, उन्नत मोक्ष महल में स्थापित करता, सुख धाता।
धर्म रहा वह समीचीन है वसु विध विधि का नाशक है,
करूँ उसी का कथन मुझे अब बनना निज का शासक है ॥२॥

समदर्शन औ बोध चरितमय धर्म रहा यह ज्ञात रहे,
इस विध करुणा कर हम पर वे धर्म-नाथ जिननाथ कहें।
किन्तु धर्म से, मिथ्या-दर्शन आदिक वे विपरीत रहें,
भव पद्धति हैं भव-दुख के ही निशदिन गाते गीत रहें ॥३॥

परमारथमय पूज्य आप्त में परमारथ अघहारक में,
श्रद्धा करना भाव-भक्ति से तथा परम तपधारक में।
वसुविध अंगों का पालन, त्रय मूढ़पना, वसु मद तजना,
वही रहा समदर्शन है नित रे मन! 'समदर्शन भजना' ॥४॥

लोकालोकालोकित करते पूर्ण ज्ञान से सहित रहें,
विरागता से भरित रहे हैं दोष अठारह रहित रहें।
जगहित के उपदेशक ये ही नियम रूप से आप्त रहें,
यही आप्तता नहीं अन्यथा जिन-पद में मम माथ रहे ॥५॥

क्षुधा नहीं है तृषा नहीं है जरा जनन नहिं खेद नहीं,
रोग शोक नहिं राग रोष नहिं तथा मरण नहिं स्वेद नहीं।
निद्रा, चिन्ता, विस्मय नहिं हैं भीति अरति नहिं गर्व रहा,
मोह न जिनमें आप्त रहे वे जिनपद में जग सर्व रहा ॥६॥

परमेष्ठी हैं परम ज्योतिमय पूर्ण-ज्ञान के धारी हैं,
विमल हुए कृतकृत्य हुए हैं वीतराग अविकारी हैं।
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं विश्व-विज्ञ जग हितकारी,
वे ही शास्ता कहलाते हैं सदुपदेश के अधिकारी ॥७॥

भविक जनों का हित हो देते, सदुपदेश स्वयमेव विभो,
प्रतिफल की वांछा न रखते वीतराग जिनदेव प्रभो!
वाद्यकला में पण्डित शिल्पी मुरज बजाता, बजता है,
मुरज[१], माँगता नहीं कभी कुछ यही रही अचरजता है ॥८॥

प्रत्यक्षादिक अनुमानादिक प्रमाण से अविरोधित हो,
वीतराग सर्वज्ञ कथित हो नहीं किसी से बाधित हो।
एकान्ती मत का निरसक हो सब जग का हितकारक हो,
अनेकान्तमय तत्त्व-प्रदर्शक शास्त्र वही अघहारक हो ॥९॥

विषयों से अति दूर हुए हैं कषायगण को चूर किया,
निरारम्भ हैं पूर्ण रूप से सकल संग को दूर किया।
ज्ञान-ध्यानमय तप में रत हो अपना जीवन बिता रहे,
महा-तपस्वी कहलाते वे हमें मनस्वी बता रहे ॥१०॥

तत्त्व रहा जो यही रहा है इसी तरह ही तथा रहा,
नहीं अन्य भी तथा रहा है नहीं अन्यथा यथा रहा।
खड्ग धार पर थित जल-कण सम अचल सुपथ में रुचि करना,
शंका के बिन निशंक बनकर सम-दर्शन को शुचि करना ॥११॥

कर्मों पर जो निर्धारित है स्वभाव जिसका सान्त रहा,
सुख-सा दिखता किन्तु दुःख से भरा हुआ निर्भ्रान्त रहा।
पाप बीज है इन्द्रिय-सुख यह इसमें अभिरुचि ना करना,
अनाकांक्षमय अंग रहा है समदर्शन का सुख झरना ॥१२॥

१. मृदंग

स्वभाव से ही अशुचिधाम हो रहा अचेतन यह तन हो,
रतनत्रयी का योग प्राप्त कर पूज्य पूत पुनि पावन हो।
ग्लानि नहीं हो मुनि-मुद्रा से गुण-गण के प्रति प्रीति रहे,
निर्विचिकित्सक अंग यही है समदर्शन की रीति रहे ॥१३॥

भटकाने वाले कुत्सित पथ दुखदायक जो बने हुए,
विषयों में अति सने हुए हैं पथिक कुपथ के तने हुए।
तन,मन,वच से इनकी सेवा अनुमति थुति भी नहीं करना,
यही दृष्टि है अमूढ़पन की प्राप्त करो शिव-सुख वरना ॥१४॥

स्वयं रहा शुचितम शिव-पथ जिस पर चलते बिन होश कभी,
अज्ञ तथा निर्बल जन यदि वे करते हैं कुछ दोष कभी।
उनके उन दोषों को ढकना कभी प्रकाशित नहिं करना,
उपगूहन दृग अंग रहा है अनंग-सुख-प्रद, उर धरना ॥१५॥

समदर्शन या पावन चारित यद्यपि पालन करते हैं,
खेद कभी यदि उनसे गिरते बाधक कारण घिरते हैं।
धर्म-प्रेम से विज्ञ उन्हें बस पूर्व-स्थिती पर फिर लाते,
स्थितीकरण दृग अंग वही है अपनाते निज घर जाते ॥१६॥

कुटिल भाव बिन जटिल भाव बिन साधर्मी से प्यार करो,
तरल भाव से सरल भाव से नित समुचित व्यवहार करो।
यथायोग्य उनका विनयादिक करना भी कर्त्तव्य रहा,
रहा यही वात्सल्य अंग है उज्ज्वल हो भवितव्य अहा ॥१७॥

अन्धकार अज्ञानमयी जब फैल रहा हो कभी कहीं,
उसे मिटाना यथायोग्य निज-शक्ति छुपाना कभी नहीं।
जिन-शासन की महिमा की हो और प्रसारण सुखद कहाँ?
प्रभावना दृग अंग यही है पाप रहे फिर दुखद कहाँ? ॥१८॥

प्रथम अंग निःशंकित में वह प्रसिद्ध अंजन चोर महा,
निःकांक्षित में अनन्तमति यश फैल रहा चहुँ ओर यहाँ।
निर्विचिकित्सित में उद्दायन ख्यात हुआ कृतकाम हुआ,
अडिग रेवती अमूढ़पन में ख्यात उसी का नाम हुआ ॥१९॥

अंग पाँचवें उपगूहन में नामी जिनेन्द्र-भक्त रहे,
स्थितीकरण के पालन में वर वारिषेण अनुरक्त रहे।
इसी भाँति वात्सल्य अंग में विष्णु-मुनि विख्यात रहे,
ख्यात हुए हैं प्रभावना में वज्र मुनीश्वर ज्ञात रहे ॥२० ॥

समदर्शन यदि निज अंगों का अवधारक वह नहीं रहा,
जनम जरा भय भव-संतति का हारक भी फिर नहीं रहा।
न्यूनाधिक अक्षर वाला हो मन्त्र जहर को कब हरता ?
उचित रहा यह समुचित कारण निजी कार्य वह द्रुत करता ॥२१॥

कंकर-पत्थर ढेर लगाना स्नान नदी सागर करना,
अग्नि-कुण्ड में प्रवेश करना गिरि पर चढ़कर गिर मरना।
लोक-मूढ़ता यही रही है मूढ़ इन्हें बस धर्म कहें,
अतः मूढ़ता बुधजन तजकर शाश्वत शुचि शिव-शर्म गहें ॥२२॥

राग-रोष से दोष-कोष से जिनका जीवन रंजित है,
देव नहीं वे, कुदेव सारे देव-भाव से वंचित हैं।
धन सुत आदिक की वांछा से उनकी पूजा जड़ करते,
देव-मूढ़ता यही, इसी से विधि-बन्धन को दृढ़ करते ॥२३॥

संग सहित आरम्भ सहित हैं हिंसादिक में फँसे हुए,
सांसारिक कार्यों में उलझे मोह पाश से कसे हुए
कुगुरु रहें वे उनका आदर जो जड़-जन नित करते हैं,
गुरू-मूढ़ता यही इसी से पुनि-पुनि तन-धर मरते हैं ॥२४॥

ज्ञानवान हूँ ऋद्धिमान हूँ उच्च-जाति कुलवान तथा,
पूज्य प्रतिष्ठित रूपवान हूँ तपधारी बलवान तथा।
मन में आविर्मान, मान हो इन आठों के आश्रय ले,
वही रहा 'मद' निर्मद कहते जिनवर जिनका आश्रय ले ॥२५॥

व्यर्थ गर्व से तने हुए हैं मन में जो मद-मान धरें,
धार्मिक जीवन जीने वाले भविजन का अपमान करें।
अतः स्वयं ही आत्म-धर्म को मिटा रहे वह भूल रहे,
धर्मात्मा बिन चूंकि धर्म नहिं मिलता जो भव कूल रहे ॥२६॥

संवरमय समकित आदिक से जिनका कलुषित पाप धुला,
जात-पात धन कुल से फिर क्या? रहा प्रयोजन आप भला।
किन्तु पाप-मय जीवन जिनका बना हुआ है सतत रहा,
बाह्य सम्पदादिक फिर भी वह मूल्य-शून्य सब वितथ रहा ॥२७॥

निजी कर्म के उदय प्राप्त कर जन्म-जात चाण्डाल रहा,
पर समदर्शन से है जिसका भासित जीवन भाल रहा।
गणधर आदिक पूज्य साधुजन, पूज्य उसे भी तदपि कहा,
तेज अनल ज्यों अन्दर,ऊपर राख ढकी हो यदपि अहा! ॥२८॥

धर्म-भाव वश श्वान स्वर्ग में देव बने वह सुखित बने,
पाप-भाववश देव श्वान हो पशुगति में आ, दुखित घने।
अतः धर्म के बिन जग जन को अन्य कौन फिर सम्पद है?
धर्म-शरण हो मम जीवन हो अक्षय सुख का आस्पद है ॥२९॥

आशा भय के स्नेह लोभ के वशीभूत सुख खोकर के,
कुगुरु-देव आगम ना पूजे नहीं विनय बुध हो करके।
चूंकि विमल समदर्शन से वह जिनका जीवन पोषित है,
इस विध गुरु कहते जिनके तन-मन यम दम से शोभित है ॥३०॥

ज्ञात रहे यह बात सभी को समदर्शन ही श्रेष्ठ रहा,
ज्ञान तथा चारित में समपन लाता फलतः जेष्ठ रहा।
मोक्षमार्ग में समदर्शन ही खेवटिया सम मौलिक है,
सन्त कह रहे, कर नहिं सकते जिसका वर्णन मौखिक है ॥३१॥

विद्या चारित के उद्भव औ रक्षण वर्धन सुफल महा,
समदर्शन बिन सम्भव नहिं हैं कुछ भी करलो विफल अहा।
उचित बीज बिन भला बता तूँ फूल-फलों से लदा हुआ,
हरित भरित तरु कभी दिखा क्या समदर्शन बिन मुधा रहा ॥३२॥

शिव-पथ का वह पथिक रहा है गृही बना यदि निर्मोही,
मोक्ष-मार्ग से बहुत दूर हैं मुनि होकर यदि मुनि मोही।
अतः मोह से मण्डित मुनि से मोह रहित ''वर'' गृही रहा,
मात्र भेष नहिं गुण से शिव हो यही रहा श्रुत, सही रहा ॥३३॥

तीन लोक में तीन काल में तनधारी को सुखकारी,
अन्य कौन यह द्रव्य रहा है समदर्शन बिन दुखहारी।
इसी भाँति मिथ्यादर्शन सम और नहीं दुखकारक है,
हित चाहो हित कारण धारो गुरु गाते गुण-धारक है ॥३४॥

विरत भाव से विरत यदपि हैं जिनका जीवन अविरत है,
किन्तु विमलतम समदर्शन के आराधन में नित रत हैं।
प्रथम नरक बिन नहीं नपुंसक परभव में पशु स्त्री ना हों,
अल्प आयुषी अपांग ना हो दरिद्र ना दुष्कुलिना हो ॥३५॥

बने यशस्वी बने मनस्वी ओज तेज से सहित बने,
नीर निधी सम धीर धनी भी शत्रु-विजेता मुदित घने।
महाकुली हो शिवपथ साधक मनुज लोक के तिलक बने,
समदर्शन से विमल लसे हैं शीघ्र निरंजन अलख बने ॥३६॥

अणिमा महिमा गरिमादिक वसु गुण पूरण पा तुष्ट रहें,
अतिशय सुन्दर शोभा से बस विलसित हो संपुष्ट रहें।
सुर बनकर सुर-वनिताओं से सुचिर स्वर्ग में रमण करें,
दृग धारक जिन के आराधक फिर शिवपुर को गमन करें ॥३७॥

चक्री बनकर चक्र चलाते छह खण्डों के अधिपति हैं,
जिनके पद में मुकुट चढ़ाते सादर आ धरणीपति हैं।
नव निधियाँ शुभ चौदह मणियाँ सभी उन्हीं को प्राप्त रहें,
जो हैं शुचितम दर्शनधारी इस विध हमको आप्त कहें ॥३८॥

सुरपति, नरपति, असुराधिप भी जिन चरणों में माथ धरें,
गणधर आदिक पूज्य साधु तक जिन्हें सदा प्रणिपात करें।
सत्य-दृष्टि से तत्त्व बोध को पाये जग में शरण रहें,
धर्म-चक्र के चालक वे ही तीर्थंकर सुख झरण रहें ॥३९॥

रोग नहीं हैं शोक नहीं है जहाँ जरा नहिं मरण नहीं,
बाधा की भी गन्ध नहीं है शंका का अनुसरण नहीं
पूरण विद्या सुख शुचि सम्पद अनुपम अक्षय शिवपद है,
समदर्शन के धारक ही वे पा लेते अभिनव पद हैं ॥४० ॥

यों सुरपुर में अमित सम्पदा-युत सुरपति पद भोग वहाँ,
पुनः धरापतियों से पूजित नरपति पद का योग यहाँ।
तीन लोक में अनुपम अद्भुत तीर्थंकर पद पाकर के,
प्रभु-पद-पंकज-पूजक भविजन शिव हो निज घर जाकर के ॥४१॥

अहो! न्यूनता-रहित रहा है संशय से भी रीता है,
तथा अधिकता रहित रहा है नहीं रहा विपरीता है।
सदा वस्तु सब जिस विध भाती उन्हें उसी विध जान रहा,
जिन कहते हैं समीचीन बस ! ज्ञान वही सुख खान रहा ॥४२॥

महापुरुष की कथा, शलाका-पुरुषों की जीवन गाथा,
गाता जाता बोधि विधाता समाधि-निधि का है दाता।
वही रहा प्रथमानुयोग है परम पुण्य का कारक है,
समीचीन शुचि बोध कह रहा, रहा भवोदधि-तारक है ॥४३॥

लोक कहाँ से रहा कहाँ तक अलोक कितना फैला है ?,
कब किस विध परिवर्तन करता काल खेलता खेला है।
दर्पण सम जो चहुँ गतियों को स्पष्ट रूप से दर्शाता,
वही रहा करणानुयोग शुचि-ज्ञान बताता हर्षाता ॥४४॥

सागारों का अनगारों का चरित सुखद है पावन है,
जिसके उद्भव रक्षण वर्धन में बाहर जो साधन है।
वही रहा 'चरणानुयोग' है पूर्ण-ज्ञान यों बता रहा,
उसका अवलोकन कर ले तू समय वृथा क्यों बिता रहा ॥४५॥

जीव तत्त्व क्या कहाँ रहा है, अजीव कितने रहे कहाँ,
पाप रहा क्या पुण्य रहा क्या, बन्ध मोक्ष क्या रहे कहाँ?
इन सबको द्रव्यानुयोग-मय, दीप प्रकाशित करता है,
मूल-भूत जिन-श्रुत विद्या का, प्रकाश लेकर जलता है ॥४६॥

सुचिर काल के मोह तिमिर को, पूर्ण रूप से भगा दिया,
समदर्शन का लाभ हुआ जो, सत्य ज्ञान को जगा लिया।
राग-रोष का मूल रूप में, क्षय करना अब कार्य रहा,
तभी चरित को धारण करता, साधु रहा यह आर्य रहा ॥४७॥

हिंसादिक सब पापों के जब, निराकरण के करने से,
राग रोष ये मिटते कारण, बाधक कारण मिटने से।
जिसके मन में अणु भर भी नहिं, धन मणि यश की अभिलाषा,
किस विध कर सकता फिर सेवा, राजा की वह बन दासा ॥४८॥

हिंसा से औ असत्य से भी, चोरी मैथुन-सेवन से,
पापास्रव के सभी कारणों, और परिग्रह मेलन से।
सुदूर होना भाग्य मानकर, संयम-मय जीवन जीना,
सच्चे ज्ञानी पुरुषों का वह, चारित है निज आधीना ॥४९॥

सकल सङ्ग को त्याग चुके हैं, अनगारों का सकल रहा,
अल्प सङ्ग को त्याग चुके हैं,सागारों का विकल रहा।
सकल नाम का विकल नाम का,इस विध चारित द्विविध रहा,
भविजन धरते फल मिलता है, सुरसुख शिवसुख विविध महा॥५० ॥

गृही जनों का विकल चरित भी, त्रिविध बताया जिनवर ने,
अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत यों, नाम पुकारा गणधर ने।
रहा पञ्चधा अणुव्रत भी वह, गुणव्रत भी वह त्रिविध रहा,
शिक्षाव्रत यह रहा चतुर्विध, रुचि से पालो सुबुध अहा ? ॥५१॥

प्राणनाशिनी हिंसा का औ, अनुचित असत्य भाषण का,
चोरी मैथुन-सेवन का भी तथा संग के धारण का।
पूर्ण नहीं पर स्थूल रूप से, पापों का जो त्याग रहा,
अणुव्रत माना जाता है वह, सुख का ही अनुभाग रहा ॥५२॥

कभी भूलकर काया से भी, और वचन से निजमति से,
कृत से भी औ कारित से भी, अन्य किसी की अनुमति से।
संकल्पित हो त्रस जीवों का, प्राण-घात जो नहिं करना,
'अहिंसाणुव्रत' वही रहा है, जिन कहते तू उर धरना ॥५३॥

निर्बल नौकर पशु पर भारी, भार लादना रोज व्यथा,
छेदन भेदन पीड़न करना, देना कम ही भोज तथा।
अहिंसाणुव्रत के पाँचों ये, अतीचार हैं त्याज्य रहें,
तजता वह, भजता सुर सुख औ, क्रमशः शिव साम्राज्य गहें ॥५४॥

स्थूल झूठ ना स्वयं बोलता, तथा न पर से बुलवाता,
तथा सत्य से बच, बचवाता, पर पर यदि संकट आता।
स्थूल सत्यव्रत यही रहा है, श्रावक पाले मन हरषे,
पर उपकारों में रत गणधर, इस विध कहते सुख बरसे ॥५५॥

कभी धरोहर डकार जाना, अहित पंथ को 'हित' कहना,
नर-नारी के गुप्त प्रणय को, प्रकटाना चुगली करना।
ईर्षावश, नहिं किये कहे को, किये कहे यों लिख देना,
स्थूल-सत्यव्रत के ये दूषण, रस इनका ना चख लेना ॥५६॥

रखी हुई या गिरी हुई या, कभी भूल से कहीं रही,
औरों की जो वस्तु रही हो, दी न गई हो निजी नहीं।
उसे न लेना, अन्य किसी को तथा न देना भूल कभी,
'अचौर्य अणुव्रत' यही रहा है, रहा सौख्य का मूल यही ॥५७॥

चोरी करने प्रेरित करना, चौर्य द्रव्य पर से लेना,
काम मिलावट का करना औ, सत्ता का कर नहिं देना।
माप-तौल में बढ़न-घटन कर लेन-देन करते रहना,
अचौर्य अणुव्रत के ये पाँचों, दोष इन्हें हरते रहना ॥५८॥

पाप कर्म से डरते हैं जो, पर-वनिता का भोग नहीं,
स्वयं तथा पर को प्रेरित नहिं, करते हैं बुध लोग कभी।
पर वनिता का त्याग रूप वह, ब्रह्मचर्य अणुव्रत भाता,
तथा उसी का अपर नाम है 'स्वदार -सन्तोषित' साता ॥५९॥

पर के विवाह करना, अनुचित अंग संग मैथुन करना,
गाली गलौच देना, इच्छा काम-भोग की अति करना।
व्याभिचारिणी के घर जाना, आना वार्तादिक करना,
ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँचों दूषण हैं इनसे डरना ॥६० ॥

दशविध परिग्रह धान्यादिक का, समुचित सीमित कोष करे,
संग्रह उससे अधिक संग का, नहीं करे, मनतोष धरे।
'परिमित परिग्रह' पंचम अणुव्रत यही रहा सुन सही जरा,
'इच्छा परिमाणक' भी प्यारा नाम इसी का तभी परा ॥६१॥

बहुत भार को ढोना संग्रह, व्यर्थ संग का अति करना,
पर धन लख विस्मित होना अतिलोभी बहु वाहन रखना।
परिमित परिग्रह पंचम अणुव्रत, के पाँचों ये दोष रहे,
इस विध कहते जिनवर हमको, वीतराग गत दोष रहे ॥६२॥

अतीचार से रहित रही हैं, सारी अणुव्रत की निधियाँ,
नियमरूप से शीघ्र दिखाती, स्वर्गों की स्वर्णिम गलियाँ।
अणिमा महिमादिक आठों गुण अवधिज्ञान से सहित मिले,
भव्य-दिव्य मणिमय-सी काया छाया से जो रहित मिले ॥६३॥

आदिम में मातंग रहा है, दूजे में धनदेव रहें,
वारिषेण नीली जय क्रमशः अन्य व्रतों में, देव कहें।
इस विध अणुव्रत पालन में ये, दक्ष रहें निष्णात हुए,
पूजा अतिशय यश पाया है, भविक जनों में ख्यात हुए ॥६४॥

सुनो! सुनो! हिंसा में कुशला रही धनश्री सेठानी,
असत्य में तो सत्यघोष वह चोरी में तापस नामी।
काम पाप में यमपालक था और श्मश्रु-नवनीत रहा,
पाँचों पापों में यों पाँचों ख्यात यही अघ-गीत रहा ॥६५॥

मद्य-मांस-मधु मकार त्रय का प्रथम पूर्ण वारण करना,
अहिंसादि अणुव्रत पाँचों का सादर परिपालन करना।
गृही जनों के अष्टमूल-गुण श्रमणवरों ने बतलाया,
पाला जिसने पाया उसने पावन-पद शाश्वत काया ॥६६॥

गुणव्रत हैं त्रय दिग्व्रत आदिम अनर्थदण्डक व्रत प्यारा,
भोगोपभोग परिमाण तथा है रहा तीसरा व्रत सारा।
विमल बनाते सबल बनाते सकल मूलगुण के गण को,
सार्थक इनका नाम इसी से आर्य बताते भविजन को ॥६७॥

मरण काल तक दशों दिशाओं की मर्यादा अपनाना,
उससे बाहर कभी न जाऊँ यों संकल्पित हो जाना।
चूँकि ध्येय है सूक्ष्म पाप से भी पूरण बचकर रहना,
यही रहा है दिग्व्रत इस विध पूज्य गणधरों का कहना ॥६८॥

सागर सरिता सरवर भूधर पुर गोपुर औ नगर महा,
यथा प्रयोजन, योजन आदिक वन-उपवन गिरि शिखर महा।
दशों दिशाओं की मर्यादा गुणव्रत धर के की जाती,
इन्हीं स्थलों को हेतु बनाते जिनवाणी यों बतलाती ॥६९॥

मर्यादा के बाहर जबसे सूक्ष्म पाप से रहित हुए,
पापभीत हो यथा प्रयोजन सभी दिग्व्रतों सहित हुए।
तभी महाव्रत पन को पाते सागारों के अणुव्रत हो,
पाप त्याग की महिमा न्यारी अकथनीय है अनुगत हो ॥७० ॥

कषाय प्रत्याख्यानावरणा मन्द-मन्दतर हुए जभी,
चरित मोह परिणाम सभी वे मन्द-मन्दतर हुए तभी।
मोहादिक के भाव यदपि हैं सहज पकड़ में नहिं आते,
तभी गृही उपचार मात्र से महाव्रती वे कहलाते ॥७१॥

हिंसादिक पाँचों पापों को तन से वच से औ मति से,
पूर्ण त्यागना भूल राग को कृतकारित से अनुमति से।
महामना मुनि महाराज का रहा महाव्रत सुधा वही,
संग सहित हो स्वयं आपको मुनि माने जो मुधा वही ॥७२॥

ऊपर - नीचे आजू - बाजू सीमा उल्लंघन करना,
किसी प्रलोभनवश निर्धारित, सीमा संवर्धन करना।
प्रमादवश कृत सीमा की स्मृति विस्मृत करना, मूढ़ रहे,
आगम कहता सुनो! पाँच ये दिग्व्रत के हैं शूल रहे ॥७३॥

दशों दिशाओं की मर्यादा के भीतर भी वच तन को,
बिना प्रयोजन पाप कार्य से रोक लगाना निज मन को।
अनर्थदण्डक व्रत यह माना, व्रत धर के गुरु बतलाते,
जिसके जीवन में यह उतरा तरा भवोदधि वह तातैं ॥७४॥

रुचि से सुनना पाप कथायें और सुनाना औरों को,
प्रमाद करना, प्रदान करना हिंसा के उपकरणों को।
अनर्थ-दण्डक पाँच पाप ये दुश्चिंतन में रत रहना,
इन दण्डों को नहीं धारते गणधर देवों का कहना ॥७५॥

पशुओं को पीड़ा हो जिनसे कृषि आदिक हिंसाधिक हो,
जिन उपदेशों से यदि बढ़ते प्रचलित प्रवंचनादिक हो।
उन्हीं कथायें बार-बार बस, सतत सुनाते जो रहना,
वही रहा पापोपदेश है अनर्थ जड़ है भव गहना ॥७६॥

हिंसा के जो कारण माने फरसा भाला हाला को,
खड्ग कुदारी तथा शृंखला जलती ज्वाला जाला को।
प्रदान करना, अनर्थदण्डक यह है हिंसा दान रहा,
बुध कहते, दुख प्रदान करता भव-भव में दुख खान रहा ॥७७॥

द्वेषभाव से कभी किसी के बंधन छेदन का वध का,
रागभाव के वशीभूत हो पर-वनितादिक का धन का।
मन से चिंतन करना हो तो दुःख हेतु दुर्ध्यान रहा,
जिन-शासन के शासक कहते सौख्य हेतु शुभ ध्यान रहा ॥७८॥

कृषि आदिक का वशीकरण का, संग वृद्धि का वर्णन हो,
वीर रसों का मिश्रण जिनमें द्वेषभाव का चित्रण हो।
कुमत मदन मद के पोषक हैं, उन शास्त्रों का श्रवण रहा,
मन कलुषित करता, 'दुःश्रुति' यह इसका फल भवभ्रमण रहा ॥७९॥

अनल जलाना अनिल चलाना सलिल सींचना वृथा कभी,
धरा खोदना, धूल उछालन लता तोड़ना तथा कभी।
बिना प्रयोजन स्वयं घूमना और घुमाना परजन को,
प्रमाद नामक अनर्थ-दण्डक यह कारण भव-बंधन को ॥८० ॥

बहु बकना अति राग भाव से, असभ्य बातें भी करना,
भोग्य वस्तुयें अधिक बढ़ाना कुत्सित चेष्टायें करना।
किसी कार्य काऽऽरम्भ अधिक भी पूर्व भूमिका बिन करना,
अनर्थदण्डकव्रत के पाँचों दोष रहें ये, नहिं करना ॥८१॥

विषय राग की लिप्सा को जब और क्षीणतम करना है,
विषयों की सीमा को उसके भीतर भी कम करना है।
आवश्यक पंचेन्द्रिय विषयों की सीमा सीमित करना,
भोगोपभोग परिमाण यही है गुणव्रत धरना हित करना ॥८२॥

भोग वही जो भोग काम में एकबार ही आता है,
किन्तु रहा उपभोग काम में बार-बार जो आता है।
अशन सुमन आसन वसनादिक पंचेन्द्रिय के विषय रहें,
श्रावक इनमें रचें-पचें नहिं निज व्रत में नित अभय रहें ॥८३॥

जिसने जिनवर के जग-तारण-तरण-चरण की शरण गही,
कहा जा रहा उसका, निश्चित बनता है आचरण सही।
त्रस-हिंसा से जब बचता है मांस तथा मधु तजता है,
तथा साथ ही प्रमाद तजने मद्य-पान भी तजता है ॥८४॥

मूली, लहसुन, प्याज, गाजरा, आलू, अदरक आदिक को,
नीम कुसुम नवनीत केवड़ा गुलाब गुलकन्दादिक को।
साधु जनों ने त्याज्य बताया इसका कारण यह श्रोता!
जीव घात तो अधिक, अल्प फल इनके भक्षण से होता ॥८५॥

रोग जनक प्रतिकूल अन्न हो भक्ष्य भले ही त्याज्य रहे,
प्रासुक हो पर अनुपसेव्य भी व्रतीजनों को त्याज्य रहे।
क्योंकि ग्रहण के योग्य विषय को, इच्छापूर्वक तजना ही,
व्रत है इस विध आगम कहता, मोह राग को तज राही ॥८६॥

भोगोपभोग परिमाण द्विविध है कहता जिन-आगम प्यारा,
नियम नाम का एक रहा है, रहा दूसरा 'यम' वाला।
तथा काल की सीमा करना, वही नियम से नियम रहा,
आजीवन जो धारा जाता यम कहलाता परम रहा ॥८७॥

अशन पान का शयन स्नान का तथा काम के सेवन का,
श्रवण गान का सुमन माल का ललित काय के लेपन का।
पचन पान का वसन मान का शोभन भूषण धारण का,
वाद्य गीत संगीत प्रीति का हय-गय अतिशय वाहन का ॥८८॥

घटिका में या दिनभर में या निशि में निशिवासर में या,
पक्ष मास ऋतु एक अयन में पूरण संवत्सर में या।
यथाशक्ति इन्द्रिय विषयों का जो तजना है 'नियम' रहा,
इसका पालन करने वाला सुख पाता अप्रतिम रहा ॥८९॥

विषम-विषमतम विष सम विषयों को अनपेक्षित नहिं करना,
विगत काल में भोगे-भोगों, की स्मृति भी पुनि-पुनि करना।
भावी भोगों की अति तृष्णा, लोलुपता अति अपनाना,
भोगोपभोग परिमाण दोष ये, भोगों में अति रम जाना ॥९० ॥

प्रथम देश अवकाशिक प्यारा दूजा है सामयिक तथा,
रहा प्रोषधा उपवासा है, ''वैयावृत्त्या, श्रमिक-कथा''।
मुनिव्रत शिक्षा मिलती इनसे, शिक्षाव्रत ये चार रहे,
मुनि बनने की इच्छा रखते श्रावक इनको धार रहे ॥९१॥

बहुत क्षेत्र की दशों दिशाओं, में सीमा आजीवन थी,
उसे काल की मर्यादा से, कम-कम करना प्रतिदिन भी।
यही देश अवकाशिक व्रत है, अणुव्रत पालक श्रावक का,
यही देशनामृत मृतिनाशक जिन-शासन के शासक का ॥९२॥

ग्राम तथा आरामधाम निज पुर गोपुर औ भवन महा,
यथा प्रयोजन योजन-योजन नद नदिका वन गहन अहा।
सुनो! देश अवकाशिक व्रत में, इनकी सीमा की जाती,
गणी कहें, भवतीर लगाती वीर-भारती भी गाती ॥९३॥

एक स्थान पर रहूँ वर्ष या एक अयन ऋतु पक्ष कभी,
चार मास या मास बनाना नियम कभी नक्षत्र कभी।
यही देश अवकाशिक व्रत की कालावधि मानी जाती,
ज्ञानी ध्यानी कहते हैं औ जिनवर की वाणी गाती ॥९४॥

देश काल की सीमायें जब, निर्धारित कर पाने से,
उनके बाहर स्थूल सूक्ष्म अघ पाँचों ही मिट जाने से।
स्वयं देश अवकाशिक व्रत भी अणुव्रत होकर महा बने,
व्रत की महिमा यही रही है दुख बनता सुख सुधा बने ॥९५॥

कभी भेजना सीमा बाहर पर को अथवा बुलवाना,
कंकर आदिक फेंक सूचना करना ध्वनि देकर गाना।
सीमा के अन्दर रहना पर रूप दिखाना बाहर को,
दोष, देश अवकाशिक व्रत के ये हैं; तज अघ-आकर को ॥९६॥

सीमा के भीतर बाहर पाँचों पापों का त्याग करो,
तन से मन से और वचन से आतम में अनुराग करो।
यही रहा सामयिक नाम का शिक्षाव्रत अघहारक है,
ऐसे कहते गणधर आदिक अगाध आगम धारक हैं ॥९७॥

केशबन्ध का मुष्टिबन्ध का वस्त्र बन्ध का काल रहा,
तथा बैठने स्थित होने का जो आसन का काल रहा।
वही रहा सामयिक समय है कहते आगम ज्ञाता हैं,
जो करता सामयिक नियम से बोधि समागम पाता है ॥९८॥

व्यभिचारी महिलाजन पशु से रहित रहे एकान्त रहे,
सभी तरह की बाधाओं से रहित रहे पै, शान्त रहे।
निजी भवन में वन उपवन में चैत्य भवन या जंगल में,
व्रती सदा सामयिक करे वह प्रसन्न मन से मंगल में ॥९९॥

देहादिक की दूषित चेष्टा प्रथम नियन्त्रित भी करके,
संकल्पों औ विकल्प जल्पों का निग्रह कर भीतर से।
अनशन के दिन करना अथवा एकाशन के दिन करना,
व्रती पुरुष सामयिक यथाविधि अन्य दिनों में भी करना ॥१०० ॥

यथाविधी एकाग्र-चित्त से श्रावकजन नित प्रतिदिन भी,
अहोभाग्य सामयिक करें वे अनुत्साह आलस बिन ही।
क्योंकि अहिंसादिक अणुव्रत हो पूर्ण इसी से सफल रहे,
गीत इसी के निशिदिन गाते मुनिगण नायक सकल रहे ॥१०१॥

सुनो! व्रती सामयिक करेगा जब करता आरम्भ नहीं,
पास परिग्रह नहिं रखता है पर का कुछ आलम्ब नहीं।
तभी गृही वह यतिपन को है पाता दिखता है ऐसा,
हुआ कहीं उपसर्ग वस्त्र से वेष्टित मुनि लगता जैसा ॥१०२॥

श्रावक जब सामयिक कार्य को करने संकल्पित होता,
बाँधी सीमा तक अपने में पूर्णरूप अर्पित होता।
मच्छर आदिक काट रहे हों शीत लहर हो अनल दहे,
सहें परीषह उपसर्गों को मौन योग में अचल रहे॥१०३॥

अशरण होकर अशुभ रहा है सार नहीं दुख क्षार रहा,
पर है परकृत तथा रहा है क्षणभंगुर संसार रहा।
किन्तु शरण है शुभ है सुख है स्वयं मोक्ष ध्रुव सार रहा,
यह चिंतन सामयिक काल में करता वह भवपार रहा॥१०४॥

मन-वच-तन के योग तीन ये पाप सहित जो बन जाना,
तथा अनादर होना, होना सहसा विस्मृत अनजाना।
ये पाँचों सामयिक नाम के शिक्षाव्रत के दोष रहे,
दोषरहित जिनदेव बताते गुण-गण के जो कोष रहे॥१०५॥

सदा अष्टमी चतुर्दशी को भोजन का बस त्याग करें,
अशन पान को खाद्य लेह्य को, याद करें ना राग करें।
यही ''प्रोषधा उपवासा'' है व्रतीजनों का ज्ञात रहे,
किन्तु मात्र व्रत पालन करना सत्य प्रयोजन साथ रहे॥१०६॥

लोचन अंजन नासा रंजन दाँतन मंजन स्नान नहीं,
नास तमाखू अलंकार ना फूल-माल का मान नहीं।
असि मसि कृषि आदिक षट्कर्मों पापों का परिहार करें,
निराहार उपवास दिनों में निज का ही शृंगार करें॥१०७॥

पूर्ण चाव से निजी श्रवण से धर्मामृत का पान करें,
बने अन्य को पान करावे सहधर्मी का ध्यान करें।
ज्ञानाराधन द्वादशभावन धर्म-ध्यान में लीन रहें,
किन्तु व्रती उपवास दिनों में प्रमाद-भर से हीन रहें॥१०८॥

अशन पान का खाद्य लेह्य का पूर्ण-त्याग उपवास रहा,
एक बार ही भोजन करना प्रोषध उसका नाम रहा।
तथा पारणा के दिन भोजन एक बार ही जो गहना,
रहा 'प्रोषधा उपवासा' वह बार-बार गुरु का कहना ॥१०९॥

देख-भाल बिन शोधे बिन ही पूजन द्रव्यों को लेना,
जहाँ कहीं भी दरी बिछाना मल-मूत्रों को तज देना।
तथा अनादर होना, होना विस्मृति भी वह कभी-कभी,
दोष प्रोषधा उपवासा के हैं कहते हैं सुधी सभी ॥११० ॥

तपोधनी हैं गुण के निधि हैं गृह-त्यागी संयम-धर हैं,
उनको अन्नादिक देना यह 'वैयावृत्या' व्रतवर है।
पर प्रतिफल की मन्त्र-तन्त्र की इच्छा बिन हो दान खरा,
यथाशक्ति से तथा यथाविधि धर्म-भाव पर ध्यान धरा ॥१११॥

संयमधर पर आया संकट उसे मिटाना कार्य रहा,
पैर थके हों पीड़ा हो तो उन्हें दबाना आर्य महा।
गुण के प्रति अनुराग जगा हो अन्य-अन्य उपकार सभी,
वैय्यावृत्या कहलाता है लाता है भवपार वही ॥११२॥

पाप कार्य सब चूली चक्की आदिक सूने त्याग दिये,
आर्य रहें अनिवार्य कार्यरत संयम में अनुराग किये।
उन्हें सप्त गुण युत शुचि श्रावक नवविध भक्ती है करता,
प्रासुक अन्नादिक देता वह दान कहाता दुख हरता ॥११३॥

अगार तज अनगार बने हैं अतिथि रहें नहिं तिथि रखते,
उन पात्रों को दाता देते दान यथोचित मति रखते।
गृह-कार्यों से अर्जित दृढ़तम अघ भी जिससे धुलता है,
रुधिर नीर से जिस विध धुलता, आती अति उज्ज्वलता है ॥११४॥

तपोधनों को नमन करो तो सुफल निराकुल सुकुल मिले,
उपासना से पूजा मिलती भोग दान से विपुल मिले।
भक्त बनो गुरु-भक्ति करो तो सुभग-सुभगतम तन मिलता,
गुरु-गुण-गण की स्तुति करने से यश फैले जन मंजुलता ॥११५॥

सही पात्र को भाव-भक्ति से समयोचित हो दान रहा,
अल्पदान भी अनल्प फल दे भविजन को वरदान रहा।
उचित धरा पर वपन किया हो, हो अणु-सा वट बीज भले,
घनी छाँव फल देता तरु बन भाव भले शुभ चीज मिले ॥११६॥

प्रथम रहा आहार दान है दूजा औषध दान रहा,
शास्त्रादिक उपकरणदान जो वही तीसरा दान रहा।
चौथा है आवासदान यों भेद दान के चार रहे,
वैयावृत्या अतः चतुर्विध सुधी कहें आचार्य कहे ॥११७॥

प्रजापाल श्रीषेण नाम का प्रथम दान में ख्यात रहा,
हुई वृषभसेना वह औषध महादान में ख्यात महा ॥
तथा रहा उपकरण - दान में नामी है कौण्डेश अहा,
सूकर वह आवास-दान में यह गुरु का उपदेश रहा ॥११८॥

देवों से भी पूज्य देव 'जिन' जिनके सुरपति दासक हैं,
प्रभु पद पंकज कामधेनु हैं कामभाव का नाशक हैं।
सविनय सादर जिनपद पूजन बुधजन प्रतिदिन करें अतः,
सब दुख मिटता मिलता निज सुख क्रमशः शिव को वरें स्वतः ॥११९॥

अरहन्तों के चरण कमल की पूजा की महिमा न्यारी,
शब्दों में वह बँध नहिं सकती थकती रसनायें सारी।
इस महिमा को राजगृही में भविकजनों के सम्मुख रे,
प्रमुदित मेंढक दिखलाया है फूल-पाँखुड़ी ले मुख में ॥१२० ॥

अतिथिजनों को दाता देते भोजन जो यदि ढका हुआ,
कदली के पत्रों से अथवा कमल-पत्र पर रखा हुआ।
तथा भाव मात्सर्य अनादर विस्मृति होना दोष रहे,
वैयावृत्या व्रत के पाँचों कहते गुरु गतदोष रहे॥१२१॥

जरा-दशा दुर्भिक्ष-काल या उपसर्गों का अवसर हो,
रोग भयंकर तथा हुआ हो दुर्निवार हो दुखकर हो।
धर्म-भावना रक्षण करने तन तजना तब कार्य रहा,
सल्लेखन वह है इस विध ये कहते गुरुवर आर्य महा॥१२२॥

अन्त समय संन्यास सहारा लेना होता हे प्राणी!,
सकल तपों का सुफल रहा वह विश्व-विज्ञ की यह वाणी।
इसीलिए अब यथाशक्ति बस पाने समाधि-मरण अरे!
सतत यतन करते रहना है तुम्हें मुक्ति तब वरण करे॥१२३॥

प्रेम भाव को वैर भाव को तथा अंग की ममता को,
सकल संग को तजकर, धरकर निर्मल मनमें समता को।
विनय घुला हो प्रिय सम्वादों मिश्री मिश्रित वचनों से,
आप क्षमाकर क्षमा माँगकर पुरजन परिजन स्वजनों से॥१२४॥

सर्व पाप का आलोचन कर कृत से कारित अनुमति से,
सभी तरह का कपट भाव तज सरल सहज निश्छल मति से।
पञ्च पाप का त्याग करे वह जब तक घट में प्राण रहे,
पञ्च महाव्रत ग्रहण करें पर आत्म-तत्त्व का भान रहे॥१२५॥

शोक छोड़ना भीति छोड़ना पूर्ण छोड़ना खेद तथा,
स्नेह छोड़ना द्वेष छोड़ना अरतिभाव मनभेद व्यथा।
अहो! धैर्य भी तथा जगाना उत्साहित निज को करना,
सत्य श्रुतामृत पिला पिलाकर तृप्त शान्त मन को करना॥१२६॥

दाल भात आदिक को क्रमशः कम-कम करते त्याग करें,
दुग्धादिक का पान करें अब नहीं अन्न का राग करें।
दुग्धादिक को भी क्रमशः फिर निज इच्छा से त्याग करें,
नीरस कांजी नीरादिक का केवल बस अनुपान करें॥१२७॥

नीरस प्रासुक जलपानादिक भी क्रमशः फिर तज देना,
तन कृश हो उपवास करे पर प्रथम निजी बल लख लेना।
पूज्य पञ्च नवकार मन्त्र को निशिदिन मन से जपना है,
पूर्ण यत्न से जागृत बनकर तजना तन को अपना है॥१२८॥

जीवन की वांछा करना मैं शीघ्र मरूँ मन में लाना,
तथा मित्र की स्मृति हो आना भय से मन भी घिर जाना।
भोग मिले यों निदान करना पाँच दोष ये कहलाते,
सल्लेखन के जिनवर कहते दोष टाल बुध सुख पाते॥१२९॥

सल्लेखन से कुछ धर्मात्मा भवसागर का तट पाते,
अन्तरहित शिव सुखसागर को तज नहिं भव पनघट आते।
किन्तु भव्य कुछ परम्परा से शिवसुख भाजन हो जाते,
तन के मन के दुख से रीता दीर्घकाल सुर सुख पाते॥१३०॥

जनन नहीं है मरण नहीं है जरा नहीं है शोक नहीं,
दुःख नहीं है भीति नहीं है किसी तरह के रोग नहीं।
वही रहा निर्वाणधाम है नित्य रहा अभिराम रहा,
निःश्रेयस है विशुद्धतम सुख ललाम आतम-राम रहा॥१३१॥

अनन्त विद्या अनन्त दर्शन अनन्त केवल शक्ति रही,
परम स्वास्थ्य आनन्द परम औ परम शुद्धि परितृप्ति सही।
जो कुछ उघड़े घटे-बढ़े नहिं अमित काल तक अमिट रहे,
निःश्रेयस निर्वाण वही है सुख से पूरित विदित रहे॥१३२॥

एक-एक कर कल्प-काल भी बीत जाय शत-शत भाई,
या विचलित त्रिभुवन हो ऐसा वज्रपात हो दुखदाई।
सिद्ध शुद्ध जीवों में फिर भी विकार का वह नाम नहीं,
उनका सुखकर नाम इसी से लेता मैं अविराम सही ॥१३३॥

निःश्रेयस निर्वाणधाम में सुचिर काल ये बसते हैं,
तीन लोक की शिखामणी की मंजुल छवि ले लसते हैं।
कीट कालिमा रहित कनक की शोभा पाकर भासुर हैं,
सिद्ध हुए हैं शुद्ध हुए हैं जिन्हें पूजते आसुर हैं ॥१३४॥

आज्ञापालक सेवक मिलते मिलती पूजा पद-पद है,
सभी तरह की विलासताएँ मिलती महती सम्पद है।
परिजन मिलते योग्य भोग्य बल काम धाम आराम मिले,
जग-विस्मित हो अद्भुत सुख दे सत्य धर्म से शाम टले ॥१३५॥

प्रतिमाएँ वे कहलाते हैं ग्यारह श्रावक पद भाते,
उत्तर पद गुण पूर्व पदों के गुणों सहित ही बढ़ पाते।
उचित रहा यह करोड़पति ज्यों लखपति पण से युक्त रहे,
ऐसा जिनवर का कहना है जनन मरण से मुक्त रहे ॥१३६॥

विषय भोग संसार देह से अनासक्त हो जीता है,
समीचीन दर्शन का नियमित मधुर सुधारस पीता है।
पाँचों परमेष्ठी गुरुजन के चरणों में जा शरण लिया,
दर्शन-प्रतिमा का धारक वह तत्त्वपंथ को ग्रहण किया ॥१३७॥

पाँचों अणुव्रत धारण करता अतीचार से रहित हुआ,
तीनों गुणव्रत चउशिक्षाव्रत इन शीलों से सहित हुआ।
वही रहा व्रत प्रतिमाधारक किन्तु शल्य से रीता हो,
महाव्रती गणधर आदिक यों कहते हैं भवभीता हो ॥१३८॥

तीन - तीन कर चार - चार जो आवर्तों को करते हैं,
दिग्अम्बर हो स्थित हो प्रणाम, चार बार औ करते हैं।
तीनों सन्ध्याओं में वन्दन बैठ नमन दो बार करे,
श्रावक वे सामयिक नाम पद पा ले भव को पार करें ॥१३९॥

चतुर्दशी दो तथा अष्टमी मास-मास में आते हैं,
उन्हीं दिनों में यथाशक्ति सब काम-काज तज पाते हैं।
प्रसन्न हो एकाग्र चित्त हो प्रोषध नियमों कर पाते,
प्रोषध उपवासा प्रतिमा के धारक श्रावक कहलाते ॥१४० ॥

कच्चे जब तक रहते हैं वे कन्द रहो या मूल रहो,
करीर हो या शाक पात फल शाखा हो या फूल रहो।
उनको तब तक खाते नहिं हैं दयामूर्ति जो श्रावक हैं,
सचित्त-विरता प्रतिमा के वे पूर्णरूप से पालक हैं ॥१४१॥

अन्न पान औ खाद्य लेह्य यों रहा चतुर्विध भोजन है,
उसका सेवन निशि में करते नहीं व्रतीजन भो! जन है।
जग में सब जीवों के प्रति जो करुणा धारण करते हैं,
निशि भोजन के त्याग नाम की प्रतिमा पालन करते हैं ॥१४२॥

मल का कारण, बीज रहा है मल का मल झरवाता है,
अशुचि-धाम दुर्गन्ध रहा है तथा घृणा करवाता है।
ऐसे तन को लखकर श्रावक मैथुन सेवन तजता है,
वही ब्रह्मचारी कहलाता धर्म-भाव बस भजता है ॥१४३॥

असि मसि कृषि सेवा शिल्पादिक प्रमुख यही आरम्भ रहे,
प्राणघात के कारण, कारण पापों के सम्बन्ध रहे।
इन आरम्भों को तजता है पाप-भीत करुणाधारी,
वही रहा आरम्भ त्यागमय प्रतिमाधारी आगारी ॥१४४॥

दाम धाम आदिक सब मिलकर बाह्य परिग्रह दशविध हो,
उसकी ममता तज जो श्रावक निरीह निर्मम बस बुध हो।
तथा बना सन्तोष कोष हो निज कार्यों में निरत सही,
स्वामीपन ले मन में बैठे सकल संग से विरत वही ॥१४५॥

असि मसि कृषि आदिक आरम्भों में तो ना अनुमति देता,
किन्तु संग में विवाह कार्यों में भी कभी न मति देता।
यद्यपि घर में रहता फिर भी समता-धी से सहित रहा,
वही रहा दशवीं प्रतिमा का पालक अनुमति-विरत रहा ॥१४६॥

श्रावक घर को तजता है फिर मुनियों के वन में जाता,
गुरुओं के सान्निध्य प्राप्त कर करे ग्रहण सब व्रत साता।
भिक्षाचर्या से भोजन पा तप तपता सुखकारक है,
श्रावक वह उत्कृष्ट रहा है खण्ड वस्त्र का धारक है ॥१४७॥

पाप रहा जो वही शत्रु है धर्म-बन्धु है रहा सगा,
यदि आगम को जान रहा है ऐसा निश्चय रहा जगा।
वही श्रेष्ठ है ज्ञानी अथवा अपने हित का है ज्ञाता,
जिसको हित की चिन्ता नहिं है ज्ञानी कब वह कहलाता? ॥१४८॥

मिथ्यादर्शन आदिक से जो निज को रीता कर पाया,
दोषरहित विद्या-दर्शन-व्रत रत्नकरण्डक कर पाया।
धर्म अर्थ की काम मोक्ष की सिद्धि उसी को वरण करे,
तीन लोक में पति-इच्छा से स्वयं उसी में रमण करे ॥१४९॥

सुखद कामिनी कामी को ज्यों सुखी मुझे कर दुरित हरे,
शीलवती माँ सुत की जिस विध मम रक्षा यह सतत करे।
कुल को कन्या सम गुणवाली यह मुझको शुचि शान्त करे,
दृग् लक्ष्मी मम जिन-पद पद्मों में रहती सब ध्वान्त हरे ॥१५०॥

मंगल कामना

विहसित हो जीवन लता, विलसित गुण के फूल।
ध्यानी मौनी सूँघता, महक उठी आमूल ॥१॥
सान्त करूँ सब पाप को, हरूँ ताप बन शान्त।
गति आगति रति मति मिटे, मिले आय निज प्रान्त ॥२॥
रग-रग से करुणा झरे, दुखी जनों को देख।
विश्व सौख्य में अनुभवूँ, स्वार्थ सिद्धि की रेख ॥३॥
रस रूपादिक हैं नहीं, मुझमें केवलज्ञान।
चिर से हूँ, चिर और हूँ, हूँ निज के बल जान ॥४॥
तन मन से औ वचन से, पर का कर उपकार।
रवि सम जीवन बस बने, मिलता शिव उपहार ॥५॥
यम-दम-शम-सम तुम धरो, क्रमशः कम श्रम होय।
नर से नारायण बनो, अनुपम अधिगम होय ॥६॥
मंगल जग जीवन बने, छा जावे सुख छाँव।
जुड़े परस्पर दिल सभी, टले अमंगल भाव ॥७॥
शाश्वत निधि का धाम हो, क्यों बनता तूँ दीन।
है उसको बस देख ले, निज में होकर लीन ॥८॥

रचना काल एवं समय परिचय

खुद पर्वत यों गा रहा, ले कुण्डल आकार।
कुण्डलगिरि में हूँ खड़ा, कौन करे नाकार? ॥१॥
सार्थक कुण्डलगिरि रहा, सुखकर कोनी क्षेत्र।
एक झलक में खुल गये, मन के मौनी नेत्र ॥२॥
व्यसन गगन गति गन्ध[१] की, चैत्र अमा का योग।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है, ध्येय मिटे भव रोग ॥३॥

(व्यसन-७, गगन-०, गति-५, गंध-२,७०५२ ''अंकानां वामतो गतिः'' के अनुसार वीर निर्वाण संवत्२५०७, वि. सं.२०३७, चैत कृष्ण अमावस्या,४ अप्रैल१९८१ को श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, कुण्डलगिरि (कोनीजी) पाटन, जबलपुर (म. प्र.) में रयणमंजूषा का पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।)

आप्तमीमांसा

आचार्य समन्तभद्रस्वामी रचित

आप्तमीमांसा

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

आप्तमीमांसा

(२६ सितम्बर,१९८३)

आचार्य समन्तभद्रस्वामी द्वारा संस्कृत भाषाबद्ध 'आप्तमीमांसा' (देवागमस्तोत्रम्) का आचार्यश्री द्वारा पद्यबद्ध यह भाषान्तरण है। उनकी इस कृति में दस परिच्छेद हैं, जिनमें ११४ कारिकाएँ हैं। इसी आप्त-मीमांसा का 'ज्ञानोदय छन्द' में पद्यानुवाद आचार्यश्री ने किया, पद्यानुवाद के प्रारम्भ में सात दोहों में मंगलाचरण है। मंगलाचरण हमें उनके गुणोदय आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। अन्तर केवल इतना है कि अन्तिम दोहे में ग्रन्थ का नाम बदल दिया गया है। अन्त में पद्यानुवाद-प्रशस्ति है, जिसके एक दोहे में शोध कर पढ़ने का परामर्श है और दूसरे में इसकी रचना का काल है—

निधि-नभ-नगपति-नयन का सुगन्ध-दशमी योग।
लिखा ईसरी में पढ़ो, बनता शुचि उपयोग॥

अर्थात् वीर निर्वाण संवत् २५०९ की भाद्रपद शुक्ला दशमी, सुगन्धदशमी, विक्रम संवत् २०४०, शुक्रवार, २६ सितम्बर, १९८३ को सिद्धक्षेत्र तीर्थराज सम्मेदशिखर के पादमूल में स्थित ईसरी नगर गिरीडीह, बिहार प्रान्त में इसे लिखा, इसके पढ़ने से शुद्धोपयोग बनेगा।

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय।
नर-सुर-पशु गति सब मिटे, पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर - चाँदनी, से जिन-धुनी अतिशीत।
उसका सेवन मैं करूँ, मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक गुरु चरण, रज सर पर सुचढ़ाय।
यह मुनि, मन-गुरु-भजन में, निशिदिन क्यों न लगाय ॥३॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय-कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

गुण-निधि समन्तभद्रगुरु, महके अगुरु सुगंध।
अर्पित जिनपद में रहे, गन्ध-हीन मम छन्द ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥६॥

देवागम का मैं करूँ, पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन मम रहा, मोह मिटे परमाद ॥७॥

आप्तमीमांसा

सर पर फिरते छतर चँवर वर स्वर्णासन पर अधर लसे।
ऊपर से सुर उतर उतर कर तुम पद में बन भ्रमर बसे॥
इस कारण से पूज्य हमारे बने प्रभो! यह बात नहीं।
इस विध वैभव माया-जाली भी पाते क्या? ज्ञात नहीं॥१॥

जरा-रहित है रोग-रहित है उपमा से भी रहित रहा।
तव तन अकालमरणादिक से रहित रहा द्युति सहित रहा॥
इस कारण से भी तुम प्रभु तो पूज्य हमारे नहीं बने।
देवों की भी दिव्य देह है देव सुखों में तभी सने॥२॥

आगम, आगमकर्ता अनगिन तीर्थंकरों की कमी नहीं।
किन्तु किसी की कभी किसी से बनती नहिं है कमी यही॥
कौन सही फिर कौन सही ना! इसीलिए सब आप्त नहीं।
किन्तु एक ही इन सब में ही 'गुरु चेता' यह बात रही॥३॥

कहीं किसी में मोहादिक की तरतमता वह विलस रही।
अतः ईश तुम, तुम में जड़ से अघ की सत्ता विनस रही॥
यथा कनक-पाषाण, कनक हो समुचित साधन जब मिलता।
चरित-बोध-दृग आराधन से बाह्याभ्यन्तर मल मिटता॥४॥

सूक्ष्म रहें कुछ, दूर रहें कुछ बहुत पुराने तथा रहें।
पदार्थ सब प्रत्यक्ष रहे हैं किसी पुरुष के, पता रहे॥
अनलादिक अनुमान-विषय हैं, स्पष्ट किसी को यथा रहें।
इसीलिए सर्वज्ञ-सिद्धि हो साधु-सन्त सब बता रहे॥५॥

'सो' तुम ही 'सर्वज्ञ' रहे प्रभु दोष-कोष से मुक्त रहे।
बोल, बोलते युक्ति-शास्त्र से युक्त रहें उपयुक्त रहें॥
विसंवाद तव मत में नहिं है पक्षपात से दूर रहा।
अन्य मतों से बाधित भी ना क्षमता से भरपूर रहा॥६॥

अपने को सर्वज्ञ मानकर मान-दाह में दग्ध हुए।
सदा सर्वथा मतैकान्त के क्षार-स्वाद में दग्ध हुए॥
सुधा-सार है तव मत, जिसके सेवन से तो वंचित हैं।
बाधित हो प्रत्यक्ष-ज्ञान से उनका मत अघ रंजित है॥७॥

पोषक हैं एकान्त मतों के अनेकान्त से दूर रहें।
निजके निज ही शत्रु रहें वे औरों के भी क्रूर रहें॥
उनके मत में पुण्य, पुण्य-फल, नहीं पापफल, पाप नहीं।
नाथ! मोह नहिं, मोक्ष नहीं हो, इह भव, परभव आप नहीं॥८॥

पदार्थ सारे भावरूप ही होते यदि यूँ मान रहे।
सभी अभावों का फिर क्या हो निश्चित ही अवसान रहे॥
सबके सब फिर विश्वरूप हों आदि नहीं फिर अन्त नहीं।
आत्मरूप का विलय हुआ 'यूँ' तुम मत में भगवन्त नहीं॥९॥

प्रागभाव का मन से भी यदि करो अनादर घोर कहीं।
घट पट आदिक कार्यद्रव्य हो अनादि फिर तो छोर नहीं॥
अभाव जो प्रध्वंस रूप है उसका स्वागत नहिं करते।
कार्यद्रव्य ये नियम रूप से अनन्तता को हैं धरते॥१०॥

रहा 'परस्पर अभाव' घट पट आदिक में जो एक खरा।
उसे न माना, विशेष बिन, सब एक रूप हों, देख जरा॥
अभाव जो अत्यन्त रूप है द्रव्य अचेतन चेतन में।
जिस बिन चेतन बने अचेतन चेतनता आती तन में॥११॥

अभाव को एकान्त रूप से मान रहे वे भूल रहे।
भावपक्ष को पूर्ण रूप से उड़ा रहे प्रतिकूल रहे॥
प्रमाणता को आगम, अधिगम कभी नहिं फिर धर सकते।
निजमत पोषण, परमत शोषण फिर किस विध हैं कर सकते॥१२॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुए।
पदार्थ भावाभावात्मक हो ऐसा कहते तने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित, सब वृथा रही।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥१३॥

भाव रूप ही रहा कथंचित् पदार्थ को जिनमत जानो।
वही इष्ट फिर अभावमय हो रहा कथंचित् पहिचानो॥
उभय रूप भी, अवाच्य सो है, नहीं सर्वथा तथा रहा
विविध नयों का लिया सहारा छन्द यहाँ यह बता रहा॥१४॥

अपने अपने चतुष्टयों से सत्त्व रूप ही सभी रहें।
किन्तु सभी परचतुष्टयों से असत्त्व ही गुरु सभी कहें॥
ऐसा यदि तुम नहीं मानते चलते पथ विपरीत कहीं।
बिना अपेक्षा 'सदसत् सब' यूँ कहना यह बुध-रीत नहीं॥१५॥

अस्तिरूप औ नास्ति रूप भी उभय रूप यों तत्त्व रहा।
अवक्तव्य भी, तीन रूप भी शेष भंग, मय सत्त्व रहा॥
अनेकान्तमय वस्तुतत्त्व यह स्याद्वाद से अवगत हो।
विसंवाद सब मिटते इससे सुधी जनों का अभिमत हो॥१६॥

किसी एक जीवादि वस्तु में बात तुम्हें यह ज्ञात रहे।
अस्तिपना वह नियम रूप से नास्तिपना के साथ रहे॥
कारण सुन लो, एक वस्तु में कई विशेषण हैं रहते।
'सो' सहभावी ज्यों सहधर्मी वैधर्मी का, गुरु कहते॥१७॥

किसी एक जीवादि वस्तु में बात तुम्हें यह ज्ञात रहे।
नास्तिपना वह नियम रूप से अस्तिपना के साथ रहे॥
कारण सुन लो एक वस्तु में कई विशेषण हैं रहते।
'सो' सहभावी ज्यों सहधर्मी वैधर्मी का, गुरु कहते॥१८॥

शब्दों का जो विषय बना है विशेष्य उसकी यह गाथा।
विधि औ निषेध वाला होता छन्द यहाँ है यह गाता॥
यथा अनल हो साध्यधर्म जब धूम्र हेतु हो वहाँ सही।
किन्तु नीर जब साध्य-धर्म हो धूम्र हेतु तब रहा नहीं॥१९॥

इसी तरह ही शेष भंग भी साधित हो गुरु समझाते।
समुचित नय के प्रयोग द्वारा सब उलझन को सुलझाते॥
कारण इसमें किसी तरह भी विरोध को कुछ जगह नहीं।
हे मुनिनायक! तव शासन में मुनि यह रमता वजह यही॥२०॥

इसविध निषेध-विधिवाली यह पद्धति स्वीकृत जब होती।
बुधस्वीकृत वह वस्तुव्यवस्था कार्यकारिणी तब होती॥
ऐसा यदि ना मान रहे तुम अर्थशून्य सब कार्य रहें।
बाह्याभ्यन्तर साधन भी वे व्यर्थ रहें यूँ आर्य कहें॥२१॥

अनन्त धर्मों का आकर ही प्रति पदार्थ का बाना हो।
उन उन धर्मों में पदार्थ का भिन्न भिन्न ही भाना हो॥
एक धर्म जब मुख्य बना 'सो' शेष धर्म सब गौण हुए।
स्याद्वाद का स्वाद लिया जो विवाद सारे मौन हुए॥२२॥

एक रहा है अनेक भी है, उभय रूप भी तत्त्व रहा।
अवक्तव्य भी शेष भंगमय विविध रूप यूँ सत्त्व रहा
संशय-मथनी सप्तभंगिनी का प्रयोग यूँ सुधी करें।
उचित नयों से, नय विधान में कुशल रहें, सुख सभी वरें॥२३॥

द्वैत नहीं अद्वैत तत्त्व है मतैकान्त का यह कहना।
अपने वचनों से बाधित है विरोध-बहाव में बहना॥
क्योंकि कारकों तथा क्रियाओं में दिखता वह भेद रहा।
और एक खुद, खुद का किस विध जनक रहा, यह खेद महा॥२४॥

मानो तुम अद्वैत विश्व को पाप-पुण्य दो कर्म नहीं।
कर्म-पाक फिर सुख, दुख दो ना इह भव, परभव धर्म नहीं ॥
ज्ञान तथा अज्ञान नहीं दो द्वैत-भाव का नाश हुआ।
बन्ध मोक्ष फिर कहाँ रहे दो यह कहना निज हास हुआ ॥२५॥

यदि तुम मानो किसी हेतु से सिद्ध हुआ अद्वैत रहा।
हेतु साध्य दो मिलने से फिर सिद्ध हुआ वह द्वैत रहा ॥
अथवा यदि अद्वैत सिद्ध हो बिना हेतु यूँ मान रहे।
बिना हेतु फिर द्वैत सिद्ध हो इसविध क्यों ना मान रहे ॥२६॥

बिना हेतु के अहेतु ना हो जैसा सबको अवगत है।
बिना द्वैत अद्वैत नहीं हो वैसा ही यह बुधमत है ॥
निषेध-वाचक वचन रहें जो विधि-वाचक के बिना नहीं।
निषेध उसका ही होता जो निषेध्य, जिसके बिना नहीं ॥२७॥

पृथक् पृथक् ही पदार्थ सारे ऐसा यदि एकान्त रहा।
गुणी तथा गुण अभिन्न होते पता नहीं? क्या भ्रान्त रहा ॥
पृथक् नाम का गुण यदि न्यारा गुणी तथा गुण से होता।
बहु अर्थों में 'सो' है कहना विफल आपपन से होता ॥२८॥

द्रव्य रूप एकत्व भाव को नहीं मानते यदि बुध हो।
जनन मरण आदिक किसके हो प्रेत्यलोक फिर किस विध हो ॥
और नहीं समुदाय गुणों का सजातीयता बने नहीं।
तथा नहीं संतान शृंखला और दोष बहु घने यहीं ॥२९॥

ज्ञान ज्ञेय से भिन्न रहा यदि चिदात्म से भी भिन्न रहा।
असत् ठहरते ज्ञान ज्ञेय दो सत्वत् फिर क्या? प्रश्न रहा ॥
अभाव जब हो ज्ञान-भाव का ज्ञेय-भाव फिर कहाँ टिके।
बाह्याभ्यन्तर ज्ञेय शून्य फिर हे जिन! परमत कहाँ टिके ॥३०॥

समान जो सामान्य मात्र को विषय बनाते वचन सभी।
विशेष वचनातीत वस्तु है बौद्धों का है कथन यही॥
अतः नहीं सामान्य वस्तुतः वचन सत्य से वंचित हो।
ऐसे वचनों से फिर कैसे कथन कथ्य श्रुति संगत हो॥३१॥

पृथक्पना एकत्वपना मय पदार्थ कहते तने हुए।
स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महा विरोधक बने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥३२॥

पृथक्पना एकत्वपना यदि भ्रातृपना को छोड़ रहें।
दोनों मिटते क्योंकि परस्पर दोनों का वह जोड़ रहें॥
लक्षण से तो भिन्न भिन्न हों किन्तु द्वयात्मक द्रव्य कथा।
अन्वय आदिक भेद भले हो तन्मय साधन भव्य यथा॥३३॥

सत् सबका सामान्य रूप है इसीलिए बस एक सभी।
निज निज गुण लक्षण धर्मों से पृथक् परस्पर एक नहीं॥
कभी विवक्षित भेद रहा हो अभेद किंवा रहा कभी।
बिना हेतु के नहीं सहेतुक बुध साधित है रहा सही॥३४॥

यथार्थ है यह प्रति पदार्थ में अमित गुणों का वास रहा।
वर्णन उनका युगपत् ना हो वर्णों से विश्वास रहा॥
इसीलिए वक्ता पर आश्रित मुख्य गौणता रहती है।
मुख्य गौण भी सत् ही होता असत् नहीं श्रुति कहती है॥३५॥

भेद तथा है अभेद दोनों नहिं है ऐसा मत समझो।
प्रमाण के ये विषय रहे हैं कुछ सोचो तुम मत उलझो॥
एक वस्तु में इनका रहना नहीं असंगत, विदित रहे।
मुख्य गौण की यही विवक्षा जिनमत में ही निहित रहें॥३६॥

नित्य रूप एकान्त पक्ष का यदि तुम करते पोषण हो।
पदार्थ में परिणमन नहीं हो क्रिया मात्र का शोषण हो॥
कर्त्ता किसका पहले से ही कारक का वह नाम नहीं।
प्रमाण फिर क्या? रहा बताओ प्रमाण-फल का काम नहीं ॥३७॥

प्रमाण कारक से यदि मानो पदार्थ भासित होते हैं।
जैसे इन्द्रियगण से निज निज विषय प्रकाशित होते हैं॥
नित्य रहे हैं वैसे वे भी विकार किस में किस विध हो।
जिनमत से जो विमुख रहे हों सुख तुम मत में किस विध हो ॥३८॥

सांख्य पुरुष सम सदा सर्वथा कार्य रहे सद्रूप रहे।
यदि यूँ कहते, किसी कार्य का उदय नहीं मुनि भूप कहे॥
फिर भी यदि तुम विकारता की करो कल्पना वृथा रही।
नित्य रूप एकान्त पक्ष की वही बाधिका व्यथा रही ॥३९॥

पुण्य क्रिया नहिं पाप क्रिया नहिं औ सुख दुख फल नहीं रहे।
जन्मान्तर फिर कैसा होगा मूल बिना फल नहीं रहे॥
कर्म-बन्ध की गंध नहीं जब मोक्षतत्त्व की बात नहीं।
ऐसे मत के नायक नहिं जिन! मुमुक्षुओं के नाथ सही ॥४०॥

क्षणिक रूप एकान्त पक्ष के आग्रह का यदि स्वागत हो।
प्रेत्यभाव का अभाव होगा शिवसुख भी ना शाश्वत हो॥
स्मरणादिक ज्ञानों का निश्चित क्यों ना 'सो' अवसान रहा।
किसी कार्य का सूत्रपात नहिं फल का फिर अनुमान कहाँ? ॥४१॥

कार्य सर्वथा असत्य ही हो ऐसा तव मत मूल रहा।
कार्य सभी आकाशकुसुम सम कभी न जनमें भूल अहा॥
उपादान कारण सम होता कार्य नियम यह नहीं रहा।
किसी कार्य के होने में फिर संयम भी वह नहीं रहा ॥४२॥

तथा कार्य-कारण-भावादिक क्षणिक पंथ में रहे कदा।
आपस में ना अन्वय रखते अन्य अन्य ही रहे सदा॥
जिस विध है सन्तानान्तर से भिन्न रूप सन्तान रही।
एकमेक सन्तान नहीं है सन्तानी से जान सही॥४३॥

पृथक्-पृथक् सब यदपि रहा पर अनन्य सा टिमकार रहा।
और वही उपचार कहो यूँ क्यों न झूठ उपचार रहा॥
तथा मुख्य जो अर्थ रहा है कभी नहीं उपचार रहा।
बिना मुख्य उपचार नहीं हो सन्तों का उद्‌गार रहा॥४४॥

सदसत् उभयानुभयात्मक जो वस्तु धर्म का कथन रहा।
सब धर्मों के साथ उचित ना सुगत पन्थ का वचन रहा॥
सन्तानी सन्तान भाव से अन्य रहा या अन्य नहीं।
कह नहिं सकते अवक्तव्य है इसीलिए बुध मान्य नहीं॥४५॥

सन्तानी सन्तानन में यदि सदादि चहुविध कथन नहीं।
अवक्तव्यमय वस्तु धर्म में सदादि किस विध वचन सही॥
किसी तरह भी किसी धर्म का कथन नहीं फिर वस्तु नहीं।
तुम्हें विशेषण विशेष्य रीता वस्तु इष्ट ही अस्तु कहीं॥४६॥

अपने मन से होकर परमन से पदार्थ ओझल होता।
जिसकी सत्ता विद्यमान है निषेध उस ही का होता॥
किन्तु यहाँ पर किसी भाँति भी यदि जिसका अस्तित्व नहीं।
उसका विधान निषेध ना हो सुनो जरा वस्तुत्व यही॥४७॥

सभी तरह के धर्मों से यदि पूर्ण रूप से रहित रहा।
अवक्तव्य वह वस्तु नहीं हो मतैकान्त से सहित रहा॥
आप पने से वस्तु वही पर अवस्तु पर पन से होती।
अनेकान्त की पूजा फलतः हम से तन मन से होती॥४८॥

अवक्तव्य हो प्रति पदार्थ में धर्म रहे कुछ औ न रहे।
ऐसा यदि है बोल रहे क्यों बन्द रहे मुख मौन रहे॥
यदि मानो हम बोल रहे 'सो' मात्र रहा उपचार अहा।
मृषा रहा उपचार सत्य से दूर रहा बिन सार रहा॥४९॥

अवक्तव्य, क्यों अभाव है या उसका ही नहिं बोध रहा।
कथन शक्ति का या अभाव है जिस कारण अवरोध रहा॥
जब कि सुगत अति विज्ञ बली है तुम सबकी दृग खोल रहा।
मायावी बन बोल रहा क्या? लगता यह सब पोल रहा॥५०॥

हिंसा का संकल्प किया वह कभी न हिंसा करता है।
भाव किये बिन हिंसा करता चित्त दूसरा मरता है॥
इन दोनों को छोड़ तीसरा चित्त बन्ध में है फँसता।
फँसा मुक्त नहिं और मुक्त हो क्षणिक पंथ पर जग हँसता॥५१॥

कभी किसी का नाश हुआ 'सो' रहा अहेतुक सुगत कहे।
हिंसक से हिंसा होती है यह कहना फिर गलत रहे॥
और चित्त की सन्तति का यदि नाश मोक्ष का मूल रहा।
समतादिक वसु साधन से हो मोक्ष मानना भूल रहा॥५२॥

कपाल आदिक उद्भव में तो हेतु अपेक्षित रहता हो।
घट आदिक के किन्तु नाश में हेतु उपेक्षित रहता हो॥
इन दोनों में विशेषता कुछ रही नहीं कुछ भेद नहीं।
कहने भर को भेद रहा है हेतु एक है खेद यही॥५३॥

रूपादिक की नामादिक की विकल्प की जो सन्तति है।
कार्य नहीं 'सो' औपचारिकी कहती सौगत की मति है॥
विनाश विकास फिर किसके हो तथा सततता किसकी हो।
भला बता! आकाशकुसुम को आँख देखती किसकी ओ॥५४॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महा विरोधक बने हुए।
पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही ऐसा कहते तने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही।
दोष सभी एकान्तवाद में आते हैं श्रुति बता रही॥५५॥

स्मृति पूर्वक प्रत्यक्ष ज्ञान वह बिना हेतु का नहिं होता।
अतः प्रवाहित तत्त्व कथंचित् नित्य रहा यह सुन श्रोता॥
क्षणिक कथंचित् क्योंकि उसी की प्रतिपल मिटती पर्यायें।
कदाग्रही के यह ना बनता है जिन तव मत समझायें॥५६॥

सभी दशाओं में ज्यों-का-त्यों द्रव्य सदा यह लसता है।
द्रव्य कभी सामान्य रूप से नहीं जनमता नशता है॥
पर्यायों से किन्तु जनमता क्रमशः मिटता रहता है।
एक द्रव्य में जनन मरण स्थिति घटती, जिनमत कहता है॥५७॥

नियम रहा यह कारण मिटता दिखा कार्य का मुख प्यारा।
कारण, कारण लक्षण न्यारा तथा कार्य का भी न्यारा॥
किन्तु कार्य कारण दोनों की जाति एक ही है भाती।
जाति क्षेत्र भी भिन्न रहे तो गगनकुसुम की स्थिति आती॥५८॥

एक पुरुष तो कलश चाहता, एक मुकुट को, देख दशा।
कलश मिटा जब मुकुट बनाया एक रुलाया एक हँसा॥
निरख कनक की स्थिति कनकार्थी शोक किया ना नहीं हँसा।
मिटना बनना स्थिर भी रहना रहा सहेतुक, नहीं मृषा॥५९॥

केवल दधि का त्याग किया है दुग्ध-पान वह करता है।
दुग्ध-पान का त्याग किया है दधि का सेवन करता है॥
दोनों का सेवन ना करता जो है गोरस का त्यागी।
तत्त्व त्रयात्मक रहा इसी से गुरु कहते यूँ बड़भागी॥६०॥

कार्य तथा कारण ये दोनों रहें परस्पर न्यारे हैं।
तथा गुणी से गुण भी होते न्यारे न्यारे सारे हैं॥
विशेष से सामान्य सर्वथा सदा भिन्न ही रहता है।
ऐसा यदि एकान्त रूप से वैशेषिक मत कहता है॥६१॥

एक कार्य के अनेक कारण होते यह फिर नहिं रहता।
क्योंकि एक में भाग नहीं हैं बहुरूपों में वह बहता॥
एक कार्य यदि बहु भागों में भाजित हो फिर एक कहाँ?।
कार्य-विषय में पर-मत में यूँ दोषों का अतिरेक रहा॥६२॥

कार्य तथा कारण ये न्यारे देश-काल वश भी न्यारे।
घट पट में ज्यों भेदात्मक व्यवहार रहा है सुन प्यारे॥
तथा मूर्त सब कार्य कारणों की स्थिति पूरी जुदी रही।
उसमें फिर वह एक देशता कभी न बनती सही रही॥६३॥

कार्य तथा कारण में होता आश्रय-आश्रयि भाव रहा।
समवायी-समवाय-बन्ध तब स्वतंत्र ना यह भाव रहा॥
बन्ध-रहित संबंध रहा यह तुम में सब निर्बन्ध अरे।
समवायी-समवाय निरे जब आपस में कब बन्ध करे॥६४॥

नित्य एक सामान्य रहा है उसी भाँति समवाय रहा।
एक एक अवयव में व्यापे यह जिन का व्यवहार रहा॥
आश्रय के बिन रह नहिं सकते फिर इनकी क्या कथा रही।
मिटतीं बनतीं क्षणिकाओं में कौन व्यवस्था बता सही॥६५॥

भिन्न रहा समवाय सर्वथा तथा भिन्न सामान्य रहा।
आपस में फिर बन्धन इनका किस विध कब वह मान्य रहा॥
इनसे फिर गुण पर्ययवाले पदार्थ का भी बन्ध नहीं।
फिर क्या कहना, गगनकुसुम सम तीनों की ही गन्ध नहीं॥६६॥

अणु अणु मिलकर स्कन्ध बने ना चूँकि सभी वे निरे निरे।
स्कन्ध बने तो अविभागी ना रह सकते अणु निरे परे॥
अवनि अनल औ सलिल अनिल ये भूतचतुष्टय भ्रान्ति रही।
अन्यपना या अनन्यपनमय मतैकान्त में शान्ति नहीं॥६७॥

कार्य-मात्र की भ्रान्ति रही तो अणु स्वीकृति भी भ्रान्ति रही।
क्योंकि कार्य का दर्शन ही तो कारण का अनुमान सही॥
भूत चतुष्टय औ अणु का जब अभाव निश्चित होता हो।
उनके गुण-जात्यादिक का वह वर्णन क्यों ना? थोथा हो॥६८॥

एकमेक यदि कार्य कारण हो एक मिटे इक शेष रहा।
इनमें अविनाभाव रहा 'सो' रहा शेष निश्शेष अहा॥
दो की संख्या भी नहिं टिकती यदि मानो वह कल्पित है।
कल्पित सो मिथ्या मानी है मात्र सांख्य-मत जल्पित है॥६९॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुए।
गुण, गुणधर आदिक उभयात्मक ऐसा कहते तने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥७०॥

द्रव्य तथा पर्यायों में वह रहा कथंचित् ऐक्य सही।
कारण? दोनों का प्रदेश है एक रहा व्यतिरेक नहीं॥
परिणामी परिणाम रहे हैं द्रव्य तथा ये पर्यायें।
शक्तिमान यदि द्रव्य रहा तो रही शक्तियाँ पर्यायें॥७१॥

इसी तरह इन दोनों का बस भिन्न-भिन्न ही नाम रहा।
संख्या इनकी निरी निरी है न्यारे लक्षण काम रहा॥
यथार्थ में यह अनेकान्त से बनता सुन नानापन है।
परन्तु हा! एकान्त पक्ष में तनता मनमानापन है॥७२॥

गुणी गुणादिक सदा सर्वदा आपेक्षिक यदि साधित हों।
दोनों कल्पित होने से वे सिद्ध नहीं हों बाधित हों॥
अनपेक्षिक ही सिद्धि उन्हीं की ऐसा यदि तुम मान रहे।
विशेषता सामान्य पना ना सहचर का अवसान रहे॥७३॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुए।
आपेक्षिक अनपेक्षिक द्वयमय 'पदार्थ' कहते तने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥७४॥

धर्म बिना धर्मी नहिं धर्मी के बिन भी वह धर्म नहीं।
रहा परस्पर अन्वय इनका आपेक्षित है मर्म यही॥
स्वरूप इनका किन्तु स्वतः है ज्ञापक कारक अंग यथा।
ज्ञान स्वतः तो ज्ञेय स्वतः है कर्म-करण निजरंग कथा॥७५॥

हेतु मात्र से तत्त्व ज्ञात हो सिद्ध हो रहे काम सभी।
इन्द्रिय आगम आप्तादिक फिर व्यर्थ रहे कुछ काम नहीं॥
या आगम से तत्त्व ज्ञात हो सबके आगम मौलिक हो।
उनमें वर्णित पदार्थ-सारे लौकिक भी पर-लौकिक हों॥७६॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुए।
तत्त्व ज्ञात हो शास्त्र, हेतु से ऐसे कहते तने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥७७॥

वक्ता यदि वह आप्त नहीं तो वस्तु तत्त्व का बोध न हो।
मात्र हेतु से साधित जो है बोध नहीं वह बोझ अहो!
परन्तु वक्ता आप्त रहा तो वचन उन्हीं के शास्त्र बने।
उन शास्त्रों से तत्त्व ज्ञात कर भविक सभी सुख-पात्र बने॥७८॥

भीतर के निज-ज्ञान मात्र से जाने जाते अर्थ रहें।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो मनस वचन सब व्यर्थ रहें॥
उपदेशादिक प्रमाण नहिं फिर सभी प्रमाणाभास रहे।
एकान्तिक आग्रह करने से अपना ही उपहास रहे॥७९॥

साध्य तथा साधन का जब भी ज्ञान हमें जो होता है।
मात्र रहा वह ज्ञान एक है और नहीं कुछ होता है॥
ऐसा यदि एकान्त रहा तो कहाँ साध्य फिर साधन हो।
और, पक्ष में साध्य-दर्शिका निजी-प्रतिज्ञा बाधक हो॥८०॥

बाह्य अर्थ परमार्थ रहे हैं अंतरंग कुछ खास नहीं।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो रहा प्रमाणाभास नहीं॥
वस्तु-तत्त्व का कथन यदपि जो यद्वा तद्वा करते हैं।
उन सबके सब कार्य सिद्ध हों वितथ सत्यता वरते हैं॥८१॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुए।
बाह्याभ्यन्तर उभय रूप है 'पदार्थ' कहते तने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥८२॥

बना ज्ञान जब ज्ञेय स्वयं का अन्तरंग में रहता है।
रहा प्रमाणाभास लुप्त तब यही जिनागम कहता है॥
किन्तु ज्ञान जब बाह्य अर्थ को ज्ञेय बनाता तनता है।
बने प्रमाणाभास वही तब प्रमाण भी बस बनता है॥८३॥

कहा, 'जीव' यूँ शब्द रहा यह बाह्य अर्थ से सहित रहा।
हेतु शब्द ज्यों नाम रहा है निजी अर्थ से विहित रहा॥
अर्थ शून्य मायादिक का ही नामकरण हो नहिं ऐसा।
प्रमाण का भी नाम रहा है सार्थक मायादिक वैसा॥८४॥

बुद्धि तथा वह शब्द, अर्थ ये संज्ञायें हैं गुरु कहते।
बुद्धयादिक के वाच्यभूत जो वाचक बन करके रहते॥
उन उन सम हो बुद्धयादिक ये बोधरूप भी तीन रहें।
उनको भासित करते दर्पण में पदार्थ आ लीन रहें॥८५॥

वक्ता श्रोता ज्ञाता के जो बोध वचन है ज्ञान तथा।
न्यारे न्यारे रहे कथंचित् क्रमशः सुन तू मान तथा॥
यदि मानो वे रहीं भ्रान्तियाँ प्रमाण भी फिर भ्रान्त रहा।
बाह्याभ्यन्तर भ्रान्त रहे तो अन्धकार आक्रान्त रहा॥८६॥

शब्दों में भी तथा बुद्धि में प्रमाणता तब आ जाती।
बाह्य अर्थ के रहने पर ही, नहीं अन्यथा, श्रुति गाती॥
तथा सत्य की असत्यता की रही व्यवस्था यही सही।
अर्थ-लाभ में अलाभ में यों क्रमशः, वरना! कभी नहीं॥८७॥

दैव दिलाता सभी सिद्धियाँ ऐसा कहता पता चला।
पौरुष किसविध दैव-विधाता हो सकता तू बता भला॥
दैव दैव को मनो बनाता मोक्ष कभी फिर मिले नहीं।
व्यर्थ रहा पुरुषार्थ सभी का मोह कभी फिर हिले नहीं॥८८॥

पौरुष से ही सभी सिद्धियाँ मिलती कहता तू ऐसा।
भला बात दैवानुकूल ही पौरुष चलता यह कैसा॥
पौरुष से ही सदा सर्वथा पौरुष आगे यदि चलता।
सभी जीव पुरुषार्थशील हैं सबका पौरुष कब फलता॥८९॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुए।
दैव तथा पौरुष दोनों का आग्रह करते तने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित, सब वृथा रहीं।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥९०॥

अबुद्धिपूर्वक जीवात्मा का पौरुष जब वह चलता है।
सुख दुख का जो भी मिलना है वही दैव का फलना है॥
किन्तु बुद्धिपूर्वक जीवात्मा पौरुष जब वह करता है।
तब जो सुख दुख मिलता, समझो, पौरुष से वह झरता है॥९१॥

पर को दुख देने भर से यदि पापकर्म ही बँधता है।
पर को सुख-पहुँचाने से यदि पुण्य कर्म ही बँधता है॥
कई अचेतन विष आदिक औ कषाय विरहित मुनि त्यागी।
निमित्त दुख-सुख में होने से पाप-पुण्य के हों भागी॥९२॥

जिससे निज को सुख होता सो पाप-बन्ध का कारण है।
जिससे निज को दुख होता सो पुण्य-बन्ध का कारण है॥
ऐसा यदि एकान्त रहा तो विराग मुनि, औ बुध जन भी।
क्यों ना होंगे दोनों क्रमशः पुण्य-पाप के भाजन ही॥९३॥

उभय रूप एकान्त मान्यता स्वयं बना कर तने हुए।
स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुए॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥९४॥

यदा कदा अपने में या पर में जो सुख दुख हो जाते।
क्रमशः विशुद्धि संक्लेशों के सुनो अंग वे कहलाते॥
यही एक कारण पा आस्रव पुण्य-पाप का हो जाता।
वरना आस्रव तत्त्व कहाँ हो अरहन्तों का 'मत' गाता॥९५॥

कर्मबन्ध अज्ञानमात्र से होता यूँ यदि मान रहा।
ज्ञेय रहें 'सो अनन्त' फिर क्यों होगा केवलज्ञान महा॥
अल्प ज्ञान से मोक्ष मिले यदि ऐसा कहता 'अन्ध' अहा।
बहुत रहा अज्ञान, इसी से मोक्ष नहीं, विधि-बन्ध रहा॥९६॥

उभयरूप एकान्त मान्यता स्वयं बनाकर तने हुए।
स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुए॥
अवाच्यमत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही॥९७॥

मोह-लीन अज्ञान भाव से कर्मबन्ध वह होता है।
मोह-हीन अज्ञान भाव से कर्मबन्ध वह खोता है॥
अल्पज्ञान भी मोहरहित जो मोक्ष-महल में ले जाता।
वरना, विधि-बन्धन ही भाई मोह-गहल में क्यों जाता॥९८॥

कामादिक ये जहाँ उपजते सुनो वही संसार रहा।
जिसका संचालन होता है कर्म-बन्ध अनुसार रहा॥
कर्मों का कारण जीवों का अपना-अपना भाव रहा।
जीव भव्य ये अभव्य भी हैं चिर से बस भटकाव रहा॥९९॥

भव्यपना औ अभव्यपन ये जीवों के बस! आप रहें।
मूंग मोठ कुछ पकते, कुछ नहिं, भले अनल का ताप सहे॥
भव्यपने की व्यक्ति सादि हो अभव्यपन की अनादिनी।
स्वभाव को कब तर्क छू सकी? श्रुति गाती सुख-सुदायिनी॥१००॥

लोकालोकालोकित करता युगपत् केवलज्ञान रहा।
वही आपका तत्त्वज्ञान जिन! प्रमाण है वरदान रहा॥
तथा नयात्मक ज्ञान रहा जो स्याद्वाद से है भाता।
विषय बनाता क्रमशः सबको 'प्रमाण' फलतः कहलाता॥१०१॥

आदिम प्रमाण का फल सुन लो विरागपन है अमल रहा।
त्याज्य-त्याग में ग्राह्य-ग्रहण में प्रीति इतर का सुफल रहा॥
या विनाश अज्ञानभाव का स्याद्वाद का फल माना।
किसमें हित औ अहित निहित है आत्मबोध का बल पाना॥१०२॥

सही अर्थ से बात कराता स्यात्पद शाश्वत सार रहा।
अनेकान्त को साथ कराता दिखा वस्तु का पार अहा॥
रहा ज्ञेय लो उसके प्रति ही सदा विशेषण धार रहा।
सो श्रुतिधर के हे जिनवर! तव वचनों का शृंगार रहा॥१०३॥

दूर रहा, एकान्तवाद से स्याद्वाद वह कहलाता।
मूल रहा सापेक्षवाद का तभी कथंचित् विधि-दाता॥
सप्तभंग-मय कथन-प्रणाली समयोचित ही अपनाता।
त्याज्य ग्राह्य क्या? तथा बताता, रखूँ उसी से अब नाता॥१०४॥

स्याद्वादमय ज्ञान रहा औ पूरण केवलज्ञान रहा।
सकल-ज्ञेय को विषय बनाते दोनों सो परमाण अहा॥
परोक्ष औ प्रत्यक्ष रहें ये इनमें से यदि एक रहा।
वस्तुतत्त्व का कथन नहीं हो बोध नहीं कुछ नेक रहा॥१०५॥

साध्य-धर्म को विपक्ष से तो सदा बचाने दक्ष रहा।
किन्तु साथ ही साध्य-सिद्धि में लेता अपना पक्ष रहा॥
स्याद्वादमय प्रमाण का जो सुनो अर्थ है विषय रहा।
उसी अर्थ की विशेषता को विषय बनाता सुनय रहा॥१०६॥

कई भेद उपभेद कई हैं, सुनो, नयों के, जता रहे।
भिन्न-भिन्न एकान्तरूप से विषय नयों के तथा रहे॥
त्रैकालिक उन विषयों का ही एकतान यह द्रव्य रहा।
और द्रव्य भी अनेक विध है उपादेय निज द्रव्य रहा॥१०७॥

भिन्न-भिन्न नय-विषयों का वह समूह मिथ्या नहिं होता।
क्योंकि सुनो तो हठाग्रही ना जिनमत के नय हे! श्रोता॥
रहें परस्पर निरपेक्षित जो, मिथ्या नय हैं कहलाते।
सापेक्षित नय समीचीन हो वस्तु, जनाते वह तातैं॥१०८॥

वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन जब, जब वचनों से होता है।
विधान का या निषेध का तब तब आलम्बन होता है॥
निजवश ही तो वस्तु रही है परवश सो वह रही नहीं।
यही व्यवस्था रही, अन्यथा सूनी, सब कुछ रही नहीं॥१०९॥

वस्तुतत्त्व यह तदतत् होता यह कहना तो समुचित है।
किन्तु वस्तु तो तत् ही है बस! यह प्रलाप तो अनुचित है॥
असत्य वचनों से फिर भी यदि तत्त्वदेशना होती हो।
कैसी हित करने वाली 'सो' दुःख लेश ना हरती हो॥११०॥

नियम रहा प्रत्येक वचन वह निजी अर्थ का पक्ष धरे।
अन्य वचन के किन्तु अर्थ का निषेध करने दक्ष अरे॥
सुगत कहें सामान्य स्वार्थ को इसी भाँति बस हम माने।
तो फिर सबको गगनपुष्प सम जाने माने पहिचाने॥१११॥

यदि मानो सामान्य वचन वह विशेष के प्रति मौन रहा।
मिथ्या सो एकान्त रहा है सत्य वचन फिर कौन रहा॥
सुनो! इष्ट के परिचय देने में सक्षम 'स्यात्कार' रहा।
सत्य अर्थ का चिह्न यही है, सो उसका सत्कार रहा॥११२॥

विधेय है प्रतिषेध्य वस्तु का अविरोधी सुन आर्य महा।
कारण, है वह इष्ट कार्य का अंग रहा अनिवार्य अहा॥
आपस में आदेयपना औ हेयपना का पूरक है।
स्याद्वाद बस यही रहा सब वादों का उन्मूलक है॥११३॥

विराग का उपदेश सही है सराग का उपदेश नहीं।
यही ज्ञान बस ध्येय रहा है और आस कुछ लेश नहीं॥
लिखी आप्तमीमांसा फलतः शास्त्रबोध अनुसार रहा।
आत्महितैषी बनो सुनो यह मात्र बोध निस्सार रहा॥११४॥

पद्यानुवादक-प्रशस्ति

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान ॥१॥
निधि-नभ-नगपति-नयन का सुगन्ध-दशमी योग।
लिखा ईसरी में पढ़ो बनता शुचि उपयोग ॥२॥

मंगल-कामना

विहसित हो जीवनलता विलसित गुण के फूल।
ध्यानी मौनी सूँघता महक उठी आ-मूल ॥१॥

सान्त करूँ सब पाप को हरूँ ताप बन शान्त।
गति-अगति रति मति मिटे मिले आप निज प्रान्त ॥२॥

रग रग से करुणा झरे दुखी जनों को देख।
विषय-सौख्य में अनुभवूँ स्वार्थ-सिद्धि की रेख ॥३॥

रस-रूपादिक हैं नहीं मुझ में केवलज्ञान।
चिर से हूँ चिर औ रहूँ, हूँ जिनके बल जान ॥४॥

तन मन से औ वचन से पर का कर उपकार।
यह जीवन रवि सम बने मिलता शिव-उपहार ॥५॥

हम, यम दम शम सम धरें, क्रमशः कम श्रम होय।
देवों में भी देव हो अनुपम अधिगम होय ॥६॥

वात बहे मंगलमयी छा जावे सुख छाँव।
गति सबकी सरला बने टले अमंगल भाव ॥७॥

मन ध्रुव निधि का धाम हो, क्यों? बनता तू दीन।
है उसको बस देख ले, होकर निज में लीन ॥८॥

❑ ❑ ❑

समन्तभद्र की भद्रता

आचार्य समन्तभद्र स्वामी रचित

स्वयंभू स्तोत्र

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

समन्तभद्र की भद्रता

(२९ मार्च, १९८०)

'समन्तभद्र की भद्रता' ग्रन्थ आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित 'स्वयंभू स्तोत्र' का हिन्दी अनुवाद है। इस रचना की पृष्ठभूमि यह है कि सन् १९७७ में आचार्यश्री जब सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि से पटेरा, दमोह (म० प्र०) पधारे तो वहाँ की जनता ने उनका श्रद्धा भक्तिपूर्वक भव्य स्वागत किया। प्रतिदिन की भाँति जब एक दिन आचार्यश्री ने अत्यन्त भक्ति-प्रवणता के साथ प्रात: सस्वर 'स्वयंभू स्तोत्र' का पाठ किया, जिसे सुनकर सागर से दर्शनार्थ पहुँचे श्रोता मंत्रमुग्ध हो गये। उन्होंने उनके चरणों में निवेदन किया कि अधिकांश लोग संस्कृत नहीं जानते, अत: आप इसका पद्यानुवाद कर दीजिए, ताकि उसे कण्ठस्थ कर सकें और सस्वर पढ़ भी सकें। सागर की जैन समाज की यह प्रार्थना स्वीकृत तो हुई, परन्तु देर से, सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि, छतरपुर (म० प्र०) पर इसे प्रारम्भ किया और २९ मार्च, १९८० को महावीर जयन्ती के पुण्य अवसर पर इसे समाप्त किया और नाम रखा गया 'समन्तभद्र की भद्रता'।

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

स्वामी समंतभद्र हो मैं तो रहा अभद्र।
मम उर में तुम आ बसो बन जाऊँ मैं भद्र ॥२॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष ॥३॥

चन्दन चन्दर चाँदनी से जिन-धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन कर नीत ॥४॥

स्वयंभु-थुति का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र कामना मम रही मोह मिटे परमाद ॥५॥

समन्तभद्र की भद्रता

श्री वृषभनाथ जिन-स्तवन

पर से बोधित नहीं हुए पर, स्वयं स्वयं ही बोधित हो।
समकित-संपति ज्ञान नेत्र पा जग में जग-हित शोभित हो॥
विमोह-तम को हरते तुम प्रभु निज-गुण-गण से विलसित हो।
जिस विध शशि तम हरता शुचितम किरणावलि ले विकसित हो ॥१॥

जीवन इच्छुक प्रजाजनों को जीवन जीना सिखा दिया।
असि, मषि, कृषि आदिक कर्मों को प्रजापाल हो दिखा दिया॥
तत्त्व-ज्ञान से भरित हुए फिर बुध-जन में तुम प्रमुख हुए।
सुर-पति को भी अलभ्य सुख पा विषय-सौख्य से विमुख हुए ॥२॥

सागर तक फैली धरती को मन-वच-तन से त्याग दिया।
सुनन्द-नन्दा वनिता तजकर आतम में अनुराग किया॥
आतम-जेता मुमुक्षु बनकर परीषहों को सहन किया।
इक्ष्वाकू-कुल-आदिम प्रभुवर अविचल मुनिपन वहन किया ॥३॥

समाधि-मय अति प्रखर अनल को निज उर में जब जनम दिया।
दोष-मूल अघ-घाति कर्म को निर्दय बनकर भसम किया॥
शिव-सुख-वांछक भविजन को फिर परम तत्त्व का बोध दिया।
परम-ब्रह्म-मय अमृत पान कर तुमने निज घर शोध लिया ॥४॥

विश्व-विज्ञ हो विश्व-सुलोचन बुध-जन से नित वंदित हो।
पूरण-विद्या-मय तन धारक बने निरंजन नंदित हो॥
जीते छुट-पुट वादी-शासन अनेकान्त के शासक हो।
नाभि-नन्द हे! वृषभ जिनेश्वर मम-मन-मल के नाशक हो ॥५॥

आदिम तीर्थंकर प्रभो आदिनाथ मुनिनाथ!
आधि व्याधि अघ मद मिटे तुम पद में मम माथ ॥१॥

शरण, चरण हैं आपके तारण तरण जहाज।
भव-दधि-तट तक ले चलो! करुणाकर जिनराज ॥२॥

श्री अजितनाथ जिन-स्तवन

बन्धु-वर्ग तो खेल-कूद में भी विजयी तव मस्त रहा।
अजेय-बनकर अमेय बल पा मुदित मुखी बन स्वस्थ रहा॥
यह सब प्रभाव मात्र आपका दिवि से आ जब जन्म लिया।
''अजित'' नाम तब सार्थक रख तव परिजन सार्थक जन्म किया॥१॥

अजेय शासन के शासक थे अनेकान्त के पोषक थे।
भविजन हित-सत पथदर्शक थे अजित-नाथ जग तोषक थे॥
वांछित-शिव-सुख, मंगल पाने मुमुक्षु जन अविराम यहाँ।
आज! अभी भी लेते जिन का परम सुपावन नाम महा॥२॥

भविजन का सब पाप मिटे बस यही भाव ले उदित हुए।
मुनि नायक प्रभु समुचित बल ले घाति-घात कर मुदित हुए॥
मेघ-घटा बिन नभ-मंडल में दिनकर जिस विध पूर्ण उगा।
कमल-दलों को खुला-खिलाता, अन्धकार को पूर्ण भगा॥३॥

चन्दन-सम शीतल जल से जो भरा लबालब लहराता।
तपन ताप से तपा मत्त गज उस सर में ज्यों सुख पाता॥
धर्म-तीर्थ तव परम-श्रेष्ठ शुचि जिसमें अवगाहन करते।
काम-दाह से दग्ध दुखी जन पल में सुख पावन वरते॥४॥

शत्रु मित्र में समता धरकर परम ब्रह्म में रमण किया।
आत्म-ज्ञान-मय सुधा-पान कर कषाय-मल का वमन किया॥
आतम-जेता अजित-नाथ हो चेतन-श्री का वरण किया।
जिन-पद-संपद-प्रदान कर दो तुम पद में 'यह' नमन किया॥५॥

(दोहा)

जित इन्द्रिय जित मद बने, जित भव विजित कषाय।
अजित-नाथ को नित नमूँ, अर्जित दुरित पलाय॥१॥

कोंपल पल-पल को पले, वन में ऋतु-पति आय।
पुलकित मम जीवन-लता, मन में जिन पद पाय॥२॥

श्री शम्भव जिन-स्तवन

ऐहिक सुख-तृष्णामय रोगों से जो पीड़ित जग जन हैं।
उन्हें निरोगी पूर्ण बनाने वैद्य रहे शंभव जिन हैं॥
प्रति-फल की पर वाँछा कुछ नहिं बिना स्वार्थ परहित रत हैं।
वैद्य लोग ज्यों रोग मिटाते दया-भाव से परिणत हैं॥१॥

अहंकार-मय विभाव भावों मिथ्या-मल से रंजित हैं।
क्षणिक रहा है त्राण-हीन है जगत रहा सुख-वंचित है॥
जनन-मरण से जरा रोग से पीड़ित दुःखित विकल अहा!
उसे किया जिन निरंजना-मय, शान्ति पिला कर सबल महा॥२॥

बिजली-सम पलजीवी चंचल इन्द्रिय-सुख है तनिक रहा।
तृष्णा-मय-मारी के पोषण का कारण है क्षणिक रहा॥
तृष्णा की वह वृद्धि, निरंतर उपजाती है ताप निरा।
ताप जगत को पीड़ित करता जिन कहते, तज पाप जरा॥३॥

बंध-मोक्ष क्या उनका कारण सुफल मोक्ष का कौन रहा?
बद्ध जीव औ मुक्त जीव सब जग में रहते कौन कहाँ?
ये सब वर्णन देव! तुम्हारे स्याद-वाद मत में पाते।
एकान्ती-मत में ना पाते, शिव-पथ-नेता तुम तातैं॥४॥

पुण्यवर्धनी तुम स्तुति करने इन्द्र विज्ञ असमर्थ रहा।
किन्तु अज्ञ मैं स्तोत्र कार्य में उद्यत हूँ ना अर्थ रहा॥
तदपि भक्तिवश तुम-पद-पंकज-स्तुति, अलि बन अनिवार्य किया।
शिव-सुख की कुछ गंध सुँघा दो आर्य-देव! शुभ कार्य-किया॥५॥

(दोहा)

तुम-पद-पंकज से प्रभो झर-झर-झरी पराग।
जब तक शिव-सुख ना मिले पीऊँ षट्पद जाग॥१॥

भव-भव, भव-वन भ्रमित हो भ्रमता-भ्रमता आज।
शंभव-जिन भव शिव मिले पूर्ण हुआ मम काज॥२॥

श्री अभिनन्दन जिन-स्तवन

क्षमा-सखी युत दया-वधू में सतत निरत हो नन्दन हो।
गुण-गण से अति परिवर्धित हो इसीलिए अभिनन्दन हो॥
'लक्ष्य' बना कर समाधि भर का समाधि पाने यमी बने।
बाहर-भीतर नग्न बने प्रभु ग्रन्थ तजे सब दमी बने॥१॥

निरे अचेतन तन-मन-धन हैं वचन बंधु-जन-तनुज रहें।
हम इनके, ये रहें हमारे इस विध जग के मनुज कहें॥
मोह-भूत के वशीभूत हो अस्थिर को स्थिर समझे हैं।
तत्त्व-ज्ञान प्रभु उन्हें बताया उलझे जन-जन सुलझे हैं॥२॥

अशन-पान कर, क्षुधा तृषा से जनित दुःख के वारण से।
तन तनधारक नहिं ध्रुव बनते, क्षणिक विषय सुख पानन से॥
इसीलिए ये विषय सुखादिक किसी तरह नहिं गुणकारी ।
इसविध इस जग को समझाया प्रभो आप गुणगणधारी॥३॥

यदपि दास बन विषयों का शठ लोलुपता से पूर रहा।
तदपि नृपादिक भय से परवश दुराचार से दूर रहा॥
इस-पर-भव में 'दुखद' विषय है इस विध जो जन यदि जाने।
किस विध विषयन में फिर रमते यही कहा प्रभु, बुध माने॥४॥

विषयों की यह विषय-वासना ताप बढ़ाती क्षण-क्षण है।
तृष्णा फलतः द्विगुणित, जिस सुख से, तोषित ना जड़ जन हैं॥
सदुपदेश यों देते जिससे निहित-लोक-हित तुम मत में।
अतः शरण हो सुधी-जनों के मुनि-गण के सब अभिमत में॥५॥

(दोहा)

विषयों को विष लख तजूँ बन कर विषयातीत।
विषय बना ऋषि ईश को गाऊँ उनका गीत॥१॥

गुण धारे पर मद नहीं मृदुतम हो नवनीत।
अभिनन्दन जिन! नित नमूँ मुनि बन मैं भवभीत॥२॥

श्री सुमति जिन-स्तवन

स्व पर तत्त्व का सही सुनिर्णय सुयुक्तियों से स्वतः लिया।
सुमति-नाथ मुनि 'सुमति' नाम को सार्थक तुमने अतः किया ॥
शेषमतों में क्रिया-कर्म औ कारक कारण की विधियाँ।
चूँकि सही नहिं सभी सर्वथा एकान्तीपन की छवियाँ ॥१॥

तुमसे स्वीकृत तत्त्व सही है अनेक भी है एक रहा।
पर्ययवश वह अनेक दिखता द्रव्य अपेक्षा एक रहा ॥
इक उपचारी इनमें हो तो दूजा झूठा, इक नय से।
शेष मिटेगा अवाच्य जिससे तत्त्व बनेगा निश्चय से ॥२॥

तत्त्व कथंचित् असत्त्व सत् ही अपर अपेक्षा चहक रहा।
नभ में यदपि न पुष्प खिला पर, तरु पर खुल-खिल महक रहा ॥
तत्त्व, सत्त्व औ असत्त्व बिन यदि, रहा नहीं सम्मानित है।
तुम मत से प्रभु अन्य सभी मत, स्वीय वचन से बाधित हैं ॥३॥

तत्त्व सर्वथा नित्य रहा जो मिटता-उगता नहीं कभी।
तथा क्रिया औ कारक विधियाँ उसमें बनती नहीं कभी ॥
जनन असत का नहीं सर्वथा सत भी वह ना विनस रहा।
दीपक, खुद बुझ, सघन तिमिर बन, पुद्गल-पन से विहस रहा ॥४॥

नास्तिपना औ अस्तिपना है इष्ट कथंचित् यही सही।
वक्ता के कथनानुसार ये मुख्य-गौण हो कभी कहीं ॥
तत्त्व-कथन की सही प्रणाली सुमति-नाथ प्रभु तव प्यारी।
स्तुति करती है तव, मम मंदा मति, अमंद हो सुख प्याली ॥५॥

(दोहा)

सुमति-नाथ प्रभु सुमति दो मम मति है अति मंद।
बोध कली खुल-खिल उठे महक उठे मकरन्द ॥१॥

तुम जिन मेघ मयूर मैं गरजो बरसो नाथ।
चिर प्रतीक्षित हूँ खड़ा ऊपर कर के माथ ॥२॥

श्री पद्मप्रभ जिन-स्तवन

शुचिमय तन-चेतन लक्ष्मी से मंडित निज में निवस रहे।
लाल-लाल कल पलाश छवि से अहो पद्मप्रभ! विलस रहे॥
लोकबन्धु हो भविक-कमल ये तुम दर्शन से खिलते हैं।
जिस विध सर में सरोज दल वे दिनकर को लख खुलते हैं॥१॥

अक्षय सुख-मय लक्ष्मी वर के दिव्य भारती पाय लसे।
पूर्णमुक्ति से पूर्ण प्रभो! तुम त्रयोदशी गुण माँय बसे॥
देव-रचित था समवसरण तव उसमें नहिं, अनुरक्त हुए।
दिव्य देशना त्याग अन्त में सर्वज्ञान युत मुक्त हुए॥२॥

नयन मनोहर किरणावली छवि आप देह से उछल रही।
बाल भानु की द्युति सम भाती धरती छूने मचल रही॥
नर सुर से जो भरी सभा को ललित लाल अति करा रही।
पद्म राग-मय पर्वत जिस विध स्वीय-पार्श्व को विभामयी॥३॥

सहस्र दल वाले कमलों के मध्य आप चलने वाले।
चरण-कमल से नभ-तल को प्रभु पुलकित अति करने वाले॥
मत्त मदन का मद-मर्दन कर निर्मद जीवन बना लिया।
विश्व-शान्ति के लिए विश्व में विचरण इच्छा बिना किया॥४॥

तुममें हे! ऋषिवर गुण-गण का लहराता वह सिन्धु महा।
इन्द्र विज्ञ तव स्तुति करके भी पी न सका वह बिन्दु अहा!!
अज्ञ, सफल क्या? मैं हो सकता स्तुति करने जो उद्यत हूँ।
बाध्य मुझे तव भक्ति कराती तुम पद में तब अवनत हूँ॥५॥

(दोहा)

शुभ्र सरल तुम, बाल तव कुटिल कृष्ण-तम नाग।
तव चिति चित्रित ज्ञेय से किन्तु न उसमें दाग॥१॥

विराग पद्मप्रभु आपके दोनों पाद-सराग।
रागी मम मन जा वहीं पीता तभी पराग॥२॥

श्री सुपार्श्व जिन-स्तवन

निज आतम में चिर स्थिर बसना भविक-जनों का स्वार्थ यही।
भाँति-भाँति के क्षणभंगुर सब भोग कभी ये स्वार्थ नहीं॥
तृष्णा का वह अविरल बढ़ना ताप शान्ति के हेतु नहीं।
सुपार्श्व प्रभु का कथन यही है भव सागर का सेतु सही॥१॥

जंगम चालक जभी चलाता, स्थाणु यंत्र तब चल पाता।
तथा जीव से तन चल पाता, जड़मय तन की यह गाथा॥
दुखद विनाशी रुधिरमांस मय, तन है इस विध बता दिया।
तन की ममता अत: वृथा है, शिव का तुमने पता दिया॥२॥

बाह्याभ्यंतर कारण द्वारा बनी हुई कृति जो दिखती।
होनहार सो हो कर रहती रोके वह नहिं रुक सकती॥
बाहर कारण सब पाकर भी अहंकार से दुखित हुए।
सब कार्यों में विफल रहे शठ, प्रभु तुम कहते सुखित हुए॥३॥

मात्र मरण से भले भीति हो मोक्ष-धाम वह नहिं मिलता।
शिव की वांछाभर से शिव नहिं मिलता जीवन नहिं खिलता॥
मृत्यु-भीति से काम-चोर से ठगा हुआ जड़ अज्ञानी।
वृथा व्यथा है सहता फिर भी, तुमने कह दी यह वाणी॥४॥

धर्म-रत्न की गवेषणा में निरत-जनों के नायक हो।
जननी-सम जड़-जन के हित प्रभु सदुपदेश के दायक हो॥
सकल विश्व के जड़-चेतनमय सकल तत्त्व के ज्ञायक हो।
इसीलिए मैं तव गुण-गण का गीत गा रहा, गायक हो॥५॥

(दोहा)

अबंध भाते काट के वसु विध विधि का बंध।
सुपार्श्व प्रभु निज प्रभु-पना पा पाये आनन्द॥१॥

बाँध-बाँध विधि-बंध मैं अन्ध बना मति मन्द।
ऐसा बल दो अंध को बंधन तोड़ूँ द्वन्द्व॥२॥

श्री चन्द्रप्रभ जिन-स्तवन

अपर चन्द्र हो अनुपम जग में जगमग जगमग दमक रहे।
चन्द्र-प्रभा सम नयन-मनोहर गौर वर्ण से चमक रहे॥
जीते निज के कषाय-बंधन बने तभी प्रभु जिनवर हो।
चन्द्रप्रभो! मम नमन तुम्हें हो सुरपति नमते ऋषिवर हो॥१॥

परम ध्यानमय दीपक उर में जला आत्म को जगा दिया।
मोह-तिमिर को मानस-तल से पूर्ण रूप से भगा दिया॥
हे प्रभु! तव तन की श्रीछवि से बाह्य सघनतम दूर भगा।
दिनकर को लख, तम ज्यों भगता पूरब में द्युति पूर उगा॥२॥

पूरे भीगे कपोल जिनके मद से गज-गण मद-धारे।
सिंह-गर्जना सुनते, डरते, बनते ज्यों निर्मद सारे॥
निजमत स्थिति से पूर्ण मत्त हो प्रतिवादी त्यों अभिमानी।
स्याद्वाद तव सिंहनाद सुन बनते वे पानी-पानी॥३॥

तपः साधना अद्भुत करके हित-उपदेशक आप्त हुए।
परम इष्ट पद को तुम प्रभुवर त्रिभुवन में जब प्राप्त हुए॥
अनन्त सुख के धाम बने हो विश्व-विज्ञ अविनश्वर हो।
जग-दुख-नाशक शासक के ही शासक तारक ईश्वर हो॥४॥

भगवन् तुम शशि, भव्य कुमुद ये खिलते हैं दृग खोल रहे॥
राग-रोषमय मेघ तुम्हारे चेतन में नहिं डोल रहे॥
स्याद्वादमय विशद वचन की मणिमय माला पहने हो।
परमपूत हो, पावन कर दो, मम मन वश में रहने दो॥५॥

(दोहा)

चन्द्र कलंकित किन्तु हो चन्द्रप्रभु अकलंक ।
वह तो शंकित केतु से शंकर तुम निःशंक॥१॥

रंक बना हूँ मम अतः मेटो मन का पंक।
जाप जपूँ जिन-नाम का बैठ सदा पर्यंक॥२॥

श्री सुविधि जिन-स्तवन

विरोध एकान्ती का करता तर्कादिक से सिद्ध सही।
तदतत्-स्वभाव-धारक यानी मुख्य-गौण हो कहीं कहीं॥
सुविधिनाथ प्रभु आत्मज्योति से तत्त्व प्ररूपित सही किया।
तुम मत से विपरीत मतों ने जिसका स्वाद न कभी लिया॥१॥

स्वभाव-वश औ अन्यभाव-वश तत्त्व रहा वह नहीं रहा।
क्योंकि कथंचित् उसी तरह ही प्रतीत होता सही रहा॥
निषेध-विधि में कभी सर्वथा अनन्यपन या अन्यपना।
होते नहिं हैं जिन-मत गाता तत्त्व अन्यथा शून्य बना॥२॥

वही रहा यह प्रतीत इस विध तत्त्व अतः यह नित्य रहा।
अन्यरूप ही झलक रहा है इसीलिए नहिं नित्य रहा॥
बाहर-भीतर के कारण औ कार्य-योग वश, तत्त्व वही।
नित्यानित्यात्मक संगत है तव मत का यह सत्त्व सही॥३॥

एक द्रव्य वश अनेक गुण वश वाच्य रहा वह वाचक का।
''वन है तरु है'' इस विध कहते भाव विदित ज्यों गायक का॥
सर्व धर्म के कथन चाहते गौणपक्ष पर नहिं माने।
एकान्ती मत कहते उनको स्याद्-पद दुखकर, बुध जाने॥४॥

गौण-मुख्यमय अर्थ-युक्त तव दिव्य वाक्य है सुख-कारी।
यदपि तदपि तुम मत से चिढ़ते उनको निश्चित दुखकारी॥
साधु-राज हे चरण-कमल तव सुर-नर-पति से वंदित हैं।
अतः मुझे भी वन्दनीय हैं सुरभित-सौम्य-सुगंधित हैं॥५॥

(दोहा)

सुविध! सुविधि के पूर हो, विधि से हो अति दूर।
मम मन से मत दूर हो, विनती हो मंजूर॥१॥

बाल मात्र भी ज्ञान ना मुझमें मैं मुनि बाल।
बवाल भव का मम मिटे तुम पद में मम भाल॥२॥

श्री शीतल जिन-स्तवन

ना तो मलयाचल चंदन औ चन्द्र चान्दनी शीतल है।
शीतल गंगा का भी जल नहिं मणिमय माला शीतल है॥
हे मुनिवर! तव वचन-किरण में प्रशम भाव-मय नीर भरा।
शीतलतम है, बुधजन जिसका सेवन करते पीर हरा॥१॥

विषय-सौख्य की चाह-दाह से क्लान्त किया था तप्त किया।
निज के मन को ज्ञान-नीर से शान्त किया तुम तृप्त किया॥
वैद्य-राज ज्यों मंत्र-शक्ति से जहर शक्ति को हरता है।
जहर-दाह से मूर्च्छित निज के तन को सुशान्त करता है॥२॥

जीवन की औ काम सौख्य की तृष्णा के जो नौकर हैं।
जड़-जन दिन-भर श्रम कर थक कर रात बिताते सोकर हैं॥
शुचितम निज आतम में तुम तो निशि-दिन निश्चल जाग रहे।
यही आर्य! अनिवार्य कार्य तव, प्रमाद रिपु-सम त्याग रहे॥३॥

सुर-सुख की, सुत-धन की, धन की तृष्णा जिनके मन में है।
ऐसे ही कुछ जड़ जन, तापस, बन तप तपते वन में हैं॥
किन्तु, जनन-मृति-जरा मिटाने, समधी बन यम धार लिया।
मन वच तन की क्रिया मिटा दी, तुमने भव-दधि पार किया॥४॥

धवलित केवलज्ञान-ज्योति हो जन्म रहित दुख सर्व हरें।
आप कहाँ ये अन्य कहाँ जड़ अल्प ज्ञान ले गर्व करें॥
शिव-सुख के अभिलाषी बुधजन अतः सदा तव गुण गाते।
शीतल प्रभु मुझ शीतल कर दो तुम्हें भजे मम मन तातैं॥५॥

(दोहा)

शीतल चन्दन है नहीं शीतल हिम ना नीर।
शीतल जिन! तव मत रहा, शीतल हरता पीर॥१॥

सुचिर काल से मैं रहा, मोह-नींद में सुप्त।
मुझे जगा कर, कर कृपा, प्रभो करो परितृप्त॥२॥

श्री श्रेयो जिन-स्तवन

दोष रहित, शुभ वचन सुधारो श्रेयन् ! जिन! अघ गला दिया।
हित पथ दर्शित कर हित पथ पर हितैषियों को चला दिया॥
एक अकेले विलसित हो तुम त्रिभुवन में ज्यों उदित हुआ।
मेघ-रहित इस विशाल नभ में रवि लसता, जग मुदित हुआ॥१॥

अस्तिपना जो नास्तिपनामय प्रमाण का वह विषय बना।
अस्ति-नास्तिपन में इक होता गौण एक तो प्रमुख बना॥
प्रमुख बना या जिसको उसके नियमन का नय हेतु रहा।
दृष्टान्तन का रहा समर्थक जिन दर्शन का केतु रहा॥२॥

प्रासंगिक जो मुख्य कहाता तव मत कहता पुण्य मही।
प्रासंगिक जो नहीं रहा सो गौण भले पर शून्य नहीं॥
मित्र कथंचित् शत्रु मित्र हो किसी अपेक्षा अनुभय हो।
सगुण गुणी में अस्तिनास्ति वश वस्तु कार्य में सक्रिय हो॥३॥

समुचित है दृष्टान्त जभी से लोक सिद्ध वह मिल जाता।
वादी-प्रतिवादी का झगड़ा स्वयं शीघ्र तब मिट जाता॥
मतैकान्त का पोषक तव मत में मिलता दृष्टान्त नहीं।
साध्य-हेतु दृष्टान्तन में मत चूंकि श्रेष्ठ नैकान्त सही॥४॥

स्याद्-वादमय रामबाण से रग-रग जिसको छेद दिया।
एकान्ती मत का मस्तक प्रभु पूर्ण रूप से भेद दिया॥
लाभ लिया कैवल्य विभव का मोह-शत्रु का नाश किया।
अतः बने अरहन्त तभी मम मन तुम पद में वास किया॥५॥

(दोहा)

अनेकान्त की कान्ति से हटा तिमिर एकान्त।
नितान्त हर्षित कर दिया क्लान्त विश्व को शान्त॥१॥

निःश्रेयस सुख-धाम हो हे जिनवर श्रेयांस।
तव थुति अविरल मैं करूँ जब लौं घट में श्वाँस॥२॥

श्री वासुपूज्य जिन-स्तवन

मंगल-कारक गर्भ जन्ममय कल्याणों में पूज्य हुए।
वासुपूज्य प्रभु शत इन्द्रों से तुम पद-पंकज पूज्य हुए॥
हे मुनि-नायक लघु धी मैं हूँ मेरे भी अब पूज्य बनें।
पूजा क्या नहिं दीपक से हो रवि की जो द्युति-पुंज तनें॥१॥

वीतराग जिन बने तुम्हें अब पूजन से क्या अर्थ रहा।
वैरी कोई रहे न तब फिर निंदक भी अब व्यर्थ रहा॥
फिर भी तव गुण-गण-स्मृति से प्रभु परम लाभ है वह मिलता।
निर्मलतम जीवन है बनता मम मन-मल सब यह धुलता॥२॥

पूजन पूजक पूज्य प्रभो! जिन तव जब करता भव्य यहाँ।
अल्प पाप तब पाता फिर भी पाता पावन मुख्य महा॥
किन्तु पाप वह ताप नहीं है घटना-भर अनिवार्य रही।
सुधा-सिन्धु में विष-कण करता बाधक का कब कार्य कहीं? ॥३॥

उपादानमय मूल हेतु का बाह्य द्रव्य ले सहकारी।
श्रावक जब तव पूजन करता पाप-पुण्य का अधिकारी॥
किन्तु साधु जब पूजन करते संग-रहित ही जो रहते।
पुण्य-पाप में भाव शुभाशुभ केवल कारण जिन कहते॥४॥

बाह्याभ्यन्तर हेतु परस्पर यथायोग्य ये मिले सही।
तभी कार्य सब जग के बनते द्रव्य धर्म बस दिखे यही॥
मोक्ष कार्य में यही व्यवस्था पर इससे विपरीत नहीं।
अतः वन्द्य तुम बुध जन से ऋषि-पति हो, कहता गीत सही॥५॥

(दोहा)

औ न दया बिन धर्म ना, कर्म कटे बिन धर्म।
धर्म मर्म तुम समझकर, कर लो अपना कर्म॥१॥

वासुपूज्य जिनदेव ने, देकर यूँ उपदेश।
सबको उपकृत कर दिया, शिव में किया प्रवेश॥२॥

श्री विमल जिन-स्तवन

तत्त्व नित्य या क्षणिक सर्वथा इत्यादिक जो नय गाते।
कलह परस्पर करते मरते सभी परस्पर भय खाते॥
विमलनाथ प्रभु अनेकान्तमय तुम-मत के जो नय मिलते।
बने परस्पर पूरक, हिल-मिल सभी कथंचित् पथ चलते॥१॥

निजी सहायक शेष कारकों को आपेक्षित करते हैं।
एक-एक कर जिस विध कारक कार्य सिद्ध सब करते हैं॥
समानता को विशेषता को लखते हैं क्रमबार भले।
उस विध तव नय गौण मुख्य हो वक्ता के अनुसार चले॥२॥

ज्ञानमयी हो स्व-पर प्रकाशक प्रमाण जिस विध निश्चित है।
जैनागम में निराबाध वह स्वीकृत है, औ समुचित है॥
अभेद-मय औ भेद-ज्ञान में सदा मित्रता शुद्ध रही।
समानता औ विशेषता की समष्टि जिन से सिद्ध रही॥३॥

किसी वस्तु की विशेषता का, कथक विशेषण होता है।
विशेषता जिसकी की जाती, विशेष्य बस वह होता है॥
किन्तु विशेषण विशेष्य इनमें नित्य निहित सामान्य रहा।
स्यात् पद-वश प्रासंगिक होता मुख्य-गौण तब अन्य रहा॥४॥

स्यात् पद भूषित तव नय बनते सुर-सुख शिव-सुख-दाता हैं।
जिस विध पारस योग प्राप्त कर लोह स्वर्ण बन भाता है॥
अतः हितैषी सविनय होते तव पद में प्रणिपात रहें।
परम पुण्य का फलतः बुधजन लाभ लुटा दिन-रात रहें॥५॥

(दोहा)

कराल काला व्याल सम, कुटिल चाल का काल।
मार दिया तुमने उसे, फाड़ा उसका गाल॥१॥

मोह-अमल वश समल बन, निर्बल मैं भयवान।
विमलनाथ तुम अमल हो, संबल दो भगवान॥२॥

श्री अनन्त जिन-स्तवन

चिर से जीवित तुम उर में था मोह-भूत जो पाप-मयी।
अमित-दोष का कोष रहा था जिसका तन परिताप-मयी॥
उसे जीत कर बने विजेता आत्म तत्त्व के रसिक हुए।
अतः नाम तव अनन्त सार्थक, तव सेवक हम भविक हुए॥१॥

समाधि-मय गुणकारी औषध, का तुमने अनुपान किया।
दुर्निवार संतापक दाहक काम रोग का प्राण लिया॥
रिपु-सम दुःखद कषाय-दल का और पूर्णतः नाश किया।
पूर्णज्ञान पा परमज्योति से त्रिभुवन को परकाश दिया॥२॥

भरी लबालब श्रम के जल से भय-मय लहरें उपजाती।
विषय-वासना सरिता तुममें चिर से बहती थी आती॥
उसे सुखा दी अपरिग्रहमय तरुण अरुण की किरणों से।
मुक्ति-वधू वह हुई प्रभावित इसीलिए तव चरणों से॥३॥

भक्त बना तव निरत भक्ति में भुक्ति-मुक्ति-सुख वह पाता।
तुम से जो चिढ़ता वह निश्चित प्रत्यय-सम मिट दुख पाता॥
फिर भी निन्दक वंदक तुमको सम हैं समता-धाम बने।
तव परिणति प्रभु विचित्र कितनी निज रस में अविराम सने॥४॥

तुम ऐसे हो तुम वैसे हो मम-लघु धी का कुछ कहना।
केवल प्रलाप-भर है मुनिवर! भक्ति - भाव में बस बहना॥
तव महिमा का पार नहीं पर अल्प मात्र भी तारण है।
अमृत-सिन्धु का स्पर्श तुल्य बस शान्ति सौख्य का कारण है॥५॥

(दोहा)

अनन्त गुण पा कर दिया, अनन्त भव का अन्त।
अनन्त सार्थक नाम तव, अनन्त जिन जयवन्त॥१॥

अनन्त सुख पाने सदा, भव से हो भयवन्त।
अन्तिम क्षण तक मैं तुम्हें, स्मरूँ स्मरें सब सन्त॥२॥

श्री धर्मनाथ जिन-स्तवन

वीतराग-मय धर्मतीर्थ को किया प्रसारित त्रिभुवन में।
धर्म नाम तव सार्थक कहते गणधर गुरु जो मुनिगण में॥
सघन कर्म के वन को तपमय तेज अनल से जला दिया।
शंकर बन कर सुखकर शिव-सुख पाकर जग को जगा दिया ॥१॥

भद्र भव्य सुर-नरपति गण नत तुम पद में अति मोहित हैं।
मुनिगण-नायक गणधर से प्रभु आप घिरे हैं शोभित हैं॥
जैसा नभ में पूर्ण कला ले शान्त चन्द्रमा निखरा हो।
जिसके चारों ओर विहसता तारक-दल भी बिखरा हो ॥२॥

छत्रादिक से सजा हुआ जिस समवसरण में निवस रहे।
विरत किन्तु निज तन से भी हो निरीह सब से विलस रहे॥
नर, सुर, किन्नर भव्य-जनों को शिव-पथ दर्शित करा रहे।
प्रति-फल की कुछ वांछा नहिं पर हमको हर्षित करा रहे ॥३॥

तन की मन की और वचन की चेष्टाएँ तव होती हैं।
किन्तु बिना इच्छा के केवल सहज भाव से होती हैं॥
थोथी यद्वा-तद्वा भी नहिं सही ज्ञान से सहित सभी।
धीर! नीर-निधि-सम तव परिणति, अचिंत्य लख बुध चकित सभी ॥४॥

मानवता से ऊपर उठ कर ऊपर उन्नत चढ़े हुए।
सुर, सुर-पालक देवों में भी पूज्य हुए हो बड़े हुए॥
इसीलिए देवाधिदेव हो परम इष्ट जिन! नाथ हुए।
हम पर करुणा कर दो शिव-सुख, तुम पद में नत-माथ हुए ॥५॥

(दोहा)

दया धर्म वर धर्म है, अदया-भाव अधर्म।
अधर्म तज प्रभु धर्म ने, समझाया पुनि धर्म ॥१॥

धर्मनाथ को नित नमूँ, सधे शीघ्र शिव-शर्म।
धर्म-मर्म को लख सकूँ, मिटे मलिन मम कर्म ॥२॥

श्री शान्ति जिन-स्तवन

प्रजा सुरक्षित कर रिपुओं से निजी राज्य अविभाज्य किया।
सुचिर काल तक प्रतापशाली अजेय राजा राज्य किया॥
स्वयं आप पुनि मुनि बन वन में पापों का अतिशमन किया।
शान्तिनाथ जिन! दया-धाम हो शान्ति-रमा से रमण किया॥१॥

पुण्य-पुरुष चक्री बन तुमने चक्र दिखा कर डरा दिये।
छहों खण्ड के नराधिपों को पूर्ण रूप से हरा दिये॥
समाधि-मय निज दिव्य चक्र पुनि मोह-शत्रु पे चला दिया।
दुर्नय-दुर्जय दुष्ट क्रूर को मिट्टी में बस मिला दिया॥२॥

राजाओं-के-राजा बन कर राजसभा में राजित थे।
लघु राजाओं के सुख-साधन तुम पर ही निर्धारित थे॥
किन्तु पुनः जब निजाधीन हो आर्हत् पद को प्राप्त हुए।
अगणित अमरासुर-पतिगण में हुए सुशोभित, आप्त हुए॥३॥

नरेन्द्र जब थे, नरपति-दल ने तब चरणों में शरण लिया।
सदय बने जब मुनिवर तुमको दया-धर्म ने नमन किया॥
पूज्य बने जिन तव पद युग में सुरदल आ प्रणिपात हुआ।
ध्यानी बनते, कर्म विनसता, हाथ जोड़, नत-माथ हुआ॥४॥

निजी दोष सब पूर्ण मिटा कर, प्रथम प्रशम बन शान्त हुए।
शान्ति दिलाते शरणागत को, सुचिर काल से क्लान्त हुए॥
शान्तिनाथ जिन! शान्ति-विधायक, शान्त मुझे अब आप करो।
शरण, चरण में मुझे दिला कर भव-भव का मम ताप हरो॥५॥

(दोहा)

शान्तिनाथ हो शान्त, कर सातासाता सान्त।
केवल,केवल-ज्योतिमय,क्लान्ति मिटी सब ध्वान्त॥ १॥

सकल ज्ञान से सकल को जान रहे जगदीश।
विकल रहे जड़ देह से विमल नमूँ नत शीश॥२॥

श्री कुन्थु जिन-स्तवन

चक्री बन शासित नरपों को प्रथम किया यश सुख पाने।
तीर्थंकर बन धर्म-चक्र, फिर चला दिया निज-घर जाने॥
जरा जनन मृति रोग मिटाने सदय स्वजीवन बना लिया।
कुन्थु कृमी आदिक जीवों पर, कुन्थु जिनेश्वर दया किया॥१॥

स्वभाव से ही तृष्णा-ज्वाला सदा धधकती वह जलती।
भोग्य वस्तुएँ भले भोग लो तृष्णा बुझती नहिं बढ़ती॥
विषय-सौख्य तो निमित्त केवल, हर सकते! तन-ताप भले।
विमुख हुए हैं अतः विषय से, मुनि बन, शिव-पथ आप चले॥२॥

कष्ट साध्य बहु बाह्य तपों से तन को मन को जला दिया।
आभ्यंतर तप उद्दीपित हो यही प्रयोजन बना लिया॥
आर्त ध्यान को, रौद्र ध्यान को, पूर्ण ध्यान से हटा दिया।
धर्म ध्यान में, शुक्ल ध्यान में, क्रमशः निज को बिठा दिया॥३॥

रत्नत्रयमय होम-कुण्ड को योग अनल से तेज किया।
होमा जिसमें घाति कर्म को यम-पुर रिपु को भेज दिया॥
अतुल वीर्य पा सकल ज्ञेय के प्रतिपादक आगम-कर्त्ता।
विलस रहे प्रभु मेघ-रहित नभ में जिस विध रवि तम-हर्त्ता॥४॥

विद्या-धन का निधान दुर्लभ मुनिवर! तुममें अहा खुला।
ब्रह्मा महेश आदिक को पर जिसका कण भी कहाँ मिला॥
अमित-अमिट हो स्तुत्य बने हो जन्म-रहित जिन देव! तभी।
निज हित-इच्छुक अतः सुधी ये तुम्हें भजे स्वयमेव सभी॥५॥

(दोहा)

ध्यान-अग्नि से नष्ट कर, प्रथम पाप परिताप।
कुन्थुनाथ पुरुषार्थ से, बने न अपने-आप॥१॥

ऐसी मुझपे हो कृपा, मम मन मुझमें आय।
जिस विध पल में लवण है, जल में घुल मिल जाय॥२॥

श्री अरनाथ जिन-स्तवन

किसी पुरुष के अल्प गुणों का बढ़ा-चढ़ा कर यश गाना।
जग में बुधजन कविजन कहते स्तुति का वह है बस बाना॥
पूज्य बने हो ईश बने हो अगणित गुण के धाम बने।
ऐसी स्थिति में आप कहो फिर कैसे स्तुति का काम बने॥१॥

यदपि मुनीश्वर की स्तुति करना रवि को दीपक दिखलाना।
तदपि भक्ति-वश मचल रहा मन कुछ कहने को अनजाना॥
तथा अल्प भी जो तव यश का भविक यहाँ गुण-गान करें।
शुचितम बनता, क्यों ना हम फिर तव थुति-रस का पान करें॥२॥

चौदह मनियाँ निधियाँ नव भी चक्री तुम थे तुम्हें मिली।
हाथी घोड़े कोटि, नारियाँ कुछ कम लाखों तुम्हें वरी॥
मुमुक्षुपन की किन्तु किरण जो तुममें जगमग जभी जगी।
सार्वभौम पदवी भी तुमको जीरण तृण सम सभी लगी॥३॥

सविनय द्वय नयनों से तव मुख छवि को जब अनिमेष लखा।
किन्तु तृप्त वह हुआ नहीं पर लख-लख कर अमरेश थका॥
सहस्त्र लोचन खोल लिये फिर निजी ऋद्धि से काम लिया।
चकित हुआ तब अंग-अंग का प्रभु दर्शन अभिराम किया॥४॥

मोहरूप रिपु-भूप, पाप-का-बाप, ताप का कारक है।
कषाय-मय सेना का चालक, चेतन निधि का हारक है॥
समकित-चारित-भेदज्ञानमय कर में खर तर-वार लिया।
किया वार निज मोह-शत्रु पर धीर आपने, मार दिया॥५॥

तीन लोक को अपने बल पर जीत विजेता बना हुआ।
काम समझ यों लोक-ईश मैं व्यर्थ गर्व से तना हुआ॥
धीर वीर जिन किन्तु आप पर प्रभाव उसका नहीं पड़ा।
लज्जित होकर शिशु-सा आकर तव चरणों में तभी पड़ा॥६॥

इस भव में भी पर भव में भी दुस्सह दुख की है जननी।
तृष्णा रूपी नदी भयंकर यह नरकों की वैतरणी॥
इसका पाना पार कठिन है कई तैरते हार गये।
वीतराग-मय ज्ञान-नाव में बैठ किन्तु प्रभु पार गये॥७॥

सदा काल से काल जगत को रुला रहा था सता रहा।
जन्म-रोग को मित्र बनाकर जीवन अपना बिता रहा॥
महाकाल विकराल किन्तु प्रभु काल आपने विकल किया।
कुटिल चाल को छोड़ काल ने सरल चाल में बदल दिया॥८॥

शस्त्रों, वस्त्रों, पुत्र, कलत्रों, आभरणों से रहित रहा।
विराग विद्या दया दमन से पूर्ण रूप से सहित रहा॥
इस विध जो तव रूप मनोहर मौन रूप से बोल रहा।
धीर! रहित हो सकल दोष से तव जीवन अनमोल रहा॥९॥

तव तन की अति प्रखर ज्योतिमा फैल रही चहुँ ओर सही।
फलतः बाहर सघन तिमिर सब भगा, हुआ हो भोर कहीं॥
इसी तरह निज शुद्धातम की परम विभा से नाश किया।
मोह-मयी अतिघनी निशा का, निज-घर शिव में वास किया॥१०॥

सकल विश्व का जानन-हारा तुममें केवलज्ञान हुआ।
समवसरण आदिक अनुपम तन अतिशय आविर्मान हुआ॥
पुण्य-पाकमय इस अतिशय को भविकजनों ने निरखा हो।
तव पद में नत क्यों ना होवे दोष गुणन को परखा हो॥११॥

जिसकी भाषा, उस भाषा में उसको समझाती वाणी।
अमृतमयी है जिनवाणी है ज्ञानी कहते कल्याणी॥
समवसरण में फैल सभी के कर्ण तृप्त भी है करती।
सुधा जगत में जिस विध, जन-जन को सुख दे सब दुख हरती॥१२॥

अनेकान्त तव दृष्टि रही है सत्य तथ्य बुध-मीत रही।
तथ्य-हीन एकान्त दृष्टि है औरों की विपरीत रही॥

एकान्ती का जो कुछ कहना असत्य भी है उचित नहीं।
और रहा निज मत का घातक इसीलिए वह मुदित नहीं ॥१३॥

पर मत की कमियों को लखने नेत्र खोलकर जाग रहे।
निज-कमियाँ लख भी नहिं लखते जैसे सोते नाग रहे ॥
निज-मत थापित पर-मत बाधित करने में भी निर्बल हैं।
तापस वे नहिं समझ सकेंगे तव मत जो अति निर्मल हैं ॥१४॥

एकान्ती जन दोष-बीज ही सदा निरन्तर बोते हैं।
निज मत घातक दोष मिटाने सक्षम नहिं वे होते हैं ॥
अनेकान्त तव मत से चिढ़ते आत्महनक हैं बने हुए।
अवक्तव्य ही "तत्त्व सर्वथा" जड़ जन कहते तने हुए ॥१५॥

अवक्तव्य वक्तव्य नित्य या अनित्य ही यह वस्तु रही।
सदसत् या है एक रही या अनेक अथवा वस्तु रही ॥
कहें सर्वथा यों नय करते वस्तु तत्त्व को दूषित हैं।
पोषित करते, किन्तु आपके स्याद् पद से नय भूषित हैं ॥१६॥

प्रमाण द्वारा ज्ञात विषय की सदा अपेक्षा रखता है।
किन्तु "सर्वथा नियम" रखे बिन वस्तु-भाव को चखता है ॥
ऐसा स्याद् पद परमत का नहिं तव मत का शृंगार रहा।
अतः सर्वथा पद ही परमत निजमत को संहार रहा ॥१७॥

प्रमाण नय साधन से साधित अनेकान्त-मय तव मत में।
अनेकान्त भी अनेकान्त हैं जिसका सेवक अवनत मैं ॥
पूर्ण वस्तु को विषय बनाते प्रमाण-वश नैकान्त बने।
वस्तु-धर्म हो एक विवक्षित, नय-वश तब एकान्त तने ॥१८॥

निराबाध औ निरुपम शासन के शासक गुण-धारक हो।
सुखद-योग-गुण-पालन का पथ दिखलाते अघ-मारक हो ॥
इन्द्रिय-विजयी धर्म तीर्थ के हे अर जिन तुम नायक हो।
तुम बिन, भविजन हितपथ दर्शक, अन्य कौन? सुखदायक हो ॥१९॥

आगम का भी अल्प ज्ञान है पूर्ण ज्ञान वह मिला नहीं।
मंद बुद्धि मम, विशद नहीं है भक्ति-भाव भर मिला यहीं॥
मानस आगम-बल से फिर भी जो कुछ तव गुणगान किया।
पाप-शमन का हेतु बनेगा वरद! यही अनुमान लिया॥२०॥

(दोहा)

नाम-मात्र भी नहिं रखो, नाम-काम से काम।
ललाम आतम में करो, विराम आठों याम॥१॥

नाम धरो अर नाम तव, अत: स्मरूँ अविराम।
अनाम बन शिव-धाम में, काम बनूँ कृत-काम॥२॥

श्री मल्लिनाथ जिन-स्तवन

बने महा ऋषि जब तुम, तुममें सुसुप्त जागृत योग हुआ।
लोकालोकालोकित करता अतुलनीय आलोक हुआ॥
इसीलिए बस सादर आकर अमराकर नर-जगत सभी।
जोड़ करों को हुआ प्रणत तव पद में हूँ मुनि जगत अभी॥१॥

तव तन आभा तप्त स्वर्ण-सी तन की चारों ओर सही।
परिमण्डल की रचना करती यह शोभा नहिं और कहीं॥
वस्तु-तत्त्व को कहने आतुर स्याद्-पद वाली तव वाणी।
दोनों मुनिजन को हर्षाती जिनकी शरणा सुखदानी॥२॥

मनमानी तज प्रतिवादी जन तव सम्मुख हो गतमानी।
वाद करे ना कुतर्क करते जब प्रभु पूरण हो ज्ञानी॥
तथा आपके शुभ दर्शन से हरी भरी हो भी लसती।
खिली कमलिनी मृदुतम-सी यह धरा सुन्दरा भी हँसती॥३॥

शान्त कान्ति से शोभ रहे हैं पूर्ण चन्द्रमा जिनवर हैं।
शिष्य-साधु चहुँ-ओर घिरे हैं ग्रह-बन गणधर मुनिवर हैं॥
तीर्थ आपका ताप मिटाता अनुपम सुख का हेतु रहा।
दुखित भव्य भव-पार कर सके भव-सागर का सेतु रहा॥४॥

शुक्ल-ध्यानमय तपश्चरण के दीप्त अनल से जला जला।
राख किया कटु पाप कर्म को तभी तुम्हें शिव किला मिला॥
शल्य-रहित कृत-कृत्य बने हो मल्लिनाथ जिनपुंगव हो।
चरणों में दो शरण मुझे अब भव-भव पुनि ना संभव हो॥५॥

(दोहा)

मोह मल्ल को मार कर मल्लिनाथ जिनदेव।
अक्षय बनकर पा लिए अक्षय सुख स्वयमेव॥१॥

बाल ब्रह्मचारी विभो बाल समान विराग।
किसी वस्तु से राग ना तव पद से मम राग॥२॥

श्री मुनिसुव्रतनाथ जिन-स्तवन

मुनि बन मुनि-पथ चलते मुनिपन में दृढ़ हो मुनिनाथ हुए।
मुनिसुव्रत प्रभु पाप-रहित हो निज में रत दिन-रात हुए॥
मुनियों की उस भरी सभा में अनुपम द्युति से शोभ रहे।
तारक गण के ठीक बीच ज्यों शोभित शीतल सोम रहे॥१॥

द्वादश विध खर तप कर तुमने देह-मोह सब भुला दिया।
काम रोग को अहंकार को पूर्ण रूप से जला दिया॥
मोर-कण्ठ-सम सघन नीलिमा फलतः तव तन में फूटी।
पूर्णचन्द्र के परितः फैली मण्डल-द्युति पड़ती झूठी॥२॥

चन्द्र चाँदनी सम धवलित शुचि रुधिर भरा है तव तन में।
परम सुगंधित निर्मल तन है ऐसा तन ना त्रिभुवन में॥
केवल सुख-कर नहीं किन्तु तव तन मन वच की परिणतियाँ।
विस्मय जग को सदा करातीं जिन से मिटती चहुँ गतियाँ॥३॥

युगों-युगों से जड़ चेतन ये जग के पदार्थ सारे हैं।
ध्रौव्य-जनन-मय तथा नाशमय लक्षण यथार्थ धारे हैं॥
इस विध तव वाणी यह कहती, सकल विश्व के ज्ञायक हैं।
शिव पथ शासन कर्त्ताओं में कुशल आप ही शासक हैं॥४॥

निरुपम चौथे शुक्ल ध्यानमय संबल निज में जगा लिया।
अष्टकर्म-मल पाप-किट्ट को जला-जला कर मिटा दिया॥
भवातीत उस मोक्ष-सौख्य का लाभ आपने उठा लिया।
करो नाश अब मम भव का भी, मन में तव पद बिठा लिया॥५॥

(दोहा)

मुनि बन मुनिपन में निरत हो मुनि यति बिन स्वार्थ।
मुनिव्रत का उपदेश दे हमको किया कृतार्थ॥१॥

यही भावना मम रही मुनिव्रत पाल यथार्थ।
मैं भी मुनिसुव्रत बनूँ पावन पाय पदार्थ॥२॥

श्री नमिनाथ जिन-स्तवन

स्तुत्य रहे या नहीं रहे, फल उसे मिले या नहीं मिले।
स्तुति जब करता सज्जन मन में पुण्य-भाव की कली खिले॥
निजाधीन औ सुलभ मोक्षपथ जग में इस विध बनता हो।
पूज्य ईश नमि जिन फिर क्यों ना तव थुति रत बुध जनता हो॥१॥

परम ब्रह्म रत हो तोड़ा भव-बंधन प्रभु कृत-काम बने।
इसीलिए जिन सुधीजनों के बोध-धाम शिव-धाम बने॥
ज्ञान-ज्योति अति प्रखर किरण ले उदित हुई फलतः तुम में।
पर-मत जुगनू सम कुंदित हैं तेज उदित हो रवि नभ में॥२॥

अस्ति नास्ति औ उभय रूप भी अवक्तव्य भी तत्त्व रहा।
अवक्तव्य भी तीन रूप यों सप्त भंगमय तत्त्व रहा॥
आपस में आपेक्षित बहुविध धर्मों से जो भरित रहा।
गौण-मुख्य कर बहुनय-वश वह लोक ईश से कथित रहा॥३॥

अणु-भर भी यदि षडारम्भ हों वहाँ दया वह नहीं रहे।
जीव-दया सो परम ब्रह्म है जग में बुधजन यही कहें॥
अतः दया की प्राप्ति हेतु प्रभु करुण भाव से पूर रहे।
उभय संग तज बने दिगंबर विकृत वेष से दूर रहे॥४॥

भूषण वसनादिक से रीता नग्न काय तव यों गाता।
जीता तुमने काम-बली को जितइन्द्रिय हो, हो धाता॥
तीक्ष्ण शस्त्र बिन निज उर में थित अदय क्रोध का नाश किया।
निर्मोही हो अतः शरण दो शान्ति-सदन में वास किया॥५॥

(दोहा)

अनेकान्त का दास हो अनेकान्त की सेव।
करूँ गहूँ मैं शीघ्र से अनेक गुण स्वयमेव॥१॥

अनाथ मैं जगनाथ हो नमीनाथ दो साथ।
तव पद में दिन-रात हूँ, हाथ जोड़ नत-माथ॥२॥

श्री नेमिनाथ जिन-स्तवन

ऋद्धि-सिद्धि के धारक, ऋषि हो, प्राप्त किया है निज धन को।
शुक्ल-ध्यानमय तेज अनल से जला दिया विधि-ईंधन को॥
खिले-खुले तव नील कमल-सम, युगल-सुलोचन विकसित हैं।
सकल ज्ञान से सकल निरखते भगवन् जग में विलसित हैं॥१॥

विनय-दमादिक पाप-रहित-पथ के दर्शक तीर्थंकर हो ।
लोक-तिलक हरिवंश मुकुट हो, संकट के प्रलयंकर हो॥
हुए शील के अपार सागर, भवसागर से पार हुए।
अजरामर हो अरिष्ट नेमी जिनवर! जग में सार हुए॥२॥

झिलमिल-झिलमिल मणियों से जो जड़ित मुकुट को चढ़ा रहे।
तव चरणों में अवनत सुरपति और मंजुता बढ़ा रहे॥
कोमल-कोमल लाल-लाल तव युगल पाद-तल विमल लसे।
तालाबों में खुले-खिले-ज्यों लाल दलों से कमल लसे॥३॥

शरद-काल के पूर्ण चन्द्र की शुभ्र चाँदनी-सी लसती।
पूज्य-पाद की नखावली ये जिनमें जा मम मति बसती॥
थुति करते नित तव पद में नत प्रभु दर्शन की आस लगी।
बुध-ऋषि, जिनको निज आतम सुख की चिर से अतिप्यास लगी॥४॥

तेज-भानु-सा चक्र-रत्न से जिनके कंधे शोभित हैं।
घिरे हुए हैं स्वजन बंधुओं से जो पर में मोहित हैं॥
सघन-मेघ सम-नील वर्ण का जिन का तन जगनामी है।
भ्रात चचेरे कृष्ण-राज तव तीन खण्ड के स्वामी हैं॥५॥

स्वजन-भक्ति से मुदित रहे हैं जन-जन के जो सुखकर हैं।
धर्म-रसिक हैं विनय-रसिक हैं इस विध चक्री हलधर हैं॥
भक्ति-भाव से प्रेरित होकर नेमिनाथ! तव चरणन में।
दोनों आकर बार-बार नत होते हर्षित तन-मन में॥६॥

सौराष्ट्न में, वृषभ-कंध-सम उन्नत पर्वत अमर रहे।
खेचर महिलाओं से सेवित जिसके शोभित शिखर रहें॥
बादल-दल से जिसके तट भी सदा घिरे ही रहते हैं।
जहाँ इन्द्र ने तव गुण लक्षण लिखे, जिन्हें बुध कहते हैं ॥७॥

तव गुण लक्षण धारण करता अतः तीर्थ वह महा बना।
ऊर्जयन्त फिर ख्यात हुआ है पुराण कहते महामना॥
सुचिर काल से आज अभी भी जिसका वन्दन करते हैं।
ऋषि-गण भी अति प्रसन्न होते सफल स्वजीवन करते हैं ॥८॥

बाहर से भी भीतर से भी ना तो साधक बाधक हो।
इन्द्रिय गण हो यद्यपि तुममें तदपि मात्र प्रभु ज्ञायक हो॥
एक साथ जिननाथ, हाथ की रेखा सम सब त्रिभुवन को।
जान रहे हो देख रहे हो विगत-अनागत कण-कण को ॥९॥

इसीलिए यति मुनिगण से प्रभु-पद युग-पूजित सुखदाता।
अद्भुत से अद्भुत तम आगम-संगत चारित तव साता॥
इस विध तव अतिशय का चिन्तन करके मन में मुदित हुआ।
जिन-पद में अति निरत हुआ हूँ आज भाग्य शुभ उदित हुआ ॥१०॥

(दोहा)

नील गगन में अधर हो शोभित निज में लीन।
नील कमल आसीन हो नीलम से अति नील ॥१॥

शील-झील में तैरते नेमि जिनेश सलील।
शील डोर मुझ बाँध दो डोर करो मत ढील ॥२॥

श्री पार्श्व जिन-स्तवन

जल वर्षाते घने बादले, काले-काले डोल रहे।
झंझा चलती बिजली तड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे॥
पूर्व वैर-वश कमठ देव हो इस विध तुमको कष्ट दिया।
किन्तु ध्यान में अविचल प्रभु हो घाति कर्म को नष्ट किया॥१॥

द्युति-मय बिजली-सम पीला निज फण का मण्डप बना लिया।
नाग इन्द्र तव कष्ट मिटाने तुम पर समुचित तना दिया॥
दृश्य मनोहर तब वह ऐसा विस्मय-कारी एक बना।
संध्या में पर्वत को ढकता समेत-बिजली मेघ घना॥२॥

आत्म ध्यान-मय कर में खरतर खड्ग आपने धार लिया।
मोहरूप निज दुर्जय रिपु को पल-भर में बस मार दिया॥
अचिन्त्य-अद्भुत आर्हत् पद को फलतः पाया अघहारी।
तीन लोक में पूजनीय जो अतिशयकारी अतिभारी॥३॥

मनमाने कुछ तापस ऐसे तप करते थे वनवासी।
पाप-रहित तुम को लख, इच्छुक तुम-सम बनने अविनाशी॥
हम सब का श्रम विफल रहा यो समझ सभी वे विकल हुए।
शम-यम-दममय सदुपदेश सुन तव चरणन में सफल हुए॥४॥

समीचीन विद्या-तप के प्रभु रहे प्रणेता वरदानी।
उग्र-वंशमय विशाल नभ के दिव्य सूर्य, पूरण ज्ञानी॥
कुपथ निराकृत कर भ्रमितों को पथिक सुपथ के बना दिये।
पार्श्वनाथ मम पास वास बस, करो, देर अब बिना किये॥५॥

(दोहा)

खास दास की आस बस श्वाँस-श्वाँस पर वास।
पार्श्व करो मत दास को उदासता का दास॥१॥

ना तो सुर-सुख चाहता शिव-सुख की ना चाह।
तव थुति-सरवर में सदा होवे मम अवगाह॥२॥

श्री वीर जिन-स्तवन

तव गुण-गण की फैल रही है विमल कीर्ति वह त्रिभुवन में।
तभी हो रहे शोभित ऐसे वीर देव बुध जन-जन में॥
कुन्द पुष्प की शुक्ल कान्ति-सम कान्तिधाम शशि हो भाता।
घिरा हुआ हो जिससे उडुदल गीत-गगन में हो गाता॥१॥

सत युग में था कलियुग में भी तव शासन जयवन्त रहा।
भव्यजनों के भव का नाशक मम भव का भी अन्त रहा॥
दोष चाबु को निरस्त करते पर मत खण्डन करते हैं।
निज-प्रतिभा से अतः गणी ये जिनमत मण्डन करते हैं॥२॥

प्रत्यक्षादिक से ना बाधित अनेकान्त मत तव भाता।
स्याद्-वाद सब वाद-विवादों का नाशक मुनिवर! साता॥
प्रत्यक्षादिक से हैं बाधित स्याद्वाद से दूर रहे।
एकान्ती मत इसीलिए सब दोष धूल से पूर रहे॥३॥

दुष्ट दुराशय धारक जन से पूजित जिनवर रहे कदा।
किन्तु सुजन से सुरासुरों से पूजित वंदित रहे सदा॥
तीन लोक के चराचरों के परमोत्तम हितकारक हैं।
पूर्ण ज्ञान से भासमान शिव को पाया अघहारक हैं॥४॥

समवसरण थित भव्यजनों को रुचते मन को लोभ रहे।
सामुद्रिक औ आत्मिक गुण से हे प्रभुवर अति शोभ रहे॥
चमचम चमके निजी कान्ति से ललित मनोहर उस शशि को।
जीत लिया तब काय कान्ति ने प्रणाम मम हो जिन ऋषि को॥५॥

मुमुक्षु-जन के मनवांछित फलदायक! नायक! जिन तुम हो।
तत्त्व-प्ररूपक तव आगम तो श्रेष्ठ रहा अति उत्तम हो॥
बाहर-भीतर श्री से युत हो माया को निःशेष किया।
श्रेष्ठ श्रेष्ठतम कठिन कठिनतम यम-दम का उपदेश दिया॥६॥

मोह-शमन के पथ के रक्षक अदया तज कर सदय हुए।
किया जगत में गमन अबाधित सभय सभीजन, अभय हुए॥
ऐसा लगते तब, गज जैसा मद-धारा, मद बरसाता।
बाधक गिरि की गिरा कटिनियाँ अरुक अनाहत बस जाता ॥७॥

एकान्ती मत-मतान्तरों में वचन यदपि श्रुति-मधुर सभी।
किन्तु मिले ना सुगुण कभी भी नहीं सकल-गुण प्रचुर कभी॥
तव मत समन्तभद्र देव है सकल गुणों से पूरण है।
विविध नयों की भक्ति-भूख को शीघ्र जगाता चूरण है ॥८॥

(दोहा)

नीर-निधी से धीर हो वीर बने गंभीर।
पूर्ण तैर कर पा लिया भवसागर का तीर ॥१॥

अधीर हूँ मुझ धीर दो सहन करूँ सब पीर।
चीर-चीर कर चिर लखूँ अन्तर की तस्वीर ॥२॥

भूल क्षम्य हो!

लेखक कवि मैं हूँ नहीं, मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान ॥

मंगल कामना

बिना-भीति विचरूँ सदा वन में ज्यों मृगराज।
ध्यान धरूँ परमात्म का निश्चल हो गिरिराज ॥१॥

सागर सम गंभीर मैं बनूँ चन्द्र-सम शान्त।
गगन-तुल्य स्वाश्रित रहूँ हरूँ दीप-सम ध्वान्त ॥२॥

रवि सम पर-उपकार मैं करूँ समझ कर्त्तव्य।
रखूँ न मन में मान-मद सुन्दर हो भवितव्य ॥३॥

चिर संचित सब कर्म को राख करूँ बन आग।
तप्त आत्म को शान्त भी करूँ बनूँ गतराग ॥४॥

सदा संग बिन पवन सम विचरूँ मैं निस्संग।
मंत्र जपूँ निज तन्त्र का नष्ट शीघ्र हो अंग ॥५॥

तन मन को तप से तपा स्वर्ण बनूँ छविमान।
भक्त बनूँ भगवान को, भजूँ बनूँ भगवान ॥६॥

द्रव्य हेय जड़मय तजूँ, ध्येय बना निज द्रव्य।
कीलित कर निज चित्त को पाऊँ शिव-सुख दिव्य ॥७॥

भद्र बनूँ बस भद्रता जीवन का शृंगार।
द्रव्य दृष्टि में निहित है सुख का वह संचार ॥८॥

तामस बस प्रतिलोम हो, मुझ में चिर बस जाय।
है यह हार्दिक भावना मोह सभी नश जाय ॥९॥

गुरु स्मृति

तरणि ज्ञानसागर गुरो!, तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥

स्थान एवं समय परिचय

भव सागर से भीत हैं सागर के सागार।
प्रथम बार पहुँचा यहाँ ससंघ मैं अनगार ॥१॥

द्रव्य-गगन-गति-गंध की वीर जयन्ती आज।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को ध्येय! बनूँ जिनराज ॥२॥

❑ ❑ ❑

इष्टोपदेश

आचार्य पूज्यपाद रचित

इष्टोपदेश

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

इष्टोपदेश

(१९७१ एवं २० दिसम्बर, १९९०)

आचार्य पूज्यपाद कृत संस्कृत भाषाबद्ध 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ का आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा भाषान्तरण ('वसन्ततिलका' एवं 'ज्ञानोदय' छन्द में पृथक्-पृथक् पद्यबद्ध) दो बार किया गया है। सर्वप्रथम सन् १९७१ के मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर (राज०) के चातुर्मासकाल में वसंततिलका छन्द में तथा द्वितीय पद्यानुवाद श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र रामटेक, नागपुर (महाराष्ट्र) में जहाँ स्व-पर विवेक जागृत होता है तथा स्वात्म में ध्यान करने से अनेक संकट विनष्ट हो जाते हैं, वीर निर्वाण संवत् २५१७ की पौष शुक्ला तृतीया, गुरुवार, २० दिसम्बर, १९९० के दिन यह अनुवाद पूर्ण हुआ।

अनुवाद के आरम्भ में मंगलाचरण है जिसमें सुर-नर-मुनियों से पूजित पूज्यपाद स्वामी को नमस्कार किया गया है। जिससे अनुवादकर्ता अनुवाद के साफल्य रूप परम प्रसाद को प्राप्त कर सकें। अनुवाद सर्वथा सटीक है। भाषा, भाव, पादानुक्रम आदि सभी दृष्टियों से इसमें हम निर्दोषता पाते हैं।

सत्-शास्त्र के मनन, श्रीगुरु के भाषण, विज्ञानात्मा स्फुट नेत्रों की सहायता से जो साधक यहाँ स्व-पर के अन्तर को जान लेता है वही मानों सभी प्रकार से परमात्मा रूप शिव को जान लेता है। सुधी वही होता है जो इष्टोपदेश का ज्ञान प्राप्त करे और अवधानपूर्वक उसे जीवन में उतारे। मान-अपमान में समान रहे। वन हो या भवन-सर्वत्र साधक को निराग्रही होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह निरुपम मुक्ति-सम्पदा पा ले और भवों का नाश कर भव्यता प्राप्त करे। इस प्रकार इसमें अनिष्टकर स्थितियों से निवृत्ति और इष्टकर स्थितियों में प्रवृत्ति की बात है।

इष्टोपदेश

(वसंततिलका छन्द)

दुष्टाष्ट कर्म दल को करके प्रनाश, पाया स्वभाव जिनने, परितः प्रकाश।
जो शुद्ध हैं अमित, अक्षय बोधधाम, मेरा उन्हें विनय से शतशः प्रणाम ॥१॥

ज्यों ही यहाँ वर रसायन-योग ढोता, पाषाण जो कनक-मिश्रित, हेम होता।
त्यों द्रव्य क्षेत्र अरु काल सुयोग पाता, संसारि-जीव परमात्मपना गहाता ॥२॥

चारित्र से अमर हो वह श्रेष्ठ ही है, होना कुनारक असंयम से बुरा है।
तो भेद भी इन व्रताऽव्रत में अहा! है, 'छाया-सुधूप' इनमें जितना रहा है ॥३॥

जो आत्म भाव शिव सौख्य यदा दिलाता, स्वर्गीय सौख्य वह क्या न तदा दिखाता।
दो कोस भार सहसा जब जो निभाता, क्यों अर्द्ध कोस तक ले उसको न जाता? ॥४॥

है दीर्घ काल रहता, पल में न जाता, आतंकहीन अरु जो महि में न पाता।
ओ नाकवासिसुख है मन-मोहनीय, क्या क्या कहूँ अमर सौख्य अवर्णनीय ॥५॥

जो दुःख और सुख है तनधारियों का, है व्याज मात्र तृण-बिन्दु, सुखेच्छुकों का।
जैसे भगंदर, जलोदर, कुष्ट रोग, वैसे नितान्त दुखदायक हाय! भोग ॥६॥

विज्ञान जो अतितिरोहित मोह से है, ना जानता वह निजीय स्वभाव को है।
जैसा यहीं मदक, भंग शराब को पी, ना जानता मनुज भक्ष्य अभक्ष्य को भी ॥७॥

माता, पिता अहित और सुता व गेह, औ मित्र, पुत्र, सुकलत्र व अर्थ देह।
ये आत्म से सकल भिन्न सुसर्वथा हैं, पै मूढ़ स्वीय कहता इनको वृथा है ॥८॥

पक्षी अहो! दश-दिशागत जो यहाँ पे, प्रत्येक वृक्ष पर वे बसते, जहाँ से।
है स्वीय कार्य वश हो उड़ते उषा में, स्वच्छंद होकर असीम दशों-दिशा में ॥९॥

क्यों मूढ़ श्वान सम है करताति क्रोध, हंता जनों पर, अतः उसमें न बोध।
जो खोदता अवनि को जब फावड़ा से, नीचे झुके वह तदैव निसर्गता से ॥१०॥

जो रागद्वेष करता, वसु कर्म ढोता, संसारि-जीव भव को अति ही बढ़ाता।
अज्ञान से सुचिर है दुख ही उठाता, है नित्य दौड़ भव-कानन में लगाता ॥११॥

आपत्ति एक टलती जब लौं अहा! है, दूजी अहो! चमकती तब लौं वहाँ है।
स्वामी! यहाँ स्थिति सदा घटियंत्र की सी, संसार सागर निमज्जित जीव की भी ॥१२॥

है नश्यमान व परिश्रम प्राप्त अर्थ, रक्षार्थ नेक बनते इसके अनर्थ।
संतुष्ट हाय! इससे निज को मनुष्य, पी मानता घृत यथा ज्वरवान् अवश्य ॥१३॥

धिक्कार! मूर्ख लखता न निजापदा को, क्यों देखता वह सदा पर की व्यथा को।
दावा सुव्याप्त वन में मृगयूथ को जो, रे देखता वह तरुस्थ मनुष्य है ज्यों ॥१४॥

हैं अर्थ को समझते निज से अमूल्य, सम्पत्ति हीन वह जीवन पर्ण तुल्य।
श्रीमंत मानव सदा इस भाँति गाते, आदर्श जीवन धनार्जन में बिताते ॥१५॥

जो अर्थहीन वह मानव सर्वदा ही, दानार्थ अर्थ चुनता व सुखार्थ मोही।
मैं स्नान हूँ कर रहा इस भाँति बोले, ओ पंक से स्वतन को निज हाथ धोले ॥१६॥

प्रारंभ में परम ताप अहो दिलाते, तो प्राप्ति में विषम आकुलता बढ़ाते।
है अंत में कठिन त्याज्य कुभोग ऐसे, भोगें सकाम इनको बुध लोग कैसे? ॥१७॥

सौगंध्यपूर्ण वह चंदन है पवित्र, ज्यों देह संग करता बनताऽपवित्र।
काया घृणास्पद अतीव तथा विनाशी, सेवा करें न इसकी ऋषि जो उदासी ॥१८॥

जो श्रेष्ठ मित्र उपकारक जीव का है, होता वही अनुपकारक देह का है।
होती नितांत जिससे जड़ देह पुष्टि, होती कभी न उससे पर जीव पुष्टि ॥१९॥

है एक हाथ खल-खंड अहो दिखाता, तो रत्न अन्य कर में वर सौख्य दाता।
दोनों मिले स्वपरिणामतया यहाँ पे, विद्वान का फिर समादर हो कहाँ पे? ॥२०॥

है देह के वह बराबर सौख्यधाम, आत्मा अमूर्त, नित नित्य उसे प्रणाम।
औ देखता सकल लोक अलोक को है, विज्ञान गम्य, नहिं इन्द्रिय गम्य जो है ॥२१॥

एकाग्र चित्त-बल से सब इंद्रियों का, व्यापार बन्द करके दुखदायकों का।
आत्मा स्वकीय घर में रह आत्म को ही, ध्यावे निजीय बल से तज मोह मोही ॥२२॥

सत्संग से परम बोध यहाँ कमाते, दुस्संग से अबुध हो, हम दुःख पाते।
तो गंध छोड़ वह चंदन और क्या दे? जो पास हो उचित है वह ही सदा दे ॥२३॥

ना जानता परिषहादिक को विरागी, होता न आस्रव जिसे वह मोक्षमार्गी।
अध्यात्म योग बल से फलतः उसी की, होती सही! नियम से नित निर्जरा ही ॥२४॥

मैं हूँ यहाँ परम निर्मल वस्त्र कर्ता, ऐसा पदार्थ युग में विधि-बंध भाता।
आत्मा हि ध्यान अरु ध्येय यदा व ध्याता, तो कौन-सा फिर तदा पर संग नाता?॥२५॥

जो जीव मोह करता, वसु कर्म ढोता, निर्मोह भाव गहता, द्रुत मुक्त होता।
शुद्धात्म को इसलिए दिनरैन ध्याओ, ओ! वीतरागमय भाव स्व-चित्त लाओ ॥२६॥

मैं एक हूँ, परम शुद्ध प्रबुद्ध ज्ञानी, वे ही मुझे निरखते, मुनि जो अमानी।
ये राग, रोष, ममकार, विकार भाव, संयोग जन्य, जड़ हैं, मम ना स्वभाव ॥२७॥

संयोग पाकर तनादिक का यहाँ रे, संसारि जीव दुख भाजन हो रहा है।
तो काय से वचन से मन से तजूँ मैं, संमोह को, इसलिए निज को भजूँ मैं ॥२८॥

मेरा नहीं मरण है, फिर भीति कैसी? रोगी नहीं, फिर व्यथा किसकी हितैषी।
मैं हूँ नहीं परम वृद्ध युवा न बाल, ये हैं यहाँ सकल पुद्गल के बवाल ॥२९॥

भोगे गये निखिल पुद्गल बार-बार, संसार-मध्य मुझसे, दुख है अपार।
भोगूं, उन्हें!! अब पुनः यह निंद्य कार्य!! उच्छिष्ट सेवन करे जग में अनार्य ॥३०॥

है कर्म कर्म सखि कों निज पास लाता, तो जीव आत्म-हित को नित चाहता वा।
हो जाय स्वीय पद पे बलवान कोई, इच्छा निजीय हित की किसको न होई? ॥३१॥

हे! मित्र त्याग कर शीघ्र परोपकार, हो स्वोपकार रत तू जग को विसार।
होता विमूढ़ पर के हित में सुलीन, मोही दुखी इसलिए मतिहीन दीन ॥३२॥

सत् शास्त्र के मनन से गुरु भाषणों से, विज्ञान रूप स्फुट नेत्र सहायता से।
जो जानते स्वपर अन्तर को यहाँ है, जाने सदैव शिवको सब वे अहा! है ॥३३॥

विज्ञान रूप गुण से निजको जनाता, औ आप में रमण की अभिलाष लाता।
धाता निजीय सुख का जग में तथा है, आत्मा वही 'गुरु' अतः निज आत्म का है॥३४॥

पाता अभिज्ञ न कभी इस अज्ञता को, तो अज्ञ भी न गहता उस विज्ञता को।
धर्मास्तिकाय जग ज्यों गति हेतु मात्र, त्यों ही अभव्य जनको गुरु और शास्त्र ॥३५॥

विद्वेष, राग रति, मोह, विकार रिक्त, औ तत्त्व-बोध थित है जिसका सुचित्त।
आलस्य हास्य तज औ निजगीत गावे, एकांत में वह निजात्म स्वभाव ध्यावे ॥३६॥

ज्यों विश्वसार परमोत्तर आत्म तत्त्व, विज्ञान में उतरता, वह साध्य तत्त्व।
अच्छे नहीं विषय त्यों लगते यहाँ पे, जो प्राप्त हैं सहज यद्यपि रे! धरा पे ॥३७॥

ज्यों ज्यों नहीं विषय है निज को सुहाते, जो जीव को भव सरोवर में गिराते।
त्यों त्यों अहो परम उत्तम साध्य तत्त्व, विज्ञान में उतरता वह आत्म तत्त्व ॥३८॥

आत्मा यदा निजनिरंजन रूप ध्याता, है इन्द्रजाल सम विश्व उसे दिखाता।
अन्यत्र है मन कभी यदि स्वल्प जाता, तो क्या कहूँ वह तदा अति दु:ख पाता ॥३९॥

प्यारा जिसे विपिन जो लगता यहाँ है, एकान्त वास करता वह तो सदा है।
आत्मीय कार्य वश हो यदि बोलता है, तो शीघ्र ही तज उसे निज साधता है ॥४०॥

विद्वेष, राग, रति से अति दूर जो हैं, वे बोलते यदि तथापि न बोलते है।
ना देखते अपर को लखते हुए भी, जाते नहीं गमन वे करते हुए भी ॥४१॥

कैसे कहाँ व किसका यह कौनसा है, यों प्रश्न भी न करता निज में बसा है।
है जानता न अपने तन को विरागी, जो योग लीन नित है पर वस्तु त्यागी ॥४२॥

जो जीव वास करता सहसा जहाँ है, निर्भ्रान्त लीन रहता वह तो वहाँ है।
जो भी जहाँ रमत मुद्दत से सदैव, अन्यत्र ना गमन हो उनका वृथैव ॥४३॥

ज्ञाता, अचेतनमयी तन का नहीं है, जो देह का स्मरण भी करता नहीं है।
ज्ञानी वही, विविध कर्म न बाँधता है, होता प्रमुक्त उनसे, शिव साधता है ॥४४॥

देहादि तो पर, अत: सब दु:ख रूप, आत्मा निजीय सुखधाम, सुधास्वरूप।
सारे अत: सतत सादर सन्त लोग, आत्मार्थ ध्यान धरते, तज सर्व भोग ॥४५॥

जो आत्म सौख्य तज इन्द्रिय भोग लीन, मूढात्म है जगत में वह भाग्य हीन।
पाता अत: दुख सदा भव में नितांत, यों बार-बार तनधार अपार क्लांत ॥४६॥

शुद्धात्म को हि वह केवल ध्येय मान, सारे विकल्प तजता, द्रुत हेय, जान।
योगी सुयोग बल से अति श्लाघनीय, पाता सुसौख्य जग जो बुध शोधनीय ॥४७॥

जो नित्य कर्ममय-इन्धन को जलाता, है आत्म जन्य सुख तो शिव रूप भाता।
योगी अतः परिषहादिक से यहाँ पे, हैं खेदता न गहते, नित तोष पाते ॥४८॥

अज्ञान रूप तम को झट जो नशाती, है ज्ञान-ज्योति शिवमार्ग हमें दिखाती।
आराधनीय वह है निज दर्शनीय, स्वामी! मुमुक्षु जन से जग शोधनीय ॥४९॥

है अन्य जीव जड़ पुद्गल अन्य भाता, है 'तत्त्व सार' यह यों जिन शास्त्र गाता।
जो भी अहो कथन अन्य यहाँ दिखाता, विस्तार मात्र इसका, इसमें समाता ॥५०॥

इष्टोपदेश पढ़ आदर से सुभव्य, 'मानापमान' इनमें धर साम्य दिव्य।
एकान्तवाद तज, ग्राम अरण्य में वा, धारे चरित्र, जिससे शिव-मिष्ट-मेवा ॥५१॥

गुरु स्मृति

थे भव्य-पंकज-प्रभाकर पूज्यपाद, था आपमें अति प्रभावित साम्यवाद।
वन्दूँ उन्हें विनय से मन से त्रिसंध्या 'विद्या' मिले, सुख मिले, पिघले अविद्या ॥

❑ ❑ ❑

इष्टोपदेश

(ज्ञानोदय छंद)

मंगलाचरण

सुर-नर ऋषि-वर से सदा, जिनके पूजित-पाद।
पूज्य-पाद को नित नमूँ, पाऊँ परम-प्रसाद ॥

जिस जीवन में पूर्ण रूप से, सब कर्मों का विलय हुआ,
उसी समय पर सहज रूप से, स्वभाव रवि का उदय हुआ।
जिसने पूरण पावन परिमल, ज्ञानरूप को वरण किया,
बार-बार बस उस परमातम, को इस मन ने नमन किया ॥१॥

स्वर्ण बने, पाषाण-स्वर्ण का, स्वर्ण-कार का हाथ रहा,
अनल-मिलन से जली मलिनता, समुचित-साधन साथ रहा।
योग्य-द्रव्य हो योग्य-क्षेत्र हो, योग्य-भाव के योग मिले,
आतम-परमातम बनता है भव-भव का संयोग टले ॥२॥

व्रत-पालन से सुर-पुर में जा, सुर-पद पाना इष्ट रहा,
पर व्रत बिन नरकों में गिरना, खेद! किसे वह इष्ट रहा।
घनी छाँव में, घनी धूप में, थित हो अन्तर पहिचानो,
अरे! हितैषी व्रताव्रतों में कितना अन्तर तुम मानो ॥३॥

जिन-भावों से नियम रूप से, मिलता है जब शिवपुर है,
उन भावों से भला! बता दो, क्या? ना मिलता सुर-पुर है।
द्रुतगति से जो वाहन यात्रा, कई योजनों की करता,
अर्ध-कोश की यात्रा करने, में भी क्या? वह है डरता ॥४॥

पंचेन्द्रिय-सुख होकर भी जो आतंकों से दूर रहा,
युग-युग तक अगणित वर्षों तक, लगातार भर-पूर रहा।
सुर-सुख तो बस सुरसुख जिसको, अनुभवते सुर-पुर-वासी,
कहे कहाँ तक? किस विध? किसको? आखिर हम तो वनवासी ॥५॥

तन-धारी जीवों का सुख तो, मात्र वासना का जल है,
दुख ही दुख है सुख-सा लगता, मृग-मरीचिका का जल है।
संकट की घड़ियों में जिस विध, रोग-भयंकर, उस विध हैं,
भोग सताते भोक्ताओं को, भोग हितंकर किस विध हैं? ॥६॥

पुरुष यहाँ उन्मत्त बना हो, जिसने मदिरापान किया,
निज-का पर-का हिताहितों का, उसे कहाँ? हो ज्ञान जिया।
मोह-भाव से घिरा हुआ यदि, जिसका भी वह ज्ञान रहा,
स्वभाव को फिर नहीं जानता, यथार्थ में अज्ञान रहा ॥७॥

धन-तन केतन वतन उपावन, मात-पिता सुत-सुता अरे!
परिजन पुरजन सहचर अनुचर, अग्रेचर रिपु तथा रहें।
सुन-सुन सब ये आतम से अति भिन्न-स्वभावी-ज्ञात रहे,
मूढ इन्हें नित निजी मानते भव में भटके भ्रान्त रहें ॥८॥

दिशा-दिशा से देश-देश से, उड़-उड़ पक्षी दल आते,
डाल-डाल पर पात-पात पर, पादप पर निशि बस जाते।
अपने-अपने कार्य साधने, उषा काल में फिर उड़ते,
दिशा-दिशा में देश-देश में, कहाँ देखते फिर मुड़के ॥९॥

हत्यारा यदि हत्या करता, तुम क्यों? उस पर क्रोध करो,
हत्यारे तो तुम भी हो फिर, कुछ तो मन में बोध धरो।
त्र्यंगुल को निज पैरों से जो, कोई मानव गिरा रहा,
उसी समय पर उसी दण्ड से, स्वयं धरा पर गिरा अहा ॥१०॥

दधिमन्थन के काल मथानी, मन्थन-भाजन में भ्रमती,
कभी इधर तो कभी उधर ज्यों, क्षण भर भी ना है थमती।
राग-द्वेष की लम्बी-लम्बी, डोरी से यह बँधा हुआ,
ज्ञान बिना त्यों भव में भ्रमता, रुदन करे गल रुँधा हुआ ॥११॥

भरे रीतते कुछ भरते घट, तब तक यह क्रम चलता है,
घटी-यन्त्र का परिभ्रमण वह, जब तक रहता चलता है।
इसी भाँति भवसागर में भी, एक आपदा टलती है,
कई आपदायें आ सन्मुख, मोही जन को छलती हैं ॥१२॥

जिनका अर्जन बहुत कठिन है, संरक्षण ना सम्भव है,
स्वभाव जिनका मिटना ही है, ये धन-कंचन-वैभव हैं।
फिर भी निज को स्वस्थ मानते, धनपति धन पाकर वैसे,
ज्वर से पीड़ित होकर जो जन, घृत-मय भोजन कर जैसे ॥१३॥

वन में तरु पर बैठा जैसा, मन में चिंतन करता है,
वन्य-जन्तु अब जले मरे सब, आग लगी वन जरता है।
पर की चिन्ता जैसी करता, अपनी चिन्ता कब करता?
मूढ़ बना तन पुनि-पुनि धरता, मरता है पुनि-पुनि डरता ॥१४॥

काल बीतता ज्यों-ज्यों त्यों-त्यों आयु कर्म वह घटे बढ़े,
धन का वर्धन धनी चाहते, प्रतिदिन हम तो बनें बढ़े।
कहें कहाँ तक धनी लोग तो, जीवन से भी जड़ धन को,
परम-इष्ट परमेश्वर कहते, धन्यवाद धन-जीवन को ॥१५॥

निर्धन धन अर्जित करता है, दान हेतु यदि वह नाना,
दान कर्म का ध्येय बनाया, कर्म खपाना शिव पाना।
कार्य रहा यह ऐसा जैसा, अपने तन पर करता है-
लेप पंक का कोई मानव, "स्नान करूँगा कहता है" ॥१६॥

प्राप्त नहीं हो जब तक, तब तक, महा ताप कर काम-सभी,
किन्तु प्राप्त हो जाने पर तो, कभी तृप्ति का नाम नहीं।
अन्त-अन्त में तो क्या कहना? जिनका तजना सरल नहीं,
सुधी रचे फिर काम-भोग में? जिनका मन हो तरल कहीं ॥१७॥

मलयाचल का चन्दन चूरण, चमन चमेली चातुरता,
कुन्द पुष्प मकरन्द सुगन्धी, गन्ध-दार मन्दारलता।
पदार्थ सब ये तन संगति से, गन्ध-पूर्ण भी गन्दे हों,
सदा अहित कर तन का यदि तुम, राग करो तो, अन्धे हो ॥१८॥

तन का जो उपकारक है वह, चेतन का अपकारक है,
चेतन का उपकारक है जो तन का वह अपकारक है।
सब शास्त्रों का सार यही है चेतन का उद्धार करो,
अपकारक से दूर रहो तुम, तन का कभी न प्यार करो ॥१९॥

एक ओर तो चिन्तामणि है, दिव्य रही, मन हरती है,
और दूसरी ओर कांच की, मणिका जग को छलती है।
ध्यान-साधना से ये दोनों, मानो भ्राता! मिलती हैं,
आदर किसका बुधजन करते? आँखें किस पर टिकती हैं ॥२०॥

अपने-अपने संवेदन में, अमूर्त हो आतम भाता,
रहा रहेगा त्रिकाल में है, अतः अनश्वर है भ्राता!
तात्कालिक तन प्रमाण होता, अनन्त सुख का निलय रहा,
लोकालोकालोकित करता, सदा लोक का उदय रहा ॥२१॥

चपल-स्वभावी सभी इन्द्रियाँ, इनको संयत प्रथम करो,
मनोयोग से मनमाना मन, को भी मंत्रित तुरत करो।
अपने में स्थित हो अपने को, अपनेपन से आप तथा,
ध्याओ अपने आप भला फिर, ताप मिटे संताप व्यथा ॥२२॥

अज्ञानी की शरण-गहो तो, सुनो तुम्हें अज्ञान मिले,
ज्ञानी-जन की उपासना से, ज्ञान मिले वरदान फले।
जिसका स्वामी जो होता है, प्रदान उसको करता है,
लोक नीति यह सुनी सभी ने, प्रमाण विरला करता है ॥२३॥

योगी जन अध्यात्म योग से, चेतन में निर्बाध रहे,
मनो-योग को वचन-योग को, काय-योग को साध रहे।
परीषहों को, उपसर्गों को, सहते विचलित कब होते?
कर्म-निर्जरा आस्त्रव-रोधक, संवर प्रचलित सब होते ॥२४॥

यूं हि परस्पर दो दो में तो, होता है सम्बन्ध रहा,
कर्म रहा मम [१]कट, कट का मैं, कर्ता हूँ प्रतिबन्ध रहा।
एकमेक जब ध्यान-ध्येय हो, आतम का ही आतम ओ!
फिर किस विध सम्बन्ध बन्ध हो, दोपन ही जब खातम हो ॥२५॥

इसीलिए तुम पूर्ण यत्न से, निर्ममता का मनन करो,
चिन्तन-मन्थन-आराधन भी, तथा उसी को नमन करो।
जीव कर्म से बंधता तब है, ममता से जब मण्डित हो,
बन्धन से भी मुक्त वही हो, निर्ममता में पण्डित हो ॥२६॥

एक अकेला निर्मम हूँ मैं, योगी को ही दिखता हूँ,
शुद्ध-शुभ्र हूँ ज्ञानी होता, ज्ञानामृत को चखता हूँ।
माया, ममता, मोह, मान, मद, संयोगज ये भाव अरे!
भिन्न सर्वथा मुझसे हैं यूँ, इनमें हम समभाव धरे ॥२७॥

असहनीय दुःखों का फल है, यह संसारी बना हुआ,
संयोगज भावों का फल है, रागादिक में सना हुआ।
इसी बात को जान मानकर उपकृत हूँ गुरुवचनों से,
रागादिक को पूर्ण त्यागता, तन से, मन से, वचनों से ॥२८॥

मरण नहीं है मेरा मुझको, कहाँ भीति हो? किससे हो?
व्याधि नहीं है मुझमें, मुझको, वृथा व्यथा फिर किससे हो?
बाल नहीं हूँ, युवा नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ ज्ञात-रहे,
ये पुद्गल की रहीं दशायें, चेतन मेरा साथ रहे ॥२९॥

मोह-भाव से विगत-काल में, मुझसे ये पुद्गल-सारे,
बहुत बार भी, बार-बार भी, भोगे, छोड़े, उर धारे।
वमनरूप-सम भोगों में अब, मेरा मन यदि फिर जाता,
विज्ञ बना मुझको शोभा क्या? देता उत्तर लजवाता ॥३०॥

कर्म चाहता तभी कर्म-हित, कर्म-कर्म से जब बंधता,
जीव चाहता तभी जीवहित, जीवन जिससे है सधता।
अपने-अपने प्रभाव के वश, बलशाली हैं जब होते,
स्वार्थ सिद्धि में कौन-कौन फिर, तत्पर ना हो? सब होते ॥३१॥

पर को उपकारों का अब ना, पात्र बनाओ भूल कभी,
निज पर ही उपकार करो अब, पात्र रहा अनुकूल यही।
करते दिखते सदा परस्पर, लौकिक जन उपकार यथा,
करते दिखते अज्ञ निरन्तर, पर पर ही उपकार तथा ॥३२॥

गुरु का उपदेशामृत निज को, सर्वप्रथम तो पिला दिया,
तदनुसार अभ्यास बढ़ाया, प्रयोग करता चला गया।
निजानुभव से निज-पर अन्तर, तभी निरन्तर जान रहा,
जान रहा वह मोक्ष सौख्य भी, अब तक जो अनजान रहा ॥३३॥

प्रशस्त-तम है अपनेपन में, जो उसका अभिलाषक है,
स्वयं किसी उपदेश बिना भी इष्ट-तत्त्व का ज्ञापक है।
जो कुछ अब तक मिला मिलेगा, निज हित का भी भोक्ता है,
अतः समझ तूँ आतम का तो, आतम ही गुरु होता है ॥३४॥

अज्ञ रहा तो अज्ञ रहेगा, नहीं विज्ञता पा सकता,
विज्ञ रहा तो विज्ञ रहेगा, नहीं अज्ञता पा सकता।
केवल निमित्त धर्म द्रव्य है, गति में जैसा होता है,
एक अन्य के कार्य विषय में, समझो वैसा होता है ॥३५॥

रागादिक लहरें ना उठतीं, जिनका मानस शान्त रहा,
हेय तथा आदेय विषय में, तत्त्व-ज्ञान निर्भ्रान्त रहा।
योगी-जन निर्जन वन में जा, निद्रा-विजयी तथा बने,
प्रमाद तज निज साधन कर ले, कालजयी फिर सदा बने ॥३६॥

तत्त्वों में जो परम तत्त्व है, आत्म तत्त्व जो सुख-दाता,
जैसे-जैसे अपने-अपने, संवेदन में है आता।
वैसे-वैसे भविकजनों को रुचते ना हैं भले-भले,
पुण्योदय से सुलभ हुए हैं, भोग सभी पीयूष घुले ॥३७॥

पुण्योदय से सुलभ हुए हैं, भोग सभी पीयूष घुले,
जैसे-जैसे भविकजनों को, रुचते ना हैं भले-भले।
वैसे-वैसे अपने-अपने, संवेदन में है आता,
तत्त्वों में जो परम तत्त्व है, आत्मतत्त्व जो सुख दाता ॥३८॥

इन्द्र-जाल सम स्वभाव वाला, पल-पल पलटन शीला है,
सार-शून्य-संसार सकल है, नील-निशा की लीला है।
इस विध चिन्तन करता योगी, आत्म-लाभ का प्यासा है,
पल-भर भी यदि बाहर जाता, खेद खिन्न हो खासा है ॥३९॥

जन, मन, तन-रंजन में जिसको, किसी भांति ना रस आता,
अतः सदा एकान्त चाहता, मुनि बन वन में बस जाता।
निजी कार्य वश कभी किसी से, कुछ कहना हो कहता है,
कहकर भी झट विस्मृत करता, अपनेपन में रहता है ॥४०॥

यदपि बोलते हुए दीखते, तदपि बोलते कभी नहीं,
चलते जाते हुए दीखते, फिर भी चलते कभी नहीं।
आत्म तत्त्व स्थिर जिनका उनकी, जाती महिमा कही नहीं,
दृश्य देखते हुए दीखते, किन्तु देखते कभी नहीं ॥४१॥

यह सब क्या है? क्यों हैं? किस विध? कब से? किसका? है किससे?
इस विध चिन्तन करता-करता, जो निज चिति में फिर-फिर से!
अपनी काया की भी सुध-बुध, भूल कहीं खो जाता है,
योग परायण योगी वह तो, एकाकी हो जाता है॥४२॥

जो भी मानव निवास करता, जहाँ कहीं भी पाया है,
नियम रूप से उसने अपना वहाँ राग दिखलाया है।
भाव-चाव से जहाँ रम रहा, जीवन अपना बिता रहा,
उसे छोड़कर कहीं न जाता, छन्द यहाँ यह बता रहा॥४३॥

बाहर योगी जब ना जाता, बाहर का फिर ज्ञान कहाँ?
बाहर का जब ज्ञान नहीं है, विषयों का फिर नाम कहाँ?।
विषयों का जब नाम नहीं है, रागादिक का काम कहाँ?
रागादिक का काम नहीं तो, बन्ध कहाँ? शिवधाम वहाँ॥४४॥

पर तो पर है समझो भ्राता!, पर से अति दुख मिलता है,
आतम तो आतम है भाता, आतम से सुख मिलता है।
यही जानकर यही मानकर, महामना ऋषि सन्त यहाँ-
आत्म-साधना में रत रहते, सुख पाने गुणवन्त महाँ॥४५॥

कभी स्व-पर को नहीं जानता, रहा अचेतन यह तन है,
फिर तन का अभिनन्दन करता, मूढ़ बना तू चेतन है?।
साथ चलेगा तुझको फिर ना, चउगतियों में छोड़ेगा,
पापों से जोड़ेगा तुझको, भव-भव में तूँ रोयेगा॥४६॥

बाहर के व्यवहार कृत्य से, तन-मन-वच से मुड़ता है,
भीतर के अध्यात्म वृत्त से चेतन-पन से जुड़ता है।
फलत: परमानन्द जागता, राग-भाग्य अब भाग चला,
योगी का यह योग योग है, वीतराग पथ लाग चला॥४७॥

योग साधना में कब दुख हो, योगी का उद्योग यही,
योगी भीतर बाह्य दुःख में, देता कब उपयोग सही?।
आतम में आनन्द उदित हो, साधक को सन्तुष्ट करे,
कर्मरूप ईन्धन को अविरल, जला जलाकर नष्ट करे ॥४८॥

जिसे अविद्या देख कांपती, पल-भर में बस नस जाती,
महा-बलवती ज्ञान-ज्योति वह, कहलाती है, सुख लाती।
बात करो तो करो उसी की, चाह उसी की करो सदा,
मुमुक्षु हो तुम उसी दृश्य को, देखो उर में धरो सदा ॥४९॥

जीव सदा से अन्य रहा है, अन्य रहा तन पुद्गल है,
तत्त्व ज्ञान बस यही रहा है, माना जाता मंगल है।
फिर भी जो कुछ और कथन यह, सुनने सन्तों से मिलता,
मात्र रहा विस्तार उसी का, तत्त्व-ज्ञान से तम मिटता ॥५०॥

सुधी सही इष्टोपदेश का, ज्ञान करे अवधान करे,
मानपने अपमानपने का, समान ही सम्मान करे।
निराग्रही मुनि बन वन में या, उचित भवन में वास करे,
पाले निरुपम मुक्ति सम्पदा, भव्य भवों का नाश करे ॥५१॥

दोहा

जहाँ अनेकों पूज्य जिन,-धाम एक से एक।
रवि निज किरणों से करे, प्रतिदिन सौ अभिषेक ॥१॥

रामटेक को देखते, प्रकटे स्व-पर विवेक।
विराम स्वातम में करो, विघटे विपद अनेक ॥२॥

ऋषि रसना रस गन्ध की, पौष शुक्ल गुरु तीज।
पूर्ण हुआ अनुवाद है भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥३॥

❑ ❑ ❑

समाधिसुधा शतक

आचार्य पूज्यपाद रचित

समाधितंत्र

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

समाधिसुधा-शतक

(१९७१)

आचार्य पूज्यपाद के द्वारा चित्त को विभाव परिणति से हटाकर स्वभाव में स्थिर करने के लिए समाधितंत्र ग्रन्थ का सृजन हुआ। आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज ने वसंततिलका छन्द के १०५ पद्यों में पद्यानुवाद करके अंत में रचनाकार के स्मरणपूर्वक स्व-नाम का उल्लेख करते हुए उनके श्री-चरणों में प्रणाम निवेदित किया है। अध्यात्म-परक छन्द का पद्यानुवाद दृष्टव्य है—

काया अचेतन-निकेतन दृश्यमान,
दुर्गन्ध-धाम पर है क्षण नश्यमान।
तो रोष-तोष किसमें मम हो महात्मा!,
मध्यस्थ हूँ इसलिए जब चेतनात्मा ॥४६॥

समाधि-सुधा-शतकम् नामक यह पद्यानुवाद सन् १९७१ के मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर (राजस्थान) में हुए वर्षायोग काल के दौरान पूर्ण हुआ था।

इस कृति में उन देहानुरागी जीवों को चेतावनी दी गई है जिन्होंने मिथ्यात्व के उदय से जड़ देह को ही आत्मा समझ रखा है। ऐसा मोहग्रस्त रागी अपने 'स्वभाव' को कभी नहीं समझ सकता। अतः रचयिता कहते हैं—

जो ग्रन्थ त्याग, उर में शिव की अपेक्षा,
मोक्षार्थी मात्र रखता, सबकी उपेक्षा।
होता विवाह उसका शिवनारि-संग;
तो मोक्ष चाह यदि है बन तू निसंग ॥७१॥

जो आत्म ध्यान करता दिन-रैन त्यागी,
होता वही परम आतम वीतरागी।
संघर्ष में विपिन में स्वयमेव वृक्ष;
होता यथा अनल है अयि भव्य दक्ष! ॥९८॥

समाधिसुधा शतक

(वसंततिलका छन्द)

जो जानते अपर को अपरात्म रूप, औ आत्म को सतत वे सब आत्मरूप।
स्वामी! अमेय अविनश्वर बोधधाम, हो बार-बार उन सिद्धन को प्रणाम ॥१॥

सम्माननीय जिनकी वह भारती है, अत्यन्त तीर्थ-कर संपति शोभती है।
धाता महेश शिव सौगत नामधारी, वंदूँ उन्हें जिनप जो जग आर्त-हारी ॥२॥

शास्त्रानुसार निज बोध-बलानुसार,एकाग्र चित्तकर युक्ति मतानुसार।
शुद्धात्म-तत्त्व उनको कहता यहाँ मैं, जो चाहते सहज सौख्य प्रभो सदा है ॥३॥

आत्मा यही त्रिविध है सब देहियों में, आदेय है परम आतम पे सबों में।
तो अन्तरात्म शिवदायक है उपेय, धिक्कार हाय! बहिरातम निंद्य हेय ॥४॥

मेरा शरीर, धन औ सुत राजधानी, ऐसा सदैव कहता बहिरात्म प्राणी।
रागादि से रहित हा वह अन्तरात्मा, है वंद्य, पूज्य, परमातम, निर्मलात्मा ॥५॥

जो बुद्ध, शुद्ध जिनके न शरीर साथ, अत्यन्त इष्ट जिन ईश्वर विश्वनाथ।
है सिद्ध, अव्यय तथा वसु-कर्म रिक्त, है पूजनीय परमातम पूर्ण व्यक्त ॥६॥

जो है यहाँ सतत इन्द्रिय-भोगलीन, निर्भ्रांत नित्य बहिरात्म स्वबोध हीन।
है देह को इसलिए वह आत्म मान, संसार में दुख सदा सहता महान ॥७॥

धिक्कार मानव-तन-स्थित आत्म को ही, हैं मानते मनुज रूप सदा विमोही।
तिर्यञ्च देह अरु देव शरीर पाते, तिर्यञ्च, देव क्रमशः निज को जनाते ॥८॥

लेते जहाँ नरक में जब जन्म भी है, तो मानते स्वयम को तब नारकी है।
आत्मा प्रभो! परम निश्चय से न ऐसा, विज्ञान पूर्ण, निजगम्य अहो! हमेशा ॥९॥

जो पुद्गलात्मक तथा पर देह को ही, स्वामी! निजीय तन सादृश जान मोही।
है मानता भ्रमित हो यह 'अन्य आत्मा' प्रायः अतः दुरित ही करता दुरात्मा ॥१०॥

जो आत्मबोध परिशून्य सदा रहा है, संपत्ति से मुदित तोषित हो रहा है।
मेरी खरी मृगदृगी ललना यहाँ है, ऐसा विचार उसका भ्रम-पूर्ण हा! है ॥११॥

मिथ्यात्व-जन्य उसकी इस भावना से, अज्ञान तीव्र बढ़ता, सुख हो कहाँ से ?
तो देह को 'निज' सदा वह मानता है, औ आत्म को वह कदापि न जानता है ॥१२॥

मिथ्यात्व भाव वश हो वह मूढ़ जीव, है आत्मबुद्धि रखता तन में सदीव।
माता, पिता, सुत, सुता, वनिता व भ्राता, ये हैं यहाँ 'मम' सभी इस भाँति गाता ॥१३॥

आभूषणादिक जड़ात्मक नश्यमान, मोही इन्हें स्वयम के सुख हेतुमान।
उत्कृष्ट स्वीय मणि को वह व्यर्थ खोता, लो! काँच में रम रहा, दुख बीज बोता ॥१४॥

संसार का प्रथम कारण देह-नेह, है रुद्ध हाय! जिससे यह बोध गेह।
व्यापार-त्याग द्रुत इन्द्रिय-ग्राम का रे, हो आत्म में रत अतः यदि लोग सारे ॥१५॥

मैंने स्वभाव तज के निज भोग लीन, संसार में दुख सहा, वृष-बोध हीन।
मैं 'आत्म' हूँ न पहले इस भाँति जाना, पै सर्वथा विषय को सुख-हेतु माना ॥१६ ॥

जो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा, होता नितान्त उसका वह योग चंगा।
उत्कृष्ट आतम प्रकाशक योग-दीप, धारो इसे, शिव लसे, फलतः समीप ॥१७॥

जो भी मुझे नयन गोचर हो रहा है, ना जानता वह कभी जड़ तो रहा है।
जो जानता वह न इन्द्रियगम्य आत्मा, बोले तदा किसलिए किस संग आत्मा ॥१८॥

मैं योग्य शिष्य दल को नित हूँ पढ़ाता, या ज्ञान को सुगुरु से सहसा बढ़ाता।
उन्मत्त-सी यह यहाँ मम मात्र चेष्टा, मैं निर्विकल्प मम निश्चय से न चेष्टा ॥१९॥

चैतन्य को पर कभी तजता नहीं है, अग्राह्य को ग्रहण भी करता नहीं है।
जो जानता निखिल को निज ज्ञान से ही, विज्ञान पूर्ण वह 'चेतन जीव 'मैं' ही' ॥२०॥

स्वामी! सुदूर स्थित नीरस वृक्ष में ओ; जैसा सदा पुरुष का अनुमान जो हो।
मिथ्यात्व के उदय से जड़ देह को ही 'आत्मा' पुरा भ्रमित हो समझा प्रमोही ॥२१॥

पश्चात् उसे निकट जा लख शुष्क ठूंठ, ज्यों त्यागता वह उसे द्रुत मान झूठ।
त्यों छोड़ता वितथ मान तनादिकों को, निस्सार हेय पर जो दुखकारकों को ॥२२॥

ना मैं नपुंसक नहीं नर दीन स्त्री न, दो भी न एक न अनेक तथा न तीन।
मैं हूँ निजात्म बल से जब स्वात्म ध्याता, इत्थं तदा न मुझमें कुछ भेद नाता! ॥२३॥

शुद्धात्म-ध्यान बिन खेद! अनादि सोया, पाके उसे जग गया, बहु दुःख खोया।
आनन्द जो मिल गया, निजगम्य रम्य, स्वामी! अतीन्द्रिय अपूर्ण न शब्द-गम्य ॥२४॥

देखूँ यदा परम हृद्य निजात्म को मैं, रागादि भाव दुखदा द्रुत नष्ट होते।
होती भयानक तदा न सुतेज आग, प्यारी नहीं कुसुम की लगती पराग ॥२५॥

ब्रह्माण्ड ही जब मुझे नहिं जानता है, क्या शत्रु-मित्र वह हो सकता तदा है।
या जानता यदि मुझे लखता तथा है, तो भी न मित्र रिपु हो सकता अहा! है ॥२६॥

शीघ्रातिशीघ्र बहिरात्म-पना विसार, औ अंतरात्म-पन को रुचि संग धार।
संकल्प, जल्प व विकल्प-विहीन भी हो, पश्चात् सुपूज्य परमेश्वर रूप पाओ ॥२७॥

साधू सदैव वह तो निज आत्म ध्याता, सोऽहं, विशुद्ध जिन हूँ रट यों लगाता।
होता निवास निज में इस धारणा से, क्यों रोष-तोष तब हो, दुख हो कहाँ से ? ॥२८॥

नादान, दीन, मतिहीन, स्वबोध-हीन, विश्वास धार जड़ में सुखमान लीन।
है मान्यता यह अतः वह दुःख धाम, तो आत्म-ध्यान घर है, सुख का ललाम ॥२९॥

निश्चिन्त हो निडर, निश्चल अन्तरात्मा, व्यापार रोक करणावलिका महात्मा।
जो भी जभी निरखता अरु जानता है, शुद्धात्म तत्त्व उसको वह भासता है ॥३०॥

जो मैं वही परम आतम है महात्मा, ऐसा विचार करता वह अन्तरात्मा।
मैं ही उपास्य मम हूँ स्तुति अन्य की क्यों? मैं साहुकार जब हूँ फिर याचना क्यों? ॥३१॥

मैंने सभी विषय को विष मान त्यागा, मेरा जिनेश जिस कारण भाग्य जागा।
आनन्द-धाम मुझको अधुना मिला है, विज्ञान-नीरज अतः उर में खिला है ॥३२॥

दुर्गन्ध-रक्त-मल-पूरित-देह को जो, है मानता न यति भिन्न निजात्म से ओ।
निर्भीक यद्यपि करे तप भी करारी, तो भी उसे न वरती वह मुक्ति-नारी ॥३३॥

जो जानता तन तथा निज आत्म-भिन्न, होता नहीं वह कभी यति खेद-खिन्न।
शीतातिशीत हिम से डरता नहीं है, संतप्त चूलगिरि पे तपता वही है ॥३४॥

योगीन्द्र का मन सरोवर है निहाल, ना हैं जहाँ कलुष राग तरंग जाल।
स्वामी! वही निरखता निज आत्मतत्त्व, रागी नहीं वह कभी लखता स्वतत्त्व ॥३५॥

संक्षोभ-हीन मन आतम का स्वभाव, संमोह-मान-मय-मानस है विभाव।
सारे अतः मलिन मानस को धुलाओ, आदर्श सादृश विशुद्ध उसे सजाओ ॥३६॥

मिथ्यात्व-मान ममतादिक कारणों में, होता सुलीन मन है विषयादिकों में।
सिद्धान्त के मनन से मन हाथ आता, विज्ञान के उदय से पर में न जाता ॥३७॥

उद्विग्न क्षोभमय जो नित हो रहा है, मानापमान उसके मन में बसा है।
सद्धर्म-लीन जब जो मुनि वीतराग, क्यों द्रोह मोह उनमें फिर रोष राग? ॥३८॥

अज्ञान का प्रबल कारण पा जिनेश, हो जाय तो यदि यदा रति राग द्वेष।
भावे उसी समय स्वीय विशुद्ध तत्त्व, तो राग-द्वेष मिटते, मिटता ममत्व ॥३९॥

सम्बन्ध स्वीय तन से यदि प्रेम का हो, योगी सुदूर उससे सहसा अहा! हो।
विज्ञान रूप तन में निज को लगावें, तो देह-प्रेम नशता, तब मोक्ष पावें ॥४०॥

अज्ञान-जन्य-दुख नाश स्वबोध से हो, पीड़ा अतीव वह क्यों न अनादि से हो।
विज्ञान के विषय में यदि आलसी है, पाता न मोक्ष, उसका तप! ना सही है ॥४१॥

लक्ष्मी मिले, मिलन हो, मम हो विवाह, मूढ़ात्म को विषय की दिन-रैन चाह।
ज्ञानी, वशी, विमल मानस, आत्मवादी, मूढ़ात्म सादृश नहीं, पर अप्रमादी ॥४२॥

जो आत्म-भक्ति च्युत होकर भोगलीन, त्यों कर्म जान फँसता रसलीन मीन।
जो स्नान आत्म सर में करता तपस्वी, निर्मुक्त कर्म-रज से वह हो यशस्वी ॥४३॥

स्त्री नपुंसक औ नर लिंग को ही, 'आत्मा' सदैव इस भाँति कहे प्रमोही।
पै आत्म अव्यय, अवर्ण्य, अखण्ड पिण्ड, ऐसा कहे सुबुध, ना जिनमें घमण्ड ॥४४॥

शुद्धात्म को सुबुध यद्यपि जानता है, ध्याता उसे अलस को तज देखता है।
मिथ्यात्व का उदय पै यदि हाय! होता, सद्ध्यान शीघ्र नशता, वह भ्रष्ट होता ॥४५॥

काया अचेतन-निकेतन दृश्यमान, दुर्गन्ध-धाम पर है क्षण नश्यमान।
तो रोष-तोष किसमें मम हो महात्मा!, मध्यस्थ हूँ इसलिए जब चेतनात्मा ॥४६॥

मूढ़ात्म केवल पटादिक छोड़ता है, ज्ञानी कषाय घट को झट तोड़ता है।
सर्वज्ञ तो न तजता गहता किसी को, तो लाख बार मम वन्दन हो उसी को ॥४७॥

शुद्धात्म के शयन पे मन को सुलाओ, औ काय से वचन से निज को छुड़ाओ।
रे! सर्व बाह्य व्यवहार तथा भुलाओ, अध्यात्म रूप सर में निज को डुबाओ ॥४८॥

जो आत्म-बोध परिशून्य शरीरधारी, भाता उसे स्वतन ही कल सौख्यकारी।
जो स्वीय बोध पय को नित पी रहा हो, संसार क्षार जल में रुचि क्यों उसे हो? ॥४९॥

शुद्धात्म ध्यान तज अन्तर आत्म सारे, ना अन्य भाव मन में चिरकाल धारें।
या अन्य भाव यदि हैं करते प्रवीण, वाक्काय से कुछ करें मन से कभी न ॥५०॥

जो भी मुझे सकल-इन्द्रिय गम्य हैं रे, निर्भ्रांत भिन्न मुझसे पर है, न मेरे।
देखूँ समोद जब मैं निज में, तभी यों, है ज्योति दीख पड़ती, मम है 'वही जो' ॥५१॥

प्रारम्भ में कुछ दुखी निज ध्यान से हो, प्रायः सुखानुभव बाहर में उसे हो।
अभ्यस्त तापस कहै निजमें हि तोष, संसार सागर असार विपत्ति कोष ॥५२॥

निर्ग्रन्थ होकर करो निज आत्म-गीत, पूछो तथा निजकथा गुरु से विनीत।
चाहो उसे सतत हो उसमें विलीन, अज्ञान नाश जिससे तुम हो प्रवीण ॥५३॥

वाक्काय में निरखता निज को हि अज्ञ, तो देह का वचन का वह है न विज्ञ।
ज्ञानी कहे मम नहीं यह देह भार, होता अतः वह सुशीघ्र भवाब्धि पार ॥५४॥

संभोग में सुख नहीं कहते मुमुक्षु, मोक्षार्थ योग धरते सब संत भिक्षु।
अज्ञान भाव वश हो वह सर्व काल, संभोग में निरत हो बहिरात्म बाल ॥५५॥

अज्ञान रूप तम में चिरमूढ़ सोये, भोगे कुयोनिगत-दु:ख अतीव रोये।
ऐसी दशा च उनकी दयनीय क्यों है? वे आत्म बोध तज के परलीन क्यों है? ॥५६॥

योगी सदा तप तपे निज में रहेंगे, सद्ध्यान ध्या परिषहादिक भी सहेंगे।
'मेरा शरीर' इस भाँति नहीं कहेंगे, कोई प्रबन्ध परसंग नहीं रखेंगे ॥५७॥

मोही नहीं समझते निज शक्ति को भी, ओ जानते न मम उत्तम बोध से भी।
तो क्यों अहो! अबुध को उपदेश मेरा, होगा नहीं उदित सूर्य नहीं सबेरा ॥५८॥

सद्बोध शिष्य-दल को जब मैं दिलाऊँ, स्वामी! निजानुभव मैं तब हा! न पाऊँ।
ना शब्दगम्य, निजगम्य, अमूर्त हूँ मैं, कैसे?किसे! कब उसे! दिखला सकूँ मैं ॥५९॥

संतुष्ट बाह्य धन में कुपथाभिरूढ़, उत्कृष्ट स्वीय-धन-विस्मृति से ''प्रमूढ़''।
चारित्र धार तपते तजते कुभोग, पाते प्रमोद निज में 'मुनि' सन्त लोग ॥६०॥

ना! जानता वह कभी सुख-दु:ख को है, स्वामी! अचेतन-निकेतन देह जो है।
मिथ्यात्वभाव वश हो तनकी सुसेव, मोही नितान्त करता फिर भी सदैव ॥६१॥

देहादि में निरत हैं जबलौं हि जीव, निर्भ्रांत दु:ख सहता तबलौं अतीव।
शुद्धात्म ध्यान तुझको जब हो खुशी है, तेरे तदा निकट ही शिव-कामिनी है ॥६२॥

ज्यों वस्त्र को पहन मार्दव स्पर्श शस्य, हैं मानते न निज को 'बलवान् मनुष्य'।
ना मानते सुबुध त्यों निज देह देख, सन्तुष्ट पुष्ट निज को बलवान् सुरेख ॥६३॥

होता यदा वसन है यदि जीर्ण-शीर्ण, कोई तदा समझते निज को न क्षीण।
काया जरा समय में यदि कांति हीन, ज्ञानी तदा समझते निज को न क्षीण ॥६४॥

है मूल्यवान पट भी यदि नष्ट होता, संसार में अबुध भी न कदापि रोता।
देहावसान यदि हो मम तो खुशी है, मेरा नहीं मरण यों कहते वशी हैं ॥६५॥

हैं पंक से मलिन यद्यपि शुक्ल वस्त्र, पै मानते मनुज तो निज को पवित्र।
तो देह में रुधिर पीव पड़े सड़े भी, योगी स्वलीन फिर भी, तपते खड़े ही ॥६६॥

जो आत्म-चिन्तन सदा करता नितान्त, निस्पन्द ही जग उसे दिखता प्रशान्त।
होता वही 'जिन' अतः गतक्लांत विज्ञ, मोही सदा दुख सहे बहिरात्म अज्ञ ॥६७॥

जो राग-रोष करता गहता शरीर, तो बार-बार मरता सह, दुःख पीर।
प्रत्येक काल जिस कारण कर्म ढोता, तो जानता न निज को भव बीच रोता ॥६८॥

प्रत्येक काल जड़ पुद्‌गल वर्गणाएँ, जाती, प्रवेश करती तन में परायें।
तो पूर्वसा इसलिए तन दीखता है, मोही निजीय कहता उसको वृथा है ॥६९॥

काला न मैं ललित , लाल नहीं अनूप, रोगी न पुष्ट अति हृष्ट नहीं कुरूप।
पै नित्य, सत्य अरु मैं वर बोध-धाम, मेरा अतः विनय से मुझको प्रणाम ॥७०॥

जो ग्रन्थ त्याग, उर में शिव की अपेक्षा, मोक्षार्थ मात्र रखता, सबकी उपेक्षा।
होता विवाह उसका शिवनारि-संग, तो मोक्ष चाह यदि है बन तू निसंग ॥७१॥

संसर्ग पा अनल का नवनीत जैसा, नोकर्म पा पिघलता बुध ठीक वैसा।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर, एकान्त में विपिन में निज में जरूर ॥७२॥

मैं जा रहूँ नगर में, वन में कभी न, ऐसा विचार करता, बहिरात्म दीन।
ज्ञानी न ईदृश विचार स्वचित्त लाता, निश्चिंत हो सतत किन्तु निजात्म ध्याता ॥७३॥

निस्सार पार्थिव तनादिक काऽनुराग, है बीज अन्य तन का द्रुत भव्य! जाग।
तो बीज मोक्ष द्रुम का निज भावना है, भावो उसे यदि तुम्हें शिव कामना है ॥७४॥

आत्मा हि कारण सदा भव का रहा है, जाता वही नियम से शिव को तथा है।
है आत्म का गुरु अतः स्वयमेव आत्मा, कोई न अन्य इस भाँति कहे महात्मा ॥७५॥

होता यदा जड़ तनादिक का वियोग, भारी विलाप करते बहिरात्म लोग।
मैं तो मरा मरण!! हाय! महा समीप, ऐसे कहे न जिनके उर-बोध-दीप ॥७६॥

प्राचीन वस्त्र तज वस्त्र नवीन लेते, स्वामी! यथा मनुज मात्र न खिन्न होते।
योगी तथा न डरता यदि काय जाता, मेरा नहीं मरण है इस भाँति गाता ॥७७॥

जो भी यहाँ विषय भोग करें करावें, शुद्धात्म ध्यान च्युत होकर कष्ट पावें।
जो मौन सर्व व्यवहारिक कार्य में हैं, वे ही स्वदर्शन करें, निज में रमे हैं ॥७८॥

तो देख बाह्य धन वैभव और अंग, ओ! आत्म को निरख के निज अन्तरंग।
निस्सार जान जड़ को पर औ अमेध्य, छोड़े उसे बुध सुशीघ्र बने अवद्य ॥७९॥

जो जोग धार, वन जीवन है बिताता, प्रारम्भ में जग उसे 'मद' सा दिखाता।
पश्चात् वही निरस-ठूंठ समा दिखाता, अभ्यास से मुनि यहाँ निज वित्त पाता ॥८०॥

तत्त्वोपदेश पर को दिन-रैन देता, सद्‌बोध और सुनता जिन शास्त्र वेत्ता।
पै देह भिन्न मम-जीव सदैव भिन्न, ऐसा न बोध यदि हो शिव मात्र स्वप्न ॥८१॥

शुद्धात्म ध्यान सर में निज को डुबाओ, दुर्गन्ध देह सर को सहसा भुलाओ।
तो देह धारण पुनः जिससे न होवे, पावे विशुद्ध पद औ वसु कर्म खोवे ॥८२॥

निर्भ्रान्त अत्र व्रत से वह पुण्य होता, अत्यन्त क्लांत! व्रतहीन कुपाप ढोता।
दोनों विलीन जब हो तब मोक्ष भिक्षु, छोड़े व्रतेतर समा व्रत को मुमुक्षु ॥८३॥

संसार कारण व्रतेतर आद्य छोड़, वैराग्य पा विषय से निज को सुमोड़।
छोड़े महाव्रत तदा मुनि मौनधारी, होती स्वहस्तगत है जब मोक्ष नारी ॥८४॥

संकल्प, जल्प व विचित्र विकल्प वृन्द, है दुःख मूल, जिससे वसु कर्म बन्ध।
होता यदा जड़तया उसका विनाश, आत्मा तदा स्वपद-दिव्य गहे प्रकाश ॥८५॥

जो अव्रती वह सुशीघ्र बने व्रती ही, सज्ज्ञान में परम लीन रहे व्रती भी।
संपन्न ध्यान क्रमशः स्वयमेव होगा, विज्ञान-पूर्ण मुनि यों भव-मुक्त होगा ॥८६॥

चारित्र बाहर तनाश्रित दीखता है, तो जीव का 'भव' यही तन तो रहा है।
जो मात्र बाह्य तप में रहता सुलीन, होता न मुक्त निज-निर्मल-भाव-हीन ॥८७॥

ये शैव वैष्णव तथा बहु जातियाँ हैं, सारी यहाँ जड़ तनाश्रित पंक्तियाँ हैं।
जो मूढ़ जाति-मद है रखता सदैव, कैसा उसे शिव मिले अयि! वीर देव! ॥८८॥

मैं हूँ दिगंबर अतः शिवमार्गगामी, कोई नहीं मम समा बुध अग्रगामी।
इत्थं प्रमत्त मुनि हो मद धारता है, पाता न मोक्ष पद को वह भूलता है ॥८९॥

ज्ञानी सुयोग धरते तपते शिवार्थ, जो दूर हैं विषय से निज साधनार्थ।
तो भोग लीन रहता दिन-रैन मोही, है त्याग का वह सदा अनिवार्य द्रोही ॥९०॥

निर्भ्रांत देह जड़ ही नित जानता है, मोहाभिभूत नर ईदृश मानता है।
पंगु प्रदर्शित यथा पथ-रूढ़ अन्ध, ना दीखता पथिक को वह हाय! अन्ध ॥९१॥

जो अन्ध-खंज युग अन्तर जानते हैं, ज्यों अन्ध को नयनवान न मानते हैं।
विज्ञान पूर्ण निज को मुनि मानते जो, आत्मानुरूप तन को नहिं जानते त्यों ॥९२॥

उन्मत्त सुप्त जन की वह जो क्रिया हो, मोही उसे भ्रम कहे यह अज्ञता ओ!
पै रोष-तोषमय तामस-भाव को ही, हैं मानते 'भ्रम' अहो! गुरु जो अलोभी ॥९३॥

सिद्धांत हस्तगत यद्यपि है जिसे वो, सद्ध्यान हीन यदि हो शिव ना उसे हो।
शुद्धात्म का अनुभवी यदि नींद लेता, तो भी अपार सुख पा, भव पार होता ॥९४॥

स्वामी! जहाँ मनुज बुद्धि लगी रही है, होती नितांत उसकी रुचि भी वहीं है।
होती यदा रुचि जहाँ अयि भव्य! मित्र, होता सुलीन मन है वह नित्य तत्र ॥९५॥

स्वामी! जहाँ मनुज बुद्धि लगी नहीं है, होती वहाँ रुचि कभी उसकी नहीं है।
होती तथा रुचि नहीं सहसा जहाँ है, होता सुलीन मन ना वह भी वहाँ है ॥९६॥

छद्मस्थ भव्य जिसको नहिं भोग भाता, सिद्धात्म भक्ति करके वह मुक्ति जाता।
बत्ती यथा अलग होकर दीप से भी, होती अहो द्युतिमयी उस संग से ही ॥९७॥

जो आत्म ध्यान करता दिन-रैन त्यागी, होता वही परम आतम वीतरागी।
संघर्ष से विपिन में स्वयमेव वृक्ष, होता यथा अनल है अयि भव्य दक्ष! ॥९८॥

देखो! विशुद्ध पद को निज में सही यों, ध्याओ उसे वचन-गोचर भी नहीं जो।
पाओ अतः परम पावन मोक्ष-धाम, आना नहीं इधर लौट वहीं विराम ॥९९॥

रे आत्म तत्त्व यदि भौतिक ही यहाँ हो, तो मोक्ष यत्न बिन ही सहसा अहा! हो।
ऐसा न हो, तब सदा तप से सुमुक्ति, योगी दुखी न, जब जागरती स्वशक्ति ॥१००॥

होता यथा मरण यद्यपि स्वप्न में है, तो भी न नाश निज का परमार्थ से है।
स्वामी! तथा मरण हो जब आयु अन्त, पै देह ही बदलता, नित मैं अनन्त ॥१०१॥

जो कायक्लेश बिन अर्जित आत्म ज्ञान, शीतादि कष्ट जब हो द्रुत नश्यमान।
कायानुसार सब ही नित काय क्लेश, योगी सहे सतत वे धर नग्न भेष ॥१०२॥

विद्वेष राग करता यह ज्योंहि जीव, त्यों ही चले पवन भी तन में अतीव।
औ वायु से सकल अङ्ग उपांग सारे, होते स्वकार्य रत नौकर से विचारे ॥१०३॥

निस्सार दैहिक विवर्त्त समूह को भी, 'आत्मा' कहे अबुध लोक सदा प्रमोही।
स्वामी! वशी सुबुध तो पर को विसार, होते सुशीघ्र दुख पूर्ण-भवाब्धिपार ॥१०४॥

जो भी समाधि स्तुति को पढ़ आत्म, वेद, 'मैं औ शरीर' इनमें कुछ भी न भेद।
ऐसा विचार तजते बन अन्तरात्मा, पाते निजीय सुख को, बनते महात्मा ॥१०५॥

आचार्य पूज्यपाद स्तुति

थे पूज्यपाद, वृषपाल, वशी, वरिष्ठ, थे आपके न रिपु, मित्र, अनिष्ट, इष्ट।
मैं पूज्यपाद यति को प्रनमूँ त्रिसंध्या, 'विद्यादिसागर' बनूँ, तज दूँ अविद्या ॥

❑ ❑ ❑

योगसार

आचार्य योगीन्दुदेव

योगसार

(अपभ्रंश)

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

योगसार

(१९७१)

आचार्य योगीन्द्र देव द्वारा रचित अपभ्रंश भाषाबद्ध 'योगसार' का पद्यानुवाद राष्ट्रभाषा में आचार्यश्री द्वारा लोकहितार्थ किया गया है।

जो 'वसन्ततिलका छन्द' में निबद्ध है। आचार्यश्री ने यह पद्यानुवाद मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर (राज०) में १९७१ के चातुर्मास काल में पूर्ण किया था। इसमें वास्तविक योग और उसके रहस्य पर प्रकाश डाला गया है। यह अनुवाद भी अत्यन्त समीचीन है। आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा तीन प्रकार की होती है—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। इनमें से बहिरात्मभाव को छोड़कर अन्तरात्मभाव ग्रहण करके परमात्मा का ध्यान करना चाहिए—

आत्मा यहाँ विविध है बहिरंतरात्मा,
आदेय ध्येय 'परमातम' है महात्मा।
तू अन्तरात्म बन के परमात्म ध्या रे!
दे! दे! सुशीघ्र बहिरातम को विदा रे॥६॥

योगसार

(वसंततिलका छंद)

ज्ञानी, वशी परम पावन ध्यान ध्याके, जो अष्ट कर्म-मय ईंधन को जला के।
सारे हुए परम आतम विश्वसार, वदूँ उन्हें नमन मैं कर बार-बार ॥१॥

जो घाति कर्म रिपु को क्षण में भगाये, अर्हन्त होकर अनन्त चतुष्क पाये।
तो लाख बार नम श्री जिन के पदों में, पश्चात् कहूँ सरस श्राव्य सुकाव्य को मैं ॥२॥

है भद्र! भव्य भव से भयभीत भारी, जो चाहते परम सुन्दर मुक्तिनारी।
संबोधनार्थ उनको समचित्त साथ, पद्यावली रचित है मुझसे सुखार्थ ॥३॥

जो काल है वह अनादि, अनादि जीव, संसार सागर अनन्त व्यथा अतीव।
मिथ्यात्व से भ्रमित हो सुख को न पाया, संसारिजीव दुख जीवन ही बिताया ॥४॥

संसार के भ्रमण से यदि भीत है तू, शीघ्रातिशीघ्र तज तो, पर भाव को तू।
ध्या, स्वच्छ, अच्छ व अतुच्छ निजात्म को तू, पाले अनन्त जिससे शिव सौख्य को तू ॥५॥

आत्मा यहाँ त्रिविध हैं बहिरंतरात्मा, आदेय ध्येय 'परमातम' है महात्मा।
तू अंतरात्म बन के परमात्म ध्या रे, दे! दे! सुशीघ्र बहिरातम को विदा रे! ॥६॥

मिथ्यात्व से भ्रमित जो जिन धर्म द्रोही, है मानता परम आतम को न मोही।
होता वही नियम से बहिरात्म प्राणी, गाती सदैव इस भांति सुवीर वाणी ॥७॥

जो देखता परम आतम को यहाँ है, ओ रोष तोष पर को तजता अहा है।
होता सुपंडित वही अयि! वीर नाथ! संसार त्याग, रमता शिव नारि साथ ॥८॥

अत्यंत शांत गतक्लांत नितांत शुद्ध, जो है महेश, शिव, विष्णु, जिनेश, बुद्ध।
ज्ञानी उन्हें परम आतम हैं बताते, सिद्धांत के मनन में दिन जो बिताते ॥९॥

देहादि जो सकलभिन्न सुसर्वथा है, 'आत्मा' कहे मनुज तो उनको, व्यथा है!!
वे ही सभी अबुध हैं बहिरात्म जीव, संसार बीच दुख को सहते अतीव ॥१०॥

जो अत्र मित्र निज पुत्र, कलत्र सारे, ये तो कभी न मम हो सकते विचारे।
यों जान, ओ अयि सुजान! तथा च मान, तू आत्म को सतत आतम रूप जान ॥११॥

हे भव्य जीव! यदि तू निजको लखेगा, तो शीघ्र मुक्ति-ललना-पति तू बनेगा।
औ अन्यको हि यदि 'आतम' तू कहेगा, तो हा! अगाध भवसागर में गिरेगा ॥१२॥

इच्छा विहीन बन तू यदि योग धार, है आत्म को निरखता जग को विसार।
तो आशु मुक्ति रमणी तुझको वरेगी, क्या! क्या कहूँ वह कभी न तुझे तजेगी ॥१३॥

है जीव कर्म गहता परिणाम से ही, पाता निजीय पद को परिणाम से ही।
तो भव्य जीव किससे शिव सौख्य ढोता, तू जान ठीक! किससे वह बंध होता ॥१४॥

धिक्कार! हाय! यदि आतम को विसार, तू पुण्य का चयन हो करता अपार।
तो हंत! सातिशय सौख्य नहीं मिलेगा, संक्लेश भाव करता, दुख ही सहेगा ॥१५॥

आदर्श सादृश निजातम दर्श, त्याग, कोई न अन्य शिवकारण, भव्य! जाग।
ऐसा सदा समझ निश्चय से सुयोगी! तो शीघ्र ही सुख मिले भव-मुक्ति होगी ॥१६॥

जो मार्गणा व गुणधान विकल्पसारे, हैं शास्त्र से कथित वे व्यवहार से रे!
पे आत्म को समझ निश्चय से विशुद्ध, होगा सुखी सहन से, द्रुत सिद्ध, बुद्ध ॥१७॥

गार्हस्थ्यकार्य घर में करते हुए भी, जो जानते सतत हेय अहेय को भी।
ध्याते तथाऽनुदिन वीर जिनेंद्र को हैं, पाते सुशीघ्र सब वे शिव सौख्य को हैं ॥१८॥

चिंतो विशुद्ध मन से अविराम ध्याओ, हे भव्य! आप जिन को निज चित्त लाओ।
सारे अनन्त गुणधाम अहो! बनोगे, तो एक साथ जिससे सबको लखोगे ॥१९॥

शुद्धात्म में व जिन में कुछ भी न भेद, ऐसा सदा समझ तू द्रुत आत्म वेद।
संसार पार करना यदि चाहता है, भा भावना सहज की यह साधुता है ॥२०॥

जो हैं जिनेन्द्र सुन! आतम है वही रे! 'सिद्धांतसार' यह जान सदा सही रे!
यों ठीक जानकर तू अयि भव्ययोगी! सद्यः अतः कुटिलता तज मोह को भी ॥२१॥

जो है यहाँ परमआतम हूँ वही मैं, वे ही विभो! परम आतम जो सुधी में।
ऐसा अरे! समझ नाम सदैव योगी? ला चित्त में क्षण न अन्य विकल्प को भी ॥२२॥

शुद्धप्रदेश युत जो त्रयलोकपूर्ण, आत्मा उसे समझ जान उसे न चूर्ण।
निर्वाण प्राप्त करले जिससे मुमुक्षु! आत्मीय सौख्य गह ले अयि! भव्य भिक्षु ॥२३॥

आत्मा त्रिलोक सम निश्चय से यहाँ है,देह प्रमाण, व्यवहारतया तथा है।
जो जानता सतत ईदृश आत्म को है, पाता सुशीघ्र भव-वारिधि तीर को है ॥२४॥

चौरासि योनिगत दुःसह दुःख पाया, औ दीर्घ काल भव में भ्रमता बिताया।
सम्यक्त्व दिव्य धन को इसने न पाया, देही, जिसे धरम ना अबलों सुहाया ॥२५॥

जो है सचेतन-निकेतन और शुद्ध, वे दिव्य ज्ञानमय श्री जिन नाथ बुद्ध।
आत्मा उन्हें समझ, जान अरे सदा तू, हे भव्य! बोल शिव को यदि चाहता तू ॥२६॥

होगा तुझे न सुख ओ तबलौं न मुक्ति, सानन्द तू न करता जबलौं स्वभक्ति।
जो दीखता अब तुझे वर सौख्य सार, तू धार शीघ्र उसको करके विचार ॥२७॥

जो हैं जिनेश, शिव हैं त्रैलोक ध्येय, आत्मा वही व उसकी महिमा अमेय।
ऐसा यहाँ कथन निश्चय से किया है, विश्वास धार इसमें, भ्रम तो वृथा है ॥२८॥

चारित्र मूढ़ जन यद्यपि धारते हैं, प्रायः सभी व्रत तपादिक साधते हैं।
शुद्धात्म-ज्ञान जबलों गहते नहीं हैं, ना मोक्ष मार्ग तबलों तप व्यर्थ ही हैं ॥२९॥

जो भी दिगम्बर वशी बन योग धार, शुद्धात्म को यदि लखें जग को विसार।
संसार त्याग सब वे द्रुत मोक्ष पाते, ऐसे सदैव सब सन्मति शास्त्र गाते ॥३०॥

चारित्र, शील व्रत औ तप भी करारी, ये सर्व ही न तबलों शिव सौख्यकारी।
शुद्धात्म ध्यान जबलौं मुनि को न होता, जो आशु साधु कुल को सुख पूर्ण देता ॥३१॥

है पुण्य से अमर हो बहता विलास, औ पाप से नरक में करता निवास।
पै पुण्य पाप तज जीव निजात्म ध्याता, तो शीघ्र ही परम पावन मोक्ष पाता ॥३२॥

चारित्र शील व्रत संयम जो यहाँ हैं, वे सर्व ही कथित रे? व्यवहार से हैं।
हे! जीव, एक वह कारण मोक्ष का है, विज्ञान, जो परम सार त्रिलोक का है ॥३३॥

जो आत्म भाव बल से निज को जनाते, स्वामी! कभी न मन में परभाव लाते।
वे सर्व मोक्ष-पुर को सहसा पधारे, धारे अनंत सुख को, सबको निहारे ॥३४॥

ये द्रव्य हैं छह यहाँ अरु नौ पदार्थ, हैं सात तत्त्व जिनदर्शित ये यथार्थ।
व्याख्यान तो यह हुआ व्यवहार मात्र, तू जानले अब उन्हें बन साम्य पात्र ॥३५॥

सारे अचेतन-निकेतन बोध रिक्त, तो जीव चेतन सुधा सम सार युक्त ।
सानन्द जान जिसको मुनि भव्य वृंद, संसार पार करते बनते अबंध ॥३६॥

है जानता यदि सुनिर्मल आत्म को तू, औ छोड़ता उस सभी व्यवहार को तू।
तो शीघ्र ही वह मिले भव का किनारा, ऐसे जिनेश कहते यह योग सारा ॥३७॥

जो भेद संनिहित जीव अजीव में है, जो भी मनुष्य उसको यदि जानते हैं।
है ज्ञात निश्चित उन्हें जग तत्त्व सर्व, ऐसे मुनीश्वर कहें जिनमें न गर्व ॥३८॥

आत्मा अहो! परम केवल-बोध-धाम, ऐसा सुजान! नित जान तथैव मान।
कल्याण-खान-शिव की यदि कामना है, हे भव्य! साधुजन की यह बोलना है ॥३५॥

तो कौन पूजन, समाधि करे करावे, औ मित्रता हृदय में किस संग लावे।
संघर्ष कौन किस संग करे महात्मा, देखो जहाँ वह वहाँ दिखता निजात्मा ॥४०॥

स्वामी! यहाँ सुगुरु के परसाद द्वारा, जो आत्म को न लखता जबलों सुचारा।
हा! हा! कुतीर्थ करता, तबलों अहा है, तो धूर्तता, कुटिलता, करता वृथा है ॥४१॥

त्रैलोक्य संस्तुत जिनेश न तीर्थ में है, वे सिद्ध, शुद्ध न जिनालय में बसे हैं।
रे? जान तू जिनप तो तन गेह में है, ऐसा सदा श्रुत विशारद बोलते हैं ॥४२॥

है देव यद्यपि तनालय में यथार्थ, जाते तथापि जन मंदिर दर्शनार्थ।
वैसी विचित्र घटना यह है अभागो? जैसा सुसिद्ध बनने पर भीख माँगो ॥४३॥

हे मित्र! देव जिन मंदिर में नहीं है, पाषाण लेप लिपि कागद में नहीं है।
वे है अनादि तनमंदिर में प्रशान्त, या जान, मान तज, हो जिससे न क्लांत ॥४४॥

कोई कहे जिनप तो मठ तीर्थ में है, कोई कहे गिरि जिनालय में बसे हैं।
पै देव को बुध तनालय में बताते, ऐसे अभिज्ञ बिरले महि में दिखाते ॥४५॥

तू है जरा मरण से यदि भीत भारी, तो नित्य धर्म कर जो वर सौख्यकारी।
तू धर्म रूप रस का इक-घूँट लेगा, जल्दी जरा, जीवन, मृत्यु विहीन होगा ॥४६॥

होता न धर्म वह पुस्तक पिच्छिका से, ना प्राप्त हो पठन पाठन की क्रिया से।
होता न धर्म मठ-मंदिर वास से भी, तो प्राप्त हो न कचलुंचन कर्म से भी ॥४७॥

जो राग रोष, पर को तज योग धार, है आत्म में ठहरता, जग को विसार।
होता वही धरम तो शिव सौख्य देता, ऐसे कहें जिनप जो अघ कर्म जेता ॥४८॥

है आयु तो गल रही, गलता न चित्त, आशा तथा न गलती दिन-रैन मत्त।
व्यामोह तो स्फुरित है हित आत्म का ना, मोही सदा दुख सहे निज को न जाना ॥४९॥

तल्लीन ज्यों विषय को मन भोगने में, त्यों हो सुलीन यदि आतम जानने में।
तो क्या कहें? यति-जनो? वह मोक्ष पाता, योगी समूह इस भाँति सदैव गाता ॥५०॥

जैसा सछिद्र वह जर्जर श्वभ्र गेह, वैसा अचेतन, घृणास्पद, निंद्य देह।
भा भावना इसलिए निज! आत्म की तू, संसार पार करके बन रे सुखी तू ॥५१॥

संसार में सकल हैं निज कार्य व्यस्त, ना आत्म को समझते अब दु:ख त्रस्त।
निर्भ्रान्त कारण यही शिव को न पाते, ऐसा न हो तुम सभी दुख क्यों उठाते ॥५२॥

वे मूर्ख हैं समय को पढ़ते हुए भी, जो जानते समय मात्र न आत्म को भी।
सारे अरे! इसलिए बहिरात्म जीव, पाते न मोक्ष, सहते दुख ही अतीव ॥५३॥

हो जाय विज्ञ यदि मुक्त मनेन्द्रियों से, पृष्टव्य शेष न उन्हें कुछ भी किसी से।
हो जाय बंद यदि राग प्रवाह सारा! तो आत्म भाव प्रगटे स्वयमेव प्यारा ॥५४॥

मोहाभिभूत व्यवहार विपत्तिखान, तू जीव अन्य जड़ पुद्‌गल अन्य जान।
शुद्धात्म को गह अतः तन-मोह छोड़, विज्ञान-लोचन जरा अब? भव्य? खोल ॥५५॥

जो जीव को विमल धाम न मानते हैं, श्रद्धा समेत उसको नहिं जानते हैं।
होंगे न मुक्त, न मिले सुख, दुःख पाते, ऐसा सदैव जिनदेव हमें बताते ॥५६॥

घी दूध उत्तम दही अरु दीप माला, ज्योतिर्मयी स्फटिक औ रवि भी निराला।
पाषाण रत्न रजतानल हेम जो हैं, दृष्टांत वे समझ नौ अब जीव के हैं ॥५७॥

आकाश सादृश तनादिक को सदैव, जो भिन्न ही समझता अयि वीर देव!
तो शीघ्र ब्रह्म पद को वह यों गहेगा, आलोक से जग प्रकाशित ही करेगा ॥५८॥

आकाश है अमित जो वर शुद्ध जैसा, है शास्त्र में कथित आतम ठीक वैसा।
तू व्योम को जड़ अचेतन नित्य जान, पै आत्म को विमल चेतनधाम मान ॥५९॥

जो जीव दृष्टि रखके निज नासिका पे, शुद्धात्म को हृदय में लखता यहाँ पे।
लज्जामयी जनन को फिर ना धरेगा, तो देह धार स्तन पान नहीं करेगा ॥६०॥

शुद्धात्म को परम-सुन्दर-देह जानो, दुर्गंध-धाम तन को जड़, हेय मानो।
रे! मूर्तमान तन को अपना कहो न, व्यामोह को तज, रहो, निज में हि मौन ॥६१॥

जो आत्म को स्वबल से जब जानता है, तो कौनसी सफलता मिलती न हा! है।
होता अहो उदित केवल बोध भानु, स्थायी मिले सुख, उसे शिर मैं नमाऊँ ॥६२॥

योगीन्द्र! आशु तजके पर रूप भाव, जो जानते सहज से अपने स्वभाव।
अज्ञान नाशकर, केवल बोध पावें, सिद्धत्व छोड़ फिर वे भव में न आवें ॥६३॥

है धन्य विज्ञ वह पंडित धैर्यवान, जो राग रोष तज के पर हेय मान।
है जानता, निरखता निज आत्म को ही, जो है विशुद्धतम लोक अलोक बोधी ॥६४॥

हे भव्य जीव! सुन तू मुनि हो व गेही, जो भी निवास करता निज आत्म में ही।
तो शीघ्र सिद्धि सुख का वह लाभ लेता, ऐसा कहें जिनप जो शिव मार्ग नेता ॥६५॥

रे! तत्त्व को विरल मानव मानते हैं, तो तत्त्व का श्रवण भी बिरले करे हैं।
है लाख में इक मनुष्य सुतत्त्व ध्यानी, धारे उसे विनय से बिरले अमानी ॥६६॥

माता, पिता, सुत सुता, वनिता-कदंब, मेरे नये, दुरित कारण ही कुटुम्ब।
ऐसा विचार करता, यदि भव्य संत, संसार नाश कर के बनता अनन्त ॥६७॥

योगीन्द्र! इन्द्र व नरेन्द्र फणीन्द्र सारे, ना जीव को शरण वे सब हैं विचारे।
ऐसे विचार मुनि तो निज को जनाते, आधार आत्महित का निज को बनाते ॥६८॥

देही सदा जनमता मरता अकेला, होता दुखी, जब सुखी तब भी अकेला।
कोई न संग उसका जब श्वभ्र जाता, निस्संग होकर तथा शिव सौख्य पाता ॥६९॥

हे! मित्र बोल अब तू यदि नित्य एक, तो अन्य भाव तज हो निज एकमेक।
स्थायी अपूर्व सुख जो फलतः मिलेगा, विज्ञान सूर्य तुझको द्रुत ही दिखेगा ॥७०॥

ज्यों आप पाप कहते बस पाप को ही, प्रायः परन्तु सब त्यों कहते विमोही।
पै जो कुपाप कहते उस पुण्य को भी, वैसे मनुष्य बिरले बुध भव्य कोई ॥७१॥

ज्यों बंध-कारक तुझे वह लोह बेड़ी, त्यों बंध-कारक यहाँ यह हेम बेड़ी।
जो भी शुभाशुभ-विभाव-विहीन होता, होता विमुक्त भव से, शिव सौख्य ढोता॥७२॥

तेरा दिगम्बर यदा मन जो बनेगा, तू भी उसी समय-ग्रंथ विहीन होगा।
तू अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा, तो मोक्ष मार्ग मिलता, बन तू अनंगा ॥७३॥

सुस्पष्ट बीज दिखता वट वृक्ष में ज्यों, होता प्रतीत वट भी उस बीज में त्यों।
दीखे उसी तरह जो तन में जिनेश, त्रैलोक्य पूज्य, जिनकी महिमा विशेष ॥७४॥

मैं हूँ वही जिनप जो वर बोध कोष, यों भावना सतत भा तज क्रोध रोष।
ना अन्य मन्त्र इसको तज, मोक्ष पंथ, संसार का विलय हो जिससे तुरन्त ॥७५॥

दो, तीन, चार, छह, पाँच तथैव सात, ये सर्व लक्षण विभो! गुणसार साथ।
होते अवश्य जिनमें जब स्पष्ट रूप, तू जान नित्य उनको परमात्म रूप ॥७६॥

जो राग रोष तज के धर नग्न भेष, सद् ज्ञान दर्शन गुणान्वित हो जिनेश!
अध्यात्म लीन रहते शिव सौख्य पाते, ऐसे सदैव जिनदेव हमें बताते ॥७७॥

है तीन से विकल जो मुनि मौन युक्त, अर्थात् विमोह अरु राग प्रदोष रिक्त।
सद् ज्ञान आचरण दर्शन पा स्वलीन, पाता प्रमोक्ष इस भाँति कहें प्रवीन ॥७८॥

संज्ञाविहीन बन चार कषाय मार, जो धारता वर अनंत चतुष्क भार।
आत्मा उसे समझ तू भवभीत भिक्षु, होता अतः परम पावन हे! मुमुक्षु! ॥७९॥

जो पंच इन्द्रियजयी तज पंच पाप, औ सर्व प्राण युत है जिनमें न ताप।
होते क्षमादि दशलक्षण धर्म युक्त, आत्मा उन्हें समझ निश्चय वीर भक्त ॥८०॥

आत्मा हि दर्शन-मयी अरु ज्ञान-धाम, चारित्र का सदन है नयनाभिराम।
औ त्याग रूप व्रत-संयम शील-झील, ऐसा सदा समझ तू बन तू सुशील ॥८१॥

जो आत्म को व पर को नित जानता है, निर्भ्रांत शीघ्र पर को वह त्यागता है।
संन्यास-धारक वही गुरु ओ महान, ऐसे कहे जिनप केवलज्ञानवान ॥८२॥

रत्नत्रयान्वित वशी महि में पवित्र, होता वही सुखद तीर्थ सदैव अत्र।
तो मोक्ष का सुगम कारण भी वही है, ना अन्य मन्त्र शिव हेतु न तंत्र भी है ॥८३॥

अर्थावलोकन सदा जिससे अहा! हो, योगी उसे कहत दर्शन वे यहाँ भो!
विज्ञान है सहज आतम जो पवित्र, तो बार-बार निज चिंतन ही चरित्र ॥८४॥

आत्मा जहाँ गुण वहीं सब विद्यमान, षड् केवली सब कहें जिनमें न मान।
योगी अतः परम उत्तम योग धार, है आत्म को निरखते जग को विसार ॥८५॥

व्यापार बन्द कर इन्द्रिय ग्राम का भी, निस्संग हो तज परिग्रह नाम का भी।
तू काय से वचन से मन शुद्धि साथ, ध्या आत्म, शीघ्र बन जा शिव-नारिनाथ ॥८६॥

है बद्ध को समझता यदि तू प्रमुक्त, होता सुनिश्चय अतः द्रुत बंध युक्त।
तू स्नान स्वीय सर में यदि रे! करेगा, तो आशु मुक्ति-ललना-पति तू बनेगा ॥८७॥

सम्यक्त्वभूषित सुधी न कुयोनि पाता, या तो यदा कुगति में यदि हाय! जाता।
सम्यक्त्व का पर न दोष वहाँ दिखाता, प्राचीन कर्म रिपु को वह तो नशाता ॥८८॥

जो भव्य सर्व व्यवहार विमोचता है, ओ आत्म में रमण भी करता रहा है।
सम्यक्त्वमंडित वही, मुनि मौन-धारी, संसार त्याग, वरता, वह मोक्षनारी ॥८९॥

सम्यक्त्व में प्रथम जो बुध भी वही है, औ तीन लोक भर में वह मुख्य भी है।
पाता वही परम केवल ज्ञान को है, आदेय, शाश्वत, अपूर्व प्रमाण जो है ॥९०॥

आत्मा सुमेरु सम हो जब जो ललाम, वार्धक्य मृत्यु परिशून्य, गुणैक-धाम।
भाई! तदेव वह कर्म न बांधता है, प्राचीन कर्मरिपु को पर मारता है ॥९१॥

हे! मित्र! जो हरित पूरित पद्म -पत्र, होता न लिप्त जल से जिस भाँति अत्र।
आत्मीय भाव रत है यदि जो सदीव, ना लिप्त कर्म रज से उस भाँति जीव ॥९२॥

जो विज्ञ होकर यहाँ शिव सौख्य लीन, है बार बार लखता निज को प्रवीन।
स्वामी वही सहज से वसु कर्म नाश, पाता अपूर्व अविनश्वर जो प्रकाश ॥९३॥

आत्मा पवित्रतम जो पुरुषानुरूप, आलोक पूर्ण वह है, गुण मुख्य स्तूप ॥
जाज्वल्यमान अपनी वर ज्योतिगम्य, मैं क्या कहूँ वचन से, वह दिव्य रम्य ॥९४॥

शुद्धात्म को, अशुचिधाम शरीर से जो, है भिन्न ही समझता, निज बोध से यों।
अत्यन्त लीन उस शाश्वत सौख्य में हो, है जानता वह समस्त जिनागमों को ॥ ९५॥

जो जानता न निज निर्मल आत्म को है, औ त्यागता दुखमयी न विभाव को है।
होगा विशारद जिनागम में भले ही, पाता न मोक्ष वह तो भव में रुले ही ॥९६॥

संकल्प-जल्प व विकल्प विकार-हीन, जो हैं यहाँ परम श्रेष्ठ समाधि-लीन।
आनन्द काऽनुभव वे करते नितांत, वे ही अतः परम सिद्ध सदा प्रशान्त ॥९७॥

पिंडस्थध्यान फिर दिव्य पदस्थध्यान, रूपस्थध्यान भजनीय त्रितीय जान।
तू रूपरिक्त उस अंतिम ध्यान को भी, निस्संग हो समझ तो भव-मुक्ति होगी ॥९८॥

हे मित्र! बोधगुण मंडित जीव सारे, जो लोग ईदृश सदा सम भाव धारे।
सामायिकी तुम सभी समझो उसी को, ऐसा जिनेश कहते महि में सभी को ॥९९॥

जो रोष-तोषमय सर्व विकार भाव, है, शीघ्र त्याग, धरता वर साम्य भाव।
सामायिकी नियम से वह ही कहाता, ऐसा निरंतर यहाँ ऋषि वृंद गाता ॥१००॥

हिंसादि पंच विध निंद्य कुपाप छोड़, जो आत्म को अचल मेरु रखे अडोल।
होता चरित्र उसका वह जो द्वितीय, देता प्रमोक्ष, सुख जो अति श्लाघनीय ॥१०१॥

मिथ्यात्व राग विमदादि कल्याण से जो? सम्यक्त्व की विमलता बढ़ती उसे भी।
जानो सदैव परिहार-विशुद्धिरूप, होता प्रमोक्ष जिससे सुख तो अनूप ॥१०२॥

जो सूक्ष्म लोभ हटने पर सूक्ष्मभाव, है आत्म का नियम से करता बचाव।
होता वही परम सूक्ष्म चरित्र शस्य, है धाम नित्य सुख का शिव का अवश्य ॥१०३॥

आत्मा सुसिद्ध शिव, निश्चय से महात्मा, होता वही विमल जो अरहंत नामा।
आचार्य वर्य, उवझाय सुपूजनीय, स्वामी! वही नियम से मुनि वंदनीय ॥१०४॥

आत्मा हि ईश्वर वही शिव, विष्णु बुद्ध, ब्रह्मा, महेश, परमातम, सिद्ध, शुद्ध।
होता अनंत, वृष, शंकर भी जिनेश, पूजूँ नमूँ स्तव करूँ उसका हमेश ॥१०५॥

पूर्वोक्त सार्थक सुलक्षण युक्त जो हैं, संक्लेशहीन सुखरूप जिनेश ओ है।
है आत्म में न उनमें कुछ भी विभेद, निर्भ्रांत ही सतत तू इस भाँति वेद ॥१०६॥

जो शुद्ध-बुद्ध अब लों जिन हो चुके हैं, ये सिद्ध जो विमल संप्रति हो रहे हैं।
होंगे भविष्य भर में निजदर्श से ही, तू जान ईदृश अतः तज मोह मोही! ॥१०७॥

पद्यावली रचित थी निज बोधनार्थ, योगींद्रदेव यति से वर चित्त साथ।
मैंने वसंत-तिलका वर वृत्त-द्वारा, भाषामयी अब उसे कर दी सुचारा ॥१०८॥

है योगसार श्रुतसार व विश्वसार, जो भी इसे बुध पढ़े, सुख तो अपार।
मैं भी इसे विनय से पढ़, आत्म ध्याऊँ, 'विद्यादिसागर' जहाँ डुबकी लगाऊँ ॥१०९॥

❑ ❑ ❑

गोमटेश अष्टक

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती रचित

गोमटेश अष्टक

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

गोमटेश अष्टक

(१९७९)

'गोमटेस थुदि' में जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा में आठ पद्य हैं, जिनमें भगवान् गोमटेश की स्तुति है। 'गोमटेस थुदि' का संस्कृत रूपान्तर 'गोमटेश स्तुति' ही इस बात को पुष्ट करता है। इस स्तुति की रचना दशवीं शताब्दी में गोम्मटसार जैसे परम गम्भीर जैनदर्शन शास्त्र के प्रणेता महान् आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने की थी। वे जैन-दर्शन के पारंगत, प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ एवं सुविख्यात उद्‌भट विद्वान् आचार्य थे। दक्षिण भारत में अवतरित होकर उन्होंने समस्त भारत को अपनी कृतियों से ज्ञानालोकित कर दिया था, जिसका प्रकाश आज तक जैनाजैन पंडितों के लिए चमत्कार जनक है।

यह स्तुति-काव्य आकार में अत्यन्त लघु है, परन्तु बड़ा ही भक्ति-प्रवण, कमनीय भावावलि से संपृक्त एवं मनोरम है; लगता है आचार्य नेमिचन्द्र का हृदय ही द्रवित होकर वाणी का रूप ले इसमें साकार हो गया है। यह काव्य अत्यन्त मनोहारी और कण्ठस्थ करने योग्य है, यह काव्य उपजाति वृत्त में निबद्ध है, किन्तु आचार्यश्री ने इसका पद्यानुवाद ज्ञानोदय छन्द में श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र थूबौन जी, गुना (म० प्र०) में सन् १९७९ के चातुर्मासकाल में किया है।

इस कृति में गोमटेश बाहुबली भगवान् का स्तवन हुआ है—

काम धाम से धन-कंचन से सकल संग से दूर हुए,
शूर हुए मद-मोह-मार कर समता से भरपूर हुए।
एक वर्ष तक एक थान थित निराहार उपवास किये;
इसीलिए बस गोमटेश जिन मम मन में अब वास किए ॥८॥

गोमटेश अष्टक

(ज्ञानोदय छन्द)

(लय-मेरी भावना)

नील कमल के दल-सम जिन के युगल-सुलोचन विकसित हैं,
शशि-सम मनहर सुख कर जिनका मुख-मण्डल मृदु प्रमुदित है।
चम्पक की छवि शोभा जिनकी नम्र नासिका ने जीती,
गोमटेश जिन-पाद-पद्म की पराग नित मम मति पीती ॥१॥

गोल- गोल दो कपोल जिन के उजल सलिल सम छवि धारे,
ऐरावत-गज की सुण्डा सम बाहुदण्ड उज्ज्वल-प्यारे।
कन्धों पर आ, कर्ण-पाश वे नर्तन करते नन्दन हैं,
निरालम्ब वे नभ-सम शुचि मम गोमटेश को वन्दन है ॥२॥

दर्शनीय तव मध्य भाग है गिरि-सम निश्चल अचल रहा,
दिव्य शंख भी आप कण्ठ से हार गया वह विफल रहा।
उन्नत विस्तृत हिमगिरि-सम है स्कन्ध आपका विलस रहा,
गोमटेश प्रभु तभी सदा मम तुम पद में मन निवस रहा ॥३॥

विंध्याचल पर चढ़कर खरतर तप में तत्पर हो बसते,
सकल विश्व के मुमुक्षु-जन के शिखामणी तुम हो लसते।
त्रिभुवन के सब भव्य कुमुद ये खिलते तुम पूरण शशि हो,
गोमटेश मम नमन तुम्हें हो सदा चाह बस मन वशि हो ॥४॥

मृदुतम बेल लताएँ लिपटीं पग से उर तक तुम तन में,
कल्पवृक्ष हो अनल्प फल दो भवि-जन को तुम त्रिभुवन में।
तुम पद-पंकज में अलि बन सुर-पति गण करता गुन-गुन है,
गोमटेश प्रभु के प्रति प्रतिपल वन्दन अर्पित तन-मन है ॥५॥

अम्बर तज अम्बर-तल थित हो दिग अम्बर नहिं भीत रहे,
अंबर आदिक विषयन से अति विरत रहे, भव-भीत रहे।
सर्पादिक से घिरे हुए पर अकम्प निश्चल शैल रहे,
गोमटेश स्वीकार नमन हो धुलता मन का मैल रहे ॥६॥

आशा तुम को छू नहिं सकती समदर्शन के शासक हो,
जग के विषयन में वांछा नहिं दोष मूल के नाशक हो।
भरत-भ्रात में शल्य नहीं अब विगत-राग हो रोष जला,
गोमटेश तुममें मम इस विध सतत राग हो, होत चला ॥७॥

काम-धाम से धन-कंचन से सकल संग से दूर हुए,
शूर हुए मद मोह-मारकर समता से भर-पूर हुए।
एक वर्ष तक एक थान थित निराहार उपवास किये,
इसीलिए बस गोमटेश जिन मम मन में अब वास किये ॥८॥

दोहा

नेमीचन्द्र गुरु ने किया प्राकृत में गुण-गान।
गोमटेश थुति अब किया भाषा-मय सुख खान ॥१॥

गोमटेश के चरण में, नत हो बारंबार।
विद्यासागर कब बनूँ, भवसागर कर पार ॥२॥

❑ ❑ ❑

कल्याणमंदिर स्तोत्र

आचार्यश्री कुमुदचन्द्र रचित

कल्याणमंदिरस्तोत्रम्

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

कल्याणमन्दिर स्तोत्र

(१९७१)

'कल्याणमंदिर स्तोत्र' आचार्य कुमुदचन्द्र, अपरनाम श्री सिद्धसेन दिवाकर द्वारा विरचित है। इसका पद्यानुवाद आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज ने मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर (राज०) में सन् १९७१ के वर्षायोग में किया। इस स्तोत्र को पार्श्वनाथ स्तोत्र भी कहते हैं। मूल स्तोत्र एवं अनुवाद दोनों ही वसन्ततिलका छन्द में निबद्ध हैं।

इस कृति में उन कल्याणनिधि, उदार, अघनाशक तथा विश्वसार जिन-पद-नीरज को नमन किया गया है जो संसारवारिधि से स्व-पर का सन्तरण करने के लिए स्वयम् पोत स्वरूप हैं। जिस मद को ब्रह्मा और महेश भी नहीं जीत सके, उसे इन जिनेन्द्रों ने क्षण भर में जलाकर खाक कर दिया। यहाँ ऐसा जल है जो आग को पी जाता है। क्या वड़वाग्नि से जल नहीं पिया गया है?

स्वामी! महान गरिमायुत आपको वे,
संसारि जीव गह, धार स्व-वक्ष में औ।
कैसे सु आशु भवसागर पार होते;
आश्चर्य! साधुजन की महिमा अचिन्त्य ॥१२॥

कल्याणमन्दिर स्तोत्र

(वसंततिलका छन्द)

कल्याण-खाण-अघनाशक औ उदार, हैं जो जिनेश-पद-नीरज विश्वसार।
संसारवार्धि वर पोत! स्ववक्षधार, उन्हें यहाँ नमन मैं कर बार-बार ॥१॥

रे! रे! हुवा स्तवन ना जिनदेव जी का, धीमान से जब बृहस्पति से प्रभू का।
तो मैं उसे हि करने हत जा रहा हूँ, क्यों धृष्टता अहमता दिखला रहा हूँ ॥२॥

मेरे समान लघु-धी कवि लोग सारे, सामान्य से तव सुवर्णन भी विचारे।
कैसे करे अहह! नाथ! नहीं करेंगे, उल्लू दिवान्ध रवि को न यथा लखेंगे ॥३॥

है आपको विगतमोह मनुष्य जाना, भो! किन्तु जो तव गुणों उसने गिना ना।
तूफान से जलविहीन समुद्र हो तो, वार्धिस्थ रत्नचय का अनुमान है क्या? ॥४॥

मैं स्तोत्र को तव विभो! करने चला हूँ, हैं आप नैक-गुणधाम, व मन्द-धी हूँ।
तो बाल भी जलधि की सुविशालता को, फैला स्वहस्त युग को कहता नहीं क्या? ॥५॥

गाये गये तव न भो! गुण योगियों से, मेरा प्रवेश उनमें फिर हन्त कैसे?
है हो गई इक यहाँ स्थिति जो अनोखी, गाते स्व वाणि बल से फिर भी विहंग ॥६॥

जो स्तोत्र हे! जिन! सुदूर रहे महात्मा! तेरा हि नाम जग को दुख से बचाता।
संतप्त भी पथिक जो रवि ताप से यों, होता सुशान्त जलमिश्रित वायु से है ॥७॥

होते हि वास तव भव्य सुचित्त में त्यों, होते प्रभो शिथिल हैं घनकर्मबन्ध।
आते हि चन्दन-सुवृक्ष-सुबीच मोर; हैं दौड़ते सकल ज्यों अहि एक ओर ॥८॥

हो देखते झट जिनेन्द्र! तुझे मनुष्य, होते सुदूर सहसा दुख से अवश्य।
गंभीर शूर वसुधापति को यहाँ जो, हैं चोर देख सहसा द्रुत भागते यों ॥९॥

कैसे जिनेश तुम तारक हो जनों के, जो आपको हृदय से धर, पार होते।
वा चर्मपात्र जल में तिरता परन्तु, पात्रस्थ वायु बल है उस कर्म में ही ॥१०॥

ब्रह्मा महेश मद को नहिं जीत पाये, भो! आप किन्तु उसको क्षण में जलाये।
है ठीक! अग्नि बुझती जल से यहाँ पे, पीया गया न जल क्या? बड़वाग्नि से पै ॥११॥

स्वामी! महान गरिमायुत आपको वे, संसारि जीव गह, धार स्व-वक्ष में औ।
कैसे सु आशु भवसागर पार होते, आश्चर्य! साधुजन की महिमा अचिन्त्य ॥१२॥

भो! क्रोध नष्ट पहले जब की बता दो, कर्मौघ नष्ट तुमसे फिर बाद कैसे?
है ठीक ही हरित पूरित भूरुहों को, शीतातिशीत हिम क्या? न यहाँ जलाता ॥१३॥

शुद्धात्मरूप! तुमको जिन! ढूँढ़ते हैं, योगी सदा हृदय नीरज कोश में वे।
है ठीक ही, कमल बीज प्रसूतस्थान, अन्यत्र क्या मिलत है? तजकर्णिका को ॥१४॥

छद्मस्थ जीव तव देव! सु ध्यान से ही, यों शीघ्र देह तज वे परमात्म होते।
पाषाण जो कनक मिश्रित ईश! जैसा, संयोग पा अनल का द्रुत हेम होता ॥१५॥

भो नित्य भव्य उर में जिन! शोभते हो, कैसे सुनाश करते? उस काय को क्यों?
ऐसा स्वभाव रहता समभावियों का, जो हैं महापुरुष विग्रह को नशाते ॥१६॥

जो आपको जिन! अभेद विचार से है, आत्मा सु ध्यान करता, तुम-सा हि होता।
जो नीर को अमृत मान, उसे हि पीता, क्या नीर जो न उसके विष को नशाता ? ॥१७॥

हे वीतराग! तुमको परवादि लोग, ब्रह्मा-महेश-हरि रूप वि जानते हैं।
है ठीक काचकमलामय रोग वाले, क्या शंख को विविध वर्णमयी न जानें? ॥१८॥

धर्मोपदेश जब हो जन दूर होवे, सान्निध्य से हि तब, वृक्ष अशोक होते।
है भानु के उदय से जन मोद पाते, उत्फुल्ल क्या तरु-लता दल हो न पाते ॥१९॥

वर्षा यहाँ सुमन की करते हि देव, आश्चर्य! वे कुसुम सर्व अधोमुखी क्यों?
है ठीक ही, सुमन बंध सभी हि जाते, नीचे मुनीश! तुमको लख के सदैव ॥२०॥

गंभीर वक्ष जलराशि विनिर्गता जो, हे भारती, तव उसे करते सुपान।
हैं भव्य, जीव फलतः मुदमोद होते; औ शीघ्र ही जनन मृत्युविहीन होते? ॥२१॥

स्वामी मनो! नम सुभक्ति सुभाव से ज्यों, स्वर्गीय चामर कलाप हि बोलता है।
जो भी करें नमन साधु वराग्र को भो! होगा हि निर्मल तथा वह ऊर्ध्वगामी ॥२२॥

गंभीर भारति-विधारक आपको त्यों, औ श्याम! हेममणिनिर्मित आसनस्थ!
आमोद से निरखते सब भव्य मोर, स्वामी! सुमेरु पर मोर पयोद को ज्यों ॥२३॥

भो! आपके हि शित मण्डल ज्योति से जो, देखो हुवा छबि विहीन अशोक वृक्ष।
सान्निध्य से फिर विभो तब वीतराग! क्या भव्य चेतन न रागविहीन होते? ॥२४॥

ये आपके अमर दुंदुभि हैं बताते, आके करो अलस छोड़ जिनेन्द्र सेवा।
जो आप हैं वह शिवालय सार्थवाह, इत्थं विचार मम है अरु ठीक भी है ॥२५॥

जाज्वल्यमान तुमसे त्रय लोक देख, नष्टाधिकार वह चन्द्र हताश होके।
यों तीन छत्र मिष से तुम पास आके, सेवा प्रभो शशि यहाँ करता हि तेरी ॥२६॥

संपत्ति से भरितलोक समान आप, कान्ति प्रताप यश का अरु हैं सुधाम।
हेमाद्रि दिव्य मणि निर्मित साल से ज्यों, शोभायमान भगवन् इह हो रहे हैं ॥२७॥

देवेन्द्र की जिन! यहाँ नमते हुए की, माला, सुमोच मणिमण्डित मौलियों की।
लेती सुआश्रय सदा तव पाद का है, अन्यत्र ना सुमन वासव, ठीक भी है ॥२८॥

हैं नाथ! आप भववारिधि से सुदूर, तो भी स्वसेवक जनाऽऽकर को तिराते।
है आपको उचित पार्थिव भूप सा भी, आश्चर्य कर्मफल शून्य तथापि आपि ॥२९॥

त्रैलोक्यनाथ जिन हैं! धनहीन भी हैं! हैं आप अक्षर विभो! लिपिहीन भी हैं।
ना आप में करण बोध शतांश में भी, विज्ञान है विशद किन्तु जगत्प्रकाशी ॥३०॥

धूली अहो कमठ ने नभ में उड़ा दी, तो भी ढकी तव विभो! उससे न छाया।
देखो! जिनेश वह ही फलतः दुरात्मा, धिक् धिक् महान दुख को बहुकाल पाया ॥३१॥

भो! दैत्य से कमठ से घनघोर वर्षा, अश्राव्य गर्जनमयी तुमपें हुई भी।
पै आप पे असर तो उसका पड़ा ना, पै दैत्य को नरक में रु पड़ा हि जाना ॥३२॥

धारे हुए सकल थे गलमुंड माला, जो त्यागते अनल को मुख से निराला।
भेजा कुदैत्य तव पास पिशाच ऐसे, पै दैत्य के हि दुखकारण हो गए वे ॥३३॥

वे जीव धन्य महि में त्रयलोकनाथ! प्रातः तथा च अपराह्नविभो! सु सन्ध्या।
उत्साह से मुदित हो वर भक्ति साथ, शास्त्रानुकूल तव पाद सु पूजते हैं ॥३४॥

ना आप आज तक भी श्रुतिगम्य मेरे, मानूँ मुनीश! भववारिधि में हि ऐसा।
आ जाय मात्र सुनने तव नाम मन्त्र, आता समीप फिर भी विपदा फणी क्या? ॥३५॥

तेरी न पादयुग पूजन पूर्व में की, जो हैं यहाँ सुखद ईप्सित-वस्तु-दाता।
ऐसे विचार मम है फलतः मुनीश, देखो हुवा अब अनादर पात्र में हूँ ॥३६॥

मोहान्धकार सु तिरोहित लोचनों से, देखा न पूर्व तुमको जिन! एक बार।
ऐसा न हो यदि विभो! मुझको बतादो; क्यों पाप कर्म दिन-रैन मुझे सताते ॥३७॥

देखे गये श्रवणगम्य हुये व पूजे; पै भक्ति से न चित में तुमको बिठाया।
हूँ दुःख भाजन हुवा फलतः जिनेश! रे! भावहीन करणी सुख को न देती ॥३८॥

संसार-त्रस्त-जन-वत्सल औ शरण्य, हे नाथ! ईश्वर! दया-वर -पुण्य-धाम!
हूँ भक्ति से नत, दया मुझमें दिखा के; उद्युक्त हो दुरित अंकुर को जलाने ॥३९॥

हैं आप जीत वसुकर्म सुकीर्तिधारी, पा, पाद कंज युग को यदि आपके मैं।
स्वामी! सुदूर निज चिंतन से रहूँ तो; हूँ भाग्यहीन, व मरा, अयि तात! वन्द्य ॥४०॥

श्री पार्श्वनाथ! भवतारक! लोकनाथ! सर्वज्ञदेव! व विभो! सुरनाथ वन्द्य!
रक्षा अहो! मम करो, करुणासमुद्र; संसारत्रस्त मुझको, उस छोर भेजो ॥४१॥

पादारविन्द युग-भक्ति-सुपाक, कोई, है तो यहाँ तव विभो भववार्धिपोत!
मेरे लिये इह तथा परजन्म में भी; हैं आप ही व शरणागत पाल स्वामी ॥४२॥

रोमांचितांगयुत जो तप भव्य जीव, एकाग्र हो तव मुखांबुज में अली से।
हैं स्त्रोत की सुरचना करते यहाँ पे; ऐसे यथाविधि जिनेन्द्र! विभो! शरण्य ॥४३॥

जननयन कुमुदचन्द्र!, परमस्वर्गीय भोग को भोग।
वे वसुकर्म नाशकर, पाते शीघ्र मोक्ष को लोग ॥४४॥

❑ ❑ ❑

एकीभाव स्तोत्र

आचार्य वादिराज रचित

एकीभाव स्तोत्र

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

एकीभाव स्तोत्र

(१९७१)

आचार्य वादिराज प्रणीत संस्कृत भाषाबद्ध इस कृति का 'मन्दाक्रान्ता छन्द' में पद्यबद्ध भाषान्तरण आचार्यश्री द्वारा किया गया है। इस कृति में यह कहा जा रहा है कि जब आराधक के हृदय में आराध्य से एकीभाव हो गया है, तब यह भव-जलन कैसे हो रही है?

"कैसे है औ! फिर अब मुझे दुःख दावा जलाता ?" ॥६॥

रचयिता का हृदय पुकार उठता है—

जो कोई भी मनुज मन में आपको धार ध्याता,
भव्यात्मा यों अविरल प्रभो! आप में लौ लगाता।
जल्दी से है शिव सदन का श्रेष्ठ जो मार्ग पाता;
श्रेयोमार्गी वह तुम सुनो! पंचकल्याण पाता ॥२४॥

इस काव्य का पद्यानुवाद भी आपने मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर (राज०) में सन् १९७१ के चातुर्मास काल में किया है।

एकीभाव स्तोत्र

(मन्दाक्रांता छंद)

मेरे द्वारा, अमित भव में, प्राप्त नो कर्म सारे,
तेरी प्यारी, जबकि स्तुति से, शीघ्र जाते निवारे।
मेरे को, क्या, फिर वह न ही, वेदना से बचाती?
स्वामी! सद्यः लघु दुरित को क्या नहीं रे भगाती? ॥१॥

वे ही हर्त्ता दुख तिमिर के दिव्य-भानू-जिनेश,
ऐसे सारे गणधर कहें आपको ज्यों दिनेश।
पै है मेरे मुदित मन में वास तेरा हमेशा,
तो कैसी ओ! फिर हृदय में रे! रहे पाप दोषा ॥२॥

जो कोई भी विमल मन से मन्त्र से स्तोत्र से या,
भव्यात्मा ज्यों भजन करता आपका मोद से या।
श्रद्धानी के अहह उसके देह वल्मीक से त्यों
सारी नाना वर-विषमयी व्याधियाँ दौड़ती जो ॥३॥

आने से जो अमर पुर से पूर्व ही मेदिनी भी,
स्वामी! तेरे सुकृत बल से हेमता को वरी थी।
पै मेरे तो मन-भवन में वास जो आपका है,
कोढी काया कनक मय हो देव! आश्चर्य क्या है? ॥४॥

तेरे में ही सब विषय संबंधिनी शक्ति भी है,
स्वामी! जो है प्रतिहत नहीं, लोक बंधू तभी हैं।
मैं कोढ़ी हूँ चिर हृदय में आप मेरे बसे हैं,
कैसे काया-जनित-मल दुर्गन्ध को हा! सहे हैं॥५॥

जन्मों से मैं भ्रमण करता भाग्य से अत्र आया,
कर्मों ने तो भव विपिन में हा! मुझे रो रुलाया।
मैं तो तेरे नय-सरसि में देव! गोता लगाता,
कैसे है औ! फिर अब मुझे दुःख दावा जलाता? ॥६॥

होता तेरे चरण युग सान्निध्य से पद्म देख!
लक्ष्मी-धामा, सुरभित तथा हेम जैसा सुरेख।
पै मेरा जो मन तव करे स्पर्श सर्वांग को का,
तो क्या पाऊँ न फिर अब मैं सौख्य मोक्षादिकों का? ॥७॥

प्याला पीया वच अमृत का आपके भक्ति से है,
जो पाया भी मनुज जब आशीष को आपसे है।
प्रायः स्वामी! अतुल सुख में लीन भी है यहाँ पे,
कैसे पीड़ा दुरित मय कांटे उसे दे वृथा पै॥८॥

व्योमस्पर्शी मणिमय तथा मान का स्तम्भ भाता,
आँखों का ज्यों विषय बनता, मानको त्यों नशाता।
आया ऐसा सुबल उसमें आपके संग से है,
स्वामी! देखो वह इसलिए ही खड़ा ठाट से है॥९॥

काया को छू तव जब हवा, जो लता को हिलाती,
सद्यः ही है जन-निचयकी रोग धूली मिटाती।
ध्यानी के तो उर जलज पे आप बैठे यदा हैं,
पाता है तो वह स्वधन आश्चर्य भी क्या तदा है ॥१०॥

मेरे सारे भव भव दुखों को विभो जानते हैं,
होती क्लांती सतत जिनकी याद से हा! मुझे हैं।
विश्वज्ञाता सदय तुमको भक्ति से आज पाया,
हूँ मैं तेरा मम हृदय में ठीक विश्वास लाया ॥११॥

स्वामी-जीवं-धरवदन से आपके मंत्र को जो,
कुत्ता पाता जबकि सुनके अंत में सौख्यको यों।
मालाको ले सतत जपता आपके मंत्र को जो,
आशंका क्या फिर अमर हो इंद्रता को वरे तो? ॥१२॥

कोई ज्ञानी वर चरित में लीन भी जो सदा है,
तेरी श्रद्धा यदि न उसमें तो सभी हा वृथा है।
भारी है रे! शिव-सदन के द्वार पे मोह ताला,
कैसे खोले, उस बिन उसे, हो सके जो उजाला ॥१३॥

तेरा होता यह यदि न वाक्दीप तत्त्वावभासी,
जो है स्वामी! वरसुखद औ मोक्षमार्ग प्रकाशी।
छाई फैली शिवपथ जहाँ मोहरूपी निशा है,
पाते कैसे फिर तब उसे हाय? मिथ्या दिशा है ॥१४॥

आत्मा की जो द्युति अमित है मोद दात्री तथा है,
मोही को तो वह इह न ही प्राप्य हा! यो व्यथा है।
पै सारे ही लघु समय में आपके भक्त लोग,
वे पाते हैं तव स्तवन से जो उसे धार योग ॥१५॥

भक्ती गंगा नय-हिमगिरी से समुत्पन्न जो है,
पैरों को छू तव अरुशिवां बोधि में जा मिली है।
मेरा स्वामी! सुमन उसमें स्नान भी तो किया है,
तो काया में विकृति फिर भी क्यों रही देव! हा! है ॥१६॥

ध्याऊँ भाऊँ जब अचल हो, आपको ध्येय मान,
ऐसी मेरी यह मति तदा आप औ मैं समान।
मिथ्या ही पे मम मति विभो! कर्म का पाक रे है,
तो भी दोषी तव स्तवन से मोक्ष लक्ष्मी वरे है ॥१७॥

वाणीरूपी जलधि जग में व्याप्त तेरा जहाँ पे,
सप्ताभंगी लहर-मल-मिथ्यात्व को है हटाते।
ज्ञानी ध्यानी मथकर उसे चित्तमंदार से वे,
सारे ही हैं द्रुत परम पीयूष पी तृप्त होते ॥१८॥

शृंगारों को वह पहनता जन्म से जो कुरूप,
बैरीयों से परम डरता जो धरे शस्त्र भूप।
अष्टांगों से मदन जब तू और बैरी न तेरे,
तेरे में क्यों कुसुम पट हो शस्त्र तो नाथ! मेरे ॥१९॥

सेवा होती तव अमर से आपकी क्या प्रशंसा,
सेवा पाती उस अमर की पे प्रशंसा जिनेशा।
धाता, त्राता धगपति तथा मोक्षकांता-सुकांत,
ऐसे गावे तव यश यहाँ तो प्रशंसा नितांत ॥२०॥

तेरी वाणी तव चरण तू दूसरों सा न ईश,
तो कैसा हो तव स्तवन में जो हमरा प्रवेश।
तो भी स्वामी! यह स्तुति सदा आपके सेवकों को,
होगी प्यारी अभिलषित को और देगी सुखों को ॥२१॥

रागी द्वेषी जिनवर नहीं, ना किसी की अपेक्षा,
मेरे स्वामी? वर सुखद है मार्ग तेरा उपेक्षा।
तो भी तेरी वह निकटता कर्महारी यहाँ है,
ऐसी भारी विशद महिमा दूसरों में कहाँ है? ॥२२॥

कोई तेरा स्तवन करता भाव से है मनुष्य,
होता ना ही शिवपथ उसे वाम स्वामी? अवश्य।
जाते जाते शिव सदन की ओर जो आत्म ध्याता,
मोक्षार्थी तो तव-समय में यो न संदेह लाता ॥२३॥

जो कोई भी मनुज मन में आपको धार ध्याता,
भव्यात्मा यों अविरल प्रभो! आप में लौ लगाता।
जल्दी से है शिव सदन का श्रेष्ठ जो मार्ग पाता;
श्रेयोमार्गी वह तुम सुनो! पंचकल्याण पाता ॥२४॥

ज्ञानी योगी स्तुति कर सके ना यदा वे यहाँ हैं,
तो कैसे मैं तव स्तुति करूँ पै तदा रे मुधा है।
तो भी तेरे स्तवन मिष से पूर्ण सम्मान ही है,
आत्मार्थी को विमल सुख का, स्वर्ग का वृक्ष ही है ॥२५॥

हैं वादिराज वर-लक्षण पारगामी,
है न्याय-शास्त्र सब में बुध अग्रगामी।
हैं विश्व में नव रसान्वित काव्य धाता,
हैं आपसा न जग भव्य सहाय दाता ॥२६॥

त्रैलोक्य पूज्य यतिराज सुवादिराज,
आदर्श सादृश सदा वृष-शीश-ताज।
वन्दूँ तुम्हें सहज ही सुख तो मिलेगा,
'विद्यादिसागर' बनूँ दुख तो मिटेगा ॥

❑ ❑ ❑

भक्तिपाठ

आचार्य पूज्यपाद रचित

पूज्यपाद भक्तियाँ (संस्कृत)

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

भक्ति पाठ

आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज ने चतुर्विध संघ पर कृपा कर प्रातः स्मरणीय, फलतः नितान्त उपादेय नौ भक्तियों का अनुवाद हिन्दी भाषा में कर दिया है। इससे संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ उपासक जन भी अर्थावबोधपूर्वक अपनी चेतना को सुस्नात और सिक्त कर सकेंगे। उपासक इन्हीं के पाठारम्भ से अपनी दिनचर्या आरम्भ करते हैं और इसी से सम्पन्न भी। इससे इनकी महत्ता स्पष्ट है। ये नौ भक्तियाँ हैं–सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, चैत्यभक्ति, शान्तिभक्ति तथा पञ्चमहागुरुभक्ति।

पहली भक्ति है–'**सिद्धभक्ति**'। पंच परमेष्ठियों (परमे तिष्ठति इति परमेष्ठी) में चार कक्षाओं के अधिकारी मनुष्य हैं और एक कक्षा के अधिकारी हैं मुक्त आत्माएँ। ये ही मुक्त आत्मायें 'सिद्ध' कही जाती हैं। आठों प्रकार के कर्मों के क्षय से जब शरीर भी नहीं रहता तो उसे (विदेह/मुक्त) सिद्ध कहते हैं। ये ऊर्ध्वलोक के लोकाग्र में पुरुषाकार छायारूप में स्थित रहते हैं। इनका पुनः संसार में आगमन नहीं होता। ये सच्चे परम देव हैं। संसारी भव्यजीव वीतराग भाव की साधना से इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। वे ज्ञान शरीरी हैं। सिद्धभक्ति में इन्हीं के गुण-गण का वर्णन किया गया है। इसमें पूर्व में की गई उनकी साधना और उससे उपलब्ध ऊँचाइयों का विवरण है।

दूसरी है–**चारित्रभक्ति**। इसमें रत्नत्रय में परिगणित चारित्ररूप रत्न की महिमा गाई गई है और उसकी सुगन्ध आचार में प्रस्फुटित हो, यह कामना व्यक्त की गई है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र की सम्मिलित कारणता है–मोक्ष के प्रति। जैन शास्त्रों में इसके अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म और वर्गीकृत विवेचन मिलता है। आचार्यश्री ने भी बहुत से पारिभाषिक शब्दों का सांकेतिक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए कायोत्सर्ग, गुप्तियाँ, महाव्रत, ईर्या आदि समितियाँ, तेरहविध चारित्र, कर्म-निर्जरा आदि।

तीसरी भक्ति है–**योगिभक्ति**। सनातनी विद्या की अभिव्यक्ति की दो धाराएँ हैं-शब्द और प्रातिभ। अभिव्यक्ति की दूसरी धारा श्रमणमार्ग की धारा है। तप एवं खेद के अर्थ वाली दिवादि गण में पठित 'श्रमु' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय होने पर 'श्रमण' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है–तपन या तप करना। पर धारा विशेष में यह 'योगरूढ़' है–यों यौगिक तो है ही। तप ही इस धारा की पहचान है। यह तत्त्व न तो उस मात्रा में ब्राह्मण धारा में है और न ही बौद्ध धारा में। योगिभक्ति में आचार्यश्री ने प्रबल तपोविधि का विवरण दिया है। कहा गया है–

''बाह्याभ्यन्तर द्वादशविध तप तपते हैं मद-मर्दक हैं।''

चौथी भक्ति है–**आचार्यभक्ति**। पंच परमेष्ठी में तृतीय स्थान आचार्य का है। अध्यात्ममार्ग के पथिक को आचार्य की अँगुली, उनका हस्तावलम्ब अनिवार्य है और यह उनकी भक्ति से ही सम्भव है। कहा गया है–

उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः।
तत्पक्षताक्ष्यर्-पक्षान्तश्चरा विघ्नोरगोत्तराः॥

सागारधर्मामृत २/४५

आचार्य रूप श्री सद्‌गुरु स्वयं दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य–इन पाँच प्रकार के आचारों का पालन करते हैं और अन्य साधुओं से भी उसका पालन कराते हैं, दीक्षा देते हैं, व्रतभंग या सदोष होने पर प्रायश्चित्त कराते हैं। आस्रव के लिए कारणीभूत सभी सम्भावनाओं से अपने को बचाते हैं। इसमें आचार्य के छत्तीस गुण बताये गये हैं।

पाँचवी भक्ति है– **निर्वाणभक्ति**। आचार्यश्री का संकल्प है–

निर्वाणों की भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु तव संसर्ग॥

'महावीर' पदवी से विभूषित तीर्थंकर वर्धमान का निर्वाणान्त पंचकल्याणक अत्यन्त शोभन शब्दों से वर्णित है। इन तीर्थंकर के साथ कतिपय अन्य पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की निर्वाणभूमियाँ उनके चिह्नों के साथ वर्णित हैं।

छठी भक्ति है–**नन्दीश्वरभक्ति।** यह १६ जून, १९९१ को सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि, बैतूल (म० प्र०) में अनूदित हुई थी जबकि शेष भक्तियाँ गुजरात प्रान्तवर्ती श्री विघ्नहर पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महुआ, सूरत गुजरात में २२ सितम्बर, १९९६ को अनूदित हुई थीं। नन्दीश्वर–यह अष्टम द्वीप है जो नन्दीश्वर सागर से घिरा हुआ है। यह स्थान इतना रमणीय और प्रभावी है कि उसका वर्णन पढ़कर स्वयं आचार्यश्री तो प्रभावित हुए ही हैं और भी कितने मुनियों तथा साधकों को भी यहाँ से दिशा मिली है। ऐसे ही परम पुनीत स्थानों में सम्मेदाचल, पावापुर का भी उल्लेखनीय स्थान है। ऐसे अनेक जिन भवन हैं जो मोक्षसाध्य के हेतुभूत हैं। चतुर्विध देव तक सपरिवार यहाँ इन जिनालयों में आते हैं। आचार्यश्री इन और ऐसे अन्य जिनालयों के प्रति सश्रद्ध नतशिर हैं।

सातवीं भक्ति है–**चैत्यभक्ति**। आचार्यश्री ने बताया है कि जिनवर के चैत्य प्रणम्य हैं। ये किसी द्वारा निर्मित नहीं हैं अपितु स्वयं बने हैं। इनकी संख्या अनगिनत है। औरों के साथ आचार्यश्री की भी कामना है कि वे भी उन सब चैत्यों का भरतखण्ड में रहकर भी अर्चन-वन्दन-पूजन करते रहें ताकि वीर-मरण हो जिनपद की प्राप्ति हो और सामने सन्मति लाभ हो।

आठवीं भक्ति है–**शान्तिभक्ति**। इस भक्ति में दुःख-दग्ध धरती पर जहाँ कषाय का भानु

निरन्तर आग उगल रहा हो, किसे शान्ति अभीष्ट न होगी ? तीर्थंकर शान्तिनाथ शीतल–छायायुक्त वह वट वृक्ष हैं, जहाँ अविश्रान्त संसारी को विश्रान्ति मिलती है। इसीलिए आचार्यश्री कहते हैं सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ को दृष्टिगत कर–

शान्तिनाथ हो विश्वशान्ति हो भाँति-भाँति की भ्रान्ति हरो।
प्रणाम ये स्वीकार करो लो किसी भाँति मुझ कान्ति भरो ॥

इस संकलन की अन्तिम भक्ति है–**पंच महागुरुभक्ति**। इसमें अन्ततः पंच परमेष्ठियों के प्रति उनके गुणगणों और अप्रतिम वैभव का स्मरण करते हुए आचार्यश्री कामना करते हैं–

कष्ट दूर हो कर्मचूर हो बोधिलाभ हो सद्गति हो।
वीरमरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति हो ॥

इन विविध विध भक्तियों में जिनदर्शन सम्मत सर्वविध चिन्तन का सार आ गया है– विशेष कर आत्मचिन्तन का। इस प्रकार आचार्यश्री की निर्झरिणी लोकहितार्थ निरन्तर सक्रिय है।

❑ ❑ ❑

सिद्धभक्ति

जिनके शुचि गुण परिचय पाकर वैसा बनने उद्यत हूँ।
विधि मल धो-धो निजपन साधा वन्दू सिद्धों को नत हूँ॥
निजी योग्यता बाह्य योग से कनक कनकपाषाण यथा।
शुचि गुण-नाशक दोष नशन से आत्मसिद्धि वरदान तथा॥१॥

गुणाभाव यदि अभाव निज का सिद्धि रही तप व्यर्थ रहे।
सुचिरबद्ध यह विधि फल-भोक्ता कर्म नष्ट कर अर्थ गहे॥
ज्ञाता-द्रष्टा स्व-तन बराबर फैलन-सिकुड़नशाली है।
ध्रुवोत्पादव्यय गुणीजीव है यदि न सिद्धि सो जाली है॥२॥

बाहर-भीतर यथाजात हो रत्नत्रय का खंग लिए।
घाति कर्म पर महाघात कर प्रकटे रवि से अंग लिए॥
छतर चँवर भासुर भामण्डल समवसरण पा आप्त हुये।
अनन्त-दर्शन-बोध-वीर्य-सुख-समकित गुण चिर साथ हुये॥३॥

देखें - जानें युगपत् सब कुछ सुचिर काल तक ध्वान्त हरें।
परमत-खण्डन जिनमत-मण्डन करते जन-जन शान्त करें॥
निज से निज में निज को निज ही बने स्वयंभू वरत रहे।
ज्योतिपुञ्ज की 'ज्ञानोदय' यह जय-जय जय-जय करत रहे॥४॥

जड़ें उखाड़ी अघातियों की सुदूर फैली चेतन में।
हुये सुशोभित सूक्ष्मादिक गुण अनन्त क्षायिक वे क्षण में॥
और और विधि विभाव हटते-हटते अपने गुण उभरे।
ऊर्ध्व स्वभावी अन्त समय में लोक शिखर पर जा ठहरे॥५॥

नूतन तन का कारण छूटा मिला हुआ कुछ कम उससे।
सुन्दर प्रतिछवि लिए सिद्ध हैं अमूर्त दिखते ना दृग से॥
भूख-प्यास से रोग-शोक से राग-रोष से मरणों से।
दूर दुःख से शिव सुख कितना? कौन कहे जड़ वचनों से॥६॥

घट-बढ़ ना हो विषय-रहित है प्रतिपक्षी से रहित रहा।
निरुपम शाश्वत सदा सदोदित सिद्धों का सुख अमित रहा॥
निज कारण से प्राप्त अबाधित स्वयं सातिशय धार रहा।
परनिरपेक्षित परमोत्तम हैं अन्त-हीन वह सार रहा॥७॥

श्रम निद्रा जब अशुचि मिटी है शयन सुमन आदिक से क्या?
क्षुधा मिटी है तृषा मिटी है सरस अशन आदिक से क्या?
रोग-शोक की पीर मिटी है औषध भी अब व्यर्थ रहा?
तिमिर मिटा सब हुआ प्रकाशित दीपक से क्या अर्थ रहा? ॥८॥

संयम-यम-नियमों से नय से आत्म-बोध से दर्शन से।
महायशस्वी महादेव हैं बने कठिन तपघर्षण से॥
हुये हो रहे होंगे वन्दित सुधी - जनों से सिद्ध महा।
उन सम बनने तीनों सन्ध्या उन्हें नमूँ कर-बद्ध यहाँ॥९॥

अञ्चलिका

दोहा

सिद्ध गुणों की भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु तव संसर्ग ॥१०॥

समदर्शन से साम्य बोध से समचारित से युक्त हुये।
दुष्ट धर्म से पुष्ट हुये जो अष्ट कर्म से मुक्त हुये॥
सम्यक्त्वादिक अष्ट गुणों से मुख्य रूप से विलस रहे।
ऊर्ध्व स्वभावी बने तुरत जा लोक शिखर पर निवस रहे ॥११॥

विगत अनागत आगत के यूँ कुछ तो तप से सिद्ध हुये।
कुछ संयम से कुछ तो नय से कुछ चारित से सिद्ध हुये॥
भाव भक्ति से चाव-शक्ति से निर्मल कर-कर निज मन को।
पूजूँ वन्दू अर्चन कर लूँ नमन करूँ सब सिद्धन को॥१२॥

कष्ट दूर हो कर्म चूर हो बोधि-लाभ हो सद्गति हो।
वीर-मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति ओ!॥

चारित्रभक्ति

त्रिभुवन के जो इन्द्र बने हैं सजे-धजे आभरणों से।
हीरक-हारों कनक कुण्डलों किरीट-मणिमय किरणों से ॥
जिससे मुनियों ने निज-पद में झुका लिए इन इन्द्रों को।
पूज्य पञ्च-आचार उसे मैं वन्दूँ, कह दूँ भविकों को ॥१॥

शब्द अर्थ औ उभय विकल ना यथाकाल उपधान तथा।
गुरु निह्नव ना बहुमति होना यथायोग्य सम्मान कथा ॥
महाजाति कुल रजनीपति से तीर्थंकरों ने समझाया।
वसुविध ज्ञानाचार नमूँ मैं कर्म नष्ट हो मन भाया ॥२॥

जिनमत-शंका परमत-शंसा विषयों की भी चाह नहीं।
सहधर्मी में वत्सलता हो साधु संत से डाह नहीं ॥
जिनशासन को करो उजागर पथ च्युत को पथ पर लाना।
नमूँ दर्शनाचार नम्र हो उपगूहन में रस आना ॥३॥

नियमों से चर्या को बाँधे अनशन ऊनोदर करना।
इन्द्रिय गज-मदमत्त बने ना रसवर्जन बहुतर करना ॥
शयनासन एकान्त जहाँ हो और तपाना निज तन को।
बाह्य हेतु शिव के छह तप इन,की थुति में रखता मन को ॥४॥

करे ध्यान स्वाध्याय विनय भी तनूत्सर्ग भी सदा करे।
वृद्ध रुग्ण लघु गुरु यतियों के नित तन-मन की व्यथा हरे ॥
दोष लगे तो तुरत दण्ड ले बने शुद्ध तप हैं प्यारे।
कषायरिपु के हनक भीतरी इन्हें नमूँ बुध उर धारे ॥५॥

जिसके लोचन सत्य बोध हैं आस्था जिसकी जिनमत में।
बिना छुपाये निज बल यति का तपना चलना शिव-पथ में ॥
अछिद्र नौका-सम भव-दधि से शीघ्र कराता पार यहाँ।
नमूँ वीर्य-आचार इसे मैं बुध अर्चित गुण सार महा ॥६॥

तीन गुप्तियाँ मन-वच-तन की तथा महाव्रत पाँच सही।
ईर्या भाषा क्षेपण एषण आदि समितियाँ पाँच रहीं॥
अपूर्व तेरह विध चारित है मात्र वीर के शासन में।
भाव भक्ति से पूर्ण शक्ति से इसे नमन हो क्षण-क्षण में ॥७॥

शाश्वत स्वाश्रित सुषमा लक्ष्मी अनुपम सुख की आली है।
केवल दर्शन-बोध ज्योति है मनोरमा उजयाली है॥
उसको पाने दिगम्बरों को सब यतियों को नमन करूँ।
परम तीर्थ आचार यही है मंगल से अघ शमन करूँ ॥८॥

पाप पुराना मिटता नूतन रुकता आना हो जिससे।
ऋद्धि सिद्धि परसिद्धि ऋषी में बढ़े चरित से औ किससे?
प्रमाद वश यदि इस यतिपन में यतिपन से प्रतिकूल किया।
करता निज की निन्दा निन्दित मिथ्या हो अघ मूल किया ॥९॥

निकट भव्य हो एकलव्य हो दूर पाप से आप रहे।
केवल शिव सुख के यदि इच्छुक भव-दु:खों से काँप रहे ॥
जैन-चरित सोपान मोक्ष का विशालतम है अतुल रहा।
आरोहण तुम इस पर कर लो आत्म तेज जब विपुल रहा ॥१०॥

अञ्चलिका

(दोहा)

महाचरित वर भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु! तव संसर्ग ॥१॥

सब में जिसको प्रधान माना कोई जिसके समा नहीं।
कर्म निर्जरा जिसका फल है जिसका भोजन क्षमा रही ॥
समकित पर जो टिका हुआ है सत्य बोध को साथ लिया।
ज्ञान-ध्यान का साधनतम है रहा मोक्ष का पाथ जिया! ॥२॥

गुप्ति तीन से रहा सुरक्षित महाव्रतों का धारक है।
पाँच समितियों का पालक है पातक का संहारक है ॥

जिससे संयत साधु सहज ही समता में है रम जाता।
सुनो! महा चारित्र यही है 'ज्ञानोदय' निशि-दिन गाता ॥३॥

अहो भाग्य है महाचरित को तन से मन से वचनों से।
पूजूँ वन्दूँ अर्चन कर लूँ नमन करूँ दो नयनों से॥
कष्ट दूर हो कर्म चूर हो बोधि लाभ हो सद्गति हो।
वीर मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति हो! ॥४॥

❑ ❑ ❑

योगिभक्ति

नरक-पतन से भीत हुये हैं जाग्रत-मति हैं मथित हुये।
जनन-मरण-मय शत-शत रोगों से पीड़ित हैं व्यथित हुये॥
बिजली बादल-सम वैभव है जल-बुद्बुद्-सम जीवन है।
यूँ चिन्तन कर प्रशम हेतु मुनि वन में काटें जीवन है॥१॥

गुप्ति-समिति-व्रत से संयुत जो मन शिव-सुख की ओर रहा।
मोहभाव के प्रबल-पवन से जिनका मन ना डोल रहा॥
कभी ध्यान में लगे हुये तो श्रुत-मन्थन में लीन कभी।
कर्म-मलों को धोना है सो तप करते स्वाधीन सुधी॥२॥

रवि-किरणों से तपी शिला पर सहज विराजे मुनिजन हैं।
विधि-बन्धन को ढीले करते जिनका मटमैला तन है॥
गिरि पर चढ़ दिनकर के अभिमुख मुख करके हैं तप तपते।
ममत्व मत्सर मान रहित हो बने दिगम्बर-पथ नपते॥३॥

दिवस रहा हो रात रही हो बोधामृत का पान करें।
क्षमा-नीर से सिंचित जिनका पुण्यकाय छविमान अरे!
धरे छत्र संतोष-भाव के सहज छाँव का दान करें।
यूँ सहते मुनि तीव्र-ताप को 'ज्ञानोदय' गुणगान करें॥४॥

मोर कण्ठ या अलि-सम काले इन्द्रधनुष युत बादल हैं।
गरजे बरसे बिजली तड़की झंझा चलती शीतल है॥
गगन दशा को देख निशा में और तपोधन तरुतल में।
रहते सहते कहते कुछ ना भीति नहीं मानस-तल में॥५॥

वर्षा ऋतु में जल की धारा मानो बाणों की वर्षा।
चलित चरित से फिर भी कब हो करते जाते संघर्षा॥
वीर रहे नर-सिंह रहे मुनि परिषह रिपु को घात रहे।
किन्तु सदा भव-भीत रहे हैं इनके पद में माथ रहे॥६॥

अविरल हिमकण जल से जिनकी काय-कान्ति ही चली गई।
साँय-साँय कर चली हवायें हरियाली सब जली गई॥
शिशिर तुषारी घनी निशा को व्यतीत करते श्रमण यहाँ।
और ओढ़ते धृति-कम्बल हैं गगन तले भूशयन अहा!॥७॥

एक वर्ष में तीन योग ले बने पुण्य के वर्धक हैं।
बाह्याभ्यन्तर द्वादश-विध तप तपते हैं मद-मर्दक हैं॥
परमोत्तम आनन्द मात्र के प्यासे भदन्त ये प्यारे।
आधि-व्याधि औ उपाधि-विरहित समाधि हममें बस डारें॥८॥

ग्रीष्मकाल में आग बरसती गिरि-शिखरों पर रहते हैं।
वर्षा-ऋतु में कठिन परीषह तरुतल रहकर सहते हैं॥
तथा शिशिर हेमन्त काल में बाहर भू-पर सोते हैं।
वन्द्य साधु ये वन्दन करता दुर्लभ-दर्शन होते हैं॥९॥

अञ्चलिका

(दोहा)

योगीश्वर सद्भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु! तव संसर्ग॥१०॥

अर्ध सहित दो द्वीप तथा दो सागर का विस्तार जहाँ।
कर्म-भूमियाँ पन्द्रह जिनमें संतों का संचार रहा॥

वृक्षमूल-अभ्रावकाश औ आतापन का योग धरें।
मौन धरें वीरासन आदिक का भी जो उपयोग करें ॥११॥

बेला तेला चोला छह-ला पक्ष मास छह मास तथा।
मौन रहें उपवास करें हैं करें न तन की दास कथा॥
भाव-भक्ति से चाव-शक्ति से निर्मल कर-कर निज मन को।
वन्दूँ पूजूँ अर्चन कर लूँ नमन करूँ इन मुनिजन को ॥१२॥

कष्ट दूर हो कर्म चूर हो बोधि लाभ हो सद्गति हो।
वीर मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति ओ! ॥

❑ ❑ ❑

आचार्यभक्ति

सिद्ध बने शिव-शुद्ध बने जो जिन की थुति में निरत रहे।
दावा-सम अति-कोप अनल को शान्त किये अति-विरत रहे ॥
मनो-गुप्ति के वचन-गुप्ति के काय-गुप्ति के धारक हैं।
जब जब बोलें सत्य बोलते भाव शुद्ध-शिव साधक हैं ॥१॥

दिन दुगुणी औ रात चउगुणी मुनि पद महिमा बढ़ा रहे।
जिन शासन के दीप्त दीप हो और उजाला दिला रहे ॥
बद्ध-कर्म के गूढ़ मूल पर घात लगाते कुशल रहे।
ऋद्धि सिद्धि परसिद्धि छोड़कर शिवसुख पाने मचल रहे ॥२॥

मूलगुणों की मणियों से है जिनकी शोभित देह रही।
षड् द्रव्यों का निश्चय जिनको जिनमें कुछ संदेह नहीं ॥
समयोचित आचरण करे हैं प्रमाद के जो शोषक हैं।
सम दर्शन से शुद्ध बने हैं निज गण तोषक, पोषक हैं ॥३॥

पर-दुख-कातर सदय हृदय जो मोह-विनाशक तप धारे।
पञ्च-पाप से पूर्ण परे हैं पले पुण्य में जग प्यारे ॥

जीव जन्तु से रहित थान में वास करें निज कथा करें।
जिनके मन में आशा ना है दूर कुपथ से तथा चरें ॥४॥

बड़े-बड़े उपवासादिक से दण्डित ना बहुदण्डों से।
सुडौल सुन्दर तन मन से हैं मुख मण्डल-कर-डण्डों से ॥
जीत रहे दो-बीस परीषह किरिया-करने योग्य करें।
सावधान संधान ध्यान से प्रमाद हरने योग्य, हरें ॥५॥

नियमों में हैं अचल मेरुगिरि कन्दर में असहाय रहे।
विजितमना हैं जित-इन्द्रिय हैं जितनिद्रक जितकाय रहे ॥
दुस्सह दुखदा दुर्गति-कारण लेश्याओं से दूर रहे।
यथाजात हैं जिनके तन हैं जल्ल-मल्ल से पूर रहे ॥६॥

उत्तम-उत्तम भावों से जो भावित करते आतम को।
राग लोभ मात्सर्य शाठ्य मद को तजते हैं अघतम को ॥
नहीं किसी से तुलना जिनकी जिनका जीवन अतुल रहा।
सिद्धासन मन जिनके, चलता आगम मन्थन विपुल रहा ॥७॥

आर्तध्यान से रौद्रध्यान से पूर्णयत्न से विमुख रहे।
धर्मध्यान में शुक्लध्यान में यथायोग्य जो प्रमुख रहे ॥
कुगति मार्ग से दूर हुए हैं 'सुगति' ओर गतिमान हुये।
सात ऋद्धि रस गारव छोड़े पुण्यवान गणमान्य हुए ॥८॥

ग्रीष्म काल में गिरि पर तपते वर्षा में तरुतल रहते।
शीतकाल आकाश तले रह व्यतीत करते अघ दहते ॥
बहुजन हितकर चरित धारते पुण्य पुञ्ज हैं अभय रहे।
प्रभावना के हेतुभूत उन महाभाव के निलय रहे ॥९॥

इस विध अगणित गुणगण से जो सहित रहे हितसाधक हैं।
हे जिनवर! तव भक्तिभाव में लीन रहे गणधारक हैं ॥
अपने दोनों कर-कमलों को अपने मस्तक पर धरके।
उनके पद कमलों में नमता बार-बार झुक-झुक करके ॥१०॥

कषायवश कटु-कर्म किये थे जन्म-मरण से युक्त हुये।
वीतरागमय आत्म-ध्यान से कर्म नष्ट कर मुक्त हुये॥
प्रणाम उनको भी करता हूँ अखण्ड अक्षय-धाम मिले।
मात्र प्रयोजन यही रहा है सुचिर काल विश्राम मिले॥११॥

अञ्चलिका

(दोहा)

मुनिगण-नायक भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु! तव संसर्ग॥१२॥

पञ्चाचारों रत्नत्रय से शोभित हो आचार्य महा।
शिवपथ चलते और चलाते औरों को भी आर्य यहाँ॥
उपाध्याय उपदेश सदा दे चरित बोध का शिवपथ का।
रत्नत्रय पालन में रत हो साधु सहारा जिनमत का॥१३॥

भावभक्ति से चाव शक्ति से निर्मल कर-कर निज मन को।
वन्दूँ पूजूँ अर्चन करलूँ नमन करूँ मैं गुरुगण को॥
कष्ट दूर हो कर्म चूर हो बोधिलाभ हो सद्गति हो।
वीर-मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति ओ!॥१४॥

❑ ❑ ❑

निर्वाणभक्ति

अतुल रहा है अचल रहा है विपुल रहा है विमल रहा।
निरा निरामय निरुपम शिवसुख मिला वीर को सबल रहा॥
नर-नागेन्द्रों खगपतियों से अमरेन्द्रों से वन्दित हैं।
भूतेन्द्रों से यक्षेन्द्रों से कुबेर से अभिनन्दित हैं॥१॥

औरों का वह भाग्य कहाँ है पाँच-पाँच कल्याण गहे।
भविक जनों को तुष्टि दिलाते वर्धमान वरदान रहे॥
तीन लोक के आप परमगुरु पाप मात्र से दूर रहे।
स्तवन करूँ तव भाव-भक्ति से पुण्य भाव का पूर रहे॥२॥

दीर्घ दिव्य सुख-भोग भोगते पुष्पोत्तर के स्वामी हो।
आयु पूर्णकर अच्युत से च्युत हो शिवसुख परिणामी हो॥
आषाढ़ी के शुक्लपक्ष की छटी छठी तिथि में उतरे।
हस्तोत्तर के मध्य शशी है नभ में तारकगण बिखरे॥३॥

विदेहनामा कुण्डपुरी है प्रतिभा-रत इस भारत में।
प्रियंकारिणी देवी त्रिशला सेवारत सिद्धारथ में॥
शुभफल देने वाले सोलह स्वप्नों को तो दिया दिखा।
वैभवशाली यहाँ गर्भ में बालक आया 'दिया' दिखा॥४॥

चैत्र मास है शुक्लपक्ष है तेरस का शुभ दिवस रहा।
महावीर का धीर वीर का जनम हुआ यश बरस रहा॥
तभी उत्तरा फाल्गुनि पर था शशांक का भी संग रहा।
शेष सौम्य ग्रह निज उत्तम पद गहे लग्न भी चंग रहा॥५॥

अगला दिन वह चतुर्दशी का हस्ताश्रित है सोम रहा।
उषाकाल से प्रथम याम में शान्त-शान्त भू-व्योम रहा॥
पाण्डुक की शुचि मणी शिला पर बिठा वीर को इन्द्रों ने।
न्हवन कराया रत्नघटों से देखा उसको देवों ने॥६॥

तीन दशक तक कुमार रहकर अनन्त गुण से खिले हुये।
भोगों उपभोगों को भोगा देवों से जो मिले हुये॥
तभी यकायक उदासीन से अनासक्त हो विषयों से।
और वीर ये सम्बोधित हो ब्रह्मलोक के ऋषियों से॥७॥

झालर झूमर मणियाँ लटकी झरझुर-झरझुर रूपवती।
'चन्द्रप्रभा' यह दिव्य पालिका रची हुई बहुकूटवती॥
वीर हुये आरूढ़ इसी पर कुण्डपुरी से निकल गये।
वीतराग को राग देखता जन-जन परिजन विकल हुये॥८॥

मगसिर का यह मास रहा है और कृष्ण का पक्ष रहा।
यथा जन्म में हस्तोत्तर के मध्य शशी अध्यक्ष रहा॥

दशमी का मध्याह्न काल है बेला का संकल्प किया।
वीर आप जिन बने दिगम्बर मन को चिर अविकल्प किया ॥९॥

ग्राम नगर में प्रतिपट्टण में पुर-गोपुर में गोकुल में।
अनियत विहार करते प्रतिदिन निर्जन जन-जन संकुल में ॥
द्वादश वर्षों द्वादश विध तप उग्र-उग्रतर तपते हैं।
अमर समर सब जिन्हें पूजते कष्टों में ना कँपते हैं ॥१०॥

ऋजुकूला सरिता के तट पर बसा जृंभिका गाँव रहा।
शिला बिछी है सहज सदी से शाल वृक्ष की छाँव जहाँ ॥
खड़े हुये मध्याह्न काल में दो दिन के उपवास लिए।
आत्मध्यान में लीन हुये हैं तन का ना अहसास किए ॥११॥

तिथि दशमी वैशाख मास है शुक्लपक्ष का स्वागत है।
हस्तोत्तर के मध्य शशी है शान्त कान्ति से भास्वत है ॥
क्षपक श्रेणी पर वीर चढ़ गये निर्भय हो भव-भीत हुये।
घाति-घात कर दिव्य बोध को पाये, मृदु नवनीत हुये ॥१२॥

नयन मनोहर हर दिल हरते हर्षित हो प्रति अंग यहाँ।
महावीर वैभारगिरी पर लाये चउविध संघ महा ॥
श्रमण-श्रमणियाँ तथा श्राविका-श्रावकगण सागारों में।
गौतम गणधर प्रमुख रहे हैं ऋषि यति मुनि अनगारों में ॥१३॥

दुम-दुम-दुम-दुम दुंदुभि बजना दिव्य धुनी का वह खिरना।
सुरभित सुमनावलि का गिरना चउसठ चामर का ढुरना ॥
तीन छत्र का सर पर फिरना औ भामण्डल का घिरना।
स्फटिक मणी का सिंहासन सो अशोक तरु का भी तनना।
समवसरण में प्रातिहार्य का हुआ वीर को यूँ मिलना ॥१४॥

सागारों को ग्यारह प्रतिमाओं का है उपदेश दिया।
अनगारों को क्षमादि दशविध धर्मों का निर्देश दिया ॥

इस विध धर्मामृत की वर्षा करते विहार करते हैं।
तीस वर्ष तक वीर निरन्तर जग का सुधार करते हैं ॥१५॥

कई सरोवर परिसर जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिले।
तरह-तरह के लघु-गुरु तरुवर फूले महके सफल फले ॥
अमर रमे रमणीय मनोहर पावानगरी उपवन में।
बाह्य खड़े जिन तनूत्सर्ग में भीतर में तो चेतन में ॥१६॥

कार्तिक का यह मास रहा है तथा कृष्ण का पक्ष रहा।
कृष्ण पक्ष की अन्तिम तिथि है स्वाती का तो ऋक्ष रहा ॥
शेष रहे थे चउकर्मों को वर्द्धमान ने नष्ट किया।
अजरअमर बन अक्षयसुख से आतम को परिपुष्ट किया ॥१७॥

प्राप्त किया निर्वाण दशा को वीर चले शिव-धाम गये।
ज्ञात किया बस इन्द्र उतरते धरती पर जिन नाम लिये ॥
धरती दुर्लभ देवदारु है स्वर्ग सुलभ लहु-चन्दन है।
कालागुरु गोशीर्ष साथ है लाये सुरभित नन्दन है ॥१८॥

धूप फलों से जिनवर तन का गणधर का अर्चन करके।
अनलेन्द्रों के मुकुट अनल से जला वीर तन पल भर में ॥
वैमानिक सुर तो स्वर्गों में ज्योतिष नभ में यानों में।
व्यन्तर बिखरे निज-निज वन में शेष गये बस भवनों में ॥१९॥

इस विध दोनों संध्याओं में तन से मन से भाषा से।
वर्द्धमान का स्तोत्र - पाठ जो करते हैं बिन आशा से ॥
देव लोक में मनुज लोक में अनन्य दुर्लभ सुख पाते।
और अन्त में शिवपद पाते किन्तु लौटकर ना आते ॥२०॥

गणधर देवों श्रुतपारों के तीर्थकरों के 'अन्त' जहाँ।
वहीं बनी निर्वाणभूमियाँ भारत सो यशवन्त रहा ॥
शुद्ध वचन से मन से तन से नमन उन्हें शत बार करूँ।
स्तवन उन्हीं का करूँ आज मैं बार-बार जयकार करूँ ॥२१॥

प्रथम तीर्थंकर महामना वे पूर्ण-शील से युक्त हुये।
शैल-शिखर कैलाश जहाँ पर कर्म-काय से मुक्त हुये॥
चम्पापुर में वासुपूज्य ये परम पूज्य पद पाये हैं।
राग-रहित हो बन्ध-रहित हो अपनी धी में आये हैं ॥
शुद्ध चेतना लाये हैं ॥२२॥

जिसको पाने स्वर्गों में भी देवलोक भी तरस रहे।
साधु गवेषक बने उसी के उसीलिए कट दिवस रहे॥
ऊर्जयन्त गिरनारगिरी पर निज में निज को साध लिया।
अरिष्टनेमी कर्म नष्ट कर सिद्धि सुधा का स्वाद लिया ॥२३॥

पावापुर के बाहर आते विशाल उन्नत थान रहा।
जिसको घेरे कमल-सरोवर नन्दन-सा छविमान रहा॥
'यहीं' पाप धो धवलिम होकर वर्धमान निर्वाण गहे।
पूजूँ वन्दूँ अर्चन कर लूँ 'ज्ञानोदय' गुणखान रहे ॥२४॥

मोह मल्ल को जीत लिया जो बीस तीर्थंकर शेष रहे।
ज्ञान-भानु से किया प्रकाशित त्रिभुवन को अनिमेष रहे ॥
तीर्थराज सम्मेदाचल पर योगों का प्रतिकार किया।
असीम सुख में डूब गये फिर भवसागर का पार लिया ॥२५॥

विहार रोके चउदह दिन तक वृषभदेव फिर मुक्त हुये।
वर्धमान को लगे दिवस दो अयोग बनकर गुप्त हुये॥
शेष तीर्थंकर तनूत्सर्ग में एक मास तक शान्त रहे।
सयोगपन तज अयोगगुण पा लोकशिखर का प्रान्त गहे ॥२६॥

वचनमयी थुदि कुसुमों से शुभ मालाओं को बना-बना।
मानस-कर से दिशा-दिशा में बिखरायें हम सुहावना॥
इन तीर्थों की परिक्रमा भी सादर सविनय सदा करें।
यही प्रार्थना किन्तु करें हम सिद्धि मिले आपदा टरे ॥२७॥

पक्षपात तज कर्मपक्ष पर पाण्डव तीनों टूट पड़े।
शत्रुञ्जयगिरि पर शत्रुञ्जय बने बन्ध से छूट पड़े॥
तुंगीगिरि पर अंग-रहित हो राम सदा अभिराम बने।
नदी तीर पर स्वर्णभद्र मुनि बने सिद्ध विधिकाम हने ॥२८॥

सिद्धकूट वैभार तुंग पर श्रमणाचल विपुलाचल में।
पावन कुण्डलगिरि पर मुक्तागिरि पर श्रीविंध्याचल में॥
तप के साधन द्रोणागिरि पर पौदनपुर के अञ्चल में।
सिंह दहाड़े सह्याचल में दुर्गम बलाहकाचल में॥२९॥

गजदल टहले गजपंथा में हिम गिरता हिमगिरिवर में।
दंडात्मक पृथुसार यष्टि में पूज्य प्रतिष्ठक भूधर में॥
साधु-साधना करते बनते निर्मल पञ्चमगति पाते।
स्थान हुये ये प्रसिद्ध जग में करलूँ इनकी थुदि तातैं ॥३०॥

पुण्य पुरुष ये जहाँ विचरते पुजती धरती माटी है।
आटे में गुड़ मिलता जैसे और मधुरता आती है॥३१॥

गणधर देवों अरहन्तों की मौनमना मुनिराजों की।
कही गईं निर्वाणभूमियाँ मुझसे कुछ गिरिराजों की॥
विजितमना जिन शान्तमना मुनि जो हैं भय से दूर सदा।
यही प्रार्थना मेरी उनसे सद्गति दें सुख पूर सुधा॥३२॥

'वृषभ' वृषभ का चिह्न अजित का 'गज' शंभव का 'घोट' रहा।
अभिनन्दन का 'वानर' माना और सुमति का 'कोक' रहा॥
छटे सातवें अष्टम जिन का 'सरोज' 'स्वस्तिक' 'चन्दा' है।
नवम दशम ग्यारहवें जिन का 'मकर' 'कल्पतरु' 'गेंडा' है ॥३३॥

वासुपूज्य का 'भैंसा' 'सूकर' विमलनाथ का औ 'सेही'।
अनन्त का है 'वज्र' धर्म का शान्तिनाथ का 'मृगदेही'॥
कुन्थु अरह का 'अज' 'मीना' है 'कलश' मल्लि का 'कूर्म' रहा
मुनिसुव्रत का, नमी नेमि का 'नीलकमल' है 'शंख' रहा।

पार्श्वनाथ का 'नाग' रहा है वर्धमान का 'सिंह' रहा ॥३४॥

उग्रवंश के पार्श्वनाथ हैं नाथवंश के वीर रहे।
मुनिसुव्रत औ नेमिनाथ हैं यदुवंशी हैं धीर रहे॥
कुरुवंशी हैं शान्तिनाथ हैं कुन्थुनाथ अरनाथ रहे।
रहे शेष इक्ष्वाकुवंश के इन पद में मम माथ रहे ॥३५॥

अञ्चलिका

(दोहा)

निर्वाणों की भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु! तव संसर्ग ॥३६॥

काल बीतता चतुर्थ में जब पक्ष नवासी शेष रहे।
कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के सौ-सौ श्वाँसें शेष रहे॥
भोर स्वाति की पावा में है वर्धमान शिव-धाम गये।
देव चतुर्विध साथ स्वजन ले लो आते जिन नाम लिये ॥३७॥

दिव्य गन्ध ले दिव्य दीप ले दिव्य-दिव्य ले सुमनलता।
दिव्य चूर्ण ले दिव्य न्हवन ले दिव्य-दिव्य ले वसन तथा॥
अर्चन पूजन वन्दन करते करते नियमित नमन सभी।
निर्वाणक कल्याण मनाकर करते निज घर गमन तभी ॥३८॥

सिद्धभूमियों को नित मैं भी यही भाव निर्मल करके।
अर्चन पूजन वन्दन करता प्रणाम करता झुक करके॥
कष्ट दूर हो कर्म चूर हो बोधि लाभ हो सद्गति हो।
वीर-मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति हो! ॥३९॥

❑ ❑ ❑

नंदीश्वरभक्ति

जय-जय-जय जयवन्त जिनालय नाश रहित हैं शाश्वत हैं।
जिनमें जिनमहिमा से मण्डित जैन बिम्ब हैं भास्वत हैं॥
सुरपति के मुकुटों की मणियाँ झिलमिल झिलमिल करती हैं।
जिनबिम्बों के चरण-कमल को धोती हैं, मन हरती हैं ॥१॥

सदा-सदा से सहज रूप से शुचितम प्राकृत छवि वाले।
रहें जिनालय धरती पर ये श्रमणों की संस्कृति धारे॥
तीनों संध्याओं में इनको तन से मन से वचनों से।
नमन करूँ धोऊँ अघ-रज को छूटूँ भव-वन भ्रमणों से ॥२॥

भवनवासियों के भवनों में तथा जिनालय बने हुये।
तेज कान्ति से दमक रहे हैं और तेज सब हने हुये॥
जिनकी संख्या जिन आगम में सात कोटि की मानी है।
साठ-लाख दस लाख और दो लाख बताते ज्ञानी हैं ॥३॥

अगणित द्वीपों में अगणित हैं अगणित गुण गण मण्डित हैं।
व्यन्तर देवों से नियमित जो पूजित संस्तुत वन्दित हैं॥
त्रिभुवन के सब भविकजनों के नयन मनोहर सुन प्यारे।
तीन लोक के नाथ जिनेश्वर मन्दिर हैं शिवपुर द्वारे॥४॥

सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्रादिक तारक दल गगनांगन में।
कौन गिने वह अनगिन हैं ये अनगिन जिनगृह हैं जिनमें॥
जिन के वन्दन प्रतिदिन करते शिव सुख के वे अभिलाषी।
दिव्य देह ले देव-देवियाँ ज्योतिर्मण्डल अधिवासी ॥५॥

नभ[१]-नभ स्वर-रस केशव-सेना मद हो सोलह कल्पों में।
आगे पीछे तीन बीच दो[२] शुभतर कल्पातीतों में॥

---

१. नभ=० स्वर=७ रस=६ केशव=९ सेना=४ मद=८ अर्थात् ८४९६७००

२. ८४९६७००+३२३=८४९७०२३

इस विधि शाश्वत ऊर्ध्वलोक में सुखकर ये जिनधाम रहें।
अहो भाग्य हो नित्य निरन्तर होठों पर जिन नाम रहे ॥६॥

अलोक का फैलाव कहाँ तक लोक कहाँ तक फैला है?
जाने जो जिन हैं जय-भाजन मिटा उन्हीं का फेरा है॥
कही उन्हीं ने मनुज लोक के चैत्यालय की गिनती है।
चार शतक अट्ठावन ऊपर जिन में मन रम विनती है ॥७॥

[1]आतम-मद-सेना-स्वर-केशव-अंग-रंग फिर याम कहे।
ऊर्ध्वमध्य औ अधोलोक में यूँ सब मिल जिन-धाम रहे ॥८॥

किसी ईश से निर्मित ना हैं शाश्वत हैं स्वयमेव सदा।
दिव्य भव्य जिन मन्दिर देखो छोड़ो मन अहमेव मुधा॥
जिनमें आर्हत प्रतिभा-मण्डित प्रतिमा न्यारी प्यारी हैं।
सुरासुरों से सुरपतियों से पूजी जाती सारी हैं ॥९॥

रुचक-कुण्डलों-कुलाचलों पर क्रमश: चउ चउ तीस रहें।
वक्षारों-गिरि विजयार्द्धों पर शत शत-सत्तर ईश कहें॥
गिरि इषुकारों उत्तरगिरियों कुरुओं में चउ चउ दश हैं।
तीन शतक छह बीस जिनालय गाते इनके हम यश हैं ॥१०॥

द्वीप रहा हो अष्टम जिसने 'नन्दीश्वर' वर नाम धरा।
नन्दीश्वर सागर से पूरण आप घिरा अभिराम खरा॥
शशि-सम शीतल जिसके अतिशय यश से बस! दश दिशा खिली।
भूमण्डल भी हुआ प्रभावित इस ऋषि को भी दिशा मिली ॥११॥
किस किस को ना दिशा मिली!

इसी द्वीप में चउ दिशियों में चउ गुरु अञ्जन गिरिवर हैं।
इक-इक अञ्जनगिरि सम्बन्धित चउ-चउ दधिमुख गिरिवर हैं॥
फिर प्रति दधिमुख कोनों में दो-दो रतिकर-गिरि चर्चित हैं।
पावन बावन गिरि पर बावन जिनगृह हैं सुर अर्चित हैं ॥१२॥

---

१. आतम=१ मद=८ सेना=४ स्वर=७ केशव=९ अंग=६ रंग=५ याम=८ अर्थात् ८५६९७४८१

एक वर्ष में तीन बार शुभ अष्टाह्निक उत्सव आते।
एक प्रथम आषाढ़ मास में कार्तिक फाल्गुन फिर आते ॥
इन मासों के शुक्ल पक्ष में अष्ट दिवस अष्टम तिथि से।
प्रमुख बना सौधर्म इन्द्र को भूपर उतरे सुर गति से ॥१३॥

पूज्य द्वीप नन्दीश्वर जाकर प्रथम जिनालय वन्दन ले।
प्रचुर पुष्प मणिदीप धूप ले दिव्याक्षत ले चन्दन ले ॥
अनुपम अद्‌भुत जिन प्रतिमा की जग-कल्याणी गुरुपूजा।
भक्ति-भाव से करते हे मन! पूजा में खो-जा तू जा ॥१४॥

बिम्बों के अभिषेक कार्यरत हुआ इन्द्र सौधर्म महा।
'दृश्य बना' उसका क्या वर्णन भाव-भक्ति सो धर्म रहा ॥
सहयोगी बन उसी कार्य में शेष इन्द्र जयगान करें।
पूर्णचन्द्र-सम निर्मल यश ले प्रसाद गुण का पान करें ॥१५॥

इन्द्रों की इन्द्राणी मंगल कलशादिक लेकर सर पै।
समुचित शोभा और बढ़ातीं गुणवन्ती इस अवसर पै ॥
छां-छुम छां-छुम नाच नाचतीं सुर-नटियाँ हैं सस्मित हो।
सुनो! शेष अनिमेष सुरासुर दृश्य देखते विस्मित हो ॥१६॥

वैभवशाली सुरपतियों के भावों का परिणाम रहा।
पूजन का यह सुखद महोत्सव दृश्य बना अभिराम रहा ॥
इसके वर्णन करने में जब सुनो! बृहस्पति विफल रहा।
मानव में फिर शक्ति कहाँ वह? वर्णन करने मचल रहा ॥१७॥

जिन-पूजन अभिषेक पूर्णकर अक्षत केसर चन्दन से।
बाहर आये देव दिख रहे रंगे-रंगे से तन-मन से ॥
तथा दे रहे प्रदक्षिणा हैं नन्दीश्वर जिनभवनों की।
पूज्य पर्व को पूर्ण मनाते स्तुति करते जिन-श्रमणों की ॥१८॥

सुनो! वहाँ से मनुज-लोक में सब मिलकर सुर आते हैं।
जहाँ पाँच शुभ मन्दरगिरि हैं शाश्वत चिर से भाते हैं ॥

भद्रशाल नन्दन सुमनस औ पाण्डुक वन ये चार जहाँ।
प्रति-मन्दर पर रहे तथा प्रतिवन में जिनगृह चार महा ॥१९॥

मन्दर पर भी प्रदक्षिणा दे करें जिनालय वन्दन हैं।
जिन-पूजन अभिषेक तथा कर करें शुभाशय नन्दन हैं ॥
सुखद पुण्य का वेतन लेकर जो इस उत्सव का फल है।
जाते निज-निज स्वर्गों को सुर यहाँ धर्म ही सम्बल है ॥२०॥

तरह-तरह के तोरण-द्वारे दिव्य वेदिका और रहें।
मानस्तम्भों यागवृक्ष औ उपवन चारों ओर रहें ॥
तीन-तीन प्राकार बने हैं विशाल मण्डप ताने हैं।
ध्वजा पंक्ति का दशक लसे चउ-गोपुर गाते गाने हैं ॥२१॥

देख सकें अभिषेक बैठकर धाम बने नाटक गृह हैं।
जहाँ सदन संगीत साध के क्रीड़ागृह कौतुकगृह हैं ॥
सहज बनीं इन कृतियों को लख शिल्पी होते अविकल्पी।
समझदार भी नहीं समझते सूझ-बूझ सब हो चुप्पी ॥२२॥

थाली-सी है गोल वापिका पुष्कर हैं चउ-कोन रहे।
भरे लबालब जल से इतने कितने गहरे कौन कहे?
पूर्ण खिले हैं महक रहे हैं जिन में बहुविध कमल लसे।
शरद काल में जिस विध नभ में शशि ग्रह तारक विपुल लसें ॥२३॥

झारी लोटे घट कलशादिक उपकरणों की कमी नहीं।
प्रति जिनगृह में शत-वसु शत-वसु शाश्वत मिटते कभी नहीं ॥
वर्णाकृति भी निरी-निरी है जिन की छवि प्रतिछवि भाती।
जहाँ घंटियाँ झन-झन-झन-झन बजती रहती ध्वनि आती॥२४॥

स्वर्णमयी ये जिन मन्दिर यूँ युगों-युगों से शोभित हैं।
गन्धकुटी में सिंहासन भी सुन्दर-सुन्दर द्योतित हैं ॥
नाना दुर्लभ वैभव से ये परिपूरित हैं रचित हुये।
सुनो! यहीं त्रिभुवन के वैभव जिनपद में आ प्रणत हुये ॥२५॥

इन जिनभवनों में जिनप्रतिमा ये हैं पद्मासन वाली।
धनुष पञ्चशत प्रमाणवाली प्रति-प्रतिमा शुभ छवि वाली ॥
कोटि-कोटि दिनकर आभा तक मन्द-मन्द पड़ जाती है।
कनक रजत मणि निर्मित सारी झग-झग झग-झग भाती हैं॥२६॥

दिशा-दिशा में अतिशय शोभा महातेज यश धार रहें।
पाप मात्र के भंजक हैं ये भवसागर के पार रहें॥
और और फिर भानुतुल्य इन जिनभवनों को नमन करूँ।
स्वरूप इनका कहा न जाता मात्र मौन हो नमन करूँ ॥२७॥

धर्मक्षेत्र ये एक शतक औ सत्तर हैं षट् कर्म जहाँ।
धर्मचक्रधर तीर्थकरों से दर्शित है जिनधर्म यहाँ॥
हुये हो रहे होंगे उन सब तीर्थकरों को नमन करूँ।
भाव यही है 'ज्ञानोदय' में रमण करूँ भव-भ्रमण हरूँ ॥२८॥

इस अवसर्पिणि में इस भूपर वृषभनाथ अवतार लिया।
भर्ता बन युग का पालन कर धर्म-तीर्थ का भार लिया ॥
अन्त-अन्त में अष्टापद पर तप का उपसंहार किया।
पापमुक्त हो मुक्ति सम्पदा प्राप्त किया उपहार जिया ॥२९॥

बारहवें जिन 'वासुपूज्य' हैं परम पुण्य के पुञ्ज हुये।
पाँचों कल्याणों में जिनको सुरपति पूजक पूज गये ॥
'चम्पापुर' में पूर्ण रूप से कर्मों पर बहु मार किये।
परमोत्तम पद प्राप्त किये औ विपदाओं के पार गये ॥३०॥

प्रमुदित मति के राम-श्याम से 'नेमिनाथ' जिन पूजित हैं।
कषाय-रिपु को जीत लिए हैं प्रशमभाव से पूरित हैं ॥
'ऊर्जयन्त गिरनार शिखर' पर जाकर योगातीत हुये।
त्रिभुवन के फिर चूड़ामणि हो मुक्तिवधू के प्रीत हुये ॥३१॥

'वीर' दिगम्बर श्रमण गुणों को पाल बने पूरण ज्ञानी।
मेघनाद-सम दिव्य नाद से जगा दिया जग सद्ध्यानी ॥

'पावापुर' वर सरोवरों के मध्य तपों में लीन हुये।
विधि गुण विगलित कर अगणित गुण शिवपद पा स्वाधीन हुये ॥३२॥

जिसके चारों ओर वनों में मद वाले गज बहु रहते।
'सम्मेदाचल' पूज्य वही है पूजो इसको गुरु कहते ॥
शेष रहे 'जिन बीस तीर्थंकर' इसी अचल पर अचल हुये।
अतिशय यश को शाश्वत सुख को पाने में वे सफल हुये ॥३३॥

मूक तथा उपसर्ग अन्तकृत अनेक विध केवलज्ञानी।
हुये विगत में यति मुनि गणधर कु-सुमत ज्ञानी विज्ञानी ॥
गिरि वन तरुओं गुफा कंदरों सरिता सागर तीरों में।
तप साधन कर मोक्ष पधारे अनल शिखा मरु टीलों में ॥३४॥

मोक्ष साध्य के हेतुभूत ये स्थान रहें पावन सारे।
सुरपतियों से पूजित हैं सो इनकी रज शिर पर धारें ॥
तपोभूमि ये पुण्य-क्षेत्र ये तीर्थ-क्षेत्र ये अघहारी।
धर्मकार्य में लगे हुये हम सबके हों मंगलकारी ॥३५॥

दोष रहित हैं विजितमना हैं जग में जितने जिनवर हैं।
जितनी जिनवर की प्रतिमाएँ तथा जिनालय मनहर हैं ॥
समाधि साधित भूमि जहाँ मुनि-साधक के हो चरण पड़े।
हेतु बने ये भविकजनों के भव-लय में हम चरण पड़ें ॥३६॥

उत्तम यशधर जिनपतियों का स्तोत्र पढ़े निजभावों में।
तन से मन से और वचन से तीनों संध्या कालों में ॥
श्रुतसागर के पार गए उन मुनियों से जो संस्तुत है।
यथाशीघ्र वह अमित पूर्ण पद पाता सम्मुख प्रस्तुत है ॥३७॥

मलमूत्रों का कभी न होना रुधिर क्षीर-सम श्वेत रहे।
सर्वांगों में सामुद्रिकता सदा - सदा ना स्वेद रहे ॥
रूप सलोना सुरभित होना तन-मन में शुभ लक्षणता।
हित-मित-मिश्री मिश्रितवाणी सुन लो! और विलक्षणता॥३८॥

अतुल-वीर्य का सम्बल होना प्राप्त आद्य संहननपना।
ज्ञात तुम्हें हो ख्यात रहे हैं स्वतिशय दश ये गुणनपना ॥
जन्म-काल से मरण-काल तक ये दश अतिशय 'सुनते हैं'
तीर्थकरों के तन में मिलते अमितगुणों को गुनते हैं ॥३९॥

कोश चार शत सुभिक्षता हो अधर गगन में गमन सही।
चउ विध कवलाहार नहीं हो किसी जीव का हनन नहीं ॥
केवलता या श्रुतकारकता उपसर्गों का नाम नहीं।
चतुर्मुखी का होना तन की छाया का भी काम नहीं ॥४०॥

बिना बढ़े वह सुचारुता से नख केशों का रह जाना।
दोनों नयनों के पलकों का स्पन्दन ही चिर मिट जाना ॥
घातिकर्म के क्षय के कारण अर्हन्तों में होते हैं।
ये दश अतिशय इन्हें देख बुध पल भर सुध-बुध खोते हैं ॥४१॥

अर्धमागधी भाषा सुख की सहज समझ में आती है।
समवसरण में सब जीवों में मैत्री घुल-मिल जाती है ॥
एक साथ सब ऋतुएँ फलती 'क्रम' के सब पथ रुक जाते।
लघुतर गुरुतर बहुतर तरुवर फूल फलों से झुक जाते ॥४२॥

दर्पण-सम शुचि रत्नमयी हो झग-झग करती धरती है।
सुरपति नरपति यतिपतियों के जन-जन के मन हरती है ॥
जिनवर का जब विहार होता पवन सदा अनुकूल बहे।
जन-जन परमानन्द गन्ध में डूबे दुख-सुख भूल रहे ॥४३॥

संकटदा विषकंटक कीटों कंकर तिनकों शूलों से।
रहित बनाता पथ को गुरुतर उपलों से अतिधूलों से ॥
योजन तक भूतल को समतल करता बहता वह साता।
मन्द-मन्द मकरन्द गन्ध से पवन मही को महकाता ॥४४॥

तुरत इन्द्र की आज्ञा से बस नभ मण्डल में छा जाते।
सघन मेघ के कुमार गर्जन करते बिजली चमकाते ॥

रिम-झिम रिम-झिम गन्धोदक की वर्षा होती हर्षाती।
जिस सौरभ से सब की नासा सुर-सुर करती दर्शाती ॥४५॥

आगे पीछे सात-सात इक पदतल में तीर्थंकर के।
पंक्तिबद्ध यों अष्टदिशाओं और उन्हीं के अन्तर में॥
पद्म बिछाते सुर माणिक-सम केशर से जो भरे हुये।
अतुल परस है सुखकर जिनका स्वर्ण दलों से खिले हुये ॥४६॥

पकी फसल ले शाली आदिक धरती पर सर धरती है।
सुन लो फलतः रोम-रोम से रोमाञ्चित सी धरती है॥
ऐसी लगती त्रिभुवनपति के वैभव को ही निरख रही।
और स्वयं को भाग्यशालिनी कहती-कहती हरख रही ॥४७॥

शरदकाल में विमल सलिल से सरवर जिस विध लसता है।
बादल-दल से रहित हुआ नभमण्डल उस विध हँसता है ॥
दशों दिशायें धूम्र-धूलियाँ शामभाव को तजती हैं।
सहज रूप से निरावरणता उज्ज्वलता को भजती हैं ॥४८॥

इन्द्राज्ञा में चलने वाले देव चतुर्विध वे सारे।
भविक जनों को सदा बुलाते समवसरण में उजियारे॥
उच्चस्वरों में दे दे करके आमन्त्रण की ध्वनि 'ओ जी'!
''देवों के भी देव यहाँ हैं'' शीघ्र पधारो आओ जी! ॥४९॥

जिसने धारे हजार आरे स्फुरणशील मन हरता है।
उज्ज्वल मौलिक मणि-किरणों से झर-झुर झर-झुर करता है ॥
जिसके आगे तेज भानु भी अपनी आभा खोता है।
आगे-आगे सबसे आगे धर्मचक्र वह होता है ॥५०॥

वैभवशाली होकर भी ये इन्द्र लोग सब सीधे हैं।
धर्म राग से रंगे हुये हैं भाव भक्ति में भीगे हैं॥
इन्हीं जनों से इस विध अनुपम अतिशय चौदह किये गये।
वसुविध मंगल पात्रादिक भी समवसरण में लिये गये ॥५१॥

नील-नील वैडूर्य दीप्ति से जिसकी शाखायें भाती।
लाल-लाल मृदु प्रवाल आभा जिनमें शोभा औ लाती ॥
मरकत मणि के पत्र बने हैं जिसकी छाया शाम घनी।
अशोक तरु यह अहो शोभता यहाँ शोक की शाम नहीं ॥५२॥

पुष्पवृष्टि हो नभ से जिसमें पुष्प अलौकिक विपुल मिले।
नील-कमल हैं लाल-धवल हैं कुन्द बहुल हैं बकुल खुले ॥
गन्धदार मन्दार मालती पारिजात मकरन्द झरे।
जिन पर अलिगण गुन-गुन गाते निशिगन्धा अरविन्द खिले॥५३॥

जिनकी कटि में कनक करधनी कलाइयों में कनक कड़े।
हीरक के केयूर हार हैं पुष्ट कण्ठ में दमक पड़े ॥
सालंकृत दो यक्ष खड़े जिन-कर्णों में कुण्डल डोलें।
चमर ढुराते हौले-हौले प्रभु की जो जय-जय बोलें ॥५४॥

यहाँ यकायक घटित हुआ जो कोई सकता बता नहीं।
दिवस रात का भला भेद वह कहाँ गया कुछ पता नहीं ॥
दूर हुये व्यवधान हजारों रवियों के वह आप कहीं।
भामण्डल की यह सब महिमा आँखों को कुछ ताप नहीं ॥५५॥

प्रबल पवन का घात हुआ जो विचलित होकर तुरत मथा।
हर-हर-हर-हर सागर करता हर मन हरता मुदित यथा ॥
वीणा मुरली दुम-दुम दुंदुभि ताल-ताल करताल तथा।
कोटि कोटियों वाद्य बज रहे समवसरण में सार कथा ॥५६॥

महादीर्घ वैडूर्य रत्न का बना दण्ड है जिस पर हैं।
तीन चन्द्र-सम तीन छत्र ये गुरु-लघु-लघुतम ऊपर हैं ॥
तीन भुवन के स्वामीपन की स्थिति जिससे अति प्रकट रही।
सुन्दरतम हैं मुक्ताफल की लड़ियाँ जिस पर लटक रहीं ॥५७॥

जिनवर की गम्भीर भारती श्रोताओं के दिल हरती।
योजन तक जो सुनी जा रही अनुगुंजित हो नभ धरती ॥

जैसे जल से भरे मेघदल नभ-मण्डल में डोल रहे।
ध्वनि में डूबे दिगन्तरों में घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे ॥५८॥

रंग-विरंगी मणि-किरणों से इन्द्रधनुष की सुषमा ले।
शोभित होता अनुपम जिस पर ईश विराजे गरिमा ले ॥
सिंहों में वर बहु सिंहों ने निजी पीठ पर लिया जिसे।
स्फटिक शिला का बना हुआ है सिंहासन है जिया! लसे ॥५९॥

अतिशय गुण चउतीस रहें ये जिस जीवन में प्राप्त हुये।
प्रातिहार्य का वसुविध वैभव जिन्हें प्राप्त हैं आप्त हुये ॥
त्रिभुवन के वे परमेश्वर हैं महागुणी भगवन्त रहे।
नमूँ उन्हें अरहन्त सन्त हैं सदा-सदा जयवन्त रहें ॥६०॥

अञ्चलिका

(दोहा)

नन्दीश्वर वर भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु! तव संसर्ग ॥६१॥

नन्दीश्वर के चउ दिशियों में चउ गुरु अंजन गिरिवर हैं।
इक-इक अंजनगिरि सम्बन्धित चउ-चउ दधिमुख गिरिवर हैं ॥
फिर प्रति दधिमुख कोनों में दो-दो रतिकर गिरि चर्चित हैं।
पावन बावनगिरि पर बावन जिनगृह हैं सुर अर्चित हैं ॥६२॥

देव चतुर्विध कुटुम्ब ले सब इसी द्वीप में हैं आते।
कार्तिक फागुन आषाढ़ों के अन्तिम वसु-दिन जब आते ॥
शाश्वत जिनगृह जिनबिम्बों से मोहित होते बस तातैं।
तीनों अष्टाह्निक पर्वों में यहीं आठ दिन बस जाते ॥६३॥

दिव्य गन्ध ले दिव्य दीप ले दिव्य-दिव्य ले सुमन तथा।
दिव्य चूर्ण ले दिव्य न्हवन ले दिव्य-दिव्य ले वसन तथा ॥
अर्चन पूजन वन्दन करते नियमित करते नमन सभी।
नन्दीश्वर का पर्व मनाकर करते निजघर गमन सभी ॥६४॥

मैं भी उन सब जिनालयों का भरतखण्ड में रहकर भी।
अर्चन पूजन वन्दन करता प्रणाम करता झुककर ही॥
कष्ट दूर हो कर्मचूर हो बोधिलाभ हो सद्गति हो।
वीर मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति ओ! ॥६५॥

❑ ❑ ❑

चैत्यभक्ति

अजेय अघहर अद्भुत-अद्भुत पुण्य बन्ध के कारक हैं।
करें उजाला पूर्ण जगत् में सत्य तथ्य भव तारक हैं॥
गौतम-पद को सन्मति-पद को प्रणाम करके कहता हूँ।
'चैत्य-वन्दना' जग का हित हो जग के हित में रहता हूँ ॥१॥

अमर मुकुटगत मणि आभा जिन को सहलाती सन्त कहे।
कनक कमल पर चरण कमल को रखते जो जयवन्त रहे ॥
जिनकी छाया में आकर के उदार उर वाले बनते।
अदय क्रूर उर धारे आरे मान दम्भ से जो तनते ॥१/१॥

जैनधर्म जयशील रहे नित सुर-सुख शिव-सुख का दाता।
दुर्गति दुष्पथ दुःखों से जो हमें बचाता है त्राता॥
प्रमाणपण औ विविध नयों से दोषों के जो वारक हों।
अंग-बाह्य औ अंग-पूर्वमय जिनवच जग उद्धारक हों ॥२॥

अनेकान्तमय वस्तु तत्त्व का सप्तभंग से कथन करे।
तथा दिखाता सदा द्रव्य को ध्रौव्य-आय-व्यय वतन अरे! ॥
पूर्णबोध की इस विध थुति से निरुपम सुख का द्वार खुले।
दोष रहित औ नित्य निरापद संपद का भण्डार मिले ॥३॥

जन्म-दुःख से मुक्त हुए हैं अरहन्तों को वन्दन हो।
सिद्धों को भी नमन करूँ मैं जहाँ कर्म की गन्ध न हो ॥
सदा वन्द्य हैं सर्ववन्द्य हैं साधुजनों को नमन करूँ।
गणी पाठकों को वन्दूँ मैं मोक्ष-धाम को गमन करूँ ॥४॥

मोह-शत्रु को नष्ट किये हैं दोष-कोष से रहित हुये।
तदावरण से दूर हुये हैं प्रबोध-दर्शन सहित हुये॥
अनन्त बल के धनी हुये हैं अन्तराय का नाम नहीं।
पूज्य योग्य अरहन्त बने हैं तुम्हें नमूँ वसु याम सही ॥५॥

वीतरागमय धर्म कहा है जिनवर ने शिवपथ नेता।
साधक को जो सदा संभाले मोक्षधाम में धर देता॥
नमूँ उसे मैं तीन लोक के हित सम्पादक और नहीं।
आर्जव आदिक गुणगण जिससे बढ़ते उन्नति ओर सही ॥६॥

सजे चतुर्दश पूर्वों से हैं औ द्वादश विध अंगों से।
तथा वस्तुओं और उपांगों से गुंथित बहु भंगों से॥
अजेय जिनके वचन रहे ये अनन्त अवगम वाले हैं।
इन्हें नमन अज्ञान-तिमिर को हरते परम उजाले हैं ॥७॥

भवनवासियों के भवनों में स्वर्गिक कल्प विमानों में।
व्यन्तर देवावासों में औ ज्योतिष देव विमानों में॥
विश्ववन्द्य औ मर्त्यलोक में जितने जिनवर चैत्य रहें।
मन-वच-तन से उन्हें नमूँ वे मम मन के नैवेद्य रहे ॥८॥

सुरपति नरपति धरणेन्द्रों से तीन लोक में अर्चित हैं।
अनन्य दुर्लभ सभी सम्पदा जिनचरणों में अर्पित हैं॥
तीर्थंकरों के जिनालयों को तन-वच-मन-परिणामों से।
नमूँ बनूँ बस शान्त बचूँ मैं भव-भवगत दुख-अनलों से ॥९॥

इस विध जिनको नमन किया है पावनपण को हैं धारे।
पञ्चपदों से पूजे जाते परम पुरुष हैं जग प्यारे॥
जिनवर जिनके वचन धर्म औ बिम्ब जिनालय ये सारे।
बुधजन तरसे विमल-बोधि को हमें दिलावे शिव-द्वारे ॥१०॥

नहीं किसी से गये बनाये स्वयं बने हैं शाश्वत हैं।
चम-चम चमके दम-दम दमके बाल-भानुसम भास्वत हैं॥

और बनाये जिनालयों में नरों सुरों से पूजित हैं।
जिनबिम्बों को नमन करूँ मैं परम पुण्य से पूरित हैं ॥११॥

आभामय भामण्डल वाली सुडौल हैं बेजोड़ रहीं।
जिनोत्तमों में उत्तम जिन की प्रतिमायें युग मोड़ रहीं॥
विपदा हरती वैभव लाती सुभिक्ष करती त्रिभुवन में।
कर युग जोडूँ विनम्र तन से नमूँ उन्हें हरखूँ मन में ॥१२॥

आभरणों से आवरणों से आभूषण से रहित रही।
हस्त निरायुध उपांग जिनके विराग छवि से सहित सही॥
प्रतिमायें अ-प्रमित रही हैं कान्ति अनूठी है जिनकी।
क्लान्ति मिटे चिर शान्ति मिले बस भक्ति करूँ निशिदिन उनकी ॥१३॥

बाहर का यह रूप जिनों का स्वरूप क्या? है बता रहा।
कषाय कालिख निकल गई है परम शान्ति को जता रहा॥
स्वभाव-दर्शक भव-भवनाशक जिनबिम्बों को नमन करूँ।
साधन से सो साध्य सिद्ध हो कषाय-मल का शमन करूँ॥१४॥

लगा भक्ति में जिन, बिम्बों की हुआ पुण्य का अर्जन है।
सहजरूप से अनायास ही हुआ पाप का तर्जन है॥
किये पुण्य के फल ना चाहूँ विषय नहीं सुरगात्र नहीं।
जन्म-जन्म में जैनधर्म में लगा रहे मन मात्र यही ॥१५॥

सब कुछ देखें सब कुछ जानें दर्शनधारी ज्ञानधनी।
गुणियों में अरहन्त कहाते चेतन के द्युतिमान मणी॥
मिली बुद्धि से उन चैत्यों का भाग्यमान गुणगान करूँ।
अशुद्धियों को शीघ्र मिटाकर विशुद्धियों का पान करूँ ॥१६॥

भवनवासियों के भवनों में फैली वैभव की महिमा।
नहीं बनाई बनी आप हैं आभावाली हैं प्रतिमा॥
प्रणाम उनको भी मैं करता सादर सविनय सारों से।
पहुँचा देवें पञ्चमगति को तारें मुझको क्षारों से ॥१७॥

यहाँ लोक में विद्यमान हैं जितने अपने आप बने।
और बनाये चैत्य अनेकों भविक जनों के पाप हरें॥
उन सब चैत्यों को वन्दूँ मैं बार-बार संयत मन से।
बार-बार ना एक बार बस आप भरूँ अक्षय धन से ॥१८॥

व्यन्तरदेवों के यानों में प्रतिमा - गृह हैं भास्वर हैं।
संख्या की सीमा से बाहर चिर से हैं अविनश्वर हैं॥
सदा हमारे दोषों के तो वारण के वे कारण हों।
ताकि दिनों दिन उच्च-उच्चतर चारित का अवधारण हो ॥१९॥

ज्योतिषदेव विमानों में भी रहे जिनालय हैं प्यारे।
कितनी संख्या कही न जाती अनगिन माने हैं सारे॥
विस्मयकारी वैभव से जो भरे हुये हैं अघहारी।
उनको भी हो वन्दन, अपना वन्दन हो शिव सुखकारी ॥२०॥

वैमानिकदेवों के यानों में भी जिन की प्रतिमा हैं।
जिन की महिमा कही न जाती चम-चम-चमकी द्युतिमा हैं॥
सुरमुकुटों की मणि छवियाँ वे जिनके पद में बिम्बित हैं।
उन्हें नमूँ मैं सिद्धि लाभ हो गुणगण से जो गुम्फित हैं ॥२१॥

उभय सम्पदा वाले जिनका वर्णों से ना वर्णन हो।
अरि-विरहित अरहंत कहाते जिनबिम्बों का अर्चन हो॥
यश:कीर्ति की नहीं कामना कीर्तन जिन का किया करूँ।
कर्मास्त्रव का रोकनहारा कीर्तन करता जिया करूँ ॥२२॥

महानदी अरहन्त देव हैं अनेकान्त भागीरथ है।
भविकजनों का अघ धुलता है यहाँ यही वर तीरथ है॥
और तीर्थ में लौकिक जो है तन की गरमी है मिटती।
वही तीर्थ परमार्थ जहाँ पर मन की भी गरमी मिटती ॥२३॥

लोकालोकालोकित करता दिव्यबोध आलोक रहा।
प्रवाह बहता अहोरात यह कहीं रोक ना टोक रहा॥

जिसके दोनों ओर बड़े दो विशाल निर्मल कूल रहे।
एक शील का दूजा व्रत का आपस में अनुकूल रहे ॥२४॥

धर्म - शुक्ल के ध्यान धरे हैं राजहंस ऋषि चेत रहे।
पञ्च समितियाँ तीन गुप्तियाँ नाना गुणमय रेत रहे॥
श्रुताभ्यास की अनन्य दुर्लभ मधुर-मधुर धुनि गहर रही।
महातीर्थ की मुझ बालक पर रहा रहे नित महर सही ॥२५॥

क्षमा भँवर है जहाँ हजारों यति-ऋषि-मुनि मन सहलाते।
दया कमल हैं खुले खिले हैं सब जीवों को महकाते॥
तरह-तरह के दुस्सह परिषह लहर-लहर कर लहराते।
ज्ञानोदय के छन्द हमें यों ठहर-ठहर कर कह पाते ॥२६॥

भविक व्रती जन नहीं फिसलते राग-रोष शैवाल नहीं।
सार-रहित हैं कषाय तन्मय फेनों का फैलाव नहीं॥
तथा यहाँ पर मोहमयी उस कर्दम का तो नाम नहीं।
महा भयावह दुस्सह दुख का मरण-मगर का काम नहीं ॥२७॥

ऋषि-पति मृदुधुनि से थुति करते श्रुत की भी दे सबक रहे।
जहाँ लग रहा श्रवण मनोहर विविध विहंगम चहक रहे॥
घोर-घोरतर तप तपते हैं बने तपस्वी घाट रहे।
आस्रव रोधक संवर बनता बँधा झर रहा पाट रहे ॥२८॥

गणधर गणधर के चरणों में ऋषि-यति-मुनि अनगार रहे।
सुरपति नरपति और-और जो निकट भव्यपन धार रहे॥
ये सब आकर परम-भक्ति से परम तीर्थ में स्नान किये।
पञ्चम युग के कलुषित मन को धो-धोकर छविमान किये॥२९॥

नहीं किसी से जीता जाता अजेय है गम्भीर रहा।
पतितों को जो पूत बनाता परमपूत है क्षीर रहा॥
अवगाहन करने आया हूँ महातीर्थ में स्नान करूँ।
मेरा भी सब पाप धुले बस यही प्रार्थना दान करूँ ॥३०॥

नयन युगल क्यों लाल नहीं हैं? कोप अनल को जीत लिया।
हाव-भाव से नहीं देखते! राग आपमें रीत गया॥
विषाद-मद से दूर हुये हैं प्रसन्नता का उदय रहा।
यूँ तव मुख कहता-सा लगता दर्पण-सम है हृदय रहा ॥३१॥

निराभरण होकर भासुर हैं राग-रहित हैं अघहर हैं।
कामजयी बन यथाजात बन बने दिगम्बर मनहर हैं॥
निर्भय हैं सो बने निरायुध मार-काट से मुक्त हुये।
क्षुधा-रोग का नाश हुआ है निराहार में तृप्त हुये ॥३२॥

अभी खिले हैं नीरज चन्दन-सम घम-घम-घम-वासित हैं।
दिनकर शशिकर हीरक आदिक शतवसु लक्षण भासित हैं ॥
दश-शत रवि-सम भासुर फिर भी आँखें लखती ना थकती।
दिव्यबोध जब जिन में उगता देह दिव्यता यूँ जगती।
बाल बढ़े नाखून बढ़े ना मलिन धूलि आ ना लगती ॥३३॥

शिवपथ में हैं बाधक होते मोह-भाव हैं राग घने।
जिनसे कलुषित जन भी तुम को लखते वे बेदाग बने ॥
किसी दिशा से जो भी देखे उसके सम्मुख तुम दिखते।
शरदचन्द्र-से शान्त धवलतम संत सुधी जन यूँ लिखते ॥३४॥

सुरपति मुकुटों की मणिकिरणें झर-झुर झर-झुर करती हैं।
पूज्यपाद के पदपद्मों को चूँम रही मन हरती हैं॥
वीतराग जिन! दिव्य रूप तव सकल लोक को शुद्ध करे।
अन्ध बना है कुमततीर्थ में शीघ्र इसे प्रतिबुद्ध करे ॥३५॥

मानथंभ सर पुष्पवाटिका भरी खातिका शुचि जल से।
स्तूप महल बहु कोट नाट्यगृह सजी वेदियाँ ध्वज-दल से ॥
सुरतरु घेरे वन उपवन है और स्फटिक का कोट लसे।
नर सुर मुनि की सभा पीठिका-पर जिनवर हैं और बसे।
समवसरण की ओर देखते पाप ताप का घोर नसे ॥३६॥

क्षेत्र-पर्वतों के अन्तर में क्षेत्रों मन्दरगिरियों में।
द्वीप आठवाँ नन्दीश्वर में और अन्य शुभ पुरियों में॥
सकल-लोक में जितने जिन के चैत्यालय हैं यहाँ लसे।
उन सबको मैं प्रणाम करता मम मन में वे सदा बसे॥३७॥

बने बनाये बिना बनाये यहाँ धरा पर गिरियों में।
देवों राजाओं से अर्चित मानव-निर्मित पुरियों में॥
वन में उपवन में भवनों में दिव्य विमानों यानों में।
जिनवर बिम्बों को मैं सुमरूँ अशुभ दिनों में सुदिनों में॥३८॥

जम्बू-धातकि-पुष्करार्ध में लाल कमल-सम तन वाले।
कृष्ण मेघ-सम शशी कनक-सम नील कण्ठ आभा वाले॥
साम्य-बोध चारितधारक हो अष्टकर्म को नष्ट किया।
विगत-अनागत-आगत जिन को नमूँ नष्ट हो कष्ट जिया॥३९॥

रतिकर रुचके चैत्य वृक्ष पर औ दधिमुख अञ्जन भूधर-
रजत कुलाचल कनकाचल पर वृक्ष शाल्मली-जम्बू पर॥
इष्वाकारों वक्षारों पर व्यन्तर-ज्योतिष सुर जग में।
कुण्डल मानुषगिरि वर-प्रतिमा नमूँ उन्हें अन्तर जग में॥४०॥

सुरासुरों से नर नागों से पूजित वंदित अर्चित हैं।
घंटा तोरण ध्वजादिकों से शोभित बुधजन चर्चित हैं॥
भविक जनों को मोहित करते पाप-ताप के नाशक हैं।
वन्दूँ जग के जिनालयों को दयाधर्म के शासक हैं॥४१॥

अञ्चलिका

(दोहा)

पूज्य चैत्य सद्भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु! तव संसर्ग॥४२॥

अधोलोक में ऊर्ध्वलोक में मध्यलोक में उजियारे।
बने बनाये हैं बनवाये चैत्य रहे अनगिन प्यारे॥

देव चतुर्विध अपने-अपने उत्साहित परिवार लिये।
पर्वो विशेष तिथियों में औ प्रतिदिन शुभ श्रृंगार किये ॥४३॥

दिव्यगन्ध ले दिव्य दीप ले दिव्य दिव्य ले सुमनलता।
दिव्य चूर्ण ले दिव्य न्हवन ले दिव्य दिव्य ले वसन तथा ॥
अर्चन पूजन वन्दन करते सविनय करते नमन सभी।
भाग्य मानते पुण्य लूटते बने पाप का शमन तभी ॥४४॥

मैं भी उन सब जिन चैत्यों को भरतखण्ड में रहकर भी।
पूजूँ वन्दूँ अर्चन कर लूँ नमन करूँ सर झुककर ही ॥
कष्ट दूर हो कर्म चूर हो बोधि लाभ हो सद्गति हो।
वीर-मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति हो ॥४५॥

❑ ❑ ❑

शान्तिभक्ति

नहीं स्नेह वश तव पद शरणा गहते भविजन पामर हैं।
यहाँ हेतु है बहु दुःखों से भरा हुआ भवसागर है ॥
धरा उठी जल ज्येष्ठ काल है भानु उगलता आग कहीं।
करा रहा क्या छाँव शशी के जल के प्रति अनुराग नहीं? ॥१॥

कुपित कृष्ण अहि जिसको डँसता फैला हो वह विष तन में।
विद्या औषध हवन मन्त्र जल से मिट सकता है क्षण में ॥
उसी भाँति जिन तुम पद-कमलों की थुति में जो उद्यत है।
पाप शमन हो रोग नष्ट हो चेतन तन के संगत है ॥२॥

कनक मेरु आभा वाले या तप्त कनक की छवि वाले।
हे जिन! तुम पद नमते मिटते दुस्सह दुख हैं शनि वाले ॥
उचित रहा रवि उषाकाल में उदार उर ले उगता है।
बहुत जनों के नेत्रज्योति-हर सघन तिमिर भी भगता है ॥३॥

सब पर विजयी बना तना है नाक-मरोड़ा दम तोड़ा।
देवों देवेन्द्रों को मारा नरपति को भी ना छोड़ा ॥

दावा बन कर काल घिरा है उग्र रूप को धार घना।
कौन बचावे? हमें कहो जिन! तव पद थुति नद-धार बिना ॥४॥

लोकालोकालोकित करते ज्ञानमूर्ति हो जिनवर हे!।
बहुविध मणियाँ जड़ी दण्ड में तीन छत्र सित तुम सर पे ॥
हे जिन! तव पद-गीत धुनी सुन रोग मिटे सब तन-मन के।
दाड-उघाड़े सिंह दहाड़े गज-मद गलते वन-वन के ॥५॥

तुम्हें देवियाँ अथक देखतीं विभव मेरु पर तव गाथा।
बाल भानु की आभा हरता मण्डल तव जन-जन भाता ॥
हे जिन! तव पद थुति से ही सुख मिलता निश्चय अटल रहा।
निराबाध नित विपुल सार है अचिंत्य अनुपम अटल रहा ॥६॥

प्रकाश करता प्रभा पुञ्ज वह भास्कर जब तक ना उगता।
सरोवरों में सरोज दल भी तब तक खिलता ना जगता ॥
जिसके मानस-सर में जब तक जिनपद पंकज ना खिलता।
पाप-भार का वहन करे वह भ्रमण भवों में ना टलता ॥७॥

प्यास शान्ति की लगी जिन्हें है तव पद का गुण गान किया।
शान्तिनाथ जिन शान्त भाव से परम शान्ति का पान किया ॥
करुणाकर! करुणा कर मुझको प्रसन्नता में निहित करो।
भक्तिमग्न है भक्त आपका दृष्टि-दोष से रहित करो ॥८॥

शरद शशी सम शीतल जिनका नयन मनोहर आनन है।
पूर्ण शील के व्रत संयम के अमित गुणों के भाजन हैं ॥
शत वसु लक्षण से मण्डित है जिनका औदारिक तन है।
नयन कमल हैं जिनवर जिनके शान्तिनाथ को वन्दन है ॥९॥

चक्रधरों में आप चक्रधर पञ्चम हैं गुण मंडित हैं।
तीर्थकरों में सोलहवें जिन सुर-नरपति से वंदित हैं ॥
शान्तिनाथ हो विश्वशान्ति हो भाँति-भाँति की भ्रान्ति हरो।
प्रणाम ये स्वीकार करो लो किसी भाँति मुझ कान्ति भरो ॥१०॥

(चौपाई)

दुंदुभि बजते जन मन हरते आतप हरते चामर ढुरते।
भामण्डल की आभा भारी सिंहासन की छटा निराली ॥
अशोक तरु सो शोक मिटाता भविक जनों से ढोक दिलाता।
योजन तक जिन घोष फैलता समवसरण में तोष तैरता ॥११॥

झुका-झुका कर मस्तक से मैं शान्तिनाथ को नमन करूँ।
देव जगत भूदेव जगत् से वन्दित पद में रमण करूँ ॥
चराचरों को शान्तिनाथ वे परम शान्ति का दान करें।
थुति करने वाले मुझमें भी परम तत्त्व का ज्ञान भरें ॥१२॥

पहने कुण्डल मुकुट हार हैं सुर हैं सुरगण पालक हैं।
जिनसे निशि-दिन पूजित अर्चित जिनपद भवदधि तारक हैं ॥
विश्व विभासक-दीपक हैं जिन विमलवंश के दर्पण हैं।
तीर्थंकर हो शान्ति विधायक यही भावना अर्पण है ॥१३॥

भक्तों को भक्तों के पालन-हारों को औ यक्षों को।
यतियों-मुनियों-मुनीश्वरों को तपोधनों को दक्षों को ॥
विदेश-देशों उपदेशों को पुरों गोपुरों नगरों को।
प्रदान कर दें शान्ति जिनेश्वर विनाश कर दें विघ्नों को ॥१४॥

क्षेम प्रजा का सदा बली हो धार्मिक हो भूपाल फले।
समय-समय पर इन्द्र बरस ले व्याधि मिटे भूचाल टले ॥
अकाल दुर्दिन चोरी आदिक कभी रोग ना हो जग में।
धर्मचक्र जिनका हम सबको सुखद रहे सुर शिव मग में ॥१५॥

ध्यान शुक्ल के शुद्ध अनल से घातिकर्म को ध्वस्त किया।
पूर्णबोध-रवि उदित हुआ सो भविजन को आश्वस्त किया ॥
वृषभदेव से वर्धमान तक चार-बीस तीर्थंकर हैं।
परम शान्ति की वर्षा जग में यहाँ करें क्षेमंकर हैं ॥१६॥

अञ्चलिका

(दोहा)

पूर्ण शान्ति वर भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु! तव संसर्ग ॥१७॥

पञ्चमहाकल्याणक जिनके जीवन में हैं घटित हुये।
समवसरण में महा-दिव्य वसु प्रातिहार्य से सहित हुये ॥
नारायण से रामचन्द्र से छहखण्डों के अधिपति से।
यति अनगारों ऋषि मुनियों से पूजित जो हैं गणपति से ॥१८॥

वृषभदेव से महावीर तक महापुरुष मंगलकारी।
लाखों स्तुतियों के भाजन हैं तीस-चार अतिशयधारी ॥
भक्तिभाव से चाव शक्ति से निर्मल कर-कर निज मन को ।
पूजूँ वन्दूँ अर्चन कर लूँ नमन करूँ मैं जिनगण को ॥१९॥

कष्ट दूर हो कर्म चूर हो बोधि लाभ हो सद्‌गति हो।
वीर-मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति ओ! ॥

❑ ❑ ❑

पञ्चमहागुरुभक्ति

(चौपाई)

सुरपति शिर पर किरीट धारा जिसमें मणियाँ कई हजारा।
मणि की द्युति-जल से धुलते हैं प्रभु पद-नमता सुख फलते हैं ॥१॥

सम्यक्त्वादिक वसु-गुण धारे वसु-विध विधि-रिपु नाशन-हारे।
अनेक-सिद्धों को नमता हूँ इष्ट-सिद्धि पाता समता हूँ ॥२॥

श्रुत-सागर को पार किया है शुचि संयम का सार लिया है।
सूरीश्वर के पदकमलों को शिर पर रख लूँ दुख-दलनों को ॥३॥

उन्मार्गी के मद-तम हरते जिनके मुख से प्रवचन झरते।
उपाध्याय ये सुमरण कर लूँ पाप नष्ट हो सु-मरण कर लूँ ॥४॥

समदर्शन के दीपक द्वारा सदा प्रकाशित बोध सुधारा॥
साधु चरित के ध्वजा कहाते दे-दे मुझको छाया तातैं॥५॥

विमल गुणालय-सिद्धजिनों को उपदेशक मुनि-गणी गणों को॥
नमस्कार पद पञ्च इन्हीं से त्रिधा नमूँ शिव मिले इसी से॥६॥

नमस्कार वर मन्त्र यही है पाप नसाता देर नहीं है।
मंगल-मंगल बात सुनी है आदिम मंगल-मात्र यही है॥७॥

सिद्ध शुद्ध हैं जय अरहन्ता गणी पाठका जय ऋषि संता।
करे धरा पर मंगल साता हमें बना दें शिव सुख धाता॥८॥

सिद्धों को जिनवर चन्द्रों को गणनायक पाठक वृन्दों को।
रत्नत्रय को साधु जनों को वन्दूँ पाने उन्हीं गुणों को॥९॥

सुरपति चूड़ामणि-किरणों से लालित सेवित शतों दलों से।
पाँचों परमेष्ठी के प्यारे पादपद्म ये हमें सहारे॥१०॥

महाप्रातिहार्यों से जिनकी शुद्ध गुणों से सुसिद्ध गण की।
अष्ट-मातृकाओं से गणि की शिष्यों से उपदेशक गण की॥
वसु विध योगांगों से मुनि की करूँ सदा थुति शुचि से मन की॥११॥

अञ्चलिका

पञ्चमहागुरु भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु तव संसर्ग॥१२॥

(ज्ञानोदय छन्द)

लोक शिखर पर सिद्ध विराजे अगणित गुणगण मण्डित हैं।
प्रातिहार्य आठों से मण्डित जिनवर पण्डित-पण्डित हैं॥
आठों प्रवचन-माताओं से शोभित हों आचार्य महा।
शिव पथ चलते और चलाते औरों को भी आर्य यहाँ॥१३॥

उपाध्याय उपदेश सदा दे चरित बोध का शिव पथ का।
रत्नत्रय पालन में रत हो साधु सहारा जिनमत का॥

भाव भक्ति से चाव शक्ति से निर्मल कर-कर निज मन को।
वंदूँ पूजूँ अर्चन कर लूँ नमन करूँ मैं गुरुगण को ॥१४॥

कष्ट दूर हो कर्म चूर हो बोधि लाभ हो सद्गति हो।
वीर-मरण हो जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति ओ! ॥

❑ ❑ ❑

समय व स्थान परिचय

गगन चूँमता शिखर है भव्य जिनालय भ्रात।
विघन-हरण मंगलकरण महुवा में विख्यात ॥१॥

बहती कहती है नदी 'पूर्णा' जिसके तीर।
पार्श्वनाथ के दर्श से दिखता भव का तीर ॥२॥

गन्ध गन्ध गति गन्ध की सुगन्ध दशमी योग।
अनुवादित ये भक्तियाँ पढ़ो मिटे सब रोग ॥३॥

पूर्णा नदी के तट पर अवस्थित श्री विघ्नहर पार्श्वनाथ की मनोहारी प्रतिमा के लिए सुप्रसिद्ध श्री विघ्नहर पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महुवा (सूरत) गुजरात में वर्षायोग के दौरान भाद्रपद शुक्ल सुगन्ध दशमी वीर निर्वाण संवत् २५२२, वि. सं. २०५३ तदनुसार २२ सितम्बर १९९६ को भक्तियों का यह पद्यानुवाद सम्पन्न हुआ।

यहाँ ज्ञातव्य है कि नन्दीश्वर भक्ति का पद्यानुवाद आचार्य श्री जी द्वारा बहुत पहले किया जा चुका था।

❑ ❑ ❑

स्वरूप सम्बोधन पच्चीसी

आचार्य अकलंकस्वामी विरचित

स्वरूप सम्बोधन

का

पद्यानुवाद

आचार्य विद्यासागर महाराज

स्वरूप सम्बोधन पच्चीसी

आचार्य अकलंकस्वामी ने संस्कृत में २५ श्लोक प्रमाण 'स्वरूप सम्बोधन' की रचना की। यह आध्यात्मिक रचना है। आचार्यश्री ने इसका हिन्दी पद्यानुवाद ३० मात्रा वाले छंद में 'स्वरूप सम्बोधन पच्चीसी' नाम से किया, इसमें आत्मिक स्वभाव का वर्णन है। कवि ने रचनाकाल व स्थान का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः इसकी रचना श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र तारंगाजी प्रवास के समय हुई है।

स्वरूप सम्बोधन पच्चीसी

ज्ञानावरणादिक कर्मों से, पूर्णरूप से मुक्त रहे।
केवल संवेदन आदिक से युक्त, रहे, ना मुक्त रहे ॥
ज्ञानमूर्ति हैं परमातम हैं, अक्षय सुख के धाम बने।
मन वच तन से नमन उन्हें हो, विमल बने ये परिणाम घने ॥१॥

बाह्यज्ञान से ग्राह्य रहा पर, जड़ का ग्राहक रहा नहीं।
हेतु-फलों को क्रमशः धारे, आतम तो उपयोग धनी॥
ध्रौव्य आय औ व्यय वाला है, आदि मध्य औ अन्त बिना।
परिचय अब तो अपना कर लो, कहते हमको सन्त जना ॥२॥

प्रमेयतादिक गुणधर्मों से, अचिदात्मा यह होता है।
तथा ज्ञानगुण दर्शन से तो, चिन्मय शाली होता है॥
अतः सचेतन तथा अचेतन, स्वभाव वाला आतम है।
तत्त्वदृष्टि से भीतर देखो, पलभर में मिटता तम है ॥३॥

संज्ञा संख्या लक्षण द्वारा, आत्मज्ञान दो भिन्न रहे।
किन्तु भिन्न ना प्रदेश उनके, अनन्य हैं, ना अन्य रहे॥
आत्म द्रव्य हो ज्ञान उसी का, त्रैकालिक गुण साथ रहे।
आतम गाथा गाता आगम, यही हमें शिव-पाथ रहे ॥४॥

मात्र ज्ञान के रहा बराबर, आतम ऐसा मत समझो।
तथा देह के रहा बराबर, समझो मानो मत उलझो॥
इसीलिए भी रहा सर्वगत, नहीं सर्वथा माना है।
संत जमाना यही मानता, ज्ञानोदय का गाना है ॥५॥

नाना ज्ञानों की पर्यायों, को धारण करने से ही।
एक रहा है अनेक भी है, कह ना सकते ऐसे भी॥
मात्र चेतना एक स्वभावी, होता है निःशंक रहा।
एकानेकात्मक आतम हो, यही न्याय अकलंक रहा ॥६॥

पर के गुणधर्मों से निश्चित, अवाच्य है माना जाता।
अपने गुणधर्मों से सुनलो, अवक्तव्य ना कहलाता।
इसीलिए एकान्त रूप से, वाच्य नहीं निज आतम है।
वचन अगोचर नहीं सर्वथा, सन्तों का यह आगम है ॥७॥

अपने गुणधर्मों से आतम, अस्तिरूप से रंजित है।
पर के गुणधर्मों से यह तो, नास्तिरूप से संचित है॥
बोधमूर्ति होने से सचमुच, मूर्तिक माना जाता है।
किन्तु रहा विपरीत धर्म से, सदा अमूर्तिक भाता है ॥८॥

इसविध बहुविध धर्मों को औ, बन्ध मोक्ष के कारण को।
बन्ध मोक्ष को बन्ध मोक्ष के, फल को अघ के वारण को॥
आतम ही खुद धारण करता, निजी योग्यता यही रही।
श्रद्धा ऐसी मति को करती, और चरित को सही सही ॥९॥

ज्ञात रहे यह नियम रहा, जो कर्मों का कर्त्ता होता।
कर्म फलों का भी वह निश्चित, आतम होता है भोक्ता॥
उपादान औ निमित्तपन से, कर्मों का हो छुटकारा।
होता है यह स्वभाव से ही, मन को दो अब फटकारा ॥१०॥

ज्ञान चरित दर्शन ये, तीनों समीचीन जब होते हैं।
उपाय बनते आत्म सिद्धि के, कर्म कीच को धोते हैं॥
तथा तत्त्व में अचल अचल से, होना माना जाता है।
आतम दर्शन दुर्लभतम है, आगम ऐसा गाता है ॥११॥

पदार्थ जिस विध उस विध उसको, जाननहारा ज्ञान सही।
यथा प्रकाशित दीपक करता, निज को पर को भान सही॥
समीचीन यह ज्ञान कथंचित्, ज्ञप्ति क्रिया से भिन्न रहा।
करण क्रिया से अभिन्न भी ना, नहीं सर्वथा भिन्न रहा ॥१२॥

ज्ञान तथा दर्शन गुण की जो, पर्यायें होती रहती।
लहरें सी है लगातार हो, पीछे ना आगे बहती॥

उन पर सवार होकर यात्रा, पूरी अपनी करनी है।
या सुख दुख में समता रखना, ममता तन की हरनी है ॥१३॥

जाननहारा देखनहारा साकारा हूँ अविकारा।
सुख का अवसर या दुख का हो, एकाकी तन से न्यारा॥
इस विध चिंतन मंथन का जो, प्रवाह बहता है मन में।
परमोत्तम सो चारित होता, विरले ही साधक जन में ॥१४॥

चिंतन मंथन मौनादिक, ये निशिदिन मन का जो रमना।
मूल-भूत निज उपादान को, जागृत करना उपशमना॥
उचित देश में उचित काल में, उचित द्रव्य से तप तपना।
निमित्तकारण बाह्य रहा सो, पूरण करता है सपना ॥१५॥

प्रमाद तजकर इन विषयों पर, विचारकर भरपूर सही।
दुविधा में हो या सुविधा में, अपने बल को भूल नहीं॥
रागरंग से दूर रहा जो, रोष कोष से रहित रहा।
आतम का अनुभव कर ले अब, और भाव तो अहित रहा ॥१६॥

कषाय कलुषित चित्त हुआ है, चिन्ता से जो आहत है।
भूल कभी भी तत्त्वबोध में, होता ना अवगाहित है॥
नीलकण्ठ सम नील वसन पर, कुंकुम का वह रंग कभी।
चढ़ सकता क्या? आप बता दो, तथ्य रहा यह व्यंग नहीं ॥१७॥

अतः मूलतः दोषों को यदि, उखाड़ना है आर्य महा।
मोह भाव को प्रथम पूर्णतः, उजाड़ना है कार्य रहा॥
उदासीनता की धरती पर सुखासीन हो रहना है।
तथा तत्त्व की गहराई में, खोना फिर क्या कहना है ॥१८॥

उपादेय सो कौन रहा है, और हेय वह कौन रहा।
उचित रूप से सोच समझ ले, और और सो गौण अहा॥
हेय तत्त्व के आलम्बन को, पूर्णरूप से तजना है।
उपाय का आलम्बन लेकर, उपादेय को भजना है ॥१९॥

पर में निज को, निज में पर को मत परखो तुम बचपन से।
पर को परखो, परपन से तो, निज को निरखो निजपन से॥
विकल्पजालों संकल्पों से, सो ऊपर उठते उठते।
जाओ जाओ अन्त अन्त तक, अनन्त सुख हो दुख मिटते ॥२०॥

सुनो मोक्ष की अभिलाषा भी, ना होती जिसके मन में।
मोक्ष उसी को नियम रूप से, मिलता है इस जीवन में॥
इसविध सन्तों का कहना है, पालन उसका करना है।
कहीं किसी की आकांक्षा से, नहीं भूलकर करना है ॥२१॥

चूँकि सुलभ है आतम में वह, अभिलाषा का उदय रहा।
इसीलिए बस उसके चिंतन, में जुटता यह हृदय रहा॥
सुख भी तो फिर निज आतम, के सुनो तात! आधीन रहा।
वहाँ यतन क्यों नहीं करोगे, मन क्यों होता दीन रहा ॥२२॥

पर को जानो मना नहीं है, किन्तु किसी से मोह नहीं।
सही सही पहचानों निज को, सोना है सो लोह नहीं॥
अपने संवेदन में आता, स्वरूप अपना अपना है।
सदा निराकुल केवल निज में, रहना बाहर सपना है ॥२३॥

अपने से अपने को अपने, द्वारा अपने लिए तथा।
अपने में अपना अपना सो, लखना अपने आप यथा॥
इसी ज्ञान से इसी ध्यान से आनंदामृत का झरना।
झर झर झर झरता झरता, मिटता फलतः चिर मरना ॥२४॥

आत्मतत्त्व का चिंतन इस विध, करता अन्तर बाहर से।
इसको सुनता और सुनाता, औरों को जो आदर से॥
यथाशीघ्र परमार्थ संपदा, इस पर वह बरसाती है।
'स्वरूप संबोधन पच्चीसी', उसकी बनती साथी है ॥२५॥

❑ ❑ ❑